आज का विकासात्मक मनोविज्ञान

DEVELOPMENTAL PSYCHOLOGY TODAY

डा. पी सी. मिश्र

साहित्य प्रकाशन, आगरा

आज का
विकासात्मक मनोविज्ञान
[Developmental Psychology Today]

प्रकाशक

साहित्य प्रकाशन

आपका बाजार, हॉस्पीटल रोड, आगरा-3

✆ 2360920
2157379

© लेखक

प्रथम सस्करण 2002

मूल्य एक सौ पचास रुपये मात्र

Rs 150 00

ISBN-81-87755-17-2

मुद्रक

सिद्ध श्री प्रेस, आगरा।

पूजनीया माताजी

स्वर्गीया श्रीमती इन्द्रावती मिश्रा

की स्मृति मे

जो हम लोगो को असमय ही छोड़कर चली गयी

—प्रेमचन्द मिश्र

प्राक्कथन

विकासात्मक मनोविज्ञान की विषय-वस्तु पर आधारित पुस्तको की रचना एव मॉग के क्रम मे डॉ प्रेमचन्द्र मिश्र द्वारा लिपिवद्व की गयी प्रस्तुत पुस्तक की विषय सामग्री पढकर मुझे अत्यन्त खुशी हुई। यद्यपि ऑग्लभाषा मे विकासात्मक मनोविज्ञान की कई पुस्तके उपलब्ध है जिनका हिन्दी अनुवाद भी पर्याप्त मात्रा में प्रचलित है तथापि इन अनुवाद की गयी पुस्तकों मे विकासात्मक मनोविज्ञान की सम्पूर्ण विषय वस्तु को सार्थक दृष्टिकोण से प्रस्तुत नही किया जा सका है। इन पुस्तको में विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत प्रचलित विभिन्न तकनीकी शब्दावलियो के तर्क सगत प्रस्तुताकरण का अभाव परिलक्षित होता है। सौभाग्य से डा मिश्र द्वारा लिखित पुस्तक इन अभावो से मुक्त है।

डॉ मिश्र ने अपनी विरचित पुस्तक मे विकासात्मक मनोविज्ञान के सभी आयामों को यथार्थ स्थान दिया है। भारतीय दशाओ मे सपादित किये गये विभिन्न शोध साक्ष्यो के उद्धरण की प्रस्तुतीकरण से यह पुस्तक एक ओर नवागन्तुक अध्ययन कर्ताओ तथा शोधार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है तथा दूसरी ओर उस क्षेत्र के व्यक्तियो शिक्षको एव छात्रो के लिए यह सन्दर्भ सामग्री के रूप में भी मद्दगार साबित हो सकती है।

डॉ मिश्र द्वारा विरचित प्रस्तुत पुस्तक विकासात्मक मनोविज्ञान के अध्ययन मे रुचि रखने वाले हिन्दी भाषा भाषी व्यक्ति को ध्यान मे रखकर लिखी गयी है। अत यह बच्चो की देखरेख, शिक्षा तथा समाजकार्य से जुडे विद्यार्थियो, शिक्षकों तथा अभिभावको के लिए भी पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगी। निसन्देह विकासात्मक मनोविज्ञान के अध्ययन से जुडे छात्र छात्राओं के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

मनोविज्ञान के इस क्षेत्र विशेष में विगत तीन दशको मे ज्ञान के नये आयाम खुलकर सामने आये है। इस विषय से सम्बन्धित अधिकाश सामग्री शोध पुस्तको एव शोध पत्रो तक ही सीमित है। डॉ मिश्र द्वारा विरचित पुस्तक मे उन सभी आयामों को एक हिन्दी पाठय पुस्तक का स्वरूप प्रदान कर हिन्दी भाषा के साथ-साथ हिन्दी भाषी छात्रो एव छात्राओ के आवश्यकताओ की पूर्ति भी की गयी है। विद्वान लेखक हमारे विभागीय सहयोगी डॉ मिश्र ने अपनी पुस्तक में समस्त आवश्यक प्रमुख स्रोतो का उल्लेख भी किया है जो विकासात्मक मनोविज्ञान के शोधकर्ताओ का मार्ग निर्देशन करने मे भी सक्षम है।

प्रस्तुत पुस्तक की भाषा सरल बोधगम्य होने के साथ-साथ सरस व प्रवाहमय भी है। एक तकनीकी शब्दावली की पुस्तक होने के बावजूद भी लेखक ने यह विशेष रूप से ध्यान रखा है कि पुस्तक दुरुह एव क्लिष्ट शब्दों से मुक्त हो। नि सन्देह डॉ मिश्र अपने प्रयास मे पूरी तरह सफल रहे है।

मुझे पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक विकासात्मक मनोविज्ञान के शिक्षको एव छात्रो दोनो के लिए एक मील का पत्थर साबित होगी। मै डॉ मिश्र के अथक-श्रम अध्यवसाय के लिए उन्हे हार्दिक धन्यवाद देती हूँ तथा उनके उज्जवल भविष्य की कामना करती हूँ।

—प्रो (श्रीमती) प्रभा गुप्ता

भूत अध्यक्षा—मनोविज्ञान विभाग एव
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
की राष्ट्रीय अध्येता
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

आमुख

सम्प्रति विकासात्मक मनोविज्ञान को मनोविज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में मान्यता प्रदान हो चुकी है। उसका कारण यह है कि उसका अपना विषय क्षेत्र है तथा अध्ययन की विधियाँ एव उपागम भी उपलब्ध है। आज तक हमारे अध्यापक बन्धुओं द्वारा यह अनुभव किया जाता रहा है कि विकासात्मक मनोविज्ञान में हिन्दी में उपलब्ध समस्त पुस्तकें प्राचीन परिपाटी की है, और यह भी अनुभव किया जाता रहा है कि उस विषय पर उपलब्ध हिन्दी पुस्तकों में आधुनिक सम्प्रत्ययो तथा अन्य आवश्यक विषय सामग्री का समुचित समावेश नहीं रहा है। विकासात्मक मनोविज्ञान एक विकासशील विषय हैं उसमे लगातार अनेक वैज्ञानिक शोध हो रहे हैं। विकासात्मक मनोविज्ञान की अन्य उपलब्ध हिन्दी पुस्तकों में नये नये सिद्धान्तों, सम्प्रत्ययों और शोध निष्कर्षों का समावेश नही के बराबर है। इस अभाव की पूर्ति के लिए कालेज एव विश्वविद्यालय के स्नातक एव स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्रों के आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गई है।

मानव विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए अभी तक जो पुस्तकें उपलब्ध हैं उसमें से प्राय सभी का दृष्टिकोण चयनात्मक है। प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न निर्धारकों के महत्व की व्याख्या करते समय सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया गया है तथा नवीन शोध अध्ययनों से प्राप्त निष्कर्षों द्वारा पुस्तक को आधुनिकतम एव नवीनतम बनाने की कोशिश की गई हैं इस पुस्तक में तकनीकी शब्दों एव विद्वानों के विचारों को अधिक स्पष्ट करने के लिए आवश्यकतानुसार आग्ल भाषा का प्रयोग किया गया है। इस सब में मेरा यही लक्ष्य रहा है कि विद्यार्थियों की परीक्षा सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति हो ही साथ ही साथ उनका ज्ञानार्जन भी हो। पुस्तक की पाठ्य सामग्री पाश्चात्य अध्ययनों पर आधारित है, फिर भी विषय-सामग्री का प्रस्तुतीकरण भारतीय स्थिति के सदर्भ में किया गया है।

पुस्तक का वर्तमान स्वरूप अनेकों विद्वानों की अमूल्य कृतियों एव विचारो पर आधारित है। इन सभी विद्वानों के प्रति लेखक हृदय से आभारी है तथा कृतज्ञ है। लेखक अपने उन सभी साथियों तथा छात्रों के प्रति भी आभार प्रकट करता है जिन्होंने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उस पुस्तक को इस स्वरूप में लाने में सहायता की है।

अन्त में, मैं एक बार पुन उन महानुभावों एव शुभचिन्तकों के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मुझे किसी भी रूप में पुस्तक को पूरा करने में मदद की हैं एव यह आशा करता हूँ कि पाठकगण अपनी प्रतिक्रियाओं से मुझे अवगत करायेंगे जिससे इसका अगला सस्करण और भी परिमार्जित एव सशोधित रूप में बनाया जा सके।

मनोविज्ञान विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

—प्रेमचन्द्र मिश्र

अनुक्रमणिका

ध्याय — पृष्ठ-सख्या

विषय परिचय
(Introduction) — 1 8
ऐतिहासिक समीक्षा, विकासात्मक मनोविज्ञान का स्वरूप, विकासात्मक, मनोविज्ञान का क्षेत्र।

विकास का अर्थ एव नियम
(Meaning and laws of Development) — 9 26
विकास का अर्थ विकास की अवस्थाएँ, विकास प्रक्रिया सम्बन्धी परिवर्तन, विकास के नियम, विकास के निर्धारक।

विकास मनोविज्ञान की विधियाँ एव उपागम
(Methods and Approaches of Developmental Psychology) — 27 45
चरित्र लेखन विधि आत्म चरित लेखन विधि, साक्षात्कार विधि, अवलोकन विधि, प्रायोगिक विधि, प्रक्षेपण विधि, प्रश्नावली विधि व्यक्ति इतिहासविधि, मनोमिति विधियाँ, विकासात्मक मनोविज्ञान के उपागम, प्रतिनिध्यात्मक उपागम, दीर्घकालिक उपागम।

विकास के जैविकीय एव पर्यावरणीय आधार
(Biological and Environmental Bases of Development) — 46 66
आनुवशिकता की प्रक्रिया, जीवनोत्पत्ति की प्रारम्भिक अवस्थाएँ, गर्भाधान की अवधि में निहिन विशेषताएँ, विकास में आनुवशिकता का महत्व बालक के विकास में वशानुक्रम का प्रभाव, विकास मे पर्यावरण की भूमिका, विकास पर आनुवशिकता एव पर्यावरण का सापेक्ष प्रभाव, परिपक्वता एव अधिगम विकास के निर्धारक के रूप मे।

शारीरिक विकास
(Physical Development) — 67 82
गर्भावस्था में शारीरिक विकास, गर्भकालीन विकास के निर्धारक, जन्म के बाद का शारीरिक विकास, शारीरिक अनुपात, हड्डियों का विकास, दाँतो का विकास, तात्रिका तत्र का विकास, आन्तरिक अगो का विकास, शैशवावस्था में शारीरिक व्यवहार।

सावेदिक एव प्रात्यक्षिक विकास
(Sensory and Perceptual Development) — 83 95
सावेदिक प्रक्रिया का स्वरूप, प्रात्यक्षिक प्रक्रम का स्वरूप, शिशुओं में सावेदिक क्षमताएँ, प्रात्यक्षिक योग्यता का विकास, बालकों में सम्प्रत्यय का विकास, सम्प्रत्यय निर्माण में निहित प्रक्रियायें, बालकों में विशिष्ट सम्प्रत्ययों का विकास—आकृति का सम्प्रत्यय, रग का सम्प्रत्यय, दिक् सम्प्रत्यय, कालसम्प्रत्यय, आकिक सम्प्रत्यय, जीवन एव मृत्यु का सम्प्रत्यय, प्रात्यक्षिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक, प्रात्यक्षिक उपलब्धि एव सामाजिक व्यवहार।

अनुक्रमणिका

ध्याय | पृष्ठ-सख्या

विषय परिचय
(Introduction) 1 8
ऐतिहासिक समीक्षा, विकासात्मक मनोविज्ञान का स्वरूप, विकासात्मक, मनोविज्ञान का क्षेत्र।

विकास का अर्थ एव नियम
(Meaning and laws of Development) 9 26
विकास का अर्थ, विकास की अवस्थाएँ, विकास प्रक्रिया सम्बन्धी परिवर्तन, विकास के नियम, विकास के निर्धारक।

विकास मनोविज्ञान की विधियाँ एव उपागम
(Methods and Approaches of Developmental Psychology) 27 45
चरित्र लेखन विधि आत्म चरित लेखन विधि, साक्षात्कार विधि, अवलोकन विधि प्रायोगिक विधि, प्रक्षेपण विधि, प्रश्नावली विधि व्यक्ति इतिहासविधि, मनोमिति विधियाँ, विकासात्मक मनोविज्ञान के उपागम, प्रतिनिध्यात्मक उपागम, दीर्घकालिक उपागम।

विकास के जैविकीय एव पर्यावरणीय आधार
(Biological and Environmental Bases of Development) 46 66
आनुवशिकता की प्रक्रिया, जीवनोत्पत्ति की प्रारम्भिक अवस्थाएँ, गर्भाधान की अवधि मे निहित विशेषताएँ, विकास में आनुवशिकता का महत्व, बालक के विकास मे वशानुक्रम का प्रभाव, विकास मे पर्यावरण की भूमिका, विकास पर आनुवशिकता एव पर्यावरण का सापेक्ष प्रभाव, परिपक्वता एव अधिगम विकास के निर्धारक के रूप मे।

शारीरिक विकास
(Physical Development) 67 82
गर्भावस्था मे शारीरिक विकास, गर्भकालीन विकास के निर्धारक, जन्म के बाद का शारीरिक विकास, शारीरिक अनुपात, हड्डियों का विकास, दाँतों का विकास, तान्त्रिका तत्र का विकास, आन्तरिक अगो का विकास, शैशवावस्था में शारीरिक व्यवहार।

सावेदिक एव प्रात्यक्षिक विकास
(Sensory and Perceptual Development) 83 95
सावेदिक प्रक्रिया का स्वरूप, प्रात्यक्षिक प्रक्रम का स्वरूप, शिशुओं में सावेदिक क्षमताएँ, प्रात्यक्षिक योग्यता का विकास, बालकों में सम्प्रत्यय का विकास, सम्प्रत्यय निर्माण मे निहित प्रक्रियायें, बालकों में विशिष्ट सम्प्रत्ययों का विकास—आकृति का सम्प्रत्यय, रग का सम्प्रत्यय, दिक् सम्प्रत्यय, कालसम्प्रत्यय, आकिक सम्प्रत्यय, जीवन एव मृत्यु का सम्प्रत्यय, प्रात्यक्षिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक, प्रात्यक्षिक उपलब्धि एव सामाजिक व्यवहार।

अध्याय पृष्ठ-सख्या

7 सवेगात्मक विकास
(Emotional Development) 96 117
सवेग की उत्पत्ति सवेगो का विकास सवेग एव परिपक्वता, सवेग एव अधिगम बालको तथा प्रौढो के सवेगो मे अन्तर मानव शिशुओ मे सवेगो के विकास का सिद्धान्त विभिन्न अवस्थाओ मे सवेगात्मक विकास शैशवावस्था मे सवेगात्मक विकास बाल्यावस्था मे सवेगात्मक विकास, किशोरावस्था मे सवेगात्मक विकास सवेगात्मक व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक।

8 क्रियात्मक योग्यताओ का विकास
(Development of Motor Abilities) 118-127
क्रियात्मक विकास की सामान्य विशेषताएँ विभिन्न अगो मे क्रियात्मक विकास का क्रम सिर क्षेत्र में क्रियात्मक विकास, भुजाओ तथा हाथो मे क्रियात्मक विकास धड मे क्रियात्मक विकास पैरो मे क्रियात्मक विकास क्रियात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक हाथ के प्रयोग की समस्या।

9 बौद्धिक विकास
(Intellectual Development) 128 141
बुद्धि की प्रकृति एव स्वरूप बुद्धि के सिद्धान्त—एकतत्व सिद्धान्त, द्वितत्वा सिद्धान्त बहुतत्व सिद्धान्त समूहकारक बुद्धि सिद्धान्त, मानसिक विकास की प्रक्रिया, बौद्धिक विकास की प्रक्रिया की प्रकृति, शैशवावस्था मे बौद्धिक विकास बाल्यकाल मे बौद्धिक विकास किशोरावस्था में बौद्धिक विकास, पियाजे का बुद्धि का विकासात्मक सिद्धान्त, बौद्धिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक।

10 भाषा विकास
(Language Development) 142 151
भाषा विकास की प्रक्रिया भाषात्मक विकास का महत्व, भाषात्मक प्रतिक्रियाओं की प्रकृति बालक मे शब्दकोश का विकास, बालक का वाक्य विकास भाषात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक वाणीदोष वाणी त्रुटियॉ।

11 सज्ञानात्मक विकास
(Cognitive Development) 152-163
सज्ञानात्मक प्रक्रिया के निर्धारक तत्व, सज्ञानात्मक योग्यता का विकास, सज्ञानात्मक विकास की अवस्थाएँ, सज्ञानात्मक विकास के निर्धारक तत्व।

12 नैतिक विकास
(Moral Development) 164 171
नैतिकता के विकास का सक्षिप्त इतिहास नैतिक विकास की प्रावस्थाएँ, नैतिक विकास में अवस्थाएँ, नैतिक विकास का अनुशासन में महत्व, नैतिक विकास में पुरस्कार एव दण्ड की भूमिका, नैतिक विकास के निर्धारक तत्व।

13 सामाजिक विकास
(Social Development) 172 181
सामाजिक विकास की विशेषताएँ, विभिन्न अवस्थाओं में सामाजिक विकास, शैशवावस्था में सामाजिक विकास पूर्ववाल्यावस्था मे सामाजिक विकास,

उत्तरवाल्यावस्था में सामाजिक विकास, किशोरावस्था में सामाजिक विकास, सामाजिक विकास के निर्धारक सामाजिक विकास के मापदण्ड ।

14 **किशोरावस्था विशेषताएँ, समस्याएँ एव व्यवहार**
(Adolescence Characteristics, Problems & Bahaviour) 182-205
किशोरावस्था की अवधियाँ, किशोरावस्था की विशेषताएँ, किशोरावस्था मे होने वाले परिवर्तन, किशोरावस्था की समस्याएँ ।

15 **व्यक्तित्व का विकास**
(Development of Personality) 206 225
व्यक्तित्व का अर्थ, व्यक्तित्व के लक्षण, व्यक्तित्व विकास के सिद्धान्त, व्यक्तित्व विकास की समस्याये, विभिन्न अवस्थाओ मे व्यक्तित्व का विकास, व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करने वाले कारक ।

16 **खेल का विकास**
(Development of Play) 226-240
खेल तथा कार्य में अन्तर, बच्चों के खेल की विशेषताएँ, बच्चों के खेल के प्रकार, पूर्व बाल्यावस्था के खेल, उत्तर बाल्यावस्था के खेल, खेल का महत्व खेल को प्रभावित करने वाले कारक ।

17 **पारिवारिक सम्बन्ध एव परामर्श**
(Family Relationship and Counselling) 241 261
बच्चों के विकास पर पारिवारिक सम्बन्धों का प्रभाव पारिवारिक सम्बन्धो मे विकृति का बच्चे के विकास पर प्रभाव, पारिवारिक सम्बन्धों पर पैतृक मनोवृत्तियो का प्रभाव, पारिवारिक सम्बन्धों के विकास पर परिवार के आकार का प्रभाव, पारिवारिक सम्बन्धों पर पारिवारिक भूमिकाओं के प्रत्यय का प्रभाव परामर्श, परामर्श के प्रकार निर्देशीय तथा अनिर्देशीय परामर्श मे अन्तर परामर्श विधियाँ, परामर्शदाता की योग्यताएँ, परामर्शदाता के कार्य, परामर्श एव बाल विकास ।

18 **प्रौढावस्था विशेषताएँ एव समस्याये**
(Adulthood, Characteristics and Problems) 262-281
प्रौढावस्था का अर्थ, प्रौढावस्था की अवधियाँ, प्रारम्भिक प्रौढावस्था की विशेषताएँ, प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे होने वाले परिवर्तन, प्रारम्भिक प्रौढावस्था की समस्याएँ ।

19 **मध्यावस्था विशेषताएँ एव समस्याएँ**
(Middleage, Characteristics and Problems) 282 297
मध्यावस्था की विशेषताएँ, मध्यावस्था मे होने वाले परिवर्तन, मध्यावस्था की समस्याएँ ।

20 **वृद्धावस्था विशेषताएँ एव समस्याएँ**
(Oldage, Characteristics and Problems) 298-324
वृद्धावस्था की विशेषताएँ, वृद्धावस्था में होने वाले परिवर्तन, वृद्धावस्था की समस्याएँ ।

सदर्भ ग्रन्थ सूची
(Suggested Readings) 325 332

1 विषय-परिचय

(Introduction)

इतिहास के पृष्ठो को पलटने से यह पता चलता है कि विकासात्मक मनोविज्ञान का इतिहास उसी समय से प्रारम्भ होता है जबसे इस पृथ्वी पर मानव का प्रादुर्भाव हुआ। विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक मानव विकास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन गर्भाधान के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त तक करता है। गभाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त क्या-क्या परिवतन एव विकास मानव में परिलक्षित होता है उसका सम्यक् अध्ययन विकासात्मक मनोविज्ञान की विषयवस्तु है। चूकि विकास मनोविज्ञान अस्त्यात्मक विज्ञान है इसलिए उसमें बालक का अध्ययन जैसा वह रहता हैं उसी रूप में करता है। उसका कोई भी व्यवहार अच्छा या बुरा नही समझा जाता है तथा उसका जो विकास होता है क्रम से, नियमित रूप से तथा सर्वांगीण होता है। गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त कई अवस्थाओं से गुजरता हुआ बालक के अन्दर शारीरिक, क्रियात्मक, सवेगात्मक, सज्ञानात्मक, नैतिक, बौद्धिक, प्रात्याभ्कि इत्यादि का विकास गुणात्मक रूप मे होता रहता है। इन सभी पक्षों का अध्ययन विकासात्मक मनोविज्ञान करता है। **अस्तु हरलॉक (1968)** के शब्दो में विकास मनोविज्ञान मनोविज्ञान की वह शाखा है जो गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त होने वाले मानव के विकास का जीवन के विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले परिवर्तनो पर विशेष ध्यान देते हुए अध्ययन करती हैं।

विकासात्मक मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विकास मनोविज्ञान का उद्भव बहुत ही हाल का माना जाता है। अरस्तू तथा डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्तो ने विकास मनोविज्ञान के प्रसार मे दिशादर्शन का कार्य किया है। उन्नीसवी शताब्दी के पहले शरीर वृद्धि एव विकास का मापन के कतिपय उदाहरण पाये जाते है। उनका सम्बन्ध प्राय आकार, ऊँचाई और वजन मे विवृद्धि से था। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास 1760 मे मोन्टवीलर्ड ने अपने पुत्र की जन्म से लेकर किशोरावस्था तक ऊँचाई नापव लिया था। इसके अतिरिक्त, शारीरिक विवृद्धि एव विकास के सम्बन्ध में वाउदिच्च, पोर्टन, क्वीहीलिट ने भी अध्ययन किया। बाल मनोविज्ञान के सस्थापक प्रेयर ने सन् 1888 में अपने पुत्र के व्यवहारों का निरीक्षण किया था और विकास मनोविज्ञान के विकास की दिशा में प्रथम प्रयास प्रदान किया था। 1903 में उसकी पुस्तक 'स्टडीज आफ चाइल्डहुड' (Studies of childhood) प्रकाशित हुई।

1908 एवम् 1911 में विने (Binet) ने बुद्धि परीक्षणों पर कार्य किया। 1909 में सिग्मण्ड फ्रायड (Sigmund Freud) तथा युग (Jung) के मनोविश्लेषणवाद से विकास मनोविज्ञान को एक प्रशस्त दिशा मिली। तदुपरान्त बाल मनोविज्ञान के विकासात्मक स्वरूपो की अनुसन्धान स्टेनली हाल (Stenley Hall) वर्नेस (Barnes) की अध्यक्षता में प्रतिपादित किये गये। अमेरिका में वाल्डविन (Baldwin) ने बालको के शारीरिक दिशा तथा मानसिक विकास तथा उनकी एक दूसरे पर निर्भरता के सम्यक् अध्ययन करने की दिशा में प्रयास

किया। वाल्डविन ने 1921 में एक पुस्तक का प्रकाशन किया। इस पुस्तक मे बालकों के शारीरिक विकास के विषय में विस्तृत सामग्री प्रदान की गयी।

वाल्डविन ने विकास वक्र (Development curve) पर बल दिया। यह प्रथम मनोवैज्ञानिक था जिसने प्रथम प्रयास में बालक के शारीरिक परिपक्वीकरण, शारीरिक विकास तथा मानसिक विकास के पारस्परिक सम्बन्धों की खोज की तथा सतत् परीक्षणों की शृखला में बुद्धिलब्धि की अचलता का अध्ययन किया। 1920 एव 1921 में बालकों की वृद्धि और विकास के विषय में सही सही सूचनाएँ प्राप्त करने की दिशा में मनोवैज्ञानिकों द्वारा गहन अभिरुचि प्रदर्शित की गयी । 1922 में डियरवार्न ने प्रथम कक्षा के बहुत सारे बालकों के शारीरिक तथा मानसिक योग्यता के विकास पर परीक्षण किये। 1925 में गैसेल (Gesell) ने शिशु तथा बालकों के शारीरिक एव व्यवहारात्मक विकास पर अध्ययन किया तथा कई शोध प्रबन्ध प्रकाशित किये। 1925 में ही राष्ट्रीय शोध परिषद् (National \Research Board) ने बाल विकास पर एक समिति की स्थापना की तथा 1928 में सोसाइटी फार रिसर्च इन चाइल्ड डेवलपमेंट (Society For Research in Child Development) की स्थापना ने विकासात्मक मनोविज्ञान के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दिया । 1932 37 के मध्य बाल स्वास्थ्य तथा बालक के पालन-पोषण एव रक्षा के सम्बन्ध में अनेक सम्मेलन तथा सगोष्ठियाँ आयोजित की गयी। टर्मन (Terman) तथा उसके सहयोगियों ने बाल विकास के सम्बन्ध में अपना शोध जारी रखा। इस प्रकार 1920-33 के मध्य वशानुक्रम, पर्यावरण परिपक्वता तथा अधिगम के बीच काफी विरोध चलता रहा।

तत्पश्चात् शकफेलर मेमोरियल तथा जनरल एजुकेशन बोर्ड (General Education Board) से बालकल्याण सस्थाओं के सचालन मे आर्थिक मदद प्रदान की गयी। इन सस्थाओं का प्रमुख कार्य बाल विकास पर शोध परक अध्ययन करना था। सर्वप्रथम छोटे बच्चों पर ही शोधकार्य किये गये परन्तु आगे चलकर 1925-32 के मध्य बडे बच्चो पर भी अध्ययन करने की शुरूआत की गयी। इस दिशा में हारवर्ड, कार्नेल, मिनिसोटा, केलिफोर्निया विश्वविद्यालय, आयोवा के बाल कल्याण रिसर्च सेंटर (Child Welfare Research Centre) तथा डेट्रायट के मेटिल पामर स्कूल, इत्यादि ने बाल विकास के अध्ययन में काफी अग्रगामी अध्ययन किये तथा विकासात्मक मनोविज्ञान के विकास में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया।

1935 में राष्ट्रीय शोध परिषद् के तत्वाधान में बाल विकास सम्बन्धी शोध हेतु एक सस्था की स्थापना की गयी । इस सस्था के द्वारा कई शोध पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ। इन पत्रिकाओं में प्रमुखत साइकोनिलिटिकल स्टडी ऑफ दि चाइल्ड (Psychoanalytical Study of the Child), दि रिव्यू ऑफ एजुकेशलन रिसर्च (The Review of Educational Research) तथा चाइल्ड डेवलपमेन्ट (Child development) हैं। 1941 में हार्वर्ड में डियरवार्न ने सरकारी स्कूल के बच्चो को शारीरिक एव मानसिक विशेषताओं का मापन किया। तत्पश्चात् बालकों का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया जाने लगा। इस क्षेत्र में अन्ना फ्रायड (Anna Freud) तथा बलेन का नाम उल्लेखनीय है। 1945 में नेशनल फाउन्डेशन ऑफ एजूकेशनल रिसर्च की स्थापना से बाल मनोविज्ञान तथा विकास मनोविज्ञान को काफी बल लिया।

हरलॉक (Hurlock) के अनुसार प्रारम्भ में विकास के क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक शोध विशिष्ट आयुस्तरों पर ही केन्द्रित थे तथा विकास अध्ययन के प्रति अभिरुचि मात्र स्कूल के बच्चों तक ही सीमित थी। परन्तु बाद में चलकर अध्ययन पूर्वशालीय बच्चो (Pre-school Children) के प्रति की जाने लगी। इसके पश्चात् विकास का अध्ययन गर्भस्थ बच्चे तथा

नवजात शिशु के प्रति भी की जाने लगी। फिर धीरे-धीरे द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अध्ययन का क्षेत्र, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, प्रौढावस्था, मध्यावस्था तथा वृद्धावस्था तक हो गया ।

1950 में व्यक्तित्व की समस्याओं पर विशेष करके सवेगात्मक तथा सामाजिक विकास पर विशेष बल दिया गया। फ्रायडवाद से प्रेरित होकर मनोवैज्ञानिक डोलार्ड तथा मिलर (1950) मावटर (1950) तथा ह्वाइटिंग तथा वाल्ड (1953) ने सीखने के सिद्धान्त तथा बाल विकास पर शोध कार्य किया । 1958 में इन्स्टीट्यूट ऑफ चाइल्ड हेल्थ (Institute of Child Health) तथा नेशनल फाउन्डेशन फार एजुकेशनल रिसर्च (National Foundation for Education Research) ने लम्बवत विधि से बाल विकास के अध्ययन की ओर अपनी रुचि जागृत की। 1962 में ओहियो मे सैमुअल फिल्म रिसर्च इस्टीट्यूट (The Samual Film Research Institute) ने जन्म से प्रौढावस्था तक के व्यक्तियो का परीक्षण तथा अवलोकन का कार्यक्रम जारी रखा। इससे विकासात्मक मनोविज्ञान के शोधार्थ अच्छा मार्ग मिला।

विकास मनोविज्ञान का अध्ययन केवल अमेरिका तक ही सीमित न रहकर बल्कि यूरोपीय देशों रूस तथा एशिया महाद्वीप के देशों में भी फैली। यूरोप में जीन पियाजे (Jene Piaget) तथा रूस में साइमन (Simon) ने विकासात्मक मनोविज्ञान पर पर्याप्त शोधकार्य किया। इसी तरह से आइजैक (Eysenk) ने बालकों के चिन्तन और सवेगात्मक विकास पर पर्याप्त अध्ययन किया। इसके बाद सस्कृति के प्रभाव का अध्ययन मार्गरेट मीड, कार्नर बोलेफेन्सटीन ने किया। इतना ही नही विकासात्मक मनोविज्ञान के विकास में वाल्डविन, ब्लेयर, गेसेल, गुडएनफ, गेरीसन, मार्टिन, हरलाक, जरसिल्ड, मेरी, रेण्ड, फोरफे एण्ड क्रूज, थाम्पसन, ज्यूवेक एण्ड सालवर्ग, मेकेप्डनेश, कोनरड, वेलट, आदि ने अपने अभूतपूर्व शोध कार्य से महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारतवर्ष के अनेक प्रशिक्षण महाविद्यालयों जैसे—बडौदा, केरल, बम्बई, कुरुक्षेत्र, मनोविज्ञान शाला (ब्यूरो ऑफ साइकोलाजी) इलाहाबाद, तथा सैन्ट्रल इण्स्टीट्यूट ऑफ ऐजुकेशन, दिल्ली में उस दिशा में महत्वपूर्ण शोधकार्य किये गये। सम्प्रति विकास मनोविज्ञान का क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है। अब यह गर्भावस्था से लेकर परिपक्वास्था तक पहुचने वाली शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा प्रौढावस्था की क्षमताओ विशेषताओं तथा विभिन्न परिवर्तन क्रमों के साथ-साथ शारीरिक गत्यात्मक, मानसिक, सवेगात्मक, सामाजिक तथा नैतिक, प्रात्यक्षिक, सज्ञानात्मक तथा चारित्रिक विकास का सम्यक् अध्ययन करने लगा है।

सक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि वर्तमान सदी में विकासात्मक अध्ययनों के उपागम अधिक से अधिक वैज्ञानिक हो गए हैं। अब बडे समूह ब्रदर्शों पर अध्ययन अनिवार्य हो गया है। उससे विश्वसनीय परिणामों की सम्भावना बढ गयी है। सम्प्रति प्रायोगिक विधि एव अन्तर सास्कृतिक अध्ययनों पर अधिक बल दिया जा रहा है। इससे यह लाभ हुआ है कि बालक के विकास के विषय में व्यापक निष्कर्ष प्राप्त हो रहे हैं।

विकासात्मक मनोविज्ञान का स्वरूप
(Nature of Developmental Psychology)

सम्प्रति विकासात्मक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक विशिष्ट शाखा के रूप मे प्रतिस्थापित हो चुकी है। उसे एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। विकासात्मक मनोविज्ञान ही एक ऐसा विज्ञान है जिसके अन्तर्गत मानव विकास के सभी पहलुओं का अध्ययन कर सकते हैं। उस दृष्टिकोण से विकासात्मक मनोविज्ञान का महत्व अन्य

किया। वाल्डविन ने 1921 में एक पुस्तक का प्रकाशन किया। इस पुस्तक मे बालकों के शारीरिक विकास के विषय में विस्तृत सामग्री प्रदान की गयी।

वाल्डविन ने विकास वक्र (Development curve) पर बल दिया। यह प्रथम मनोवैज्ञानिक था जिसने प्रथम प्रयास में बालक के शारीरिक परिपक्वीकरण, शारीरिक विकास तथा मानसिक विकास के पारस्परिक सम्बन्धों की खोज की तथा सतत् परीक्षणों की शृखला में बुद्धिलब्धि की अचलता का अध्ययन किया। 1920 एव 1921 में बालकों की वृद्धि और विकास के विषय में सही-सही सूचनाएँ प्राप्त करने की दिशा में मनोवैज्ञानिकों द्वारा गहन अभिरुचि प्रदर्शित की गयी । 1922 में डियरवार्न ने प्रथम कक्षा के बहुत सारे बालकों के शारीरिक तथा मानसिक योग्यता के विकास पर परीक्षण किये। 1925 में गैसेल (Gesell) ने शिशु तथा बालकों के शारीरिक एव व्यवहारात्मक विकास पर अध्ययन किया तथा कई शोध प्रबन्ध प्रकाशित किये। 1925 में ही राष्ट्रीय शोध परिषद् (National \Research Board) ने बाल विकास पर एक समिति की स्थापना की तथा 1928 में सोसाइटी फार रिसर्च इन चाइल्ड डेवलपमेंट (Society For Research in Child Development) की स्थापना ने विकासात्मक मनोविज्ञान के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दिया । 1932 37 के मध्य बाल स्वास्थ्य तथा बालक के पालन-पोषण एव रक्षा के सम्बन्ध में अनेक सम्मेलन तथा सगोष्ठियाँ आयोजित की गयी। टर्मन (Terman) तथा उसके सहयोगियों ने बाल विकास के सम्बन्ध में अपना शोध जारी रखा। इस प्रकार 1920-33 के मध्य वशानुक्रम, पर्यावरण परिपक्वता तथा अधिगम के बीच काफी विरोध चलता रहा।

तत्पश्चात् शकफेलर मेमोरियल तथा जनरल एजुकेशन बोर्ड (General Education Board) से बालकल्याण सस्थाओं के सचालन में आर्थिक मदद प्रदान की गयी। इन सस्थाओं का प्रमुख कार्य बाल विकास पर शोध परक अध्ययन करना था। सर्वप्रथम छोटे बच्चों पर ही शोधकार्य किये गये परन्तु आगे चलकर 1925-32 के मध्य बडे बच्चों पर भी अध्ययन करने की शुरूआत की गयी। इस दिशा में हारवर्ड, कार्नेल, मिनिसोटा, केलिफोर्निया विश्वविद्यालय आयोवा के बाल कल्याण रिसर्च सेंटर (Child Welfare Research Centre) तथा डेट्रायट के मेटिल पामर स्कूल, इत्यादि ने बाल विकास के अध्ययन में काफी अग्रगामी अध्ययन किये तथा विकासात्मक मनोविज्ञान के विकास में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया।

1935 में राष्ट्रीय शोध परिषद् के तत्वाधान में बाल विकास सम्बन्धी शोध हेतु एक सस्था की स्थापना की गयी । इस सस्था के द्वारा कई शोध पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ। इन पत्रिकाओं में प्रमुखत साइकोनिलिटिकल स्टडी ऑफ दि चाइल्ड (Psychoanalytical Study of the Child), दि रिव्यू ऑफ एजुकेशलन रिसर्च (The Review of Educational Research) तथा चाइल्ड डेवलपमेन्ट (Child development) है। 1941 में हार्वर्ड में डियरवार्न ने सरकारी स्कूल के बच्चो को शारीरिक एव मानसिक विशेषताओं का मापन किया। तत्पश्चात् बालकों का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया जाने लगा। इस क्षेत्र में अन्ना फ्रायड (Anna Freud) तथा बलेन का नाम उल्लेखनीय है। 1945 में नेशनल फाउन्डेशन ऑफ एजूकेशनल रिसर्च की स्थापना से बाल मनोविज्ञान तथा विकास मनोविज्ञान को काफी बल लिया।

हरलॉक (Hurlock) के अनुसार प्रारम्भ मे विकास के क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक शोध विशिष्ट आयुस्तरों पर ही केन्द्रित थे तथा विकास अध्ययन के प्रति अभिरुचि मात्र स्कूल के बच्चों तक ही सीमित थी। परन्तु बाद मे चलकर अध्ययन पूर्वशालीय बच्चों (Pre school Children) के प्रति की जाने लगी। इसके पश्चात् विकास का अध्ययन गर्भस्थ बच्चे तथा

नवजात शिशु के प्रति भी की जाने लगी । फिर धीरे धीरे द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अध्ययन का क्षेत्र, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, प्रौढावस्था, मध्यावस्था तथा वृद्धावस्था तक हो गया ।

1950 में व्यक्तित्व की समस्याओं पर विशेष करके सवेगात्मक तथा सामाजिक विकास पर विशेष बल दिया गया। फ्रायडवाद से प्रेरित होकर मनोवैज्ञानिक डोलार्ड तथा मिलर (1950) मावटर (1950) तथा ह्वाइटिंग तथा वाल्ड (1953) ने सीखने के सिद्धान्त तथा बाल विकास पर शोध कार्य किया । 1958 में इन्स्टीट्यूट ऑफ चाइल्ड हेल्थ (Institute of Child Health) तथा नेशनल फाउन्डेशन फार एजुकेशनल रिसर्च (National Foundation for Education Research) ने लम्बवत विधि से बाल विकास के अध्ययन की ओर अपनी रुचि जागृत की। 1962 में ओहियो मे सैमुअल फिल्म रिसर्च इस्टीट्यूट (The Samual Film Research Institute) ने जन्म से प्रौढावस्था तक के व्यक्तियों का परीक्षण तथा अवलोकन का कार्यक्रम जारी रखा। इसमे विकासात्मक मनोविज्ञान के शोधार्थ अच्छा मार्ग मिला।

विकास मनोविज्ञान का अध्ययन केवल अमेरिका तक ही सीमित न रहकर बल्कि यूरोपीय देशों रूस तथा एशिया महाद्वीप के देशों मे भी फैली। यूरोप में जीन पियाजे (Jene Piaget) तथा रूस में साइमन (Simon) ने विकासात्मक मनोविज्ञान पर पर्याप्त शोधकार्य किया। इसी तरह से आइजैक (Eysenk) ने बालकों के चिन्तन और सवेगात्मक विकास पर पर्याप्त अध्ययन किया। इसके बाद सस्कृति के प्रभाव का अध्ययन मार्गरेट मीड, कार्नर बोलफेन्सटीन ने किया। इतना ही नही विकासात्मक मनोविज्ञान के विकास में वाल्डविन, ब्लेयर गेसेल, गुडएनफ, गेरीसन, मार्टिन, हरलाक, जरसिल्ड, मेरी, रेण्ड, फोरफे एण्ड क्रूज, थाम्पसन, ज्यूवेक एण्ड सालवर्ग, मेकेप्डनेश, कोनरड, वेलट, आदि ने अपने अभूतपूर्व शोध कार्य से महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारतवर्ष के अनेक प्रशिक्षण महाविद्यालयों जैसे—बडौदा, केरल, बम्बई, कुरुक्षेत्र, मनोविज्ञान शाला (ब्यूरो ऑफ साइकोलाजी) इलाहाबाद, तथा सैन्ट्रल इण्स्टीट्यूट ऑफ ऐजुकेशन, दिल्ली में उस दिशा में महत्वपूर्ण शोधकार्य किये गये। सम्प्रति विकास मनोविज्ञान का क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है। अब यह गर्भावस्था से लेकर परिपक्वास्था तक पहुचने वाली शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा प्रौढावस्था की क्षमताओ विशेषताओं तथा विभिन्न परिवर्तन क्रमों के साथ-साथ शारीरिक गत्यात्मक, मानसिक, सवेगात्मक, सामाजिक तथा नैतिक, प्रात्यक्षिक, सज्ञानात्मक तथा चारित्रिक विकास का सम्यक् अध्ययन करने लगा है।

सक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि वर्तमान सदी में विकासात्मक अध्ययनों के उपागम अधिक से अधिक वैज्ञानिक हो गए हैं। अब बडे समूह ब्रदर्शों पर अध्ययन अनिवार्य हो गया है। उससे विश्वसनीय परिणामों की सम्भावना बढ गयी है। सम्प्रति प्रायोगिक विधि एव अन्तर सास्कृतिक अध्ययनों पर अधिक बल दिया जा रहा है। इससे यह लाभ हुआ है कि बालक के विकास के विषय में व्यापक निष्कर्ष प्राप्त हो रहे हैं।

विकासात्मक मनोविज्ञान का स्वरूप
(Nature of Developmental Psychology)

सम्प्रति विकासात्मक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक विशिष्ट शाखा के रूप में प्रतिस्थापित हो चुकी है। उसे एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। विकासात्मक मनोविज्ञान ही एक ऐसा विज्ञान है जिसके अन्तर्गत मानव विकास के सभी पहलुओं का अध्ययन कर सकते है। उस दृष्टिकोण से विकासात्मक मनोविज्ञान का महत्व अन्य

किया। वाल्डविन ने 1921 में एक पुस्तक का प्रकाशन किया। इस पुस्तक मे बालकों के शारीरिक विकास के विषय में विस्तृत सामग्री प्रदान की गयी।

वाल्डविन ने विकास वक्र (Development curve) पर बल दिया। यह प्रथम मनोवैज्ञानिक था जिसने प्रथम प्रयास में बालक के शारीरिक परिपक्वीकरण, शारीरिक विकास तथा मानसिक विकास के पारस्परिक सम्बन्धों की खोज की तथा सतत् परीक्षणों की शृखला में बुद्धिलब्धि की अचलता का अध्ययन किया। 1920 एव 1921 में बालकों की वृद्धि और विकास के विषय में सही सही सूचनाएँ प्राप्त करने की दिशा में मनोवैज्ञानिको द्वारा गहन अभिरुचि प्रदर्शित की गयी । 1922 में डियरवार्न ने प्रथम कक्षा के बहुत सारे बालकों के शारीरिक तथा मानसिक योग्यता के विकास पर परीक्षण किये। 1925 में गैसेल (Gesell) ने शिशु तथा बालकों के शारीरिक एव व्यवहारात्मक विकास पर अध्ययन किया तथा कई शोध प्रबन्ध प्रकाशित किये। 1925 में ही राष्ट्रीय शोध परिषद् (National \Research Board) ने बाल विकास पर एक समिति की स्थापना की तथा 1928 में सोसाइटी फार रिसर्च इन चाइल्ड डेवलपमेंट (Society For Research in Child Development) की स्थापना ने विकासात्मक मनोविज्ञान के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दिया । 1932-37 के मध्य बाल स्वास्थ्य तथा बालक के पालन-पोषण एव रक्षा के सम्बन्ध में अनेक सम्मेलन तथा सगोष्ठियाँ आयोजित की गयी। टर्मन (Terman) तथा उसके सहयोगियों ने बाल विकास के सम्बन्ध में अपना शोध जारी रखा। इस प्रकार 1920-33 के मध्य वशानुक्रम, पर्यावरण, परिपक्वता तथा अधिगम के बीच काफी विरोध चलता रहा।

तत्पश्चात् शकफेलर मेमोरियल तथा जनरल एजुकेशन बोर्ड (General Education Board) से बालकल्याण सस्थाओं के सचालन में आर्थिक मदद प्रदान की गयी। इन सस्थाओं का प्रमुख कार्य बाल विकास पर शोध परक अध्ययन करना था। सर्वप्रथम छोटे बच्चों पर ही शोधकार्य किये गये परन्तु आगे चलकर 1925-32 के मध्य बडे बच्चों पर भी अध्ययन करने की शुरूआत की गयी। इस दिशा में हारवर्ड, कार्नेल, मिनिसोटा, केलिफोर्निया विश्वविद्यालय, आयोवा के बाल कल्याण रिसर्च सेंटर (Child Welfare Research Centre) तथा डेट्रायट के मेटिल पामर स्कूल, इत्यादि ने बाल विकास के अध्ययन में काफी अग्रगामी अध्ययन किये तथा विकासात्मक मनोविज्ञान के विकास में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया।

1935 में राष्ट्रीय शोध परिषद् के तत्वाधान में बाल विकास सम्बन्धी शोध हेतु एक सस्था की स्थापना की गयी । इस सस्था के द्वारा कई शोध पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ। इन पत्रिकाओं में प्रमुखत साइकोनिलिटिकल स्टडी ऑफ दि चाइल्ड (Psychoanalytical Study of the Child), दि रिव्यू ऑफ एजुकेशलन रिसर्च (The Review of Educational Research) तथा चाइल्ड डेवलपमेन्ट (Child development) हैं। 1941 में हार्वर्ड में डियरवार्न ने सरकारी स्कूल के बच्चो को शारीरिक एव मानसिक विशेषताओं का मापन किया। तत्पश्चात् बालकों का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया जाने लगा। इस क्षेत्र में अन्ना फ्रायड (Anna Freud) तथा बलेन का नाम उल्लेखनीय है। 1945 में नेशनल फाउन्डेशन ऑफ एजूकेशनल रिसर्च की स्थापना से बाल मनोविज्ञान तथा विकास मनोविज्ञान को काफी बल लिया।

हरलॉक (Hurlock) के अनुसार प्रारम्भ मे विकास के क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक शोध विशिष्ट आयुस्तरों पर ही केन्द्रित थे तथा विकास अध्ययन के प्रति अभिरुचि मात्र स्कूल के बच्चों तक ही सीमित थी। परन्तु बाद मे चलकर अध्ययन पूर्वशालीय बच्चो (Pre-school Children) के प्रति की जाने लगी। इसके पश्चात् विकास का अध्ययन गर्भस्थ बच्चे तथा

नवजात शिशु के प्रति भी की जाने लगी। फिर धीरे धीरे द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अध्ययन का क्षेत्र, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, प्रौढावस्था, मध्यावस्था तथा वृद्धावस्था तक हो गया ।

1950 में व्यक्तित्व की समस्याओं पर विशेष करके सवेगात्मक तथा सामाजिक विकास पर विशेष बल दिया गया। फ्रायडवाद से प्रेरित होकर मनोवैज्ञानिक डोलार्ड तथा मिलर (1950) मावटर (1950) तथा ह्वाइटिंग तथा वाल्ड (1953) ने सीखने के सिद्धान्त तथा बाल विकास पर शोध कार्य किया । 1958 में इन्स्टीट्यूट ऑफ चाइल्ड हेल्थ (Institute of Child Health) तथा नेशनल फाउन्डेशन फार एजुकेशनल रिसर्च (National Foundation for Education Research) ने लम्बवत विधि से बाल विकास के अध्ययन की ओर अपनी रुचि जागृत की। 1962 में ओहियो मे सैमुअल फिल्म रिसर्च इस्टीट्यूट (The Samual Film Research Institute) ने जन्म से प्रौढावस्था तक के व्यक्तियो का परीक्षण तथा अवलोकन का कार्यक्रम जारी रखा। इसमे विकासात्मक मनोविज्ञान के शोधार्थ अच्छा मार्ग मिला।

विकास मनोविज्ञान का अध्ययन केवल अमेरिका तक ही सीमित न रहकर बल्कि यूरोपीय देशों रूस तथा एशिया महाद्वीप के देशों में भी फैली। यूरोप में जीन पियाजे (Jene Piaget) तथा रूस में साइमन (Simon) ने विकासात्मक मनोविज्ञान पर पर्याप्त शोधकार्य किया। इसी तरह से आइजैक (Eysenk) ने बालकों के चिन्तन और सवेगात्मक विकास पर पर्याप्त अध्ययन किया। इसके बाद सस्कृति के प्रभाव का अध्ययन मार्गरेट मीड, कार्नर बोलफेन्सटीन ने किया। इतना ही नही विकासात्मक मनोविज्ञान के विकास में वाल्डविन, ब्लेयर, गेसेल, गुडएनफ, गेरीसन, मार्टिन, हरलाक, जरसिल्ड, मेरी, रेण्ड, फोरफे एण्ड क्रूज, थाम्पसन, ज्यूवेक एण्ड सालवर्ग, मेकेप्डनेश, कोनरड, वेलट, आदि ने अपने अभूतपूर्व शोध कार्य से महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारतवर्ष के अनेक प्रशिक्षण महाविद्यालयों जैसे—बडौदा, केरल, बम्बई, कुरुक्षेत्र, मनोविज्ञान शाला (ब्यूरो ऑफ साइकोलाजी) इलाहाबाद, तथा सैन्ट्रल इण्स्टीट्यूट ऑफ ऐजुकेशन, दिल्ली में उस दिशा में महत्वपूर्ण शोधकार्य किये गये। सम्प्रति विकास मनोविज्ञान का क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है। अब यह गर्भावस्था से लेकर परिपक्वास्था तक पहुचने वाली शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा प्रौढावस्था की क्षमताओं विशेषताओं तथा विभिन्न परिवर्तन क्रमों के साथ-साथ शारीरिक गत्यात्मक, मानसिक, सवेगात्मक, सामाजिक तथा नैतिक, प्रात्यक्षिक, सज्ञानात्मक तथा चारित्रिक विकास का सम्यक् अध्ययन करने लगा है।

सक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि वर्तमान सदी में विकासात्मक अध्ययनों के उपागम अधिक से अधिक वैज्ञानिक हो गए हैं। अब बडे समूह ब्रदर्शों पर अध्ययन अनिवार्य हो गया है। उससे विश्वसनीय परिणामों की सम्भावना बढ गयी है। सम्प्रति प्रायोगिक विधि एव अन्तर सास्कृतिक अध्ययनों पर अधिक बल दिया जा रहा है। इससे यह लाभ हुआ है कि बालक के विकास के विषय में व्यापक निष्कर्ष प्राप्त हो रहे हैं।

विकासात्मक मनोविज्ञान का स्वरूप
(Nature of Developmental Psychology)

सम्प्रति विकासात्मक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक विशिष्ट शाखा के रूप मे प्रतिस्थापित हो चुकी है। उसे एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। विकासात्मक मनोविज्ञान ही एक ऐसा विज्ञान है जिसके अन्तर्गत मानव विकास के सभी पहलुओं का अध्ययन कर सकते है। उस दृष्टिकोण से विकासात्मक मनोविज्ञान का महत्व अन्य

विज्ञानो की तुलना मे बढ गया है। विकासात्मक मनोविज्ञान ही एक ऐसा विज्ञान है जिसमे गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त होने वाल विकास, वृद्धि एव परिवर्तनों का अध्ययन करते है। उसी कारण उसे विशिष्ट रूप मे स्वतन्त्र विज्ञान के रूप मे मान्यता मिल चुकी है। सम्प्रति विकासात्मक मनोविज्ञान इस दशा में हैं कि उसमे विभिन्न समस्याओं पर स्वतन्त्र एव ठोस रूप में कार्य किये जा रहे हैं । सम्प्रति विकासात्मक मनोविज्ञान के शोधकार्यों की स्थिति काफी मजबूत हो गयी है। (Aschenbach, 1978, Binger 1983, Smart & Smart 1982, Hurlock 1975, Kulhen and Thompson 1952, Stott 1974)

इस प्रकार यह स्पष्ट हो चुका हैं कि विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत विकासात्मक प्रक्रियाओ का अध्ययन गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त किया जाता है। हरलाक (Hurlock 1975) ने विकासात्मक मनोविज्ञान को निम्नलिखित रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है।

विकासात्मक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की वह शाखा है जो मानव प्राणियो के गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक विकासो का सम्यक् अध्ययन करती है।

Developmental Psycnology s the branch of Psychology that studies the development of the human beings from conception to death

स्टाट (Stott 1974) ने भी विकासात्मक मनोविज्ञान को परिभाषित करते हुए निम्नलिखित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

"मानव के सम्पूर्ण जीवन अवधि मे उत्पन्न होने वाली क्रियाओं में एव इन क्रियाओ मे होने वाले विकासात्मक परिवर्तनों की रूपरेखा तैयार करने में ही आधुनिक विकासात्मक मनोवैज्ञानिकों की अधिक रुचि है।'

Today developmental Psychologists are more interested in origin of human functioning and in searching developmental changes in these functions through the whole life span

हरलाक (Hurlock 1968) ने एक स्थान पर विकासात्मक मनोविज्ञान के दृष्टिकोण को इस प्रकार से प्रस्तुत किया हैं।

"विकासात्मक मनोवैज्ञानिक की रुचि यह पता लगाने की होती है कि एक विकासात्मक अवस्था के पूर्व एव उसके बाद क्या होता है या सभवत हो सकता है। वह एक काल में होने वाले विकास के स्वरूप को दूसरे काल के सम्बन्ध में ज्ञात करना चाहता है। कोई भी व्यक्ति जब इस दृष्टिकोण से व्यवहार का अध्ययन करता है वह विकासात्मक मनोवैज्ञानिक हो सकता है।

"The developmental Psychologists' interest in the behaviour of an individual organism at any given time is in terms of what has preceeded and what follows or is likely to follow this particular level of development He seeks to discover the trend of development at one stage in relation to other stages Any person who studies behaviour in such a manner as to disclose its developmental aspects may be regarded as a genetic or developmental Psychologists

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो रहा है कि विकासात्मक मनोविज्ञान में सम्पूर्ण जीवन अवधि में क्या क्या विकासात्मक परिवर्तन होते हैं उसका सम्यक् अध्ययन किया जाता है। किसी निश्चित अवस्था मे विकास कैसा हो रहा है उसके पूर्व कैसा विकास था तथा भविष्य में विकास की क्या दिशा होगी इन सभी पहलुओं का अध्ययन करती है। विकास एक अत्यधिक नवीन सम्प्रत्यय है। अत हम सक्षेप में यह कह सकते हैं कि विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत हम सम्पूर्ण जीवन के प्रत्येक अवस्था में निश्चित विकास क्रम का अध्ययन करते है। साथ ही साथ प्रत्येक अवस्था में विभिन्न तरह के विकास का भी अध्ययन करते हैं जैसे—सामाजिक विकास, मानसिक विकास, सावेगिक विकास, चारित्रिक विकास, सज्ञानात्मक विकास, प्रात्याक्षिक विकास तथा नैतिक विकास। विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत विकास की गति का भी अध्ययन करते हैं। जैसा कि विदित है कि जीवन के पूर्वार्द्ध में विकास की गति तीव्र होती है और ह्रास की गति कम होती है। जीवन के उत्तरार्द्ध में विकास की गति धीमी तथा ह्रास की गति तीव्र होती है। अत हम यह कह सकते हैं कि विकासात्मक मनोविज्ञान अब एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में स्थापित हो चुका है तथा यही एक ऐसी शाखा है जो व्यक्ति के विकास अनुक्रमो की सम्यक् जानकारी देता है।

कभी-कभी भ्रामक स्थिति पैदा हो जाती है जब बाल मनोविज्ञान एव विकासात्मक मनोविज्ञान को लोग एक ही समझ बैठते हैं। यहाँ पर यह अन्तर स्पष्ट करना उचित होगा। हरलाक (Hurlock 1954) के अनुसार बाल मनोविज्ञान में गर्भाधान से लेकर परिपक्वास्था तक के ही विकासों एव परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। जबकि विकासात्मक मनोविज्ञान मनोविज्ञान में गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त विकासात्मक परिवर्तनों तथा ह्रासात्मक परिवर्तन का अध्ययन होता है। इस प्रकार हम यह देख रहे हैं कि विकासात्मक मनोविज्ञान का क्षेत्र एव कार्य सीमा बाल मनोविज्ञान की तुलना में काफी विस्तृत हो गया है। विकासात्मक मनोविज्ञान के स्वरूप को हम कुछ उसकी प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण करके प्रस्तुत कर सकते हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत् हैं।

(1) **विकासात्मक मनोविज्ञान एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप मे**—एक विषय को विज्ञान का स्वरूप प्राप्त करने में जो विशेषताएँ होनी चाहिए वह सभी विशेषताएँ विकासात्मक मनोविज्ञान में परिलक्षित होती हैं। विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत हम प्राणियों के व्यवहार का अध्ययन गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त करते हैं। इसके साथ ही साथ हम विकास की गति, विकास की दिशा एव अनुक्रम तथा विकासात्मक परिवर्तन का अध्ययन विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत करते है। विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक विकासात्मक ह्रास का भी अध्ययन करता है। इसके अन्तर्गत प्राचीन व्यवहारो का समापन तथा नये व्यवहारों का उद्भव होता है। जैसा कि सर्वविदित है कि मानव का प्रत्येक अवस्था में व्यवहार उस अवस्था के अनुरूप होता है। सक्षेप मे कह सकते हैं कि जन्म के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त प्राणी के व्यवहार में परिवर्तन एव परिमार्जन स्वाभाविक है। विकासात्मक मनोविज्ञान इस परिवर्तन एव परिमार्जन का सम्यक अध्ययन व्यवहार के सदर्भ में करता है।

(2) **विकासात्मक मनोविज्ञान के अध्ययन मे वैज्ञानिक विधियो का उपयोग** (Use of Scientific Methods in Studying Developmental Psychology)—विकासात्मक मनोविज्ञान की प्रमुख विधियाँ वैज्ञानिक हैं इसलिए भी उसे एक स्वतन्त्र विज्ञान की शाखा के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी है। प्रमुखत जिन प्रामाणिक विधियों का उपयोग व्यवहार के अध्ययन में किया जाता है वे हैं, चरित्र लेखन विधि, आत्मचरित्र लेखन विधि, अवलोकन विधि, प्रश्नावली विधि, प्रयोगात्मक विधि, मनोमिति विधियाँ इत्यादि। सर्वप्रथम विकसित विधि आत्मचरित लेखन एव चरित लेखन विधि है। इस विधि में बच्चों के विकासात्मक पहलुओं

का सम्यक् अध्ययन किया जाता है। प्रेक्षण एव प्रश्नावली विधियो द्वारा भी बालक के विकासात्मक परिवर्तन तथा ह्रास का अध्ययन किया जाता है। बालक के अन्तर्गत किस प्रकार का क्यों तथा कैसे परिवर्तन हो रहे हैं इन सभी विषयों का पूरी तरह से अध्ययन करता है। विभिन्न जीवन अवस्थाओं में क्या-क्या विकासात्मक दशा मे समस्याएँ दिखायी दे रही है उनकी एक सूची तैयार की जाती है तथा उन समस्याओं का निराकरण करके बालक के विकास को सुदृढ बनाने का प्रयास किया जाता है। विकासात्मक मनोविज्ञान प्रयोगात्मक विधि का भी उपयोग करती है। इस विधि के अन्तर्गत, स्वतन्त्र एव परतन्त्र चर या कारण एव प्रभाव (Cause and Effect) के मध्य सह सम्बन्ध ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है। विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत हम इन विधियों की सहायता से व्यक्ति के विकासात्मक परिवर्तन हो रहे हैं और परिस्थितियाँ किस तरह से विकास की गति पर अपना प्रभाव डालती हैं इसका भी अध्ययन करते हैं।

इन प्रामाणिक विधियों की मदद से हम विकासात्मक परिवर्तन, विकास के क्रम, विकास की दिशा एव विकासात्मक ह्रास के लिए भविष्यवाणी भी कर सकते हैं। जैसा कि मालूम है कि विकास की प्रत्येक अवस्था की अपनी मौलिक विशेषताएँ होती है। इन मौलिक विशेषताओं का उद्‌भव किस तरह हो रहा है इसका भी अध्ययन हम इन विधियों की मदद से कर सकते हैं। इन विधियों की मदद से वर्तमान एव अतीत की अवस्थाओ को निरन्तरता के सातत्यक पर आसानी से समझा जा सकता है।

(3) **विकासात्मक मनोविज्ञान के विशिष्ट उपागम** (Specific Approaches of Developmental Psychology)—विकासात्मक मनोविज्ञान का तीसरा आयाम उसके अध्ययन के विशिष्ट उपागम है जो इसे विकास की श्रेणी में मान्यता प्रदान करने में सहायक है। सम्प्रति विकासात्मक मनोविज्ञान के दो प्रमुख उपागम हैं। प्रथम उपागम प्रतिनिध्यात्मक के नाम से जाना जाता है तथा दूसरा उपागम अनुदैर्ध्य के नाम से जाना जाता है। जब एक व्यक्ति या एक समूह को लेकर उसका दीर्घकालीन अध्ययन प्रेक्षण के माध्यम से किया जाता है तो उसे प्रतिनिध्यात्मक या दीर्घकालिक उपागम कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी बालक के विकास की प्रक्रिया का अध्ययन पूरी अवधि के विभिन्न आयु स्तरों पर करते हैं तो इसके लिए आयु को कई स्तरों में बाँट लेते हैं—जैसे प्रथम वर्ष, द्वितीय वर्ष एव इसी क्रम मे आगे भी अध्ययन किया जायेगा। इस तरह से यह अध्ययन किया जा सकता है कि विभिन्न आयु स्तरों पर बालक की ऊँचाई वजन एव भाषा तथा बुद्धि में किस तरह से विकास हो रहा है। इस प्रकार से इस उपागम द्वारा किया जाने वाला अध्ययन विकास निरन्तरता का विश्लेषणात्मक रूप प्रस्तुत करता है। यह एक ऐसा उपागम है जो विकासात्मक प्रक्रिया की पूरी तस्वीर (Complete Picture) अध्ययनकर्ता के सामने प्रस्तुत करता है। इस उपागम द्वारा प्राप्त होने वाले परिणाम विश्वसनीय एव वैध होते हैं। (Bayley, 1963, Carlson, 1965, Moolusky 1959, Tilker 1975) और प्रतिनिध्यात्मक परिणाम के रूप में इन्हें स्वीकार किया जाता है।

दूसरा उपागम जो अनुदैर्ध्य उपागम या समकालिक उपागम के नाम से जानी जाती है, इस उपागम से अध्ययनकर्ता अध्ययन करते समय विभिन्न आयुस्तरों के तुलनात्मक समूह (Matched group) चुन लेता है तथा उनके विकासात्मक प्रतिमानों का अध्ययन करता है। इस उपागम से अध्ययन करते समय कई प्रकार की मुश्किलों का सामना करना पडता है। **उदाहरणार्थ**—विभिन्न आयु स्तरों के समूहों का मिलना सबसे कठिन समस्या है। केली (Kelley 1955) के अनुसार, इस विधि द्वारा प्राप्त परिणाम के आधार पर विश्वसनीय निर्णय

देना मुश्किल होता है। Hurlock (1974, 1975) Stott (1974), Hethrington and Parke (1975), Tilker (1975) आदि ने इस विधि में अनेक दोषों का उल्लेख किया है। इन दोषों की चर्चा विधियॉ एव उपागमो के अध्याय में की जायेगी।

विकासात्मक मनोविज्ञान का क्षेत्र
(Scope of Developmental Psychology)

एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में विकासात्मक मनोविज्ञान का क्षेत्र काफी विस्तृत हो चुका है। विषय सामग्री, उपागम एव विधियों के दृष्टिकोण से भी इसका क्षेत्र व्यापक है। जैसा कि सर्वविदित है कि विकासात्मक मनोविज्ञान में मानव में गर्भाधान से मृत्यु होने वाले विकासात्मक परिवर्तनों विकास की दिशा एव विकास की गति का अध्ययन किया जाता है।

विकास एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जो गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त तक चलती रहती है। विभिन्न अवस्थाओं में विकास की गति विभिन्न तरह की होती है। विकासात्मक परिवर्तन एव ह्रास के कई कारण हो सकते हैं इन पर अनेक कारकों का प्रभाव पडता है। इन सभी पक्षो का सम्यक् अध्ययन विकासात्मक मनोविज्ञान की विषय-वस्तु है। इनी पक्षों से विकासात्मक मनोविज्ञान के क्षेत्र का निर्माण निर्धारित होता है। इन सभी पक्षों के आधार पर विकासात्मक मनोविज्ञान के निम्नलिखित क्षेत्र हो सकते हैं जिनका अध्ययन आवश्यक है । हरलाक (1975) ने निम्नलिखित क्षेत्रों का विकासात्मक मनोविज्ञान की दिशा में सार्थक बताया है।

(1) विकास की अवस्थाओ तथा विशेषताओ का अध्ययन
(Study of Developmental stages and Its Characteristics)

विकास एक नियमित एव निरन्तर प्रक्रिया है इसलिए विकास एक लम्बी अवधि तक चलने वाली प्रक्रिया है। ऐसा कदापि नही कि विकास कुछ ही वर्षों में पूरी हो जाती है बल्कि विकास गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। इसलिए विकास को गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त कई अवस्थाओं सें गुजरना पडता है। इन अवस्थाओं की अपनी खास मौलिक विशेषताएँ होती हैं। इनका अध्ययन करना विकासात्मक मनोविज्ञान का प्रथम एव मौलिक दायित्व है। प्रत्यके अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक एव सावेगिक विकास देखे जा सकते हैं। इनका विकास किस तरह से परिलक्षित हो रहा है इसका अध्ययन करना विकासात्मक मनोविज्ञान का विषय है। विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए सुविधानुसार निम्नलिखित अवस्थाओं जैसे—गर्भावस्था, शैशवावस्था, बचपनावस्था, पूर्व बाल्यावस्था, उत्तर बाल्यावस्था, पूर्व किशोरावस्था, किशोरावस्था पूर्व प्रौढावस्था, मध्यावस्था एव वृद्धावस्था में विभिक्त करना श्रेयस्कर होगा । इन उपर्युक्त अवस्थाओं में मानव के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की विशेषताएँ देखी जाती हैं। इसमें प्राय ऐसा देखा जाता है कि जब एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बालक प्रवेश करता है तो पहली अवस्थाओं की विशेषताओं का लोप हो जाता है तथा दूसरी अवस्थाओं की विशेषताओं का उद्भव होता है। नवीन अवस्था में शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक तथा अन्य लक्षणों का उद्भव होता है जो समायोजन की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझे जाते हैं।

(2) विभिन्न परिवर्तनो का अध्ययन
(Study of Different Changes)

विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत व्यक्ति में होने वाले विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों का अध्ययन सम्यक्रूप से किया जाता है। प्रत्येक अवस्था में विभिन्न प्रकार के विकासात्मक परिवर्तन देखे जा सकते हैं। जैसे—यह देखता है कि बच्चे के अन्दर, उठने, बैठने, बोलने,

दौडने, खेलने दॉत निकलने आदि का क्या समय होगा। इन सभी का अध्ययन करना प्राय आवश्यक हो जाता है। विकासात्मक परिवर्तनो की प्रक्रिया एक अवधि में ही पूरी नही हो पाती है बल्कि यह एक निरन्तर अविरल प्रक्रिया है जो जीवनपर्यन्त चलती रहती है। यह प्रक्रिया गर्भाधान से आरम्भ होती है तथा वृद्धावस्था तक चलती रहती है। इन अवस्थाओं मे विशेषरूपेण शारीरिक सामाजिक नैतिक मानसिक बौद्धिक परिवर्तन देखे जा सकते हैं। इन परिवर्तनों का क्या कारण है। इसका भी अध्ययन विकासात्मक मनोविज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। इन अवस्थाओं में विभिन्न परिवर्तनो के साथ-साथ विभिन्न विशेषताओ का उद्भव भी होता है जिससे समायोजन की समस्या बढ जाती है। **उदाहरणार्थ**—शैशवावस्था मे नवीन पर्यावरण के साथ समायोजन प्रमुख विशेषता है। यह समायोजन प्राय जन्म से द्वितीय सप्ताह की अवधि तक का होता है। बचपनावस्था मे एक दूसरी विशेषता जन्म लेती है जिसे आश्रितता (Dependency) कहते हैं। किशोरावस्था में विपरीत लिगों के प्रति आकर्षण (Attraction towards opposite sexes) की विशेषता जन्म लेती है तथा वृद्धावस्था मे समायोजन की समस्या एकाकीपन की समस्या तथा शारीरिक ह्रास की समस्या प्रमुखत होती हैं। इन सभी समस्याओं का कारण क्या होता है इसका अध्ययन करना विकासात्मक मनोविज्ञान का विषय क्षेत्र है।

(3) परिवर्तनो का व्यवहार पर प्रभाव का अध्ययन

(Study of effect of changes on Behaviour)

विकास की अवस्थाओं के अन्तर्गत जो परिवर्तन परिलक्षित होते हैं उनका प्रभाव प्राणी के व्यवहार पर स्पष्ट प्रदर्शित होता है। विकास की अवधि में प्रमुखत इस तरह के परिवर्तन देखे जा सकते हैं वे इस प्रकार से हैं—(1) आकार में परिवर्तन (Changes in size), (2) अनुपात मे परिवर्तन (changes in Proportion), (3) प्राचीन आकृतियों का लोप (Disappearance of old features) और (4) नयी आकृतियों का उद्भव (Appearance of New features), विकास अवधि के दरम्यान शारीरिक एव मानसिक परिवर्तन भी परिलक्षित होते हैं। शारीरिक परिवर्तनों का प्रेक्षण सम्भव है। परन्तु मानसिक परिवर्तनों का प्रेक्षण प्रत्यक्षत सम्भव नही है। इनका पता केवल मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के माध्यम से ही लगाया जा सकता है। इन परिवर्तनों के कारण व्यक्ति का व्यवहार जटिल हो जाता है जिसका अध्ययन करना विकासात्मक मनोविज्ञान की विषयवस्तु है।

(4) परिवर्तन के विषय मे भविष्यवाणी करना

(Prediction of Changes)

सम्प्रति विकासात्मक मनोविज्ञान का उद्देश्य परिवर्तन के विषय में भविष्यवाणी करना भी हो गया है। आज विकासात्मक मनोविज्ञान का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि वह व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों की भविष्यवाणी कर सकता है। आज हम प्रत्येक अवस्था मे होने वाले परिवर्तनों का एक मानक तैयार कर लेते हैं और इन मानको के आधार पर यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि विकास की अमुक अवस्था में किस प्रकार के परिवर्तन देखे जा सकते हैं। इन मानकों की सहायता से विकासात्मक परिवर्तनों, विकास की दिशा एव विकास के दौरान विकसित होने वाली विशेषताओं की भविष्यवाणी आसानी से की जा सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट किया जा सकता है कि प्रामाणिक तथ्यों एव निष्कषो के आधार पर विकास की विभिन्न अवस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों की भविष्यवाणी सभव है।

2 विकास का अर्थ एवं नियम
(Meaning and Laws of Development)

पिछले अध्याय मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मानव विकास की प्रक्रियाओ का अध्ययन करना ही विकासात्मक मनोविज्ञान की विषयवस्तु तथा उद्देश्य है। हरलाक द्वारा प्रस्तुत विकासात्मक मनोविज्ञान की परिभाषा में यह परिलक्षित होता है कि विकासात्मक मनोवैज्ञानिक की अभिरुचि मात्र यह ज्ञात करने की होती है कि एक निश्चित विकास अवस्था के पहले तथा बाद मे क्या होता है ? या सभवत क्या हो सकता है ? इससे विकासात्मक मनोविज्ञान का उद्देश्य स्पष्ट है। अत प्रस्तुत अध्याय मे हम विकास के स्वरूप एव विकास के नियम पर प्रकाश डालेंगे ।

विकास का अर्थ
(Meaning of Development)

इग्लिश एव इग्लिश (English and English) के मतानुसार विकास शरीर-व्यवस्था मे एक लम्बे समय से होने वाले सतत परिवर्तन का एक अनुक्रम है। विशेषतया ऐसे परिवर्तन प्राणी मे उसके जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक होते रहते हैं।

पाल एच मुसेन (Paul H Mussen 1963) का कथन है कि विकास एक निरन्तर होने वाली प्रक्रिया है जो गर्भावस्था से प्रारम्भ होकर परिपक्वावस्था तक जारी रहती है।

गार्डन (Gardon 1962) का कथन है कि विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति के अन्दर जन्म से लेकर उस समय तक जारी रहती है जब तक वह पूर्ण विकास को नही प्राप्त होता है।

हरलाक (Hurlock 1968) के अनुसार विकास प्रगतिशोल परिवर्तनो का एक नियमित, क्रमिक तथा सुसम्बद्ध क्रम है जो कि परिपक्वता की प्राप्ति की ओर निर्देशित रहता है।

गेसेल (Gesell) के अनुसार विकास एक प्रकार का परिवर्तन है जिसके द्वारा बच्चों में नई विशेषताओ तथा क्षमताओं का प्रादुर्भाव होता है।

पीकूनस एव अलब्रेच के अनुसार विकास एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चे या व्यक्ति की क्षमताओं का प्रादुर्भाव होता है उसमें नई योग्यताओं मे, नये कौशल, गुणों और क्षमताओं का समावेश होता है। साथ ही उसमें मानव प्राणी की विवृद्धि, ऊँचे दर्जे की विभिन्नता, जटिलता, कुशलता, उसकी शिराओ तथा सरचनात्मक सस्थाओं का अपचय परिपक्वीकरण तथा उसके कार्यात्मक एव अनुकूलनात्मक योग्यता के अपक्षय अन्तर्निहित रहता है ।

एण्डरसन (Anderson 1950) के अनुसार, "विकास शब्द से मतलब ऐसे प्रगामो परिवर्तनों की शृखला से है जो परिपक्वता एव अनुभव के कारण क्रमबद्ध एव प्रागुक्तियोग्य प्रतिमान के रूप में उत्पन्न होता है।"

"The term development means a progressive serves of changes that occur in an orderly, predictable pattern as a result of Maturation and experience

Hurlock (1975) के अनुसार विकास के दरम्यान दो परस्पर विरोधी प्रक्रियाएँ दिखायी पडती हैं।

(1) वृद्धि या विकास (Growth or Evolution)

(2) अपक्षय या ह्रास (Arophy or Involution)

ये दोनों प्रक्रियाएँ गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त परिलक्षित होती रहती हैं। प्रारम्भिक वर्षों में वृद्धि की गति तीव्र तथा अपक्षय एव ह्रास की गति मन्द रहती है। परन्तु उत्तरावस्था मे विकास की गति मन्द एव अपक्षेय की गति तीव्र हो जाती है। परिपक्तवा एव अनुभव के परिणामस्वरूप परिवर्तन होते रहते हैं।

पियाजे (Piaget 1970) का मत भी इसी प्रकार का है कि विकास परिपक्वता एव अनुभव का ही प्रकार्य है तथा इन्ही के कारण परिवर्तन होते हैं । इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि विकास की अवधि में वृद्धि एव अपक्षय की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं।

व्यक्ति में होने वाले परिवर्तन प्रगामी होते हैं। Hurlock (1950) के अनुसार परिपक्वता के लक्ष्य के प्रति क्रमबद्ध ससक्त परिवर्तनों की प्रगामी शृखला ही विकास है। प्रगामी शब्द से स्पष्ट है कि होने वाले परिवर्तन दिशोन्मुख एव अग्रगामी होते हैं न कि पृष्ठगामी होते हैं। क्रमवद्ध एव ससक्त से तात्पर्य है कि विकास अनुक्रम की प्रत्येक अवस्था एव उसकी अवस्था में निश्चित सम्बद्ध होता है।

"Development refers to the progressive of changes of an orderly, coherent type toward the goal of Maturity The term "Progressive" signifies that the changes are directional, leading forward rather than backward The term "orderly" and "coherent" suggest that development is not a haphazard, casual type but rather that there is a difinite relationship between each stage and the next in the developmental sequence "

हरलाक द्वारा प्रस्तुत किया गया उद्धरण विकास के स्वरूप को पूर्णतया स्पष्ट कर रहा है। यह भी पूर्णतया निश्चित है कि विकास पर पर्यावरण का भी प्रभाव पडता है। अगर हम यह कहें कि विकास की गति कभी भी अवरूद्ध नही होती है बल्कि यह एक सतत् प्रक्रिया है जो गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त चलती रहती है। प्रारम्भिक वर्षों में विकास की गति तीव्रता तथा बाद के वर्षों में विकास की तीव्र मन्द हो जाती है। अब हम विकास की अवस्थाओं का वर्णन करेंगे जिसमें बालक का विकास निहित होता है।

विकास की अवस्थाएँ

यह निर्विवाद एव अक्षरश सत्य है कि मानव का विकास जन्म से लेकर मृत्यु कई अवस्थाओं के अन्तर्गत होता है। विभिन्न योग्यताओं, विशेषताओं एव कौशल का विकास शनै-शनै होता है। विकास की प्रत्येक अवस्था के अपने-अपने लक्षण तथा विशेषताएँ होती हैं। ये विशेषताएँ एक अवस्था को दूसरी अवस्था से विलग करती हैं। विकास के दौरान जहाँ एक तरफ नवीन परिवर्तन परिलक्षित होते हैं वही दूसरी तरफ कुछ पुराने लक्षणों एव विशेषताओं का लोप भी होता है। (Zubec and sollberg, 1950, Hurlock 1975, Tilker 1975)

इन अवस्थाओं का वर्गीकरण विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यक है। निम्न चित्र से विकास की अवस्थाओं को आसानी से समझा जा सकता है

ह्रास या अपक्षय ↓ | वृद्धि एव विकास ↑

- वृद्धावस्था (Old age) 60 वर्ष से मृत्यु तक
- मध्यावस्था (Middle age) 40-60 वर्ष तक
- पूर्व प्रौढावस्था (Early adulthood) 21 40 वर्ष तक
- उत्तरकिशोरावस्था (Late adolescence) 17 से 21 वर्ष तक
- किशोरावस्था (adolescence) 13-14 से 17 वर्ष तक
- पूर्व किशोरावस्था (Early adolescenece) 10-12 से 13-14 वर्ष तक
- उत्तर बाल्यावस्था (Latechildhood) 6 से 10-12 वर्ष तक
- पूर्व बाल्यावस्था (Early childhood) 2 से 6 वर्ष तक
- बचपनावस्था (Babyhood) द्वितीय सप्ताह से दो वर्ष तक (Second week to two years)
- शैशवास्था (Infancy) जन्म से द्वितीय सप्ताह तक (Birth to Second weeks)
- गर्भकालीन अवस्था (Prenatal stage) गर्भाधान से जन्म तक (Conception to Birth)

विकास की अवस्थाओं में नवीन विशेषताओ में वृद्धि या विकास और पुरानी विशेषताओ का अपक्षय होता रहता है।

(Zubec and Solberg 1954, Hurlock 1975 पर आधारित)

गर्भावस्था

यह गर्भाधान से लेकर जन्म होने तक ही अवस्था है। यह अवस्था लगभग 9 महीने या 280 दिन की होती है। इस अवधि को क्रमश अण्डाणु अवस्था (Stage of ovum), भ्रूणावस्था (Embryonic stage) एव गर्भस्थ शिशु की अवस्था (Fetal stage) मे विभक्त किया गया है। इन अवस्थाओं में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। गर्भकालीन अवधि में विकास की गति तीव्र होती है। इस अवस्था में द्रुतगति से परिवर्तन भी होती है। विभिन्न अगों के निर्माण की प्रक्रिया भी इस अवधि में प्रारम्भ हो जाती है। इस अवधि में शरीर के अन्य भागो की तुलना में सिर अधिक बडा होता है। अण्डाणु अवस्था गर्भाधान से लेकर 2 सप्ताह तक की होती है। उसमें गर्भस्थ जीन अण्डे की आकृति का होता है। इसके जीवाणु में मूल पैतृक विद्यमान रहते हैं। इस समय कोष विभाजन की प्रक्रिया चालू रहती है। इस अवस्था की दूसरी अवस्था भ्रूणावस्था कहलाती है। यह दूसरे सप्ताह से लेकर आठवें सप्ताह तक रहती है। इस अवस्था में कोष समूह में तीन परतों का विकास हो जाता है जिसके आधार पर शरीर के विभिन्न अगों का विकास सम्भव होता है। वाह्यपरत से त्वचा, नाखून, बाल दॉत ग्रन्थियॉ, स्नायुमडलों का विकास होता है। मध्यपरत से मॉसपेशियों, रक्त सचारी, नाडियॉ और अन्दर की परत से यकृत, फेफडे, पाचन ग्रन्थि और थायराइड पिण्ड आदि का विकास होता है। 8 सप्ताह के अन्त में यह पिण्ड लगभग 2" लम्बा एव उसका वजन 2 ग्राम के लगभग हो जाता है। तीसरे सप्ताह में दिल के धडकने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इसी अवस्था में मुँख

ललाट ओर पलको कानो तथा ऑखो का विकास हो जाता है। इस अवस्था मे असावधानी के कारण गर्भपात होने तथा पिण्ड की आकृति बिगडने की सम्भावना अधिक रहती है।

विकास की गर्भकालीन अवस्था की तीसरी महत्वपूर्ण अवधि गर्भस्थ शिशु की अवस्था (Fetal stage) होती है। यह अवधि भ्रूणावस्था से प्रारम्भ होती है तथा जन्म के समय तक चलती है। इस अवधि में आकार मे वृद्धि होती है। इस अवधि में कुछ नवीन सरचनाएँ भी जन्म लेती है। इस अवधि मे तत्रिका तन्त्र (Nervous system) ग्रन्थियाँ (glands) एव ककाल (Skeleton) तथा अन्य अगो का विकास होता है। इस विषय पर विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने काफी विस्तृत चर्चा की है जैसे थाम्पसन 1952, कारमाइकेल 1946, ज्यूवेक एव सालवर्ग 1954, हरलाक 1975 एव टिलकर 1975

1940 तक मनोवैज्ञानिको की यह धारणा थी कि गर्भस्थ शिशु के शारीरिक विकास पर मॉ के स्वास्थ्य का भी प्रभाव पडता है परन्तु आज यह सिद्ध हो चुका है कि गर्भस्थ शिशु पर मॉ के सवेगात्मक अवस्थाओ का भी प्रभाव पडता है। (Sontag 1966, 1969 एव Tilker 1975) अत यह स्पष्ट है कि गर्भकालीन अवस्था मे जीव का विकास शारीरिक रूपेण होता हैं। विकास की गति काफी तेज होती है। उदाहरणार्थ—पॉचवे माह मे हाथ पैर के नाखून निकलने लगते हैं। छठवें महीने मे ऑखे और भौहें बन जाती है। आठवें एव नौवे महीने मे मानव शरीर का पूरा ढॉचा बनकर तैयार हो जाता है। इस अवस्था मे अनेक सहज क्रियाओं (Reflexes) का विकास होता है। गैसेल (1939) के अनुसार इस अवस्था में सवेदनशीलता का प्रारम्भ हो जाता है। यह बात सर्वमान्य है कि गर्भावस्था मे माता का भोजन निरोगता मदिरा सेवन माता पिता की आयु और सवेगात्मक तनाव आदि का गर्भस्थ शिशु के विकास पर प्रभाव पडता है। आठवें माह मे गर्भस्थ शिशु की लम्बाई 20′ तथा वजन 7 या 7 5 पौण्ड होता है।

शैशवावस्था (Infancy)

यह अवस्था विकासक्रम की दूसरी अवस्था है। यह जन्म के बाद दो सप्ताह तक मानी जाती है। इस अवधि मे बच्चे को नवजात शिशु (Neonate) भी कहते है। यह अवस्था पूर्णत बच्चे के लिए नये वातावरण के प्रति समायोजन की अवधि होती है। इस अवस्था को दो भागो मे वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम भाग जन्म से 15 या 30 मिनट तक मानी जाती है जिसे पूर्व नवजात शिशु की अवस्था (Period of Partunate) कहते है। द्वितीय भाग 30 मिनट पैदा होने के बाद से दो सप्ताह तक चलती है। प्रथम अवस्था जिसे नवजात अवस्था भी कहते हैं इसमें शिशु पूर्णत पराश्रयी होता है तथा नवीन पर्यावरण के साथ समायोजन करने में असमर्थ रहता है। दूसरी अवस्था में शिशु का अलग अस्तित्व (Seperate Existence) हो जाता है तथा शिशु पर्यावरण के साथ समायोजन करने में समक्ष हो जाता है। इस तरह से पराश्रयी की अवस्था समाप्त हो जाती है। शरीर के अगो में सबसे पहले माथे का विकास सबसे अधिक होता है। मिलर (Miller 1950) के अनुसार यह अवस्था **मूलत** समायोजन की अवस्था होती हे। **वेल** इत्यादि (Bell etal 1971) के अनुसार शैशवावस्था व्यक्ति के आगामी विकास की झलक उसी प्रकार देता है जिस प्रकार किस पुस्तक के स्वरूप के बारे मे उसका आमुख देता है।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि शैशवावस्था को समायोजन की अवस्था कहना गलत न होगा। उस अवस्था में समुचित समायोजन स्थापित करने के लिए शिशु को तापमान के प्रति समायोजन, स्वॉसक्रिया चूसना निगलना और निरसन क्रियाएँ भी स्वय करनी पडती है।

बचपनावस्था (Babyhood)

इस अवस्था की अवधि 2 सप्ताह से लेकर 2 वर्ष तक रहती है। इसमें शिशु असहाय अवस्था मे रहता है आर अपनी आवश्यकनाओं की पूर्ति हेतु आत्मनिर्भर न होकर पराश्रयी बना रहता है। इस अवस्था मे शारीरिक एव गर्भिक विकास परिलक्षणित होने हैं। इस अवस्था मे शिशु लेटने, बेठने और चलने-फिरने लगता है। उसमें वस्तुओं का छूने तथा हाथ फैलाने और उसे पकडने की गति पाई जाती है। शैशवावस्था में कई प्रवृत्तियॉ भी जन्म से लेती है जेसे—निर्भरता, जिज्ञासा, तोडफोड और अनुकरण की प्रवृत्ति। जिज्ञासा और अनुकरण की प्रवृत्ति प्रबल रहती है। शिशु का भाषा विकास भी प्रारम्भ हो जाता है। वह अस्पष्ट ध्वनियॉ तथा बलबलाने की क्रिया शुरू करता है। आठवें माह मे बलबलाने का विकास हो जाना है। धीरे-धारे वह एक शब्द का उच्चारण करने लगता है। यह एह ऐसी अवस्था है जिसमं शिशु हँसना नाराज होना, तोडफोड करना, खेलना, खाना पीना ग्रहण करना सीख लेता है। इस अवस्था में मानसिक विकास भी थोडा बहुत हो चुका रहता है। वह कठिन समस्या के समय यथासम्भव हल करने का प्रयास करता है। यदि असफल् हो जाता है तो रोता है। उसमें हंसी खुशी, क्रोध, भय, घृणा, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, और आश्चर्य हर्ष आदि संवेगों का विकास होता है। नवजात शिशु में जन्म के समय कोई मामाजिक व्यवहार नही परिलक्षित होना है। जब वह निर्जीव एव सजीव पदार्थों में अन्तर जानने लगता है तब उसमें सामाजिक व्यवहार प्रारम्भ होता है। बचपनावस्था में कुछ विशेष महत्व की बाते परिलक्षित होती हें जो निम्नवत् है—

(1) बचपनावस्था में वृद्धि एव परिवर्तन की गति अति तीव्र होती है।

(2) बचपनावस्था में पराश्रतता की समस्या कुछ कम हो जाती है।

(3) बचपनावस्था में दिक् समय, वजन स्व-सामाजिक सौन्दर्य एव हॅसी सम्प्रत्ययो का विकास होता है।

(4) बचपनावस्था में बामारी, दुर्घटना तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से समायोजन आवश्यक होता है।

(5) बचपनावस्था जीवन की आधारशिला है।

बचपनावस्था में जीवन के प्रथम दो वर्षों में वशानुक्रम एव पर्यावरण के पभाव से उसमें अनेक शीलगुण (Traits) आदतों (Habits) तथा व्यवहारों का विकास होता है। इस अवस्था मे सामाजिक समझ का भी विकास होता है।

पूर्व बाल्यावस्था (Early Childhood)

पूर्वबाल्यावस्था 2 वर्ष से शुरू होकर 6 वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में सापेक्षिक निर्भरता समाप्त हो जाती है। पूर्व बाल्यावस्था की अवधि में ऊँचाई 4о 6" हो जाती है। बालक तथा बालिकाओं का वजन 6 वर्ष में क्रमश 40-45 पौण्ड हो जाता है। 6 वर्ष की आयु में शारीरिक वृद्धि की गति काफी तीव्र होती है। बच्चों में गामक विकास भी परिलक्षित होता है। वह क्रमश लेटने, बैठने और चलने फिरने लगता है। उसमें वस्तुओं के पास हाथ पहुँचाने तथा पकडने की गति भी दिखायी देती है। इस अवस्था में कई प्रवृत्तियों का जन्म होता है। उदाहरणार्थ—निर्भरता, जिज्ञासा, तोडफोड आदि। इस अवस्था में वह प्राथमिक विद्यालयों में प्रवेश ले चुका रहता है। विद्यालय में प्रवेश लेने के पश्चात् वह एक नये परिवेश से समायोजन स्थापित करता है जिसमें काफी परेशानियाँ होती हैं। बच्चे सामाजिक समूह तथा समूह के कार्यों में अपनी भूमिका अदा करते हैं। धीरे-धीरे समूह के सदस्य होने के नाते वह अपनी

अन्तर्क्रिया की सीमा को बढाता है। उसमें समूह प्रवृत्ति भी विकसित होने लगती है। बालक इस अवस्था में पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता है। पूर्ण स्वतन्त्रता चाहने की वजह से व्यवहार सम्बन्धी समस्याएँ बढ जाती हैं। बालक में उत्तेजना, नकारात्मकता की प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। इसके कारण इस अवधि को 'समस्यात्मक आयु' भी कहते हैं। इस अवस्था में प्राय जो विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं वे निम्नवत् हैं—

(1) समूह प्रवृत्ति तथा सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार।

(2) जिज्ञासा, अनुकरण आदि में वृद्धि।

(3) नकारात्मकता तथा उत्तेजना एव अनाज्ञाकारी व्यवहार का उद्‌भव।

(4) भाषा का प्रारम्भिक विकास।

उत्तर बाल्यावस्था (Late Childhood)

यह अवस्था 6 वर्ष से लेकर 12 वर्ष तक चलती है। इस अवस्था मे व्यवहार तथा अभिवृत्ति में काफी परिवर्तन दिखायी पडता है । इस अवस्था में सर्वप्रथम वातावरण के साथ समायोजन और नियत्रण करता है। बाल्यावस्था मे शारीरिक एव गामक विकास बडी तेजी से होता है। बालक की हड्डियाँ कडी हो जाती हैं। शरीर की मोटाई कम हो जाती है। दूध के दाँत गिरने शुरू हो जाते हैं। 12 वर्ष की अवस्था में आँतों और फेफडों का विकास हो जाता है। क्रन्दन एव ध्वनियाँ भी काफी तेज होती हैं। सवेदनात्मक विकास के अन्तर्गत दृष्टि श्रवण, स्वाद, घ्राण और त्वचा की भी सवेदना होती है। इसी अवस्था में बालक नये-नये कौशल सीखता है। सम्प्रत्यय का भी विकास इसी अवस्था में हो जाता है। उत्तर बाल्यावस्था को 'टोली की आयु' (Gangage) भी कहते हैं। चर्च एव स्टोन (1960) ने व्यक्त किया है—

"For a 7 or 8 years old the worst "Sin" is to be any way different from other children He apes the dress and mannaerism of older children and subscribes to the group cose, even when it runs sharply counter to his own, family's and the school's

इस अवस्था में बालक में खेलने के प्रति रुचि काफी प्रदर्शित होती है। कुछ मनोवैज्ञानिक से 'खेल की आयु' (Play age) भी कहते हैं। इस अवस्था में शारीरिक विकास की गति धीमी परन्तु समरूपी होता है। शारीरिक ऊँचाई में 2 3" वार्षिक दर से वृद्धि होती है। शारीरिक वजन में 2-3 पौण्ड की दर से वार्षिक वृद्धि होती है। सिर का भाग इस अवस्था में बडा होता है। बालक तथा बालिकाओ में लैंगिक भिन्नताएँ काफी स्पष्ट हो जाती हैं। इस अवस्था में बालकों में रचनात्मक वृत्ति पर अधिक जोर रहता है। उसकी कल्पना में अन्धविश्वास एव दिवास्वप्न का अधिक हाथ रहता है। उसकी चित्तवृत्ति वर्हिर्मुखी रहती है। इस अवस्था में सवेगशीलता (Emotionality) अधिक रहती है। सवेगशीलता के फलस्वरूप भय, क्रोध, ईर्ष्या, स्नेह, और हर्ष के सवेगों का अनुभव प्रमुखत होता है। इस अवस्था में आत्मलिंगिय प्रेम पाया जाता है। इस अवस्था में मित्रता को बहुत महत्त्व देता है। वह समुदाय की सदस्यता ग्रहण करता है। सामाजिकता के विकास के साथ-साथ उसमें नैतिकता का भी विकास होने लगता है। बालक के व्यक्तित्व में आत्मचेतना, सामाजिकता, सामजस्यता और सगठिता का समावेश हो जाता है। माता-पिता के व्यक्तित्व का बच्चे के व्यक्तित्व विकास पर अच्छा प्रभाव पडता है। उसमें नेतृत्व की भावना भी प्रदर्शित होती है।

वह समाज द्वारा स्वीकृत एव मान्य आदर्शों के अनुरूप अपने व्यक्तित्व एव व्यवहार को ढालने का प्रयास करता है।

इस अवस्था में बालक कार्य के परिणाम के आधार पर भले और बुरे का पहिचान करता है। इसी अवस्था में बालकों में कई प्रकार के अनैतिक व्यवहार भी पाये जाते हैं उदाहरणार्थ—गाली देना, चोरी करना, झूठ बोलना और स्कूल से अनुपस्थित रहना आदि । इसी अवस्था में उसमें अहम् सम्प्रत्यय (Ego concept) का विकास होता है।

पूर्व किशोरावस्था (Early Adolescence)

इस अवस्था को यौवनारम्भ की भी अवस्था कहते हैं। यही वह अवस्था है जिसमें बालक एव बालिकाओं में लैंगिक विशेषताएँ विकसित होने लगती हैं। Hurlock (1975) के अनुसार यह वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अलैंगिक से लैंगिक प्राणी बनता है। इस अवस्था की अवधि 10-12 से 13-14 वर्ष तक होती है। इस अवस्था मे बालकों में पुरुषत्व तथा बालिकाओ में नारी के लक्षण परिलक्षित होते रहते हैं। लैंगिक शक्तियों का विकास इसी अवस्था में होता है। इस अवस्था में लैंगिक शक्तियो के विकास के फलस्वरूप समायोजन की समस्या फिर एक बार बढ जाती है । पूर्वकिशोरावस्था की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं।

(1) इस अवधि में विकास द्रुतगति से होता है।

(2) इसकी अवधि लघु होती है।

(3) लैंगिक शक्तियों का विकास भी होता है।

(4) बालकों मे पुरुषत्व तथा बालिकाओं में नारीत्व का विकास होता ह।

(5) इस अवधि में नकारात्मकता की प्रवृत्ति अधिक मिलती है।

(6) इस अवधि में चपलता, अस्थिरता एव कौतूहल का प्रादुर्भाव होता है।

किशोरावस्था (Adolescence)

इसका प्रसार 13 14 वर्ष से 17 वर्ष तक चलता है। इसी अवस्था में बालक एव बालिकाओं में पुनरोत्पादन (Reproduction) की क्षमता पायी जाती है। इस अवस्था में बालको का शारीरिक सामाजिक एव मानसिक विकास चरम सीमा पर होता है। बालकों में बालिकाओं की तुलना में लैंगिक परिपक्वता विलम्ब से पायी जाती है। लैगिक भावनाओं का जन्म इसी अवस्था में होता है। इसके फलस्वरूप किशोर एव किशोरियों की अनेक समस्याओं का सामना करना पडता है। इसी अवस्था में लडकियों मे मासिक धर्म शुरू हो जाता है। लडकों की आवाज भारी हो जाती है। लडकियो में वक्षस्थल तथा कूल्हे बढने लगते हैं। लडकियों की आवाज में कोमलता तथा मधुरता आने लगती है। इस अवस्था में सीखने की शक्ति प्रगाढ होती है। कल्पना की सकुलता के कारण नवकिशोर कल्पना जगत में बहुत विचरण करने लगता है। दिवास्वप्न खूब देखता है। स्वतन्त्र रहना पसद करता है। रुचियाँ अधिक गहरी तथा स्थायी होती हैं। विपरीत लिगों के प्रति आकर्षण बढने लगता है। इस अवस्था में भय, आकुलता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, हर्ष, प्रेम और कामवृत्ति जैसे सवेग पाये जाते हैं। सिरिल वर्ट के अनुसार इस अवस्था में आपराधिक प्रवृत्ति भी जन्म ले लेती है। इस अवस्था में टोली और समूह का बहुत प्रभाव पडता है। नैतिक विकास भी चरम सीमा पर होता है। कामप्रवृत्ति का ज्वारभाटा उठने लगता हे। रुचियाँ बढने लगती हैं। निर्णय लेने की क्षमता प्रदर्शित होने लगती है। बालक तथा बालिकाएँ पूरी तरह से परिपक्व लगते हैं। उनका

व्यवहार परिमार्जित लगता है तथा अनुशासन की प्रवृत्ति भी जन्म ले लेती है। इस अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत् है—

(1) इस अवधि में आन्तरिक परिवर्तन अधिक होता है।

(2) इस अवस्था में विपरीत लिगों के प्रति आकर्षण प्रमुख विशेषता हे ।

(3) शारीरिक एव लैंगिक परिपक्वता चरम सीमा पर होती है।

(4) सामाजिक नैतिक एव मानसिक विकास भी तीव्रगति से होते हैं।

(5) नवीन मूल्यों का अर्जन भी किया जाता है।

(6) अहम् तादात्म्य की समस्या सर्वोपरि होती है।

(7) किशोर एव किशोरियो का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अवास्तविक अधिक होता हैं।

उत्तर किशोरावस्था (Late Adolescence)

इस अवस्था का प्रसार 17 मे लेकर 21 वर्ष तक होता है । इस अवस्था में बालक तथा बालिकाओ मे शारीरिक शक्ति काफी ज्यादा होती है। उनकी ऊँचाई अधिकतम तथा वजन भी अधिकतम होता है। सामाजिक, नैतिक, व्यक्तित्व आदि का विकास चरम सीमा पर होता है। इस अवस्था मे किशोर मर्यादापूर्ण व्यवहार तथा आचरण करने लगता है। किशोर एव किशोरियों मे उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता हे। किशोर एव किशोरियॉ समन्वय समशील और समरूचि वाले मित्रों को चुनता है। और अपने नेता की बात बहुत मानते हैं। नेतृत्व का भी विकास इसी अवस्था में होता है। महात्वाकाक्षी की भावना का भी विकास होता है। सामाजिक मान्यताओं नियमों के अनुरूप उसका आचरण एव व्यवहार होता है। वह सारे समाज का अनुमोदन और स्वीकृति चाहता है। सामाजिक सहभागिता प्रबल हो जाती है। सामाजिक कार्यों मे बढ चढकर भाग लेता है। परोपकार की भावना का भी विकास इसी अवस्था में हो जाता है। किशोर में आत्म विकास झलकने लगता है। वह अपने साहस, वीरता और निडरता के प्रदर्शन करने लगता है। इसी अवस्था में उसमे क्रातिकारी बनने की भावना भी विकसित होती है। पारिवारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करना भी इसी अवस्था मे सीखता है। इसी अवस्था में नैतिक एव सामाजिक मूल्यो का भी विकास होता है। इसका व्यवहार प्रोढो जैसा होता है। यह अवस्था सक्रमण काल की अवस्था है। क्योंकि इस अवधि मे व्यक्ति की स्थिति बच्चे एव प्रौढों के मध्य होती है। कुछ मनोवैज्ञानिक इस प्रौढावस्था की देहली के रूप में भी स्वीकार करते हैं।

पूर्व प्रौढावस्था (Early Adulthood)

हरलाक के शब्दों में प्रोढ वह है जो अपनी वृद्धि प्रक्रिया पूरी कर चुका है और समाज में अन्य प्रौढों के साथ अपनी प्रास्थिति को ग्रहण कर सकता है।

An adult is an individual who has completed his growth and is ready to assume his status in society alongwith other adults

इस अवस्था का प्रसार 21 वर्ष से 40 वर्ष तक होता है। यह अवस्था सबसे लम्बी अवधि तक चलती है। इस अवस्था मे उत्तरदायित्व की पूर्ति होती है। अपनी आकाक्षाएँ होती हैं तथा अनेक समस्याएँ भी सामने आती हैं। उनका समाधान करना आवश्यक एव महत्वपूर्ण होता है। सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार होता है। इसमें व्यक्तिगत, सामाजिक एव व्यावसायिक समायोजन भी करना पडता है। पूर्व प्रौढावस्था मे प्रौढ लोग जीवन के नवीन प्रतिमानों एव नवीन सामाजिक प्रत्याशाओ के साथ समायोजन करने हेतु नये मूल्यो की

स्थापना करते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक इस पुनरोत्पादक अवधि (Reproductive Age) भी कहते है क्योकि इस अवधि में प्रौढ सतानें उत्पन्न करने का कार्य करते हैं जो अपनी पीढी को बढाने में मदद करते हैं। पूर्व प्रौढावस्था समस्याओ की भी अवधि है। इस अवस्था मे समस्याओं के साथ समायोजन करना पडता है।

पूर्व प्रौढावस्था को एरिक्सन (1968) ने एकाकी सकट का समय माना हे। क्योकि इस अवधि में व्यक्ति पहले जीविका प्रारम्भ करता है। फिर वह पारिवारिक दायित्व की पूर्ति करता है। इस तरह से वह नवीन दशा में अपने आपको अकेला महसूस करता है। जीवन तनावयुक्त तथा द्वन्द्वपूर्ण हो जाता है। यह अवधि सर्जन की भी होती है। वह स्वतन्त्र होकर कार्य करता है तथा सर्जनात्मकता पर उसमें अनुभवों, रुचियां एव योग्यताओ का विशेष प्रभाव पडता है। सर्जनात्मकता की क्षमता मध्यावस्था में चरम सीमा पर होती है । धार्मिक विश्वास तथा सामाजिक मूल्यों द्वारा उसका व्यवहार परिपक्व होता है।

मध्यावस्था (Middle Age)

इसकी अवधि 40 से 60 वर्ष तक होती है। 40 वर्ष के बाद प्रौढ में शारीरिक तथा मानसिक स्फूर्ति में क्षीणता आने लगती है। उसकी सवेदनशक्ति और भ्रामक क्रियाओं में भी ह्रास दिखायी देने लगता है। इस अवस्था में उदासीनता, विषाद और शोक चिन्ता आदि अधिक बढ जाती है। हरलाक (Hurlock 1975) के अनुसार 40 वर्ष के बाद चापलूसी अच्छी लगने लगती है। इस अवधि में शारीरिक दोष छिपाने की प्रवृत्ति भी बढ जाती है। इस अवस्था में सामाजिक समायोजन की तीव्र इच्छा होती है। इस अवस्था में शारीरिक क्षमता में ह्रास तथा मानसिक क्षमता में स्थिरता भी दिखायी पडता है। मध्यावस्था में अनेक प्रकार के शारीरिक एव मानसिक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। उसमें धार्मिक विश्वास बढता है। पारिवारिक सम्बन्ध प्रगाढ होता है। पारिवारिक एव सामाजिक समायोजन चरम सीमा पर होता है। मध्यावस्था उदासी एव भय की अवधि के रूप में भी जानी जाती है। इसका कारण यह है कि सामान्य व्यक्ति इस बात से परेशान रहता है कि वृद्धावस्था आने वाली है। उसकी अभिवृत्ति वृद्धावस्था के प्रति नकारात्मक रहती है। इस अवस्था में पुनरोत्पादक क्षमता समाप्ति की ओर रहती है। यह एक खतरनाक अवधि के रूप में भी जानी जाती है कारण कि इस अवधि में प्रौढों में हताशा एव निराशा की भावना ज्यादा होती है। लैंगिक क्षमता में ह्रास होने के कारण वह शारीरिक दृष्टि से अपने को कमजोर महसूस करने लगता है। व्यक्ति का जीवन बाधाओं एव प्रतिबधों द्वारा बोझिल बन जाता है। इसके कारण प्रौढ का जीवन ऊबी हो जाता है। इसलिए इसे खतरनाक अवधि भी कहते हैं। Archer 1968, Muller 1958, Hurlock 1975, Tilker 1975, Piaget 1968)

कुछ मनोवैज्ञानिकों की राय में मध्यावस्था उपलब्धि की अवस्था भी है। एरिक्सन (1967) के अनुसार यह ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति सक्रिय रूप से कार्य करता है तथा सफलता को चूमता है। जो प्रौढ निष्क्रिय एव अभिप्रेरित नही रहते हैं उसमें असफलता की भावना जन्म ले लेती है। उस तरह से प्रौढ अपने अनुभवों तथा कठिन परिश्रमों के कारण सफलता की सीढी को प्राप्त करता है। इस अवस्था में सम्मान एव अधिकार भी अर्जित किये जाते हैं। इस अवस्था में स्त्रियाँ पुरुषों को आकर्षित करने के लिए अधिक साज शृगार करती हैं। इस अवस्था में मित्रों का चुनाव समान रुचियों के आधार पर होता है। मध्यावस्था मूल्याकन की अवधि के रूप में भी जानी जाती हैं। इस अवस्था में व्यक्ति उपलब्धि की चरम सीमा प्राप्त करता है। इसलिए वह अपनी आकाक्षाओ एव अन्य लोगों की प्रत्याशाओं को

ध्यान में रखते हुए अपनी उपलब्धियों का मूल्याकन कर सकता है। मध्यावस्था ऊब की भी अवस्था है। प्रौढ लोग 40 से 50 वर्ष के मध्य काफी बोरियत का अनुभव करते है। आये दिन एक ही तरह के कार्य, पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति पारिवारिक समस्याएँ एव अन्य समस्याएँ प्रौढों को कठिनाइयों एव मुश्किलों में डालती रहती हैं। इसी तरह से महिलाएँ भी चिन्तित रहती हैं कि पता नही उनका जीवन कैसे व्यतीत होगा। इस तरह से यह स्पष्ट हो रहा है कि मध्यावस्था उपलब्धि की अवस्था होने के साथ साथ बोरियत या ऊब की भी अवस्था है।

वृद्धावस्था (Old Age)

विकास शृखला की अन्तिम एव महत्वपूर्ण अवस्था वृद्धावस्था है। इस अवस्था का प्रसार 60 वर्ष से लेकर व्यक्ति के मृत्यु तक है। यह आराम और शात की अवस्था है। इस अवस्था में शारीरिक एव मानसिक ह्रास दोनों होता है। वृद्धावस्था मे काफी समस्याएँ जन्म ले लेती हैं। इस अवस्था में ह्रास की गति तीव्र होती है। व्यक्ति की कार्यक्षमता एव सक्रियता में कमी आ जाती है। इस अवस्था को परिभाषित करते हुए हेनरी एव कूमिंग (1953) ने लिखा है कि वृद्धावस्था जीवन की वाछित एव पूर्व अवधियों से दूर होना है, ये पहले की अवस्थाएँ उपयोग की अवस्थाएँ हैं।

"Old age is a period of moving away from some previous and more desirable period – The prima of life or the years of usefulness"

यह ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति कार्य से अवकाश प्राप्त करता है। कार्यावकाश के कारण उसका जीवन अमर हो जाता है। समय बिताना उसके लिए भार एव कष्टमय हो जाता है। निष्क्रियता बढ जाती है। वह अपने को असहाय एव असमर्थ समझने लगता है। पारिवारिक दायित्व का निर्वाह करना मुश्किल लगने लगता है। उसकी जिन्दगी दिशाविहीन, एव लक्ष्यविहीन लगने लगती है। इन कारणों से उसमें नैराश्य, हताशा एव चिन्ता बढने लगती है। जीवन के हरक्षेत्र में समायोजन करना मुश्किल हो जाता है। वृद्धावस्था ह्रास की अवधि है। इस अवधि में शारीरिक एव मानसिक दोनों प्रकार के ह्रास होते हैं। शारीरिक क्षमता लगभग समाप्त होने लगती है। पुनरोत्पादक क्षमता में भी कमी आ जाती है। Tenny (1984) के अनुसार व्यक्ति इस अवधि में रह-रहकर बातें करता है तथा उसके अवधान में भी कमी आ जाती है। वृद्धावस्था में लोग एकाकीपन ज्यादा अनुभव करते हैं। वे परिवार में होने के बावजूद स्वय को अकेला समझते हैं। उसका कारण यह है कि लोग वृद्धों से बात नही करते हैं तथा उन्हें भारस्वरूप समझने लगते हैं। इस अवस्था में वही व्यक्ति व्यर्थ समझा जाने लगता है जो अपने पहले की अवस्थाओं में एक महत्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता था। वृद्धों की स्थिति अल्पसख्यकों जेसी हो जाती है। उसका सामाजिक सम्बन्ध कम होने लगता है। लोग इन्हें असहाय, निरक्षेप, एव मानसिक तथा शारीरिक रूप में विघटित मानने लगते हैं।

विकास प्रक्रिया सम्बन्धी परिवर्तन
(Changes Related to Developmental Process)

विकास प्रक्रिया में परिवर्तन सन्निहित रहते हैं। इन परिवर्तनों को सामान्य चार भागों में बॉटा जा सकता है—

(1) आकार मे परिवर्तन (Changes in Size)

बालक जैसे-जैसे बढता जाता है वैसे-वैसे उसके शरीर के अग-प्रत्यगों में बढोत्तरी एव परिवर्तन दिखायी पडता है। उसका सिर, धड, ऑखें, ऑतें, फेफडे का आकार बढने लगता है।

उसका मानसिक विकास भी होता है। जिसके फलस्वरूप उसकी कल्पना शक्ति, अवधान, स्मृति तथा चिन्तन आदि शक्तियो का विकास होता है। शब्दकोषीय क्षमता में भी वृद्धि होती है। इन परिवर्तनों का अनुमान मनोवैज्ञानिक परीक्षणो द्वारा सम्भव है।

(2) अनुपात मे परिवर्तन (Changes in Proportion)

शरीर के प्रत्येक भाग का विकास एव परिवर्तन अलग अलग होता है। हम देखते हैं कि बालक एव प्रौढ में आनुपातिक अन्तर होता है। बालक प्रौढ के अनुपात मे, अनुभवहीन तर्कशून्य और अवास्तविक होता है। परन्तु आयु वृद्धि के फलस्वरूप उसमें परिवर्तन होता है। 6 वर्ष का बालक केवल आकार में ही बडा नही होता है बल्कि वह सामान्यत समानुपातिकता और गुण में भी शिशु से अलग होता है। इसी तरह से प्रारम्भ मे बच्चो की रुचि केवल अपने खिलौने तक ही सीमित रहती है परन्तु आयु वृद्धि के फलस्वरूप उसकी रुचि पर्यावरण की अन्य वस्तुओं में बढती है। और स्वय के प्रति घटने लगती है । इसी तरह से किशोरावस्था में व्यक्तियों की रुचि विपरीत लिंगों के प्रति बढ जाती है।

(3) पुराने लक्षणो का लोप (Disappearance of Old features)

विकास के दौरान जहाँ एक ओर नवीन गुणों तथा विशेषताओं का जन्म होता है वही दूसरी ओर पुराने गुणों एव आकृतियों का लोप भी होता है। उदाहरणार्थ—छोटी आयु में बालक घुटने के बल चलता है पर बडा होने पर पैर के सहारे चलने लगता है। उसका घुटने से चलना बन्द हो जाता है। अर्थात् उसका लोप हो जाता है। इसी तरह से सोचने की क्रिया के साथ बोलने की क्रिया का लोप हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों का मतानुसार छाती में स्थित थाइमस ग्रन्थि और मस्तिष्क में स्थित पीनियल ग्रन्थि का बालक की आयु बढने पर लोप हो जाता है।

(4) नये शीलगुणों का अर्जन (Acquisition of New traits)

परिपक्वीकरण से बालक में नये गुणों का विकास होता है। शैशवावस्था में उसके दाँत उगने लगते हैं और किशोरावस्था में दाढी, मूँछें निकलने लगती हैं। इसी प्रकार जिज्ञासा की प्रवृत्ति की अभिवृद्धि से वह नैतिक एव धार्मिक मूल्यों में अभिरुचि लेने लगता है। किशोरावस्था में लैंगिक जानकारी लैंगिक आवश्यकता का विकास, धार्मिक विकास, भाषा विकास एव स्नायु बालक प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं।

विकास के नियम

(Laws of Development)

मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष दिया है कि विकास का एक नियम होता है जो प्रत्येक अवस्था में देखी जा सकती है। साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि मानव का विकास कुछ सिद्धान्तों एव नियमों पर आधारित होता है जिसका उल्लेख करना यहाँ प्रासागिक है। जिन मनोवैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में शोध करके नियमों के महत्व को दर्शाया है उसमें Sherman & Sherman 1925, Gesell 1930, Melcher 1937, Ames 1940, Johnson 1923, Terman 1926, Cattell 1957, Hurlock 1975, Tilker 1975, Castner 1932) प्रमुख है । जो नियम विकास के लिए आवश्यक हैं वे निम्नवत् हैं—

(1) विकास मे क्रमबद्धता रहती है (Development follows a sequence)

बालक या व्यक्ति का विकास क्रम एक ढर्रे पर समान रूप से एक ही प्रकार का होता है उसमें व्यतिक्रम नही पाया जाता है। गर्भकालीन एव उत्तरगर्भकालीन दोनों अवस्थाओं में विकास का एक निश्चित क्रम होता है। उदाहरणार्थ—बालक के भाषा विकास में सभी बालक

सर्वप्रथम निरर्थक ध्वनि या बलबलाने की ध्वनि करते हैं उसके बाद भाषा का विकास होगा। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने विकास के प्रतिमानो को दो अनुक्रमों मे वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। (Sherman & Sherman 1925, Hurlock 1950)।

(i) सिरपदाभिमुखी अनुक्रम (Cephalocaudal sequence)

(ii) निकट दूर अनुक्रम (Proximo-distal sequence)

सिरपदाभिमुखी अनुक्रम के अनुसार चाहे जन्म पूर्व अवस्था हो या जन्मोत्तर की विकासात्मक प्रक्रियाएँ एव परिवर्तन दोनों पहलें सिर से आरम्भ होती हैं एव धीरे धीरे पैर तक पहुँचती हैं। इसलिए सिर से पैर की तरह विकास क्रम भी इसे कहा जाता हे। सक्षिप्त में हम यह कह सकते हैं कि विकास पहले सिर क्षेत्र मे शुरू होता है तथा बाद मे पैर मे शुरू होता है। सरल शब्दों में यह कहना सही होगा कि भ्रूणावस्था के समय भ्रूण विकास मे सर्वप्रथम सिर का विकास होता है तथा सबसे बाद में पैर का होता है। यही क्रम जीव के सभी प्रजानियों में पाया जाता है।

विकास का दूसरा अनुक्रम जिसे निकट दूर अनुक्रम कहा जाता हे उसमें विकास सर्वप्रथम शरीर के केन्द्रिय भागों में तथा बाद में परिधीय भागो में होता है। शेरमैन एव शेरमैन ने अपने त्वकसवेदना के प्रयोग के परिणामस्वरूप यह पाया कि त्वकसवेदना पहले शरीर के ऊपर के भागो में प्रदर्शित की गयी है तथा बाद मे निचले भागों में। उदाहरणार्थ यह भी कहा जा सकता है कि पेट एव धड के अगों का विकास पहले तथा हाथ पैर एव अगुलियों का विकास बाद में होता है।

(2) विकास सतत् प्रक्रिया है (Development is a continuous process)

विकास गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त एक क्रम से तथा निरन्तर चलती रहती है। यह अकस्मात् या अचानक ही नही होती है बल्कि प्रत्येक अवस्था में निरन्तर दिखाया देती है। प्रत्येक अवस्था में प्रत्याशित गुणों का विकास अकस्मात ही नही होता है बल्कि धीरे-धीरे निरन्तर होता रहता है। उदाहरणार्थ सामाजिक एव सास्कृतिक विकास जीवनपर्यन्त चलता रहता हे। इसी प्रकार भाषा का विकास प्रारम्भ में बच्चा क्रन्दन मे आरम्भ से करता है और कुछ ध्वनियाँ ही प्रस्फुटित करता है परन्तु बाद भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। विकास का क्रम परिपक्वीकरण पर निर्भर रहता है। बालक या व्यक्ति के कोई भी शारीरिक या मानसिक शीलगुण एकाएक नंही प्रकट होते हैं। व्यक्ति का प्रत्येक शीलगुण धीरे-धीरे विकास गति को प्राप्त करता हैं। उदाहरणार्थ बच्चे के दाँत अकस्मात नही निकल जाते हैं परन्तु इसके निकलने के पूर्व कई प्रतिक्रिया निरन्तर चालू रहती हैं। इस प्रकार व्यक्ति में शीलगुण बीजरूप में पहले स ही विद्यमान रहते हैं परन्तु उसका विकास आयु एव अवस्थानुसार वातावरण के प्रभाव से सम्पन्न होता रहता हे।

(3) विकास की गति मे होने वाली व्यक्तिगत भिन्नताएँ स्थायी ढग की होती है (Individual differency in development remain contant)

विकास की गति में एकरूपता रहती है। जिन बालकों का विकास प्रारम्भ में तीव्रगति से होता है उनका विकास इसी प्रकार आगे चलकर भी होता है। उदाहरणार्थ—जैसे जो बालक सामान्य अवस्था से पहले बोलने लगता है वह सामान्य रूप से सामान्य आयु के बच्चों से पहले बोलने लगता है। टरमन ने अपने परीक्षणों द्वारा यह दर्शाया है कि प्राय 85% तीक्ष्णबुद्धि वाले बालकों का मानसिक विकास एक से क्रम में होता है।

शारीरिक अगो की तरह विभिन्न मानसिक क्षमताओं एव शारीरिक व्यवहारों और रुचियों के भी विकास गति एव अवधि अलग अलग होती है। उदाहरण के लिए बच्चे खेल के प्रति रुचि बाल्यावस्था मे अधिक विकसित होती है जबकि सामाजिक कार्यों एव विपरीत लोगों के साथ रहने की इच्छा किशोरावस्था में चरम सीमा पर होती है । मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष दिया है कि कुछ अवस्थाओं में कुछ विशिष्ट प्रकार के विकासों का प्रभुत्व होता है और अन्य प्रकार के विकास गौड हो जाते है इस आधार पर यह सुझाव योग्य होता है कि ऐसे समयावधि पर बच्चो के विकास पर विशेष ध्यान देना अपेक्षित हो जाता है।

(4) अधिकाश शीलगुणो के विकास मे सह-सम्बन्ध होता है
(Development of Many traits are correlated)

विभिन्न शीलगुणों का परस्पर गहरा सम्बन्ध रहता है। जैसे—तीव्र बुद्धि वाले बच्चे के मानसिक विकास के साथ साथ शारीरिक विकास भी तीव्रगति से होता है। अनेक सहसम्बन्धात्मक अध्ययनों से यह परिलक्षित होता है कि यदि किसी बच्चे में किसी एक गुण का विकास औसत से उच्च गति से हो रहा है तो उसमें अन्य गुणों का विकास औसत से उच्चगति से होता है। जिन बालकों में मानसिक विकास की गति मन्द होती है उनमें शारीरिक एव अन्य कौशलों का भी विकास मन्दगति से ही होगा।

(5) शरीर के विभिन्न अगो का विकास भिन्न-भिन्न गति से होता है
(Rate of development for different parts are different)

शरीर के विभिन्न अगों के विकास की गति एक जैसी नही होती है। यह बात मानसिक विकास में लागू होती है। यह प्राय देखा जा सकता है कि बच्चे के शरीर के कुछ भागों में विकास की गति तीव्र होती है तथा कुछ अगों के विकास की गति मद होती है। समय के साथ-साथ अगों का आकार बढता रहता है। उदाहरणार्थ—मस्तिष्क का विकास 6 वर्षों में पूरी तरह से परिपक्व हो जाता है। परन्तु उसका सुसगठित होना उसके बाद ही शुरू होता है। इसी तरह से हाथ पैर नाम इत्यादि का विकास पूर्वकिशोरावस्था तक हो चुका रहता है। शारीरिक अगों की तरह मानसिक क्षमताओ एव सामाजिक तथा नैतिक व्यवहारों और रूचियों की विकास की गति भी तीव्र होती है। उदाहरणार्थ—तार्किक क्षमता का विकास प्राय मदगति से होता है। मूर्तवस्तुओं की स्मृति शीघ्र विकसित होती है जबकि अमूर्त वस्तुओं की स्मृति का विकास देर से होता है। सामान्य मानसिक योग्यता का विकास 16वें वर्ष तक हो जाता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विभिन्न भागों का विकास विभिन्न गति से सम्पन्न होता है।

(6) विकास पूर्वकथनीय होता है। (Development is predictable)

विकास भी भविष्योवित सभव है। साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बच्चे की एक अवस्था में होने वाले विकास की गति को देखकर अगली अवस्थाओं में होने वाले विकास की गति के प्रति भविष्यवाणी की जा सकती है। गैसेल ने परीक्षण करके इस बात की पुष्टि की है कि विकास के विषय में पूर्वकथन किया जा सकता है। हिलगार्ड (1950) का मत है कि सभी बच्चों के विकास के बारे में शुद्धता के साथ भविष्यवाणी नही की जा सकती है। इनके अनुसार औसत से कम या अधिक क्षमता वाले लोगों के बारे में भविष्यवाणी पूरे विश्वास के साथ नही की जा सकती है।

सर्वप्रथम निरर्थक ध्वनि या बलबलाने की ध्वनि करते हैं उसके बाद भाषा का विकास होगा। कुछ मनोवैज्ञानिको ने विकास के प्रतिमानो को दो अनुक्रमो में वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। (Sherman & Sherman 1925, Hurlock 1950)।

(i) सिरपदाभिमुखी अनुक्रम (Cephalocaudal sequence)

(ii) निकट दूर अनुक्रम (Proximo-distal sequence)

सिरपदाभिमुखी अनुक्रम के अनुसार चाहे जन्म पूर्व अवस्था हो या जन्मोत्तर की विकासात्मक प्रक्रियाएँ एव परिवर्तन दोनों पहले सिर से आरम्भ होती हैं एव धीरे धीरे पैर तक पहुँचती है। इसलिए सिर से पैर की तरह विकास क्रम भी इसे कहा जाता हे। सक्षिप्त में हम यह कह सकते हे कि विकास पहले सिर क्षेत्र मे शुरू होता है तथा बाद मे पेर में शुरू होता है। सरल शब्दों में यह कहना सही होगा कि भ्रूणावस्था के समय भ्रूण विकास मे सर्वप्रथम सिर का विकास होता है तथा सबसे बाद में पैर का होता है। यही क्रम जीव के सभी प्रजातियों में पाया जाता है।

विकास का दूसरा अनुक्रम जिसे निकट दूर अनुक्रम कहा जाता है उसमें विकास सर्वप्रथम शरीर के केन्द्रिय भागों मे तथा बाद में परिधीय भागो मे होता है। शेरमैन एव शेरमैन ने अपने त्वकसवेदना के प्रयोग के परिणामस्वरूप यह पाया कि त्वकसवेदना पहले शरीर के ऊपर के भागों में प्रदर्शित की गयी है तथा बाद मे निचले भागों में। उदाहरणार्थ यह भी कहा जा सकता है कि पेट एव धड के अगों का विकास पहले तथा हाथ पैर एव अगुलियों का विकास बाद में होता है।

(2) विकास सतत् प्रक्रिया है (Development is a continuous process)

विकास गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त एक क्रम से तथा निरन्तर चलती रहती है। यह अकस्मात् या अचानक ही नही होती है बल्कि प्रत्येक अवस्था में निरन्तर दिखाया देती है। प्रत्येक अवस्था में प्रत्याशित गुणों का विकास अकस्मात ही नही होता है बल्कि धीरे धीरे निरन्तर होता रहता है। उदाहरणार्थ सामाजिक एव सास्कृतिक विकास जीवनपर्यन्त चलता रहता हे। इसी प्रकार भाषा का विकास प्रारम्भ में बच्चा क्रन्दन से आरम्भ से करता है और कुछ ध्वनियाँ ही प्रस्फुटित करता है परन्तु बाद भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। विकास का क्रम परिपक्वीकरण पर निर्भर रहता है। बालक या व्यक्ति के कोई भी शारीरिक या मानसिक शीलगुण एकाएक नहीं प्रकट होते हैं। व्यक्ति का प्रत्येक शीलगुण धीरे धीरे विकास गति को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ बच्चे के दाँत अकस्मात नही निकल जाते हैं परन्तु इसके निकलने के पूर्व कई प्रतिक्रिया निरन्तर चालू रहती हैं। इस प्रकार व्यक्ति में शीलगुण बीजरूप में पहले से ही विद्यमान रहते हैं परन्तु उसका विकास आयु एव अवस्थानुसार वातावरण के प्रभाव से सम्पन्न होता रहता है।

(3) विकास की गति मे होने वाली व्यक्तिगत भिन्नताएँ स्थायी ढग की होती है (Individual differency in development remain contant)

विकास की गति में एकरूपता रहती है। जिन बालकों का विकास प्रारम्भ में तीव्रगति से होता है उनका विकास इसी प्रकार आगे चलकर भी होता है। उदाहरणार्थ—जैसे जो बालक सामान्य अवस्था से पहले बोलने लगता है वह सामान्य रूप से सामान्य आयु के बच्चों से पहले बोलने लगता है। टरमैन ने अपने परीक्षणों द्वारा यह दर्शाया है कि प्राय 85% तीक्ष्णबुद्धि वाले बालकों का मानसिक विकास एक से क्रम में होता है।

शारीरिक अगो की तरह विभिन्न मानसिक क्षमताओं एव शारीरिक व्यवहारों और रुचियों के भी विकास गति एव अवधि अलग अलग होती है। उदाहरण के लिए बच्चे खेल के प्रति रुचि बाल्यावस्था में अधिक विकसित होती है जबकि सामाजिक कार्यों एव विपरीत लोगो के साथ रहने की इच्छा किशोरावस्था मे चरम सीमा पर होती है । मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष दिया है कि कुछ अवस्थाओं में कुछ विशिष्ट प्रकार के विकासों का प्रभुत्व होता है और अन्य प्रकार के विकास गौड हो जाते है इस आधार पर यह सुझाव योग्य होता है कि ऐसे समयावधि पर बच्चो के विकास पर विशेष ध्यान देना अपेक्षित हो जाता है।

(4) अधिकाश शीलगुणो के विकास मे सह-सम्बन्ध होता है
(Development of Many traits are correlated)

विभिन्न शीलगुणों का परस्पर गहरा सम्बन्ध रहता है। जैसे—तीव्र बुद्धि वाले बच्चे के मानसिक विकास के साथ साथ शारीरिक विकास भी तीव्रगति से होता है। अनेक सहसम्बन्धात्मक अध्ययनों से यह परिलक्षित होता है कि यदि किसी बच्चे में किसी एक गुण का विकास औसत से उच्च गति से हो रहा है तो उसमें अन्य गुणों का विकास औसत से उच्चगति से होता है। जिन बालकों में मानसिक विकास की गति मन्द होती है उनमें शारीरिक एव अन्य कौशलों का भी विकास मन्दगति से ही होगा।

(5) शरीर के विभिन्न अगो का विकास भिन्न-भिन्न गति से होता है
(Rate of development for different parts are different)

शरीर के विभिन्न अगों के विकास की गति एक जैसी नही होती है। यह बात मानसिक विकास में लागू होती है। यह प्राय देखा जा सकता है कि बच्चे के शरीर के कुछ भागों मे विकास की गति तीव्र होती है तथा कुछ अगों के विकास की गति मद होती है। समय के साथ-साथ अगों का आकार बढता रहता है। उदाहरणार्थ—मस्तिष्क का विकास 6 वर्षों में पूरी तरह से परिपक्व हो जाता है। परन्तु उसका सुसगठित होना उसके बाद ही शुरू होता है। इसी तरह से हाथ पैर नाम इत्यादि का विकास पूर्वकिशोरावस्था तक हो चुका रहता है। शारीरिक अगों की तरह मानसिक क्षमताओं एव सामाजिक तथा नैतिक व्यवहारों और रूचियों की विकास की गति भी तीव्र होती है। उदाहरणार्थ—तार्किक क्षमता का विकास प्राय मदगति से होता है। मूर्तवस्तुओं की स्मृति शीघ्र विकसित होती है जबकि अमूर्त वस्तुओं की स्मृति का विकास देर से होता है। सामान्य मानसिक योग्यता का विकास 16वें वर्ष तक हो जाता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विभिन्न भागों का विकास विभिन्न गति से सम्पन्न होता है।

(6) विकास पूर्वकथनीय होता है। (Development is predictable)

विकास भी भविष्योवित सभव है। साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बच्चे की एक अवस्था में होने वाले विकास की गति को देखकर अगली अवस्थाओं में होने वाले विकास की गति के प्रति भविष्यवाणी की जा सकती है। गैसेल ने परीक्षण करके इस बात की पुष्टि की है कि विकास के विषय में पूर्वकथन किया जा सकता है। हिलगार्ड (1950) का मत है कि सभी बच्चों के विकास के बारे में शुद्धता के साथ भविष्यवाणी नही की जा सकती है। इनके अनुसार औसत से कम या अधिक क्षमता वाले लोगों के बारे में भविष्यवाणी पूरे विश्वास के साथ नही की जा सकती है।

(7) प्रत्येक विकासात्मक अवस्था के अपने-अपने विशिष्ट गुण होते हे

(Each stage of development has its own traits)

विकास की प्रत्येक अवस्था अपने अपने मे महत्वपूर्ण गुणो या शीलगुणो से सम्बद्ध रहती है। प्रत्येक अवस्था की एक निश्चित विशेषता होती है जो इस अवस्था मे विकास के समय परिलक्षित होती है। विकास की प्रत्येक अवस्था मे कुछ गुणो का विकास तीव्र गति से कुछ मदगति से होता है। जैसा प्राय द्रष्टव्य है कि पूर्व जन्म की अवस्था जैसे शैशवावस्था म मानसिक विकास की अपेक्षा शारीरिक विकास की प्रधानता रहती है और बाल्यावस्था के अन्तिम चरण में सामाजिकता का विकास होता है। उसी प्रकार किशोरावस्था में विपरीत लिगो के प्रति आकर्षण प्रमुख विशेषता है। फील्डमैन (Fieldman) के अनुसार प्रत्येक अवस्था मे किसी विशेष शीलगुण की प्रमुख विशेषताएँ देखने मे आती है जिससे उस अवस्था की विशेषता सुसगतता और एकता का भान होता है। उदाहरणार्थ—बाल्यावस्था मे चचलता तथा नकारात्मकता की भावना तीव्र होती है परन्तु वही व्यक्ति जब प्रौढावस्था मे प्रवेश करता है तो उसकी चचलता गम्भीरता में तथा नकारात्मकता स्वीकार करने की भावना मे परिवर्तित हो जाती है।

(8) प्रत्येक व्यक्ति को सभी अवस्थाओ से गुजरना पड़ता है ।

(Every Individual Passes through each stage of development)

यह बात अक्षरश सत्य है कि सभी व्यक्तियों को विकास शृखला की प्रत्येक अवस्थाओं के साथ गुजरते हुए अतिम अवस्था तक पहुँचना पडता है । वैसे तो सामान्यत विकास का कार्य 21 वर्ष की अवस्था तक पूरा हो जाता है परन्तु कभी कभी यह देखा जाता है कि मन्द बुद्धि वाले विकास की सभी अवस्थाओं से नही गुरजते हैं। कारण कि अनुपयुक्त वातावरण अस्वस्थता और प्रेरक तत्वों के अभाव में सभी अवस्थाओ में गुजर पाना उनके लिए मुश्किल होता है।

(9) कुछ विशेष अवस्था मे प्रकट होने वाले अनेक समस्यात्मक व्यवहार भी उस अवस्था की दृष्टि से सामान्य व्यवहार माने जाते है।

(Problem behaviours are normal Behaviours of the Particular Stage)

प्राय देखा जाता है कि प्रत्येक अवस्था में कुछ भद्दे एव गन्दे व्यवहार भी बच्चों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। परन्तु उस विशेष अवस्था की समाप्ति पर वह अवाछनीय व्यवहार स्वत समाप्त हो जाते हैं। इसलिए यह समस्यात्मक व्यवहार उस विशेष अवस्था का सामान्य व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ—बाल्यावस्था के प्रारभ में बालक अपने जिद्दी स्वभाव का प्रदर्शन करता है परन्तु बाल्यावस्था के अतिम चरण में उसके जिद्दीपन का लोप होने लगता है।

(10) विकास क्रम काम प्रवृत्ति पर आधारित होता है

(Development sequence is based upon sexual Behaviour)

फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार विकास की विभिन्न अवस्थाओं में बालक की कामप्रवृत्ति भिन्न-भिन्न अगों पर केन्द्रित होती हे। उदाहरणार्थ—प्रारम्भ में वह मुख में होती है जिसके फलस्वरूप बालक कोई भी वस्तु चूसने या चचोरने में आनन्दानुभूति करता है। आगे की अवस्थाओं में यह प्रवृत्ति जननेन्द्रियों में प्रकट होती है तथा इसके परिणामस्वरूप वह स्वरति या स्वप्रेम करने लगता है और किशोरावस्था में यही प्रवृत्ति विपरीत योनियों से प्रेम प्रदर्शित करने में मिलती है।

(11) विकास परिपक्वता एव अधिगम का परिणाम है

(Development is a function of Maturation and Learning)

यह सर्वविदित है कि विकास परिपक्वता एव अधिगम के बीच अन्तर्क्रिया का ही परिणाम है। सही रूप मे यदि देखा जाय तो ये दोनों कारक आपस में एक-दूसरे से पूरक हैं। किसी एक कारक के अभाव में बालक में सही दिशा एव गति नही प्राप्त हो सकती है। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि यदि बालक को तीन पहिये की साइकिल चलाने की प्रक्रिया का अध्ययन करना है तो उसके लिए सर्वप्रथम उसका पता लगाना होगा कि तीन पहिये की साइकिल चलाने की प्रक्रिया हेतु परिपक्वता प्राय दो वर्ष या तीन वर्ष में आ पाती है। यदि उस अवस्था में बच्चे में तीन पहिये की साइकिल चलाने का अभ्यास कराया जाय तो बच्चा शीघ्रता से साइकिल चलाना सीख लेता है जो अधिगम का परिणाम माना जायेगा। इस तरह से हम यह कह सकते हैं कि अधिगम एव परिपक्वता दोनों का विकास में पचास पचास प्रतिशत भूमिका या योगदान होता है। इसलिए परिपक्वता के प्रकट होते ही बच्चों में अमुक व्यवहार हेतु अधिगम आवश्यक होता है।

विकास के निर्धारक

(Determinants of Development)

मानव विकास को प्रभावित करने वाले अनेक तत्व हैं और इन तत्वों के आधार पर विकास क्रम परिलक्षित होता है। यही तत्व विकास को दिशा तथा गति प्रदान करते हैं। प्रमुख रूप से विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों का विवेचन निम्नवत् है—

(1) बुद्धि (Intelligence)

विकास को प्रभावित करने वाले कारकों में बुद्धि का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सम्बन्ध में शोधकर्ताओ ने उस बात की पुष्टि की है कि उच्च मानसिक योग्यता या बुद्धि वाले बच्चों का शारीरिक एव अन्य विकास मद बुद्धि वाले तथा निम्न बुद्धि वाले बच्चों की तुलना में शीघ्रता से होता है । इस सम्बन्ध में Terman (1926) ने बालकों मे प्रथम बार चलने एव बोलने की उम्र का बुद्धि के साथ सम्बन्ध में अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया है कि उच्च बुद्धि वाले बच्चें निम्न बुद्धि बच्चों की तुलना में चलने एव बोलने की क्रिया का प्रदर्शन शीघ्र करते हैं। जैसा कि टरमन ने अपने परिणाम इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि अतिप्रतिभावान बच्चों में प्रथम बार चलने एव बोलने का प्रदर्शन क्रमश 13 माह एव 11 माह में होता है। औसत बुद्धि वाले बच्चों में यही क्रिया क्रमश 14 माह एव 16 माह में प्रदर्शित करते हैं। मूढ बुद्धि वाले तथा जडबुद्धि वाले बच्चों में प्रथमवार बोलने एव चलने की क्रिया का प्रदर्शन क्रमश 34 माह, 22 माह एव 51 माह तथा 30 माह में होता है। इस अध्ययन से यह पता चलता है कि बुद्धि का विकास से अटूट सम्बन्ध है। शारीरिक विकास एव गामक विकास तथा अन्य विकास में बुद्धि अपना सार्थक प्रभाव प्रदान करती है। यह भी निष्कर्ष पाया गया हे कि बुद्धि का प्रभाव लैंगिक परिपक्वता पर भी पडता है । अतिप्रतिभावान बच्चे औसत बुद्धि वाले बच्चों की तुलना में लैंगिक परिपक्वता 1 या 2 वर्ष पूर्व ही प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ तक मन्दबुद्धि वाले बच्चों का प्रश्न है उसमें लैंगिक परिपक्वता का प्रदर्शन नाममात्र का होता है। इन दोनों अध्ययनों से यह पता चलता है कि बुद्धि का विकास से गहरा सम्बन्ध है।

(2) लैंगिक भिन्नता (Sex Differences)

लिंग विशेष का प्रभाव प्रमुखत शारीरिक एव मानसिक विकास पर परिलक्षित होता है। लैंगिक भिन्नता के ही कारण बालक एव बालिकाओं के शारीरिक विकास मे स्पष्ट अन्तर प्रदर्शित होता है। **उदाहरणार्थ**—जन्म के समय बालक बालिकाओं की तुलना ज्यादा लम्बे होते हैं। परन्तु परिपक्वता पहले लडकियो में प्रदर्शित होती है तथा लडकों में बाद में प्रदर्शित होती है । जैसा कि हम सभी को मालूम है कि लडकियों की परिपक्वता की आयु 13 वर्ष है तथा लडकों की 1 साल बाद 14 वर्ष होती है। परिपक्वता के दरम्यान लडकियों की ऊँचाई लडको से ज्यादा होती है । उसी तरह से मानसिक विकास में भी लडकियाँ लडकों की अपेक्षा पहले पूर्ण परिपक्व हो जाती हैं।

(3) अन्त.स्रावी ग्रन्थियाँ (Endocrine Glands)

व्यक्ति के शरीर में अनेक प्रकार की युक्त वहिस्रावी और प्रणाली विहीन अन्तस्रावी ग्रन्थियाँ होती हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थियाँ रस का स्राव करती हैं। ये रस मानव के खून में मिश्रित होकर शारीरिक तथा मानसिक विकास को दिशा प्रदान करती है। गलग्रन्थि ग्रीवा ग्रन्थि यौन ग्रन्थि प्रभुत्व ग्रन्थि और एड्रीनल ग्रन्थि आदि ग्रन्थियाँ यदि उचित रूप से कार्य नही करती हैं तो बालक या व्यक्ति का शारीरिक एवम् मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ—थाइरायड ग्रन्थि के श्राव (थाइराक्सिन) के अभाव में बच्चे बौने कद के तथा मदबुद्धि के होते हैं। लैगिक ग्रन्थियाँ की क्रियाशीलता में कमी से किशोरवस्था का पदार्पण विलम्ब से होता है। साथ ही साथ उस ग्रन्थि से शीघ्र क्रियाशील होने से बच्चे मे समय से पूर्व दाढी मूँछें आदि प्रदर्शित होने लगती हैं उसमें लैगिंक परिपक्वता शीघ्र आ जाती है। पिनियल ग्रन्थि के अधिक क्रियाशील होने से बच्चों का सामान्य शारीरिक तथा मानसिक विकास रूक जाता है। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि अन्तश्रावी ग्रन्थिया का विकास में काफी योगदान है।

(4) शारीरिक दोष (Physical Defects)

वास्तव में शारीरिक दोष उनके सामाजिक विकास को अवरुद्ध करते हैं। **उदाहरणार्थ**—विकलागों अर्थात् अधे, लूले और बहरे आदि व्यक्तियों में हीनता के भाव पाये जाते हैं। उनमें चिंता और हताशा जन्म ले लेती है। उस तरह से उनके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास में बाधा पडती है तथा उनके व्यवहारों में विचित्रता पायी जाती है।

(5) पोषाहार (Nutritions)

यह सर्वमान्य है कि भोजन का पौष्टिक आहार बालक के स्वास्थ्य, विकास एवं वृद्धि पर स्पष्ट प्रभाव डालते हैं। बच्चों को हमेशा सतुलित आहार मिलना चाहिए। पोषाहार के अभाव में बचपनावस्था तथा बाल्यवास्था में विकास की गति रुक जाती है तथा उससे गामक विकास में विशेष बाधा आती है। पौष्टिक भोजन का अभाव तथा कुपोषण का प्रभाव अफ्रीका या भारत के बालकों के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर कैसा पडता है उसकी खोज वाटर लो (Waterloo, 1955) ने की। उसका निष्कर्ष है कि कुपोषण से बालकों के वजन और उसकी ढाँचे सम्बन्धी विकास में व्यतिरेक पाया गया है और उनकी माँसपेशियों में ढीलापन देखा गया। कुपोषण बालकों में सवेगात्मक तनाव की स्थिति पायी गयी तथा मानसिक विकास भी अवरुद्ध हो गया (स्टाक एव स्मिथ, 1963)। इन सभी के अतिरिक्त विश्राम, क्रियाशीलता, निद्रा और मकान भी बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास को प्रभावित करते हैं।

(6) प्रजातीय कारक (Racial Factors)

टाइलर (1963) के अनुसार विभिन्न जातियों मे प्रजातीय प्रभाव के कारण विभिन्नताए पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए—अमेरिका के श्वेत लोगों की बुद्धि नीग्रो जाति के लोगों की तुलना में अच्छी होती है। उत्तरीय यूरोप की तुलना में भूमध्यसागरीय बच्चों की विकास गति तीव्र होती है। केनेडी (Kennedı 1963) का मत है कि जातीय पक्षपात (Caste Prejudices) का व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव परिलक्षित होता है। मैगी (Magree 1931) के अनुसार पूर्व देशो वाली जातियाँ दुबली, पतली, कोमल और बुद्धिजीवी होती हैं तथा पश्चिम देशों वाली जातियाँ अक्सर हट्टी, कट्टी, कठोर तथा परिश्रमी होती है। इस प्रकार प्रजातीय कारकों का विकास की गति में महत्व प्रमाणित हो रहा है।

(7) सस्कृति (Culture)

शारीरिक विकास पर सास्कृतिक कारकों का प्रभाव पडता है। प्रत्येक सस्कृति में केन्द्रीय विचारधाराए, रीति-रिवाज तथा परम्पराएँ भिन्न भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ—आर्य सस्कृति में आध्यात्मिकता तथा पाश्चात्य सस्कृति में भौतिकता की प्रधानता पायी जाती है। इसलिए युग का कथन है कि व्यक्ति के विकास में जातीय सस्कृति का बडा हाथ रहता है। यह देखा गया है कि परिवार, पाठशाला तथा समाज में बालक के व्यवहार की अभिनितियाँ, मानदड तथा विश्वास निरन्तर सस्कृति विशेष के निर्देशों द्वारा ढलते हैं। जिसमें कि वह पलकट बडा होता है। शारीरिक विकास पर सास्कृतिक कारकों के प्रभाव के सम्बन्ध में कुछ अध्ययनों ने विवादास्पद परिणाम भी प्राप्त किए हैं। उदाहरणार्थ—होपी इडियन्स (Hope Indians) एव श्वेत अमरीकियों की सस्कृति में अन्तर होने के बाबजूद डेनिस (1940) ने यह पाया कि शारीरिक विकास में कोई अन्तर नही होता है। डेनिस एव डेनिस (1937) के अनुसार श्वेत अमरीकियों एव भारतीय बच्चों में शारीरिक विकास में कोई अन्तर नही पाया जा सका है। इस प्रकार इन लोगों ने यह निष्कर्ष दिया है कि सास्कृतिक पर्यावरण के अन्तर होने के बाबजूद शैशवावस्था के समान होने वाले विकासात्मक परिवर्तनों में विशेष अन्तर नही प्राप्त हुए।

(8) जन्म क्रम (Birth order)

एडलर के मतानुसार जन्मक्रम का प्रभाव बालक के विकास पर पडता है। उदाहरणार्थ—परिवार में पहले जन्मे बच्चे की अपेक्षा दूसरे तीसरे एव चौथे बच्चों का विकास शीघ्रता से होता है। साथ ही साथ अतिम बालक का विकास प्राय मन्त गति से होता है। इस विकास के पीछे जो कारण है वह यह है कि प्रथम बालक की अपेक्षा दूसरे, तीसरे एव चौथे क्रम के बालकों को परिवार में अनुकरण करने का अधिक सुअवसर प्रदान होता है जिसके तहत सभी विकास शीघ्रता से होते हैं। **हरलाक** (1950) के अनुसार यदि किसी परिवार में मात्र एक ही बच्चा है तो बडे परिवार की बच्चों की तुलना में उसमें मानसिक विकास तो शीघ्रता से हो सकता है परन्तु गामक विकास विलम्ब से होगा। बच्चों की अति देखरेख भी उसके विकास में घातक सिद्ध होती है।

(9) भयकर रोग एव चोट (Dangerous Diseases and Injuries)

भयकर रोग एव आघात बालविकास को अवरुद्ध करते हैं। **हिविट** (1953) के मतानुसार भयकर रोगों से ग्रस्त बच्चों में लम्बाई की अभिवृद्धि में कमी देखी गयी है। गिविलभ (1959) के अनुसार भयकर रोग में यह देखा गया है कि बच्चों के चवायापचय में रोडा पहुँचाते हैं। लम्बी बीमारी, मासपेशियों को प्रभावित करती हैं और उनकी वृद्धि को

रोकती हैं। फ्रीड (1953) के अनुसार दीर्घ स्थायी बीमारियाँ (जैसे—मोतीफिरा, सन्निपात, ज्वर एव मधुमेह) बालक के व्यक्तित्व विकास तथा सवेगात्मक परिपक्वता मे बाधक होते हैं। इन रोगों के फलस्वरूप बच्चो मे चिडचिडापन और विद्रोही प्रवृत्ति जन्म ले लेती है। मस्तिष्क सम्बन्धी आघात से बच्चों का गामक विकास प्रभावित होता है।

(10) आयु (Age)

बालक के विकास में आयु की महत्वपूर्ण भूमिका पायी गयी है। बालक के शारीरिक विकास एव मानसिक विकास पर आयु का प्रभाव देखा गया है। शारीरिक तथा मानसिक छवि से कम आयु के बालक अधिक आयु के बालक से भिन्न होता है।

(11) शुद्ध वायु एव प्रकाश (Fresh Air and Sunlight)

बालक के सामान्य स्वास्थ्य तथा परिपक्वता की अवस्था पर शुद्ध वायु एव प्रकाश का प्रभाव पडता है। इन दोनों कारकों के अभाव में बालक की वृद्धि पर बुरा प्रभाव पडता है। इन कारको का मानसिक विकास पर कितना प्रभाव तथा कैसा प्रभाव पडता है उस पर अभी तक उपयुक्त परिणाम नही प्राप्त हो पाये हैं । परन्तु अक्सर यह कहा जाता है कि इन दोनों कारकों के अभाव में बालक का कद छोटा रह जाता है तथा उसकी बुद्धि प्रखर नही हो पाती है तथा वह अनेक रोगों का शिकार हो जाता है।

●

3 विकास मनोविज्ञान की विधियाँ एवं उपागम

(Methods of Developmental Psychology and Approaches)

यदि हम विकास मनोविज्ञान के इतिहास का विश्लेषण करें तो यह मालूम होता है कि पहले विकास मनोविज्ञान की विधियाँ प्राय आत्मनिष्ठ थी परन्तु इस समय मनोविज्ञान वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करता है। विकास मनोविज्ञान एक विज्ञान है इसलिए इसकी विधियाँ भी वैज्ञानिक होंगी। मानव विकास की प्रकृति इतनी जटिल तथा गहन है कि उसका सम्पूर्ण अध्ययन मात्र किसी एक विधि से सभव नही होगा। अतएव किसी भी बालक के शारीरिक, गामक, मानसिक, सवेगात्मक, सामाजिक नैतिक विकास के सूक्ष्म अध्ययन तथा यथार्थ ज्ञान हेतु अनेक विधियों की जरूरत पडती है। अत यहाँ पर कतिपय महत्वपूर्ण विधियों का वर्णन अपेक्षित है जो आजकल मानव विकास के अध्ययन हेतु उपयोग में लायी जा रही है।

(1) चरित्र लेखन विधि (The Biographical Method)

इस विधि के अन्तर्गत बालक बालिकाओं के विभिन्न प्रकार के व्यवहारों तथा क्रियाओं को प्रेक्षण करके एक दैनिकी में अकित कर लिया जाता है। इस प्रकार कुछ समय पश्चात् बालचरित तैयार हो जाता है। Denis, 1940, Hurlock, 1950, Tiedman 1987, Darwin, 1877 Preylr 1882, Serns 1907] 1909 Shvnn 1893, 1900 एवम् scupins 1907 इत्यादि ने इस विधि का प्रयोग सफलतापूर्वक करके बालक के विकास को दर्शाया है।

गुण—इस विधि के गुण निम्नवत् हैं—

(1) इस विधि द्वारा बालकों के व्यवहारों की स्थिरता या अस्थिरता का ज्ञान हो जाता है।

(2) इस विधि की सहायता से निरीक्षक स्वाभाविक वातावरण में बालकों के व्यवहारों का निरीक्षण और परीक्षण करता है।

(3) इस विधि में अध्ययनकर्ता एव निरीक्षणकर्ता को अपनी इच्छा तथा सुविधानुसार कार्य करने का अवसर मिल जाता है।

(4) इस विधि द्वारा विस्तृत विवरण प्राप्त किये जा सकते हैं। तथा यह कार्य प्रयोगशाला की लघु अवधि में सभव नहीं है।

(5) इस विधि की सहायता से विकास प्रक्रिया की क्रमिक सूचना प्राप्त होती है।

(6) यदि अध्ययन एक विस्तृत प्रतिदर्श पर किया जाय तो यह विधि 'प्रतिनिधि अध्ययन' के रूप में स्वीकार की जा सकती है। (Dennis 1936, Dennis & Dennis 1937, Mchugh 1936)।

सीमाएँ—इस विधि की सीमा निम्नवत् हैं—

(1) इस विधि मे निरीक्षक पर पक्षपात का प्रभाव पड सकता है ।

(2) इस विधि द्वारा बालक के चरित्र के आधार पर प्राप्त किये गये नियमो को अन्य बालको पर लागू नही किये जा सकते है ।

(3) अध्ययनकर्ताओ की अभिवृत्ति पर बालकों के माता-पिता के विचारों का भी प्रभाव पडता है तथा उनका निर्णय पक्षपातपूर्ण हो जाने की सभावना प्रबल हो जाती है ।

(4) इस विधि को पूर्णरूप से वैज्ञानिक विधि नही कहा जा सकता है ।

(5) अध्ययनकर्ता का परिस्थिति पर नियत्रण न होने के कारण परिणामों की विश्वसनीयता तथा शुद्धता पर आशका की जाती है । इसका कारण यह है कि उचित नियत्रण के अभाव मे कारण तथा प्रभाव के बीच प्रकार्यात्मक सम्बन्धों की स्थापना मे कठिनाई होती है ।

(6) इस विधि द्वारा व्यवस्थित एव सगठित अध्ययन करना मुश्किल होता है ।

(7) इस विधि के सफल प्रयोग एव उपयोग हेतु कुशल एव योग्य निरीक्षक की आवश्यकता पडती है ।

(2) आत्म चरित्रलेखन विधि (The Autobiographical Method)

इस विधि के अन्तर्गत आत्मचरित्र बालक या मनोवैज्ञानिक द्वारा अपने बाल्यकाल की स्मृति के आधार पर लिखा जाता है । हरलाक (1950) के कथनानुसार आत्म चरित्र लेखन विधि में व्यक्ति स्वय अपने जीवन की घटनाओ का स्मृति के आधार पर रिकार्ड तैयार करके जीवन इतिहास तैयार करता है । इसलिए उसे पृष्ठोन्मुखि विधि भी कहते हैं क्योंकि व्यक्ति अपने जीवन के अतीत की घटनाओं का विवरण देता है । हरलाक के अपने शब्दों मे—

"The Method is refered to as the "retrospective Method" because it involves looking backward by the individual over the course of his life, in an attempt to piece togather childhood-memories into a more or less complete life history"

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो रहा है कि आत्म चरित्र लेखन विधि में व्यक्ति अपने जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का प्रत्याहान (Recall) करता है । इस विधि का उपयोग एण्डरसन (1954) तथा लेयर्ड (1925) ने किया है । हरलाक (1975) ने इस विधि का उपयोग करते हुए इन्होंने प्रयोज्य के रूप में हाईस्कूल, कालेज और मेडिकल कालेज के छात्रों को चुना था । Dudycha and Dudycha (1933) ने भी इस पृष्ठोन्मुखी विधि का उपयोग करके किशोरों के स्कूल जाने के पूर्व जीवन से सम्बन्धित अनुभवों के विषय में प्रदप्त सकलित किया ।

गुण—इस विधि के गुण निम्नवत् हैं—

(1) इस विधि के सफल प्रयोग द्वारा बालक के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है ।

(2) इस विधि में बालक की प्रतिक्रियाओ का विवरण रहता है जिससे उसके विषय में अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्यो का पता लग सकता है ।

(3) इस विधि द्वारा विकास के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त किये जा सकते हैं । यह कार्य प्रयोगशाला की लघु अवधि में सभव नही है ।

(4) इस विधि द्वारा विकास के प्रक्रिया की क्रमिक सूचना प्राप्त की जा सकती है ।

सीमाएँ—(1) इस विधि में वैज्ञानिकता एव प्रामाणिकता का अभाव रहता है ।

(2) स्मृति के आधार पर लिखा हुआ आत्म चरित्र काल्पनिक भी हो सकता है क्योंकि अतीत की बातो एव घटनाओं को ज्यों की त्यो याद रखना मुश्किल कार्य है।

(3) प्राय यह भी देखा जाता है कि बालक या व्यक्ति अपने अतीत के जीवन की सुखद बातें ही याद रखता है और दुखद बातों को भुला देना चाहता है। अत उसके जीवन की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं के छूट जाने की आशका एव सभावना रहती है।

(4) जीवन के सुखद या दुखद घटनाओं के वर्णन के समय व्यक्ति पक्षपात रवैया भी अपना सकता है और परिणामों की विश्वसनीयता कम हो सकती है।

(5) इस विधि के उपयोग के समय अनेक त्रुटियों की सभावना रहती है। इससे प्रस्तुत विधि की वैधता एव विश्वसनीयता सदेहास्पद हो सकती है।

(3) साक्षात्कार विधि (Interview Method)

इस विधि का उपयोग प्राय सामाजिक विज्ञानो मे प्रदत्त सग्रह हेतु किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत प्रदत्त सग्रह हेतु किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत साक्षात्कारकर्ता उत्तरदाता से आमने सामने बैठकर किसी समस्या या वस्तु के बारे में उद्देश्यपूर्ण वार्तालाप करता है। इसमें साक्षात्कारकर्ता उत्तरदाता से प्रश्न पूछता है तथा उत्तरदाता प्रश्नो का उत्तर देता है। इस विधि का सर्वप्रथम प्रयोग बिंघम एव मूरे (Bngham and Moore 1924) ने किया। इन्होंने इसे उद्देश्ययुक्त वार्तालाप (Conversation with a purpose or aim) की सज्ञा दी। इस विधि के अन्तर्गत साक्षात्कारकर्ता एव उत्तरदाता के बीच 'आमने-सामने होने के कारण' अन्तर्क्रिया होती है तथा वे दोनो एक दूसरे को परस्पर प्रभावित भी करते हैं। उत्तरदाता जब प्रश्नों के उत्तर देता रहता है तो उस समय उसकी अनुक्रियाओं का निरीक्षण किया जाता है। साक्षात्कार को परिभाषित करते हुए Cannell and Kahn (1968) ने लिखा है।

"Research Interview can be defined as a two person conversation, initiated by the interviewer for specific content specified by research objectives of systematic discription, prediction or explanation"

साक्षात्कार पद्धति का उपयोग साक्षात्कारकर्ता द्वारा शोध से सम्बन्धित प्रासगिक सूचना प्राप्त करने हेतु किया जाता है। इस पद्धति में दो व्यक्तियों के बीच किसी समस्या या वस्तु पर वार्तालाप होता है। इसमें शोध की कुछ प्रमुख विशेषताओं जैसे—क्रमबद्ध वर्णन, भविष्यवाणी या व्याख्या द्वारा निर्धारित विषयवस्तु के विषय में सूचना प्राप्त होती है।

इस विधि का उपयोग बालक अध्ययन के अलावा अन्य दूसरे क्षेत्रों में भी परिहार्य है। उदाहरणार्थ निदानात्मक अध्ययनों, पर्यवेक्षणों, नियुक्तियों एव कक्षा में प्रवेश के समय भी लोगों से साक्षात्कार किया जाता है। साक्षात्कार प्राय दो प्रकार के होते हैं जिसको—

(1) निदेशित साक्षात्कार या सरचित साक्षात्कार

(2) अनिदेशित साक्षात्कार या असरचित साक्षात्कार कहा जाता है।

उपर्युक्त दोनों साक्षात्कार के रूपों का उपयोग किया जा सकता है। निर्देशित साक्षात्कार जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि उसमें क्रमबद्ध रूप से प्रश्नों को पहले तैयार कर लिया जाता है तथा उन्ही प्रश्नों को साक्षात्कारकर्ता पूछता है तथा उत्तरदाता उसका उत्तर देता है। इस विधि से प्राय क्रमबद्ध एव वैज्ञानिक परिणाम प्राप्त होते हैं। इस विधि में पूर्व में ही प्रश्नों की सूची तैयार कर ली जाती है जिससे किसी भी प्रश्न के छूटने या भूलने की सभावना नही रहती है।

इसके विपरीत अनिदेशित साक्षात्कार में प्रश्न पहले से तैयार नही होते है बल्कि साक्षात्कारकर्ता साक्षात्कार के समय ही अपनी स्मरण शक्ति के आधार पर उत्तरदाता से प्रश्न करता है और उत्तरो का सग्रह करता है। इस साक्षात्कार मे कभी कभी आवश्यक प्रश्न छूट जाते हैं तथा इसकी जगह कुछ आगत एव अनावश्यक प्रश्न पूछ लिए जाते है जिसके कारणप्रदत्तों की क्रमबद्धता एव वैज्ञानिकता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। इसी कारण से निदेशित साक्षात्कार अनिदेशित साक्षात्कार की तुलना मे अधिक उपयोगी माना जाता हे।

साक्षात्कार विधि के चरण—साक्षात्कार की पूरी प्रक्रिया में निम्नलिखित पॉच महत्वपूर्ण चरण होते हैं—

(1) **साक्षात्कार प्रश्नावली** (Interview questionnaire) का निर्माण करना। इसमें प्रश्नों चित्रों कथनों या अनुक्रिया उत्पन्न कराने हेतु अन्य उद्दीपको का चयन सम्मिलित किया जाता है।

(2) **साक्षात्कार करना** (Conducting the Interview) – इस चरण के अन्तर्गत प्रश्नों या कथनों या साक्षात्कार सूची की सहायता से अनुक्रियाओं को उत्पन्न कराया जाता है तथा इन्ही अनुक्रियाओं को बाद में वर्गीकृत तथा एकत्र करते हैं।

(3) **अनुक्रियायो का सग्रह** (Recording of Responses) – अनुक्रियायों को नोट या सग्रह करने के लिए प्राय कागज पेन्सिल या टेपरिकार्डर इत्यादि साधन का उपयोग करते है।

(4) **आकिक सकेत निश्चित करना** (Creating numerical cose) – इस चरण के अन्तर्गत अनुक्रियायों को मात्रात्मक रूप प्रदान करने के लिए सख्यायों का उपयोग करते हैं। इसमें अनुक्रियाओं को अकों में रूपान्तरित किया जाता है।

(5) **अनुक्रियाओ की कोडिग** (Coding of Interview responses) – यह साक्षात्कार का अन्तिम चरण है। इसमें प्राप्त अनुक्रियाओं का कूट सकेतन किया जाता है। इसमें अनुक्रियाओं के लिए अनैतिक व्यवस्था करने के बाद उन्हें वर्गीकृत किया जाता है।

गुण—साक्षात्कार विधि के निम्नलिखित गुण होते हैं—

(1) इस विधि द्वारा बाल मनोविज्ञान के अनेक पहलुओं का अध्ययन किया जा सकता है।

(2) इसमें वार्तालाप द्वारा व्यक्ति के व्यवहार, ज्ञान, अनुभव और हाव-भावों की परीक्षा ली जाती है।

(3) इस विधि के आधार पर व्यक्ति के हाव-भाव तथा ज्ञान की गहराई का पता लग जाता है कि वह कितने गहराई में हैं। इस विधि द्वारा व्यक्ति की इच्छाओं और विचारों आदि की गहराई की जाँच की जाती है।

सीमाऐं—इस विधि की निम्नलिखित सीमाएँ हैं—

(1) साक्षात्कार में उत्तरदाता स्मृति के आधार पर अनेक बातों का उत्तर देता है जिससे भूल होने की सभावना रहती है।

(2) यह विधि अधिक खर्चीली है।

(3) इस विधि में उत्तरदाता अपनी व्यक्तिगत बातें नही बतलाना चाहता है।

(4) इस विधि में साक्षात्कारकर्ता पर पूर्वाग्रह का प्रभाव पड सकता है।

सावधानियॉ—साक्षात्कार के समय निम्नलिखित सावधानियों पर ध्यान देना आवश्यक होता है—

(1) साक्षात्कारकर्ता का स्वभाव सरल एव मधुर होना चाहिए।

(2) कथन सर्वदा लिखित होने चाहिए।

(3) प्रश्नों की भाषा सरल एव बोधगम्य होनी चाहिए।

(4) साक्षात्कारकर्ता को उत्तरदाता के उत्तरों में रुचि प्रदर्शित करना चाहिए।

13518

(5) उत्तरदाता को प्रेरित रखना चाहिए।

(6) द्विअर्थक शब्दों का प्रयोग नही करना चाहिए।

(7) उत्तरदाता एव साक्षात्कारकर्ता में परस्पर सौहार्द होना चाहिए।

(8) प्रश्नों का उत्तर तुरन्त नोट करना चाहिए।

(4) अवलोकन विधि (Observation Method)

अवलोकन विधि का महत्व विकासात्मक अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य में काफी है। इस विधि की सहायता से बच्चों के अनेक व्यवहारों का अवलोकन किया जा सकता है। अवलोकन से तात्पर्य बच्चों के व्यवहार का प्रेक्षण उसी दशा में करना जिस दशा या रूप में उत्पन्न हो रहा है। सरल शब्दों में यह कह सकते हैं कि प्राकृतिक परिवेश में उत्पन्न व्यवहारों का अवलोकन ज्यों का त्यों करना। प्रेक्षण या अवलोकन विधि दो प्रकार की होती है।

(1) अनियत्रित या साधारण अवलोकन।

(2) नियत्रित अवलोकन ।

अनियत्रित प्रेक्षण या साधारण अवलोकन द्वारा प्राकृतिक परिवेश में उत्पन्न व्यवहारों का प्रेक्षण किया जाता है। इस विधि में अध्ययनकर्ता कोई भी प्रहस्तन नही कर सकता है। इसमें उत्पन्न व्यवहारों का यथासभव ज्यों का त्यों प्रेक्षण करके अभिलेख तैयार करते हैं तथा उसका विश्लेषण करके उपयोग परिणाम निकाले जाते हैं। एण्डरसन (1954) के शब्दों में अनियत्रित प्रेक्षण में व्यवहारों का अवलोकन क्रमबद्ध होता है परन्तु उद्दीपक परिस्थितियॉ अनियत्रित या स्वतन्त्र होती हैं। परिस्थितियों में किसी भी प्रकार का प्रहस्तन नही किया जाता है। प्राय परिस्थितियॉ प्राकृतिक (Natural) होती हैं। इस विधि में माता या पिता तथा अन्य प्रौढ व्यक्ति द्वारा बालकों की बाहरी क्रियाओं, चेष्टाओं व्यवहारों तथा आदतों का निरीक्षण करके उसकी मानसिक स्थिति का पता लगाया जाता है। इस विधि का एक रूप वर्णनात्मक अभिलेख तैयार करना है तथा दूसरा रूप परिस्थितिजन्य प्रतिदर्श कहा जाता है। इस रूप में विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार का अभिलेख तैयार किया जाता है। इसका तृतीय रूप काल प्रतिदर्श कहा जाता है। इसके अन्तर्गत व्यवहार का अवलोकन निश्चित मध्यान्तरों पर किया जाता है। इस विधि में एक और तकनीक का प्रयोग करते हैं जिसे खेल तकनीक कहते हैं। इसका उपयुक्त उदाहरण खेल के मैदान में खेलते हुए बच्चों के व्यवहारों का प्रेक्षण करना है। इस विधि का उपयोग जिन मनोवैज्ञानिकों ने किया है उनका नाम क्रमश Barker and Wright 1949, 1951, Olson 1929, 1934, Goodenough 1928, Thomas 1921, Arrington 1943 तथा Back 1946 है ।

इस विधि में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पडता है—

(1) घटना विशेष पर वातावरण के अप्रत्यक्ष प्रभाव का निरीक्षक को पता नही लग पाता है।

इसके विपरीत अनिदेशित साक्षात्कार में प्रश्न पहले से तैयार नही होते है बल्कि साक्षात्कारकर्ता साक्षात्कार के समय ही अपनी स्मरण शक्ति के आधार पर उत्तरदाता से प्रश्न करता है और उत्तरो का सग्रह करता है। इस साक्षात्कार मे कभी कभी आवश्यक प्रश्न छूट जाते हैं तथा इसकी जगह कुछ आगत एव अनावश्यक प्रश्न पूछ लिए जाते हैं जिसके कारणप्रदत्तों की क्रमबद्धता एव वैज्ञानिकता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। इसी कारण से निदेशित साक्षात्कार अनिदेशित साक्षात्कार की तुलना मे अधिक उपयोगी माना जाता है।

साक्षात्कार विधि के चरण—साक्षात्कार की पूरी प्रक्रिया में निम्नलिखित पॉच महत्वपूर्ण चरण होते हैं—

(1) **साक्षात्कार प्रश्नावली** (Interview questionnaire) का निर्माण करना। इसमे प्रश्नों, चित्रों कथनों या अनुक्रिया उत्पन्न कराने हेतु अन्य उद्दीपको का चयन सम्मिलित किया जाता है।

(2) **साक्षात्कार करना** (Conducting the Interview)—इस चरण के अन्तर्गत प्रश्नों या कथनों या साक्षात्कार सूची की सहायता से अनुक्रियाओं को उत्पन्न कराया जाता है तथा इन्ही अनुक्रियाओं को बाद में वर्गीकृत तथा एकत्र करते हैं।

(3) **अनुक्रियायों का सग्रह** (Recording of Responses)—अनुक्रियायो को नोट या सग्रह करने के लिए प्राय कागज पेन्सिल या टेपरिकार्डर इत्यादि साधन का उपयोग करते है।

(4) **आकिक सकेत निश्चित करना** (Creating numerical cose)—इस चरण के अन्तर्गत अनुक्रियायों को मात्रात्मक रूप प्रदान करने के लिए सख्यायों का उपयोग करते हैं। इसमें अनुक्रियाओं को अकों में रूपान्तरित किया जाता है।

(5) **अनुक्रियाओ की कोडिंग** (Coding of Interview responses)—यह साक्षात्कार का अन्तिम चरण है। इसमें प्राप्त अनुक्रियाओं का कूट सकेतन किया जाता है। इसमें अनुक्रियाओं के लिए अनैतिक व्यवस्था करने के बाद उन्हें वर्गीकृत किया जाता है।

गुण—साक्षात्कार विधि के निम्नलिखित गुण होते हैं—

(1) इस विधि द्वारा बाल मनोविज्ञान के अनेक पहलुओं का अध्ययन किया जा सकता है।

(2) इसमें वार्तालाप द्वारा व्यक्ति के व्यवहार, ज्ञान, अनुभव और हाव-भावों की परीक्षा ली जाती है।

(3) इस विधि के आधार पर व्यक्ति के हाव-भाव तथा ज्ञान की गहराई का पता लग जाता है कि वह कितने गहराई में हैं। इस विधि द्वारा व्यक्ति की इच्छाओं और विचारों आदि की गहराई की जाँच की जाती है।

सीमाएँ—इस विधि की निम्नलिखित सीमाएँ हैं—

(1) साक्षात्कार में उत्तरदाता स्मृति के आधार पर अनेक बातों का उत्तर देता है जिससे भूल होने की सभावना रहती है ।

(2) यह विधि अधिक खर्चीली है।

(3) इस विधि में उत्तरदाता अपनी व्यक्तिगत बातें नही बतलाना चाहता है।

(4) इस विधि में साक्षात्कारकर्ता पर पूर्वाग्रह का प्रभाव पड सकता है।

(5) इस विधि में उत्तरदाता का सही मूल्याकन नहीं होने पाता है।

सावधानियाँ—साक्षात्कार के समय निम्नलिखित सावधानियों पर ध्यान देना आवश्यक होता है—

(1) साक्षात्कारकर्ता का स्वभाव सरल एव मधुर होना चाहिए।

(2) कथन सर्वदा लिखित होने चाहिए।

(3) प्रश्नों की भाषा सरल एव बोधगम्य होनी चाहिए।

(4) साक्षात्कारकर्ता को उत्तरदाता के उत्तरों में रुचि प्रदर्शित करना चाहिए।

(5) उत्तरदाता को प्रेरित रखना चाहिए।

(6) द्विअर्थक शब्दों का प्रयोग नही करना चाहिए।

(7) उत्तरदाता एव साक्षात्कारकर्ता में परस्पर सौहार्द होना चाहिए।

(8) प्रश्नों का उत्तर तुरन्त नोट करना चाहिए।

(4) **अवलोकन विधि** (Observation Method)

अवलोकन विधि का महत्व विकासात्मक अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य में काफी है। इस विधि की सहायता से बच्चों के अनेक व्यवहारों का अवलोकन किया जा सकता है। अवलोकन से तात्पर्य बच्चों के व्यवहार का प्रेक्षण उसी दशा में करना जिस दशा या रूप में उत्पन्न हो रहा है। सरल शब्दों में यह कह सकते हैं कि प्राकृतिक परिवेश मे उत्पन्न व्यवहारों का अवलोकन ज्यों का त्यो करना। प्रेक्षण या अवलोकन विधि दो प्रकार की होती है।

(1) अनियत्रित या साधारण अवलोकन।

(2) नियत्रित अवलोकन ।

अनियत्रित प्रेक्षण या साधारण अवलोकन द्वारा प्राकृतिक परिवेश में उत्पन्न व्यवहारों का प्रेक्षण किया जाता है। इस विधि में अध्ययनकर्ता कोई भी प्रहस्तन नही कर सकता है। इसमें उत्पन्न व्यवहारों का यथासभव ज्यों का त्यों प्रेक्षण करके अभिलेख तैयार करते हैं तथा उसका विश्लेषण करके उपयोग परिणाम निकाले जाते हैं। एण्डरसन (1954) के शब्दों में अनियत्रित प्रेक्षण में व्यवहारों का अवलोकन क्रमबद्ध होता है परन्तु उद्दीपक परिस्थितियाँ अनियत्रित या स्वतन्त्र होती हैं। परिस्थितियों में किसी भी प्रकार का प्रहस्तन नही किया जाता है। प्राय परिस्थितियाँ प्राकृतिक (Natural) होती हैं। इस विधि में माता या पिता तथा अन्य प्रौढ व्यक्ति द्वारा बालकों की बाहरी क्रियाओं, चेष्टाओं व्यवहारों तथा आदतों का निरीक्षण करके उसकी मानसिक स्थिति का पता लगाया जाता है। इस विधि का एक रूप वर्णनात्मक अभिलेख तैयार करना है तथा दूसरा रूप परिस्थितिजन्य प्रतिदर्श कहा जाता है। इस रूप में विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार का अभिलेख तैयार किया जाता है। इसका तृतीय रूप काल प्रतिदर्श कहा जाता है। इसके अन्तर्गत व्यवहार का अवलोकन निश्चित मध्यान्तरों पर किया जाता है। इस विधि में एक और तकनीक का प्रयोग करते हैं जिसे खेल तकनीक कहते हैं। इसका उपयुक्त उदाहरण खेल के मैदान में खेलते हुए बच्चों के व्यवहारों का प्रेक्षण करना है। इस विधि का उपयोग जिन मनोवैज्ञानिकों ने किया है उनका नाम क्रमश Barker and Wright 1949, 1951, Olson 1929, 1934, Goodenough 1928, Thomas 1921, Arrington 1943 तथा Back 1946 हैं ।

इस विधि में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पडता है—

(1) घटना विशेष पर वातावरण के अप्रत्यक्ष प्रभाव का निरीक्षक को पता नही लग पाता है।

(2) किसी तथ्य या घटना का प्रेक्षण यदि कुछ कारणवश ठीक तरह से नही हो पाता है तो उसे फिर से दुहराकर निरीक्षण करने मे कठिनाई होती है।

(3) प्रेक्षक पर अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत पूर्व धारणा, प्रवृत्ति, रुचि या मनोदशा का प्रभाव पडता है।

(4) विषय के व्यवहार की व्याख्या में पूर्वाग्रह एव पक्षपात की सम्भावना रहती है।

(5) इसमे पूर्ण स्वतन्त्रता होने के कारण इस पर कोई नियत्रण नही होता है।

नियत्रित अवलोकन (Controlled Observation)—इसमें बालक के व्यवहारों क्रियाओं तथा चेष्टाओं का अध्ययन नियन्त्रित वातावरण मे किया जाता है। इसमें पूर्व निश्चित योजना के अनुसार बालको की स्वाभाविक रूप से घटने वाली प्रतिक्रियाओं का क्रमबद्ध अकन किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत व्यवहार का प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है और उसे नोट किया जाता है फिर बालकों के व्यवहारों की व्याख्या तथा विश्लेषण किया जाता है। अन्त में सामान्यीकरण करके सामान्य नियम निर्माण किये जाते हैं। इस विधि मे व्यक्तिगत पक्षपात के प्रभाव की सभावना कम रहती है। सर्वप्रथम इस विधि का प्रयोग जर्मनी में किया गया। बाद में अन्य मनोवैज्ञानिक जैसे वाटसन (Watson) गेसेल (Gassell) तथा हरलाक (Hurlock) आदि ने किया।

प्रेक्षण को परिभाषित करते हुए Weick (1969) ने लिखा है कि प्रेक्षण विधि की अवधारणा का तात्पर्य प्रावकल्पनाविहीन जॉच, प्राकृतिक परिवेश में घटनाओं का प्रेक्षण, शोधकर्ता द्वारा हस्तक्षेप का अभाव, अध्ययनात्मक रूप में विवरण सग्रह और स्वतन्त्र चरों में प्रहस्तन न करना है।

" The term observation method is foten used to refer to hypothesis free inquiry, working at events in natural surrounding, nonintervention by the researcher, unselective recording and avoidance of manipulations in independent vaniables "

उपर्युक्त विवरार्णे से यह स्पष्ट है कि नियत्रित अवलोकन विधि में शोधकर्ता की रुचि, घटनाओं या विकासों के "कैसे पक्ष" में नही रहती है बल्कि वह कब, कहॉ और क्यों पक्ष में ज्यादा इच्छुक रहता है। नियत्रित प्रेक्षण के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अवलोकन के समय परिस्थिति को नियत्रित किया जाता है अर्थात् नियत्रित परिस्थितियों दशा में व्यवहार का प्रेक्षण होता है।

अवलोकन विधि के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रणालियों का उपयोग किया जाता है—

(अ) **नियत्रित वर्ग तथा प्रयोगात्मक वर्ग** (Controlled group and Experimental Group)—इस प्रणाली में बच्चों का दो समूह बनाया जाता है और फिर अध्ययन किया जाता है। इसमें नियत्रित समूह को सामान्य व्यवहार हेतु छोड दिया जाता है जबकि प्रयोगात्मक समूह को पूर्णत नियत्रित दशा में रखा जाता है। दोनों वर्गों के क्रियाकलापों तथ व्यवहारों का विकास क्रम के रूप में तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। नियत्रित समूह क उपयोग केवल प्रयोगात्मक समूह से तुलना करने के लिए किया जाता है तत्पश्चात निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

एक कक्ष होता है जिसमें पढने, लिखने तथा खेलकूद आदि अनेक की सामग्रियाँ रखी रहती हैं। बालको की विभिन्न रुचि तथा स्वभाव कापता लगाने के लिए बालक को उस कमरे मे प्रवेश करा दिया जाता है। उस कक्ष में दरवाजे पर एक ऐसा शीशा लगा रहता हैं जिससे व्यवहार का निरीक्षण प्रेक्षणकर्ता कर लेता है परन्तु बालक निरीक्षणकर्ता को देख नही पाता है।

(स) **चित्रकक्ष** (Pictur Room)—इस प्रणाली में एक छोटा सा कक्ष होता है जिसमे खेलकूद और पढने-लिखने की सामग्री रखी रहती है और उसके साथ एक कैमरा (Camera) रहता है जिसमें बच्चे का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना होता है। बच्चे को कमरे में रख दिया जाता है। बच्चे के व्यवहार की प्रतिक्रियाएँ कैमरे पर आती रहती हैं। प्रेक्षणकर्ता कैमरे के द्वारा प्रेक्षित प्रतिक्रियाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके स्वभाव एव व्यवहार का पता लगाता है।

(द) **सकेतलिपि सम्बन्धी प्रलेख** (Coding Related Record)—इसमें प्रेक्षक बालकों के व्यवहारों की यथार्थ जानकारी हेतु सकेतलिपि सम्बन्धी प्रलेखों का प्रयोग करता है।

(य) **प्रयोग भवन** (Experimental Room)—यह भवन मनोरजक सामग्रियों से सुसज्जित रहता है। प्रयोग आरम्भ करने से पूर्व बालक को इस भवन से पूर्णरूप से परिचित करा दिया जाता है और फिर बालक को वहाँ छोड दिया जाता है। निरीक्षक छिपकर बालक के क्रिया-कलापों तथा व्यवहारों को देखता रहता है। बालक निरीक्षक को नही देख पाता है। इसलिए वह अपना स्वाभाविक व्यवहार करता है। प्रेक्षक इन व्यवहारों का अकन करता है अन्त में प्रदत्तों का विश्लेषण किया जाता है तथा उसके रुचि व स्वभाव का पता लगाया जाता है।

गुण—

(1) अवलोकन विधि की सहायता से बालक की सहज क्रियाओं, रुचि, अवधान आदत निर्माण एव मूल प्रवृत्ति का अध्ययन किया जा सकता है।

(2) परिस्थितियों के नियत्रण कर देने से विश्वसनीय परिणाम प्राप्त होते हैं।

(3) बडे प्रतिदर्शों (Large sample) का उपयोग करने पर प्रतिनिध्यात्मक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

(4) प्रेक्षकों की सख्या अधिक रखकर परिणामों की विश्वसनीयता बढा सकते हैं।

(5) कृत्रिम परिस्थिति का अभाव रहता है।

(6) बालकों के बहुत से व्यवहारों को प्रयोगों द्वारा नही जाना जा सकता है इसलिए इस विधि की सरलता से प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रेक्षकों के लिए प्रशिक्षण तथा अभ्यास की आवश्यकता पडती है ताकि वह पक्षपात न कर सके ।

दोष

(1) इस विधि में निरीक्षक किसी के व्यवहार की व्याख्या करने में पक्षपात या पूर्वधारणा से प्रभावित हो सकता है।

(2) इस विधि में अनुमान की बहुत गुजाइश रहती है।

(3) कभी-कभी बच्चों के व्यवहार की व्याख्या करने में गलतफहमी हो सकती है।

(4) परिस्थिति नियत्रित कर देने से प्राकृतिकता कुछ न कुछ सीमा तक अवश्य कम हो जाती है।

(5) प्रेक्षकों के विचारों का प्रभाव परिणाम पर पड सकता है। स्टागडिल 1933 नें भी कहा है कि आत्मनिष्ठ विचारों के कारण परिणामों की विश्वसनीयता सन्देहास्पद हो जाती है।

(5) प्रायोगिक विधि (Experimental Method)

परिकल्पना के परीक्षण की विधि को प्रयोगात्मक विधि कहते हैं। इस विधि में पूर्व निश्चित एव निर्धारित व निर्मित तथा व्यवस्थित स्थिति में मानसिक प्रक्रियाओं तथा व्यवहारों का नियत्रित रूप मे प्रेक्षण का अध्ययन किया जाता है। प्रयोगात्मक विधि एक तरह से निरीक्षण विधि ही है। अन्तर केवल इतना है कि निरीक्षण विधि में स्वाभाविक वातावरण तथा सहज घटनाओं एव व्यवहारों का निरीक्षण तथा अध्ययन किया जाता है। इसमें कृत्रिम वातावरण का अभाव रहता है। बल्कि वह स्वतन्त्र और स्वाभाविक होता है। परन्तु प्रायोगिक विधि मे एक प्रकार का निरीक्षण होता है जो नियत्रित दशा में होता है। इसमें प्रयोगकर्ता आवश्यकतानुसार एव सुविधानुसार वातावरण तथा घटनाओं को प्रहस्तन कर सकता है और उनके प्रहस्तन करके विभिन्न निर्णयों एव निष्कर्षों पर पहुँच सकता है। प्रायोगिक विधि एव वेज्ञानिक विधि है। इस विधि में क्रमश निम्नलिखित सोपान होते हैं। इसमें पहले समस्या उठाई जाती है फिर एक परिकल्पना का निर्माण किया जाता है। इसके पश्चात् स्वतन्त्र परिवर्तनों तथा आश्रित परिवर्त्यों को अलग किया जाता है। तत्पश्चात् परिवेश को नियत्रित किया जाता है। उसके बाद प्रयोगफल का विश्लेषण किया जाता है और अत में प्रयोगफल से परिकल्पना की जॉच की जाती है। बालकों के विकासक्रम का अध्ययन इस विधि द्वारा किया जाता है। इस विधि का प्रयोग Watson 1925, Gesell 1932, 35, Lunis 1947 आदि ने किया है।

किसी भी मनोवैज्ञानिक प्रयोग मे कम से कम तीन परिवर्त्य होते हैं। इन्हें क्रमश अनाश्रित चर, (Independent Variable) आश्रित चर (Dependent variable) तथा प्राणी चर (Organismic variable) कहते हैं। अनाश्रित चर वे होते हैं जिनमें प्रयोगकर्ता प्रहस्तन कर सकता है। आश्रित चर वे होते हैं जो पूरी तरह से अनाश्रित चर पर आश्रित होते हैं। किसी भी प्रकार का अनाश्रित चार में परिवर्तन आश्रित चर में भी परिवर्तन देखा जा सकता है। प्राणी परिवर्त्य वे होते हैं जो प्राणी से सम्बन्धित होते हैं। जहॉं तक विकासात्मक मनोविज्ञान में इस विधि के प्रयोग का प्रश्न है सम्प्रति यह विधि अधिक प्रयोग मे लायी जा रही है। इस विधि का प्रयोग करते समय निम्नलिखित दो प्रायोगिक अभिकल्प (Experimental Design) का उपयोग किया जाता है।

(1) समतुल्य समूह अभिकल्प (Matched Group Design) — इस विधि में दो समान गुण वाले समूह चुने जाते हैं। इनमें से एक प्रायोगिक समूह पर स्वतन्त्र चर दिया जाता है तथा नियत्रित समूह उससे वचित रहता है। अगर अध्ययन के दौरान दोनों समूहों में सार्थक अन्तर परिलक्षित होता है तो वह स्वतन्त्र चर का परिणाम मान जाता है।

(2) युगलमज नियत्रण अभिकल्प (Cotwins Control Design) — इस अभिकल्प में जुडवा बच्चों को प्रयोज्य के रूप में चुना जाता है। जैसा कि विदित है कि यमज लोगों की आनुवाशिकता समान रहती है। अत इस अभिकल्प में यह अध्ययन करने का प्रयास किया जाता है कि पर्यावरण में अन्तर होने के कारण उनके व्यवहार में अन्तर आता है या नही। इस तरह के अध्ययनों में परिवेशीय कारण अनाश्रित चर होगें और विकास में प्राप्त अन्तर उसका परिणाम होगा। इस विधि द्वारा अधिगम, सवेदना, प्रेरणा, सवेग, परिपक्वता एव सज्ञान के क्षेत्रों में काफी कार्य हो रहा है।

प्रायोगिक विधि के गुण

(1) इस विधि में परीक्षण के परिणाम प्राय विशुद्ध एव विश्वसनीय होते हैं।

(2) इस विधि के द्वारा बच्चों की विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं तथा सहज क्रियाओं का सरलता से अध्ययन किया जाता है।

(3) यह विधि मनोवैज्ञानिक तथ्यों तथा नियमो की जानकारी में सहायता पहुँचाती है।

(4) इस विधि मे कार्य कारण के सम्बन्ध मे अच्छी जानकारी मिलती है इसके द्वारा व्यक्तिगत विभिन्नताओं का अध्ययन आसानी से हो सकता है ।

(5) यह विधि बहुत नियमनिष्ठ और कोई भी परिकल्पना का परीक्षण करने के लिए सबसे उत्तम रहती है।

(6) प्रयोगकर्ता नियत्रण द्वारा व्यवहार के प्रेक्षण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है, तथा परिणामों की स्थिरता ज्ञात कर सकता है।

सीमाएँ—

(1) बालक के अनिश्चित व्यवहारों का इस विधि से अध्ययन सभव नही है।

(2) बालको के मानसिक दशाओं पर नियत्रण रखना सभव नही है।

(3) इसके द्वारा बालकों के भावों तथा सवेगों का अध्ययन पूर्ण रीति से सभव नही है।

(4) बालकों की बहुत सी मानसिक क्रियाओं का अध्ययन इस विधि द्वारा संभव नही है क्योंकि वे इच्छानुसार जब चाहें तब उत्पन्न नही होती हैं।

(5) वातावरण के सभी तत्वों पर नियत्रण रखना कठिन कार्य है । साथ ही मानसिक प्रतिक्रियाओं पर नियत्रण प्राप्त करना भी कठिन है ।

(6) कभी-कभी बालक सवेगों तथा आवेगों की चपेट में आने के कारण प्रयोग के समय वह प्रयोगकर्ता के मन के अनुसार तथा कृमि वातावरण के अनुरूप कार्य नही कर पाता। इसलिए निष्कर्ष गलत और व्यर्थ सिद्ध हो सकते हैं।

(6) प्रक्षेपण विधियाँ (Projective Methods)

सम्प्रति व्यक्ति के व्यक्तित्व मापन तथा विकास में विषय में इन विधियों का अधिक प्रयोग किया जा रहा है । ऐसा समझा जाता है कि व्यक्ति अपनी भावनाओं को अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं पर अधिक प्रत्यारोपित करता है। ऐसे परीक्षण वाचक एव अवाचक दोनों प्रकार के होते हैं। इस प्रकार के परीक्षणों द्वारा व्यक्ति के सवेगों मनोदशा एव मानसिक विकृतियों का पता लगाया जाता है । ऐसे परीक्षणों में अस्पष्ट परिस्थितियाँ होती हैं और बच्चों य़ा व्यक्तियों से उन परिस्थितियों को प्रत्याक्षित कराके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इन परीक्षणों का उपयोग विकासात्मक अध्ययनों में भी करते हैं। ऐसे परीक्षण प्रामाणिक एव अप्रामाणिक दोनों तरह के होते हैं । प्रामाणीकृत परीक्षणों में रोर्शाक् का स्याही धब्बा परीक्षण तथा मरे का टी ए टी इत्यादि प्रमुख है। रोर्शाक् परीक्षण में 10 प्रामाणिक स्याही के धब्बों के कार्डों को दिखाया जाता है और बच्चों से पूछा जाता है कि कार्ड में जो कुछ भी दिखायी दे रहा है उसको बतलायें। परीक्षक इन प्रतिक्रियाओं को भली प्रकार अध्ययन करके व्यक्तित्व तथा उसके विकास का मूल्याकन करता है। इस परीक्षण के प्रशासन में प्रशिक्षण तथा कौशल की आवश्यकता पडती है। इसी तरह से मरे के टी ए टी में दृश्य परिस्थितियाँ होती हैं। व्यक्तियों को चित्र से सम्बन्धित कहानी-प्रस्तुत करने के लिए कहा जाता है। चूँकि ये चित्र

अस्पष्ट होते हैं इसलिए व्यक्ति अपनी भावनाओं को अज्ञात रूप मे उन पर आरोपित करता है। और दिये हुए चित्र में प्रक्षेपण द्वारा मुख्यपात से तादात्म्य कर लेता है। इस विधि से व्यक्ति के चरित्र, विचार, अभिरुचि और प्रसुप्त भावनाओ की जानकारी मिलती है।

प्रक्षेपी विधि के गुण

(1) इस विधि द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व, अभिरुचि, चरित्र और विचार आदि का अध्ययन आसानी से किया जा सकता है।

(2) इस विधि से मानसिक विकृतियो के विषय में भी जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(3) व्यक्तित्व के विशेष गुणो और सामान्य प्रवृत्तियो का पता लगाया जा सकता है। चिकित्सा के क्षेत्र में भी इसका उपयोग बहुतायत हो रहा है।

दोष

(1) प्रक्षेपी विधि द्वारा प्राप्त प्रदत्तों की व्याख्या हेतु अधिक प्रशिक्षित एव कुशल विश्लेषण की जरूरत पडती है।

(2) प्रक्षेपी विधि से प्राप्त परिणामों का विश्लेषण यदि एक से अधिक विशेषज्ञों से कराया जाय तो निष्कर्षों मे अन्तर की सम्भावना रहती है।

(3) प्रक्षेपी विधियों से अपेक्षाकृत कम वैध एव कम विश्वसनीय परिणाम मिल पाते हैं।

(4) इस विधि से व्यक्तित्व का सही-सही मूल्याकन नही होता है। कारण कि इनमें वस्तुमूलकना की कमी रहती है और इनका सही उपयोग करने के लिए प्रशिक्षण की जरूरत पडती है।

(7) प्रश्नावली विधि (Questionnaire Method)

प्रश्नावली विधि का उपयोग भी विकासात्मक अध्ययनों हेतु किया जाता है। प्रश्नावली विधि में किसी वस्तु या विषय से सम्बन्धि प्रश्नों को क्रमबद्ध एव समूहीकृत किया जाता है। इसमें व्यक्ति प्रश्नों को पढता है और उसका उत्तर देता है। इन प्रश्नों की अनुक्रियाओं का विश्लेषण करके अनेक प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं। Hurlock (1950) के अनुसार यह चरित्र लेखन विधि का ही एक विस्तृत पुनरोत्पादक रूप हैं। इसका मुख्य उद्देश्य विकास के बारे में विस्तृत सूचनाएँ एकत्र करना होता है । एण्डरसन (1954) ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि—

"A series of questions arranged more or less systematically and grouped about an main topic is called a Questionnaire

प्रश्नावलियाँ सामान्यतया दो प्रकार की होती हैं। प्रथम प्रकार की प्रश्नावलियों को ज्ञात तथ्यों की जानकारी करने वाली प्रश्नावली कही जाती हैं तथा दूसरे प्रकार को मत प्राप्त करने वाली प्रश्नावली कही जाती हैं। प्रथम प्रकार की प्रश्नावली में ऐसे तथ्यों की जानकारी प्राप्त की जाती है जो उतरदाता को ज्ञात रहता है। जैसे अँधेरे में मुझे डर लगता है। (हॉ/नहीं) उत्तरदाता इन प्रश्नों को पढकर इनका उत्तर हाँ या ना में देता है। दूसरे प्रकार को प्रश्नावली में उत्तरदाताओं से मत प्राप्त किये जाते हैं। उदाहरणार्थ "परिवार नियोजन के विषय मे आपकी

क्या राय है।" उत्तरदाता ऐसे अपने प्रश्नों के प्रति अपना मत प्रकट करता है। प्रश्नावली विधि से सूचना सग्रह हेतु निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(1) परिणाम की विश्वसनीयता हेतु सूचना अधिक से अधिक लोगों से प्राप्त करनी चाहिए।

(2) प्रश्नावली में रखे गये प्रश्न सरल स्पष्ट एव बोधगम्य होने चाहिए।

(3) प्रश्नों का क्रम सरल से कठिन की ओर होना चाहिए।

(4) कथन द्विअर्थक नही होने चाहिए।

(5) प्रतिदर्श (Sample) उपयुक्त होना चाहिए।

(6) घटना घटने एव प्रश्नावली देने के मध्य अन्तराल कम होना चाहिए ।

(7) प्रश्नावली में यदि कोई शब्द कठिन हो तो उसका अर्थ उपयुक्त भाषा में कोष्ठक में लिखकर स्पष्ट करना चाहिए।

(8) उत्तरदाता को उत्तर देने के लिए प्रेरित करना चाहिए ।

(9) प्रश्नावली विधि से प्राप्त प्रदत्तों की तुलना अन्य वैज्ञानिक विधियों से भी करनी चाहिए ताकि विश्वसनीयता को परखा जा सके।

इस विधि का उपयोग सूचनाओं को सग्रह करने में Hall 1891 एव Barness 1892 आदि मनोवैज्ञानिकों ने किया है।

प्रश्नावली विधि के गुण

(1) इस विधि द्वारा बाल जीवन के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन में अच्छी सामग्री प्राप्त होती है।

(2) अपेक्षाकृत कम समय में ही अधिक लोगों से उत्तर प्राप्त किये जा सकते हैं।

(3) इस विधि द्वारा जो प्रदत्त प्राप्त होते हैं वे बडे महत्वपूर्ण होते हैं। ऐसी सामग्री का इतनी आसानी से मिलना अन्य विधियों से सभव नही है।

(4) आर्थिक दृष्टि से यह विधि मितव्ययी होती है।

(5) सावधानीपूर्वक से निर्मित प्रश्नावली शुद्ध विश्वसनीय परिणाम देता है।

सीमाएँ

(1) कभी-कभी बुद्धि या समय की कमी के कारण परीक्षार्थी प्रश्नों के सही मनोवाछित उत्तर नही दे पाते जिससे शोधों का सही निष्कर्ष निकालने में कठिनाई होती है और अन्वेषक गलत निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं।

(2) किशोर बालक उन प्रश्नों का उत्तर नही देना चाहते हैं जिनसे उनके व्यक्तित्व एव चरित्र पर किसी प्रकार की आँच आये।

(3) यदि उत्तरदाता प्रश्नों को समझ नही पाता है तो गलत एव असगत उत्तर दे सकता है जिससे प्रश्नावली की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिन्ह लगता है।

(4) प्रश्नावली विधि में यह पता लगाना कठिन होता है कि उत्तर पूर्णतया सही दिये गये या नहीं।

(8) व्यक्ति इतिहास विधि (Case History Method)

Young के अनुसार व्यक्ति इतिहास विधि सामाजिक इकाई के जीवन की खोज तथा विश्लेषण करने वाली एक विधि है। इस विधि द्वारा व्यक्ति विशेष के अतीत के इतिहास तथा

वर्तमान इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री एकत्र की जाती है और इसके आधार पर बालको में व्यक्तित्व के व्यवहारो की गुत्थियों को समझने तथा उन्हे सुलझाने का प्रयास किया जाता है।

इस विधि द्वारा व्यक्ति के बाल्यकाल का जीवन, उसका छात्र जीवन, शाला के कार्य, घर एव समाज के वातावरण का विस्तृत ज्ञान, विकासात्मक इतिहास व्यक्तिगत, शारीरिक अवस्थाओं, अभिरुचियो, अभिवृत्तियों, प्रतिक्रियाओ, आय, सामाजिक स्थिति, मानसिक एव सवेगात्मक विकास एव परिवार के इतिहास का अध्ययन किया जाता है। इस विधि की सहायता से बालक के शारीरिक, मानसिक सावेगिक, पारिवारिक आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक जीवन की सभी प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं तथा इन सूचनाओं का अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है। प्रारम्भ में इस विधि का प्रयोग प्रौढों की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए मनोविश्लेषणवादियों (फ्रायड एव उनके शिष्यों) द्वारा किया गया। विटमर (Witmer 1896) ने इस विधि को थोडा परिमार्जित करके पहली बार प्रयुक्त किया । हरलाक (1950) के अनुसार यदि इस विधि द्वारा सामान्य बालकों एव असामान्य बालकों के व्यवहारों की तुलना की जाये तो सार्थक अन्तर दृष्टिगत होता है। एण्डरसन (1954) के मतानुसार इस विधि का उपयोग करके अच्छे प्रदत्त प्राप्त किये जा सकते हैं तथा प्रदत्तों के आधार पर ही सामान्यीकरण भी किया जा सकता है।

विकास मनोविज्ञान में चूँकि विकासात्मक प्रक्रिया एव परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है इसलिए इस विधि द्वारा विकासात्मक प्रक्रिया एव परिवर्तन का अभिलेख तैयार किया जा सकता है। प्राप्त अभिलेखों का विश्लेषण करके विकासात्मक स्वरूप को अधिक सरल रूप में दर्शाया जा सकता है। सबसे समस्या की बात यह है कि विश्लेषण करना बडा मुश्किल काम है। इसके लिए एक कुशल एव अनुभव विश्लेषक की जरूरत पडती है। प्रशिक्षित विश्लेषक बडी मुश्किल से मिलते हैं तथा यदि विश्लेषक मिल भी जायें तो उनके निर्णयों में एकरूपता होना मुश्किल है। उदाहरणार्थ—एल्किन (Elkin 1947) द्वारा एक अपराधी बालक के जीवन इतिहास को 78 विश्लेषकों के सामने रखा गया और यह जानने की कोशिश की गई कि इन विश्लेषको की क्या राय है ? परन्तु विश्लेषकों की राय में अपराधी बालक के जीवन इतिहास का विश्लेषण समान नही था। बल्कि सभी की अपनी-अपनी राय अलग अलग थी। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो रहा है कि इस विधि में अभिलेखों का विश्लेषण करना मुश्किल कार्य है। इस विधि का उपयोग अपने अध्ययनों में नीलेन (Neilon 1948), ज्यूविन (Zubin, 1933), चैपमैन (Chapman 1936), वरनन (Vernon, 1936) तथा लिविने (Levene 1949) आदि ने महत्वपूर्ण ढग से किया है।

गुण

(1) इस विधि का उपयोग समस्यात्मक बालकों की समस्याओं के निदान और निर्देशन हेतु करते हैं।

(2) उसका मानसिक चिकित्सा में उपयोग होता है।

(3) इस विधि से व्यक्ति विशेष के जीवन की विलक्षणताओं एव विषमताओं की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(4) इस विधि का उपयोग प्रतिभाशाली बालकों एव व्यक्तियों के अध्ययन में किया जाता है। (Wooley 1925, 1926)

(5) इस विधि द्वारा व्यक्ति की आन्तरिक दशाओं, प्रेरकों, ग्रन्थियों एव द्वन्द्वों अदि के बारे में सूचनाएँ एकत्र करके समायोजन के उपाय प्रस्तुत किये जा सकते हैं। (Freud, Wallen 1942, Anna Freud 1925, Klun 1932) आदि।

(6) इस विधि द्वारा विकास की पूरी तस्वीर प्राप्त की जा सकती है । (Baller 1936, Gluck 1934)

(7) यह न्यास तथा चयन स्तर निर्माण में सहायक होती है।

(8) यह वैध परिकल्पना निर्माण करने में महत्वपूर्ण सिद्ध होती है।

(9) यह व्यक्ति के जीवन इतिहास का लिपिबद्ध प्रदत्त का महत्व दर्शाने में उपयोगी पायी गयी है।

सीमाएँ

(1) इस विधि में व्यक्तियों के जीवन के बारे में बहुत-सी बातें याद रखनी पडती है और इस प्रकार पूर्णतया स्मरण पर निर्भर रहना पडता है। अत गलत निष्कर्ष की सम्भावना प्रबल रहती है।

(2) यह विधि इतनी विश्वसनीय नही है कारण कि स्त्रियाँ, समाज तथा पडोसियों द्वारा व्यक्ति विशेष के जीवन का यथार्थ ज्ञान नही प्राप्त होता है।

(3) यह विधि अधिक आन्तरिक है।

(4) इस विधि में आत्मज्ञान को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है।

(5) इस विधि में गलत अवलोकन, दोषपूर्ण अनुमान और स्मृति की असफलता सम्बन्धी त्रुटियाँ पाई जाती हैं।

(9) मनोमितीय विधियाँ (Psychometric Methods)

सम्प्रति इस विधि का उपयोग अधिकाधिक किया जा रहा है। लगभग पूरे विश्व के मनोवैज्ञानिक इस दिशा में मनोवैज्ञानिक परीक्षणों का निर्माण कर रहे हैं जो व्यक्ति के गुणों तथा विशेषताओं के मापन में मदद करते हैं। सम्प्रति व्यक्ति के अनेक गुणों, कौशल, अभिवृत्तियों, योग्यताओं, आत्मक्षमताओं तथा उपलब्धियों का मापन करने के लिए अनेक वैध एव विश्वसनीय परीक्षण उपलब्ध हैं। इन परीक्षणों के उपयोग से वैध एव विश्वसनीय परिणाम प्राप्त होते हैं जो भविष्य कथन में लाभकारी होते हैं। मनोमितीय विधि को परिभाषित करते हुए Hurlock (1950) ने लिखा है "मनोमितीय या परीक्षण विधि ऐसी विधि है जिसमें बच्चों के व्यवहार के लिए प्रमाणीकृत परीक्षा प्रक्रिया द्वारा अक (Grade) प्रदान किये जाते हैं। एण्डरसन (1954) ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है "इस विधि में बच्चों के समक्ष पूर्व निर्धारित एकाश या प्रश्न प्रस्तुत किए जाते हैं और इनसे प्राप्त आशिक या सम्पूर्ण फलाकों की तुलना प्रामाणिक समूहों से प्राप्त मानकों से करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं।"

"Psychometric tests involve presenting children with series of item, problems or questions laid out in advance, from which part or total scores can be obtained that permit comparison of the child's performance with norms obtained on a standard group"

इस विधि द्वारा बच्चों की क्षमताओं, कौशलों, उपलब्धियों, अभिवृत्तियों एव व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताओं का मापन आसानी से किया जा सकता है। इस विधि द्वारा आसानी से परीक्षण प्रतिदर्श पर प्रशासित करके विश्वसनीय परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। प्राप्त फलाकों की तुलना मानकों से करके उपयुक्त निष्कर्ष प्राप्त किये जा सकते हैं। इस विधि का

उपयोग मनोवैज्ञानिक सलाह निर्देशन एव व्यावसायिक निर्देशन में भी किया जाता है। सम्प्रति व्यावसायिक परामर्श की लहर चल पडी है तथा मनोवैज्ञानिक इस विधि की सहायता से व्यावसायिक परामर्श एव निर्देशन बालको तथा व्यक्तियों को दे रहे हैं।

इस विधि का आरम्भ सर्वप्रथम बिने (1905) द्वारा किया गया। इसने सर्वप्रथम बुद्धि का मापन करने के लिए एक बुद्धि परीक्षण का निर्माण किया। इस परीक्षण के निर्माण के बाद परीक्षण निर्माण की दिशा मे काफी कार्य होने लगे । यदि हम विश्व में बने सम्पूर्ण क्षेत्रो मे परीक्षण का सकलन करें तो लगभग 1 लाख परीक्षण बने होंगे। ये परीक्षण बुद्धि के क्षेत्र मे, योग्यताओं अभिवृत्तियों, उपलब्धियों आदि के क्षेत्र में निर्मित किये गये हैं । मानसिक परीक्षणो के अतिरिक्त अन्य परीक्षण भी विश्व में निर्मित किये गये हैं जिससे चिन्ता, कुण्ठा हताशा, व्यक्तित्व, नैराश्य आदि का मापन किया जाता है। शिक्षित व्यक्तियों के लिए वाचक तथा अशिक्षित व्यक्तियों के लिए अवाचक परीक्षणों का उपयोग होता है।

गुण

(1) इन परीक्षणों द्वारा आसानी से मानसिक योग्यताओं एव व्यक्तित्व के बारे में पता लगाया जा सकता है।

(2) ये परीक्षण विश्वसनीय तथा वैध होते हैं।

(3) इन परीक्षणों की सहायता से विकास की पूरी प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है।

(4) इन परीक्षणों से प्राप्त परिणामों के आधार पर भविष्यवाणी भी की जा सकती है।

(5) इन परीक्षणों का प्रशासन सरल होता है।

(6) इन परीक्षणों का मानक होता है जिससे तुलनात्मक निर्णय लिया जाता है।

(7) इन परीक्षणों द्वारा सामान्यीकरण भी किया जा सकता है।

(8) व्यावसायिक निर्देशन एव परामर्श हेतु इन परीक्षणों का उपयोग होता है।

(9) परीक्षणों की फलाकन प्रक्रिया सरल होती है।

सीमाएँ

(1) परीक्षणों का प्रशासन सरल होने के बावजूद काफी प्रशिक्षण की जरूरत पडती है।

(2) इन परीक्षणों का फलाकन करने के लिए कुशल प्रशिक्षक की जरूरत पडती है।

(3) मानकों का तुलनात्मक अध्ययन में अनुभव एव विशेषज्ञता की आवश्यकता पडती है।

(4) कुछ परीक्षण काफी समय लेते हैं तथा उनका प्रशासन भी खर्चीला होता है।

विकासात्मक मनोविज्ञान के उपागम

(Approaches of Developmental Psychology)

विकासात्मक प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए चाहे जिस विधि का उपयोग किया जाय परन्तु इन उपागमों का उपयोग प्रदत्त सग्रह में आवश्यक होता है। जिन उपागमों का उपयोग प्रदत्त सग्रह हेतु किया जाता है। वे निम्नलिखित है—

(1) प्रतिनिध्यात्मक या समकालिक उपागम

(Cross sectional Approach)

(2) अनुदैर्ध्य या दीर्घकालिक उपागम

(Longitudinal Approaches)

प्रतिनिध्यात्मक उपागम (Cross Sectional Approach)

बाल विकास के अध्ययन में सम्प्रति इस उपागम का उपयोग बहुत अधिक हो रहा है। इस उपागम में विभिन्न आयु स्तरों तथा विकास क्रमों पर आधारित बालको या व्यक्तियों के न्यादर्शों का अध्ययन तथा तुलना की जाती है। इसे परिभाषित करते हुए जुवेक एव सालवर्ग (Zubec & Salberg 1954) ने लिखा है "सर्वेक्षण के समय विभिन्न आयु समूहों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों के समूहों से प्रदत्त प्राप्त करना प्रतिनिध्यात्मक उपागम कहा जाता है।"

"Cross sectional studies gather data from groups of individuals who represent the different age groups at the time each survey is made"

उदाहरण के लिए बौद्धिक क्षमता में क्रमिक परिवर्तन का परीक्षण के लिए विभिन्न आयुस्तर के बालकों की बुद्धि क्षमताओं के नमूने एकत्र करके तथा उनकी आपस में तुलना करके जॉच की जाती है। प्रत्येक न्यादर्श या चयन एक दी हुई आयु तथा विकास क्रम का प्रतिनिधित्व करता है। टैम्पलिन (1957) ने 60 बालकों का चयन भाषा विकास का अध्ययन करने के लिए किया। इन बालकों में क्रमश 3, $3\frac{1}{2}$ 4, $4\frac{1}{2}$ 5, 6, 7 and 8 वर्ष के आयुस्तर के बालक थे। इन बालकों के अध्ययन से उनकी शब्द उच्चारण करने की योग्यता, शब्दो में भेद करने की योग्यता, शब्दों के विभिन्न अर्थ समझने की योग्यता, वाक्य रचना तथा शब्द भण्डार के सम्बन्ध में अन्वेषण कार्य किया। इस तरह से उपयुक्त आयु स्तरों के बालको के भाषा विकास का अध्ययन किया। उपर्युक्त समूह आयुस्तरों के बालकों के भाषा विकास का एक वक्र तैयार किया जायेगा जो 7 समूह के बालकों के भाषा विकास का औसत फलाक ज्ञात करके एक भाषा विकास का वक्र निर्माण करके उनके भाषा विकास को दर्शाया जा सकता है।

एण्डरसन (1950) के अनुसार "विभिन्न आयु स्तर या वर्ग के बालकों का मापन परीक्षण कर सकते हैं या उन्हें जाँच सामग्रियाँ दे सकते हैं या तुलनात्मक परिस्थितियों में रखकर उनका प्रेक्षण किया जा सकता है। विकास या योग्यता का इस रूप में अध्ययन करना ही प्रतिनिध्यात्मक अध्ययन है।"

हरलाक (1975) के अनुसार जब विकास की विभिन्न अवस्थाओं में किसी निश्चित योग्यता का मापन किया जाता है तो उसे प्रतिनिध्यात्मक अध्ययन कहते हैं।

"Comparison of the same abilities at different stages of development is called cross-sectional study"

विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया की जानकारी इस विधि की सहायता से नहीं हो पाती है। सबसे बडी समस्या यह होती है कि क्रमिक उम्र (Successive age) के तुलनात्मक प्रतिदर्शों का प्राप्त करना बहुत मुश्किल काम है (Owens 1953) कुछ अध्ययनों में इस विधि का उपयोग करके यह निष्कर्ष प्राप्त करने की कोशिश की गई कि आयु में वृद्धि का मानसिक योग्यता पर क्या प्रभाव पडता है। (Schaie 1968, 1973) और यह परिणाम प्राप्त किया गया है कि वृद्धावस्था में (Oldage) में मानसिक ह्रास की गति काफी तीव्र होती है। परन्तु इसी समस्या का जब दीर्घकालिन उपागम से अध्ययन किया गया तो ऐसा परिणाम नही प्राप्त किया गया।

Kelley (1955) ने प्रतिनिध्यात्मक उपागम द्वारा विभिन्न आयु समूहों के लिए प्राप्त प्रदत्त अत्यधिक उत्साहवर्धक होते हैं परन्तु दुर्भाग्य से इन प्रदत्तों की सहायता से विकासात्मक विशेषताओं या अन्त वैयक्तिक विचरणशीलता के विषय में ठोस निष्कर्ष नही लिए जा सकते हैं। इस उपागम की सहायता से विकास के एक निश्चित बिन्दु या अवस्था के ही विषय में ही सूचना प्राप्त होती है। कुहेन (Kulhen 1945) तथा Pressy and Kulhen (1957) ने यह विचार व्यक्त किया है कि विकासात्मक अन्तरों पर आयु के अतिरिक्त सास्कृतिक एव अन्य कारकों का प्रभाव भी पड सकता है। इस तरह से इस उपागम की वैधता सदेहास्पद हो जाती है।

गुण

(1) इस विधि की मदद से कम से कम समय में अनुसधानकर्ता किसी बालक या व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन मे घटित होने वाले विकासात्मक परिवर्तनो का अध्ययन कर सकता है।

(2) विभिन्न आयु के बालकों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनमें विकासात्मक परिवर्तनों का वह पता लगा सकता है।

(3) प्रदत्तों के सग्रह में खर्च भी इस उपागम में कम पडता है।

(4) वृद्धि प्रक्रिया के विषय में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है। (Anderson 1954)।

(5) प्राप्त प्रदत्तों के आधार पर मानक निर्मित करके अन्य लोगों की क्षमताओं एव कार्यों की तुलना कर सकते हैं।

(6) उपर्युक्त प्रतिदर्श प्राप्त होने पर बालकों के विकास के मूल्याकन एव निर्देशन के लिए महत्वपूर्ण मापनियाँ बनाई जा सकती हैं। (Terman and Merrill 1937)

सीमाएँ

(1) प्रत्येक आयुस्तर पर पाई जाने वाली विभिन्नताओं के विषय में यह उपागम ठीक जानकारी नहीं देता है।

(2) इस विधि में विकासात्मक अनिच्छिन्नता या सततता का ह्रास होता है।

(3) इस उपागम द्वारा विकास के एक निश्चित बिन्दु के ही विषय में ही पता चलता है न कि सम्पूर्ण विकास के बारे में पता चलता है।

(4) इस उपागम में व्यक्ति की व्यक्तिकता तथा पूर्णता का समापन हो जाता है।

(5) अन्त वैयक्तिक विचरणशीलता तथा विकासात्मक प्रतिमानों के बारे में इस उपागम से ठोस निर्णय नही लिये जा सकते हैं। (Hurlock 1974, 1975)

(6) विशिष्ट बालकों के अध्ययन में यह विधि उपयुक्त नही है क्योंकि विभिन्न बालकों की विभिन्न आयु में पाये जाने वाले व्यवहारों में भिन्न-भिन्न प्रतिमान पाये जाते हैं।

(7) हरलाक (Hurlock 1975) और एण्डरसन (Anderson 1975) का यह आरोप है कि प्रतिदर्शों का सास्कृतिक परिवेश असमान होता है। इस असमानता का शारीरिक एव मानसिक विकास पर प्रभाव पडता है। इस उपागम में सास्कृतिक असमानता को नियन्त्रित करना कठिन कार्य है। बिना नियन्त्रण के विश्वसनीय परिणाम प्राप्त नही हो सकते हैं।

(8) विभिन्न आयु स्तरों के अध्ययन के लिए पूर्णतया समतुल्य समूह का प्राप्त होना कठिन कार्य है।

(9) व्यक्तित्व के विचलनों के विभिन्न कारकों के सम्बन्ध में यह उपागम यथार्थ मार्गदर्शन नही कर सकती।

दीर्घकालिक उपागम (Longitudinal Approach)

इस उपागम में एक ही समूह के बालकों का अध्ययन परीक्षण और निरीक्षण बार बार लम्बे समय तक किया जाता है। इस उपागम की सहायता से बालक के जीवन का समय बीतने पर या उसकी आयु बढने पर क्या-क्या परिवर्तन होते हैं इसका अध्ययन किया जाता है। यह विधि प्रतिनिध्यात्मक उपागम के ठीक विपरीत है। इस विधि को वर्तमान स्वरूप देने का श्रेय फेल्स (Fels 1929) को है। इस उपागम की सहायता से विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया की जानकारी मिलती है तथा साथ ही साथ इस उपागम से अन्तवैयक्तिक विचरणशीलता के विषय में भी ठोस निष्कर्ष प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस उपागम मे किसी प्रयोज्य या प्रतिदर्श का अध्ययन क्रमिक अवधियों (Successive periods) पर किया जाता है। (Freeman & Flory 1937, Dearborn & Rothney 1941) ।

इस उपागम को परिभाषित करते हुए जुबेक एव सालवर्ग (Zubec and sallberg 1954) ने लिखा है "अनुदैर्ध्य उपागम में निश्चित प्रयोज्यों के विकासों का अध्ययन जिस तरह वे उत्पन्न हो रहे हैं वर्ष दर वर्ष किया जाता है।

हरलॉक (Hurlock 1947) के अनुसार दीर्घकालीन उपागम में किसी निश्चित व्यक्ति का विकासात्मक अध्ययन निश्चित रूप से लम्बी अवधि तक किया जाता है जिसमें यह देखा जाता है कि व्यक्तित्व प्रतिमान किस प्रकार स्थिर है और कब और कैसे परिवर्तित होते हैं साथ ही परिवर्तनों के लिए क्या घटक उत्तरदायी हैं। यदि विकासात्मक परिवर्तनों का अध्ययन जन्म से मृत्यु तक क्रमश किया जाय तो अच्छा रहेगा परन्तु ऐसा प्राय कम ही हो पाता है।

'Under this approach the same individual would be studied, preferably from birth to death, but certainly for a long enough period to see just how persistent the personality pattern is when and how it changes and what is responsible for the changes"

इसी तरह की अभिव्यक्ति अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इस उपागम के प्रति किया है। (Bayley, 1968, Cartson 1965, Mc clusky & Jenson 1959, Sehaie 1965, Sontag and Kagan, 1963)

Slater and Scarr (1964) तथा Harrighurst (1953) ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि बाल्यावस्था में सुसमायोजित एव कुसमायोजित बालक प्रौढावस्था में भी क्रमश अमुक व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। कार्ले ने जन्म से लेकर 2 वर्ष की आयु के शिशुओं पर क्रियात्मक, बौद्धिक तथा व्यक्तित्व के विकास को जानने के लिए इस उपागम का परीक्षण इस प्रकार किया। प्रथम सप्ताह में शिशुओं की अस्पताल में प्रतिदिन परीक्षा की गई और द्वितीय सप्ताह में एक दिन छोडकर परीक्षा ली गयी। इसके बाद पूरे एक वर्ष में एक सप्ताह के अन्तर में उनकी घरों पर परीक्षा की गई। दूसरे वर्ष में यह अन्तर बढाकर दो सप्ताह के अन्तर पर परीक्षा ली गयी। इस पूरे अवधि में शिशुओं की प्रतिक्रियाओं के विवरणात्मक तथा गुणात्मक पक्ष का भी अकन किया गया और गामक बौद्धिक तथा व्यक्तित्व के विकास क्रम एव परिवर्तनों को नोट किया गया। इसी बीच शिशुओं की माताओं से भी विवरण लिये गये। इन सभी के आधार पर निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये । इस विधि के आधार पर स्टाट एव बाल (Stalt

and Ball, 1957) ने एक अध्ययन नर्सरी स्कूल की आयु से लेकर यौवनारम्भ (Puberty) की आयु तक किया । अध्ययन में यह परिणाम मिला कि सामाजिक अन्तर्कियाओं में वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रयोज्यो के प्रभावी व्यवहार (Accordant Behaviour) मे वृद्धि पायी गयी। इसके विपरीत अधीनता व्यवहार मे (Submissive Behaviour) अपेक्षाकृत स्थिरता पाई गयी।

उपर्युक्त विवरणो से यह पता चलता है कि दीर्घकालिक उपागम द्वारा विकासात्मक प्रतिमान तथा परिवर्तनों के विषय मे विशद जानकारी प्राप्त की जा सकती है। यह विकास की किसी एक बिन्दु का नही बल्कि समग्र रूप से अध्ययन करता है। सम्प्रति इस उपागम का उपयोग तीव्रगति से हो रहा है। (Bayley 1965)

गुण

(1) इस उपागम की सहायता से विकास प्रक्रिया की पूरी तस्वीर प्रदर्शित होती है।

(2) इस विधि की सहायता से न्यादर्श की त्रुटियों का निवारण हो जाता है।

(3) इस उपागम की सहायता से यह पता लगाया जा सकता है कि विकासात्मक परिवर्तन कैसे एव क्यों उत्पन्न हो रहे हैं।

(4) इस उपागम द्वारा व्यक्ति के विकास एव वृद्धि तथा ह्रास का सही-सही विश्लेषण किया जा सकता है।

(5) इस उपागम द्वारा व्यक्तित्व के परिवर्तनशील प्रतिमानों के अतिरिक्त स्थिर प्रतिमानों की भी जानकारी मिलती है।

(6) अनुसधानकर्ता इस उपागम की सहायता से गुप्त या विलम्बित प्रभावों का अच्छी तरह मूल्याकन कर सकता है।

(7) यदि हम उन्ही व्यक्तियों के विभिन्न आयु स्तरों में इस उपागम से परीक्षण लेते हैं तो हम उनके व्यक्तित्व तथा बुद्धि का निष्पादन स्थायी स्थिर या अस्थिर रहता है इसे अच्छी तरह से जान लेते हैं।

(8) विकास में व्यक्तिगत उन्मुखता लम्बवत ही हुआ करती है। अत उसकी यथार्थ जानकारी दीर्घकालिक उपागम से ही प्राप्त की जा सकती है।

(9) अनुदैर्ध्य उपागम की सहायता से विकासात्मक प्रतिमानों, अन्त-वैयक्तिक विचरणशीलता तथा अन्तरवैयक्तिक विचारशीलता का अध्ययन आसानी से किया जा सकता है।

(10) जब अधिक न्यादर्शों या विभिन्न आयु स्तरों का प्रतिनिधित्व करने के लिए उपयोग किया जाता है तो दल सच्चे प्रतिनिधि माने जाते हैं। इस तरह इसके द्वारा न्यादर्श की समस्या नहीं उठने पाती है।

(11) अनुदैर्ध्य उपागम से प्राप्त प्रदत्तों की मात्रात्मक रूप में (Mean, SD, etc) व्यक्त कर सकते हैं।

(12) विकास की गति का अध्ययन, व्यक्ति तथा समूह दोनों के लिए किया जा सकता है।

सीमाएँ

(1) इस उपागम मे अध्ययन दीर्घकाल तक चलता रहता है इसलिए उसमें समय की खपत अधिक होती है। (Zubec and Salberg, 1954)

(2) यह विधि समकालिक उपागम की तुलना में अधिक खर्चीली है ।

(3) हेथरिगटन एव पार्के (Hethrmgton and Parke, 1975) के अनुसार परिणामो की विश्वसनीयता में कमी प्राप्त होती है यदि प्रतिदर्श का प्रारम्भिक स्वरूप बदल जाता है। कारण कि जिस प्रयोज्य प्रतिदर्श का प्रारम्भ में चयन किया जाता हे उसी पर अध्ययन दीर्घकाल तक चलता रहता है। ऐसी अवस्था में समूह मे परिमार्जन हो सकता है तथा कुछ सदस्य अन्य अवसरों पर उपलब्ध नही हो पाते है जिन पर अध्ययन होना बाकी रहता है।

(4) एण्डरसन एव कोहेन (1939) का विचार है कि यदि बाद के परीक्षणों में पहले परीक्षणों की तुलना मे कुछ सदस्य प्रतिदर्श के उपलब्ध नही रहते हैं तो प्राप्त परिणाम विकृत हो सकते हैं जिससे उपागम की विश्वसनीयता एव वैधता प्रभावित होती है।

4 विकास के जैविकीय एवं पर्यावरणीय आधार

(Biological and Environmental Bases of Development)

पिछले अध्याय मे विकास की प्रक्रिया तथा विकास का स्वरूप एव साथ ही साथ विकासात्मक अध्ययन करने वाली विधियों एव उपागमों पर प्रकाश डाला गया है। जैसा कि हम सभी को मालूम है कि गर्भाधान का सम्पन्न होना एक जैविक क्रिया है। इसी प्रक्रिया के तहत नवजात शिशु का जन्म होता है। इस प्रक्रिया को दो प्रमुख कारक प्रभावित करते हैं इन्हें क्रमश हम वशानुक्रम एव पर्यावरण का नाम दे सकते हैं। सही अर्थों में मानव या व्यक्ति जो कुछ है वह आनुवाशिकता एव पर्यावरण का परिणाम माना जा सकता है। अत प्रस्तुत अध्याय में आनुवाशिकता एव पर्यावरण का क्या स्वरूप है तथा ये दोनों कारक विकास को क्या दिशा प्रदान करते हैं इसकी चर्चा विधिवत् की जायेगी।

आनुवाशिकता की प्रक्रिया
(Process of Heredity)

यह सर्वविदित है कि शारीरिक रचना कोशिकाओं से होती है। मानव शरीर में असख्य कोशिकाएँ होती हैं। सभी कोशिकाओं की आन्तरिक सरचना समान होती है। प्रत्येक कोशिका के तीन महत्वपूर्ण भाग होते हैं जिन्हें कोशिका द्रव्य (Cytoplasm), केन्द्रक (Nuclues) एव गुणसूत्र (Chromosomes) कहा जाता है। आनुवाशिकता की दृष्टि से केन्द्रक का विशेष महत्व होता है। कारण कि इसी केन्द्रक में आनुवाशिक कारक निहित रहते हैं। जिन्हें क्रोमोसोम कहते हैं। इन्ही गुणसूत्रों में जीन्स (Genes) पाये जाते हैं जिनहें आनुवाशिकता के वाहक के रूप में जाना जाता है। जीन्स अपने आकार में इतने लघु होते हैं कि इन्हें केवल माइक्रोस्कोप से ही देखा जा सकता है। इन जीन्स को परिभाषित करते हुए Hurlock (1975) ने लिखा है कि,

"A gene is a minute particle which is found in combination with other genes in a stringlike formation within the chromosomes"

जीन्स आकार में शूक्ष्म होते हैं और रस्सी या तार के अशों की भाँति एक दूसरे से बँधे रहते हैं तथा गुणसूत्र (Chromosomes) में पाये जाते हैं। प्रत्येक गुणसूत्र में ही जीन्स पाये जाते हैं। मानव जाति में 23 जोडे क्रोमोसोम पाये जाते हैं। इन क्रोमोसोम के जीन्स करीब 3000 होते हैं। यही जीन्स व्यक्ति की विभिन्न योग्यताओं एव गुणों का निर्धारण करते हैं। यही आनुवाशिकता की क्रिया है। वुडवर्थ (Woodworth 1948) ने आनुवाशिकता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "आनुवाशिकता में वे सभी तत्व सम्मिलित हैं जो व्यक्ति में उसके व्यक्तिगत अस्तित्व के प्रारम्भ के समय वर्तमान थे।"

Under the head of heredity are included all the factors that were present in the organism at the begining of its individual existence"

नर एव मादा लिग कोशिकाएँ इस प्रकार से समान होती हैं कि इनमे क्रोमोसोम पाये जाते हैं। जैसा कि मालूम है कि मानव प्राणियों मे 23 युग्म (23 Pairs) क्रोमोसोम्स होते हैं। नर एव मादा लिग कोशिकाओं को सयुक्त रूप मे युग्मक कहते है। नर में पाई जाने वाली जनन कोशिका को शुक्राणु (Sperm) एव मादा में पाये जाने वाली जनन कोशिका को अडाणु (ovum) कहते हैं। गर्भाधान के समय शुक्राणु एव अण्डाणु परस्पर मिलते हैं और एक नवीन कोशिका का निर्माण होता है जिसे युग्मनज (Zygote) कहते है। अडाणु एव शुक्राणु में कुछ अन्तर होता है जो निम्नलिखित है—

(1) शुक्राणु शरीर की सबसे छोटी कोशिका होती है जबकि अडाणु सबसे बडी कोशिका होती है। अडाणु का व्यास लगभग 0 2 मिमी होता है तथा नगे आँखों से देखा जा सकता है। जबकि शुक्राणु का व्यास 0 07 मिमी होता है इसे एक शक्तिशाली माइक्रोस्कोप से ही देखा जा सकता है। यद्यपि शुक्राणु एव अडाणु दोनों आकार में एक जैसे नही होते हैं परन्तु आनुवाशिकता का प्रभाव माता और पिता का बराबर का होता है।

(2) अडाणु में पीतद्रव्य (Yolk) प्राप्त होते है जो नये कोष को सिचित करने में प्रयोग होते है। शुक्राणु में पीतद्रव्य नही होता है कारण कि शुक्राणु आकार मे अण्डाणु की अपेक्षा काफी छोटे होते हैं।

(3) अण्डाणु गोलाकार होता है तथा पूर्णत गतिहीन होता है। प्रत्येक माह प्रत्येक औरत एक अण्डाणु का उत्पादन करती है। इसके विपरीत शुक्राणु में एक सिर होता है जिसमें 23 गुणसूत्र होते हैं तथा एक पतली पूँछ होती है। शुक्राणु पूँछ के कारण काफी गतिशील रहते हैं। इनकी सख्या बहुत होती है। एक स्वस्थ शुक्राणु एक घटे में एक इच तैर सकता है तथा इसी गति से वह 2 दिन तक तैर सकता है।

(4) सामान्यतया केवल एक अण्डाणु मासिक धर्म के समय लगभग 28वें दिन परिपक्व होता है जबकि 200 मिलियन शुक्राणु प्रत्येक चौथे या पाँचवे दिन नर में विकसित हो जाते हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि विश्व की सम्पूर्ण जनसख्या को पैदा करने के लिए एस्पिरिन गोली (Aspirin Tablet) की आधी मात्रा के बराबर ही शुक्राणु काफी होंगे। इससे यह विदित होता है कि शुक्राणु सख्या में अधिक होते हैं।

(5) एक परिपक्व अण्डाणु में 23 जोडे क्रोमोसोम होते हैं। प्रत्येक जोडे में X क्रोमोसोम ही पाये जाते हैं जबकि एक परिपक्वत शुक्राणु में 23 जोडे क्रोमोसोम होते हैं जिसमें 22 जोडे X क्रोमोसोम्स होते है तथा शेष एक जोडा Y क्रोमोसोम का एव X क्रोमोसोम का होता है। यह नर क्रोमोसोम में अन्तर लिंग निर्धारक के लिए विश्वसनीय होता है।

जीवनोत्पत्ति की प्रारम्भिक अवस्थाएँ (Preliminary Stages of Origin of Life)

नयी जीवन उत्पत्ति के पहले जनन कोशिकाओं को तीन प्रारम्भिक अवस्थाओं से गुजरना पडता है। ये अवस्थाएँ क्रमश परिपक्वता, अण्डाणु का पलायन तथा निषेचन की अवस्था है। इनका वर्णन निम्नवत् है—

(1) **परिपक्वता**—नर एव माता जनन कोशिकाओं को सगठित होने से पूर्व परिपक्व होना चाहिए। जनन कोशिकाओं की परिपक्वता तब तक नही होती है जब तक नर एव माना लैगिक परिपक्वता को न प्राप्त कर लें। जब जनन कोशिकाएँ परिपक्वता को प्राप्त कर लेती हैं तब इस अवस्था में कोशिका विभाजन (Cell division) का काम आरम्भ होता है जिससे गुणसूत्रों में कमी आती है। गुणसूत्रों के प्रत्येक जोडे से एक गुणसूत्र उपविभाजित कोश में जाता है जो स्वय टूटकर दो कोशिकाओं का निर्माण करता है। परिपक्व कोशिका में 23 गुणसूत्र होते हैं और इसे हैपलायड कोश (Haploid Cell) कहते हैं। लैंगिक कोशिकाएँ

यौवनारम्भ के समय तक परिपक्व हो जाती है। शुक्राणु मे चार नयी कोशिकाएँ होती हैं जिन्हें स्परमैटिड्स (Spermatids) कहते हैं। इनमे से प्रत्येक कोशिका एक अण्डाणु को निषेचित कर सकती है।

नर जनन कोशिका की भाँति मादा लैगिक कोशिका का भी विभाजन होता है। प्रत्येक क्रोमोसोम्स के युग्म से एक क्रोमोसोम कोशिका की दीवार से बाहर निकलकर स्तम्भीय शरीर का निर्माण करता है। कोशिका का विभाजन मासिक चक्र के समय एक सयोग होता है। अण्डाणु के निषेचन के लिए यदि उचित अवसर नही प्रदान किया गया तो वह विखडित होकर मासिक रक्तस्राव के साथ शरीर के बाहर चला जाता है। विभाजन के बाद नर एव मादा गुणसूत्र का किसी भी प्रकार का युग्म बन सकता है। ऐसा अनुमान है कि 23 नर एव 23 मादा जनन कोशिकाओं के मध्य लगभग 16,777,216 सभावित युग्म (Combinations) बन सकते है। यही कारण है कि एक ही परिवार के बच्चें अपनी शारीरिक एव मानसिक विशेषनाओं मे अधिक अन्तर रखते हैं केवल समरूप यमज को छोडकर। यह भविष्यवाणी करना मुश्किल होता है कि बच्चे की शारीरिक एव मानसिक विशेषता कैसी होगी ? जबकि प्रत्येक लोग अपने माता पिता, अपने पितामह, पितामही तथा अन्य सम्बन्धियो को जानते हैं।

(2) अण्डाणु पलायन (Ovulation)

यह अवस्था केवल मादा जनन कोशिकाओं में परिलक्षित होती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें मासिक चक्र के समय एक परिपक्व अण्डाणु निकलता है। ऐसा अनुमान है कि मादा के गर्भाशय में लगभग 30,000 अपरिपक्व अण्डाणु लैंगिक परिपक्वता की अवस्था तक रहते हैं। केवल 400 अण्डाणु ही इसमें से 13 वर्ष की आयु से लेकर 40 वर्ष या 50 वर्ष तक परिपक्व हो पाते हैं। ऐसा अनुमान है कि दोनो गर्भाशय से बारी-बारी से एक अण्डाणु मासिक चक्र के समय 28वें दिन निकलता है। जब मासिक चक्र सामान्य होता है यानि 28 दिन का तब अण्डाणु पलायन की प्रक्रिया शुरू होती है। यह प्रक्रिया मासिक चक्र के 5वें एव 28वें दिन के मध्य किसी समय हो सकती है। यद्यपि एक ही मादा में मासिक चक्र में विचरण देखने को मिलता है। अण्डाणु जब गर्भाशय मे निकलता है तो पास में स्थित फेलोपियन ट्यूब में प्रवेश करता है। यदि मासिक चक्र सामान्य है तो यह औसतन 11वें दिन निकलता है।

(3) निषेचन (Fertilization)

नये जीवन की उत्पत्ति इसी प्रारम्भिक अवस्था में होती है जब सामान्यतया अण्डाणु फेलोपियन ट्यूब में होता है। ऐसा अनुमान है कि फेलोपियन ट्यूब में अण्डाणु लगभग 24 घण्टे में निषेचित होता है। वैसे यह समय 12 से 36 घण्टे तक का भी हो सकता है। जिस समय नर एव मादा लैंगिक क्रिया (Intercourse) करते हैं उस समय शुक्राणु गर्भाशय में मुख पर एकत्रित होते हैं। यहाँ पर वे हारमोनिक अट्रैक्शन द्वारा फेलोपियन ट्यूब मे प्रवेश करते हैं और तत्पश्चात् वे अण्डाणु में घुसते हैं। जब कोई भी एक शुक्राणु अन्दर प्रवेश कर लेता है तो अण्डाणु के बाह्य भाग में ऐसा बदलाव आता है कि कोई अन्य शुक्राणु अन्दर प्रवेश नही कर पाता है। प्रवेशोपरान्त दोनों के केन्द्रक एक-दूसरे की तरफ अग्रसर होते हैं तथा उनमें विखडन होता है तथा दोनों एक दूसरे से मिल (Unite) जाते हैं। दोनों कोशिकाओं के मिलने से जो एक सयुक्त कोशिका बनती है वही नये जीवन का सूत्रपात करती है। उसमें वृद्धि का आरम्भ होता है तथा कोशिका विभाजन की प्रक्रिया शुरू होती है। कोशिका विभाजन के कारण इनकी सख्या 2, 4 एव 8 और इस तरह असीमित सख्या में कोशिकाएँ बनती हैं।

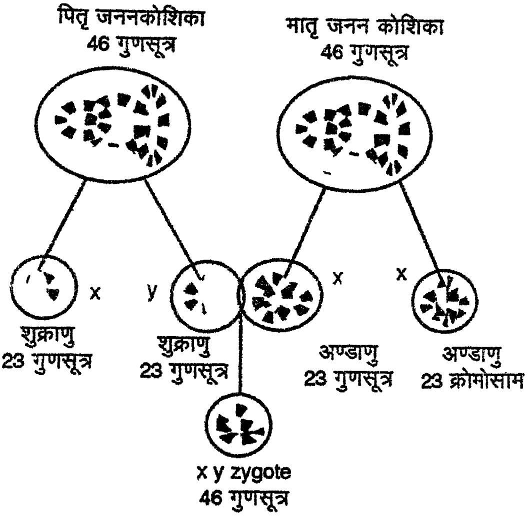

विकास की उपर्युक्त प्रारम्भिक अवस्थाओं से यह स्पष्ट हो रहा है कि आनुवाशिक क्षमता का निर्धारण अण्डाणु एव शुक्राणु के समागम के ही समय होता है। उसके बाद में कोई भी परिवर्तन सम्भव नही है। ये सब क्रिया सभोग पर निर्भर करती है। शीनफेल्ड के अनुसार अण्डाणु एव शुक्राणु के सगम से युग्मनज (Zygote) बनता है तथा इनके सगम की सभावना 300,000,000,000,000 में मात्र एक होती है।

निषेचन मे व्यवधान—निषेचन के लिए परिस्थितियाँ सर्वदा अनुकूल नही होती हैं। सन्तानोत्पत्ति में असफलता कई प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण हो सकती है। इसमें से तीन परिस्थितियाँ इसके लिए पूर्ण उत्तरदायी होती हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) मादा के जनन कोशिका में प्रतिकूल परिस्थितियाँ जैसे—गर्भाशय में अम्लता की अधिकता। अम्लता की अधिकता से शुक्राणु मर जाते हैं तथा फेलोपियन ट्यूब तक पहुँचने में रुकावट पैदा करते हैं। गर्भाशय में सूजन तथा अन्य जहरीले पदार्थों का जमाव होने से भी निषेचन में बाधा उत्पन्न होती है।

(2) अण्डाणु में प्रतिकूल परिस्थिति जैसे—खराब स्वास्थ्य, कुपोषण, ग्रन्थीय या विटामिन की कमी तथा वृद्धावस्था के कारण मादा मे अण्डाणु का निर्माण न होना।

(3) खराब स्वास्थ्य, कुपोषण तथा विटामिन की कमी एव वृद्धावस्था के कारण नर में शुक्राणु की कमी ।

मादा ग्रन्थि की कमी से विशेषतया पीयूष ग्रन्थि में कमी से एक सामान्य महिला का मासिक चक्र प्रभावित हो सकता है। इसके कारण मासिक चक्र 28वें स्थान के अलावा और आगे बढ सकता है। इसके कारण परिपक्व अण्डाणु विलम्ब से श्रावित होता है तथा फेलोपियन ट्यूब में लम्बे समय तक रहता है जिसके कारण निषेचन के लिए पर्याप्त समय नही मिल पाता है तथा शुक्राणु मर जाते हैं।

गर्भाधान की अवधि मे निर्धारित विशेषताएँ

(Characteristics Determined durings conception)

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि अण्डाणु एव शुक्राणु का सगम एक सयोग है । यह सगम नर एव नारी के सभोग के समय ही होता है। क्रोमोसोम्स में वशानुक्रम के वाहक जिन्हें जीन्स कहते हैं, पाये जाते हैं। यही जीन्स व्यक्ति में विशेषताओ को सचालित करते हैं। इस

यौवनारम्भ के समय तक परिपक्व हो जाती है। शुक्राणु मे चार नयी कोशिकाएँ होती हैं जिन्हें स्परमैटिड्स (Spermatids) कहते हैं। इनमें से प्रत्येक कोशिका एक अण्डाणु को निषेचित कर सकती है।

नर जनन कोशिका की भॉति मादा लैंगिक कोशिका का भी विभाजन होता है। प्रत्येक क्रोमोसोम्स के युग्म से एक क्रोमोसोम कोशिका की दीवार से बाहर निकलकर स्तम्भीय शरीर का निर्माण करता है। कोशिका का विभाजन मासिक चक्र के समय एक सयोग होता है। अण्डाणु के निषेचन के लिए यदि उचित अवसर नही प्रदान किया गया तो वह विखडित होकर मासिक रक्तस्राव के साथ शरीर के बाहर चला जाता है। विभाजन के बाद नर एव मादा गुणसूत्र का किसी भी प्रकार का युग्म बन सकता है। ऐसा अनुमान है कि 23 नर एव 23 मादा जनन कोशिकाओं के मध्य लगभग 16,777,216 सभावित युग्म (Combinations) बन सकते है। यही कारण है कि एक ही परिवार के बच्चें अपनी शारीरिक एव मानसिक विशेषताओं मे अधिक अन्तर रखते हैं केवल समरूप यमज को छोडकर। यह भविष्यवाणी करना मुश्किल होता है कि बच्चे की शारीरिक एव मानसिक विशेषता कैसी होगी ? जबकि प्रत्येक लोग अपने माता-पिता, अपने पितामह पितामही तथा अन्य सम्बन्धियो को जानते हैं।

(2) अण्डाणु पलायन (Ovulation)

यह अवस्था केवल मादा जनन कोशिकाओं में परिलक्षित होती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें मासिक चक्र के ममय एक परिपक्व अण्डाणु निकलता है। ऐसा अनुमान है कि मादा के गर्भाशय में लगभग 30,000 अपरिपक्व अण्डाणु लैगिक परिपक्वता की अवस्था तक रहते है। केवल 400 अण्डाणु ही इसमें से 13 वर्ष की आयु से लेकर 40 वर्ष या 50 वर्ष तक परिपक्व हो पाते है। ऐसा अनुमान है कि दोनो गर्भाशय से बारी-बारी से एक अण्डाणु मासिक चक्र के समय 28वें दिन निकलता है। जब मासिक चक्र सामान्य होता है यानि 28 दिन का तब अण्डाणु पलायन की प्रक्रिया शुरू होती है। यह प्रक्रिया मासिक चक्र के 5वें एव 28वें दिन के मध्य किसी समय हो सकती है। यद्यपि एक ही मादा में मासिक चक्र में विचरण देखने को मिलता है। अण्डाणु जब गर्भाशय से निकलता है तो पास में स्थित फेलोपियन ट्यूब में प्रवेश करता है। यदि मासिक चक्र सामान्य है तो यह औसतन 11वें दिन निकलता है।

(3) निषेचन (Fertilization)

नये जीवन की उत्पत्ति इसी प्रारम्भिक अवस्था में होती है जब सामान्यतया अण्डाणु फेलोपियन ट्यूब में होता है। ऐसा अनुमान है कि फेलोपियन ट्यूब में अण्डाणु लगभग 24 घण्टे में निषेचित होता है। वैसे यह समय 12 से 36 घण्टे तक का भी हो सकता है। जिस समय नर एव मादा लैंगिक क्रिया (Intercourse) करते हैं उस समय शुक्राणु गर्भाशय मे मुख पर एकत्रित होते हैं। यहाँ पर वे हारमोनिक अट्रैक्शन द्वारा फेलोपियन ट्यूब में प्रवेश करते है और तत्पश्चात् वे अण्डाणु में घुसते हैं। जब कोई भी एक शुक्राणु अन्दर प्रवेश कर लेता है तो अण्डाणु के बाह्य भाग में ऐसा बदलाव आता है कि कोई अन्य शुक्राणु अन्दर प्रवेश नही कर पाता है। प्रवेशोपरान्त दोनों के केन्द्रक एक-दूसरे की तरफ अग्रसर होते हैं तथा उनमें विखडन होता हे तथा दोनों एक दूसरे से मिल (Unite) जाते हैं। दोनों कोशिकाओं के मिलने से जो एक सयुक्त कोशिका बनती है वही नये जीवन का सूत्रपात करती है। उसमें वृद्धि का आरम्भ होता है तथा कोशिका विभाजन की प्रक्रिया शुरू होती है। कोशिका विभाजन के कारण इनकी सख्या 2, 4 एव 8 और इस तरह असीमित सख्या में कोशिकाएँ बनती हैं।

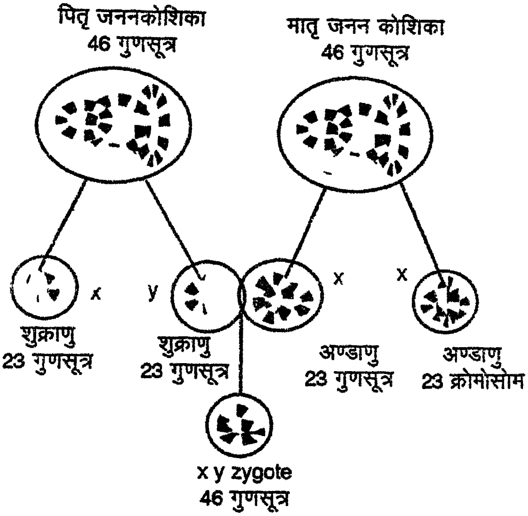

विकास की उपर्युक्त प्रारम्भिक अवस्थाओं से यह स्पष्ट हो रहा है कि आनुवाशिक क्षमता का निर्धारण अण्डाणु एव शुक्राणु के समागम के ही समय होता है। उसके बाद में कोई भी परिवर्तन सम्भव नही है। ये सब क्रिया सभोग पर निर्भर करती है। शीनफेल्ड के अनुसार अण्डाणु एव शुक्राणु के सगम से युग्मनज (Zygote) बनता है तथा इनके सगम की सभावना 300,000,000,000,000 मे मात्र एक होती है।

निषेचन मे व्यवधान—निषेचन के लिए परिस्थितियाँ सर्वदा अनुकूल नही होती हैं। सन्तानोत्पत्ति में असफलता कई प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण हो सकती है। इसमें से तीन परिस्थितियाँ इसके लिए पूर्ण उत्तरदायी होती हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) मादा के जनन कोशिका में प्रतिकूल परिस्थितियाँ जैसे—गर्भाशय में अम्लता की अधिकता। अम्लता की अधिकता से शुक्राणु मर जाते हैं तथा फेलोपियन ट्यूब तक पहुँचने में रुकावट पैदा करते हैं। गर्भाशय में सूजन तथा अन्य जहरीले पदार्थों का जमाव होने से भी निषेचन में बाधा उत्पन्न होती है।

(2) अण्डाणु मे प्रतिकूल परिस्थिति जैसे—खराब स्वास्थ्य, कुपोषण, ग्रन्थीय या विटामिन की कमी तथा वृद्धावस्था के कारण मादा मे अण्डाणु का निर्माण न होना।

(3) खराब स्वास्थ्य, कुपोषण तथा विटामिन की कमी एव वृद्धावस्था के कारण नर में शुक्राणु की कमी ।

मादा ग्रन्थि की कमी से विशेषतया पीयूष ग्रन्थि में कमी से एक सामान्य महिला का मासिक चक्र प्रभावित हो सकता है। इसके कारण मासिक चक्र 28वें स्थान के अलावा और आगे बढ सकता है। इसके कारण परिपक्व अण्डाणु विलम्ब से श्रावित होता है तथा फेलोपियन ट्यूब में लम्बे समय तक रहता है जिसके कारण निषेचन के लिए पर्याप्त समय नही मिल पाता है तथा शुक्राणु मर जाते हैं।

गर्भाधान की अवधि मे निर्धारित विशेषताएँ

(Characteristics Determined durings conception)

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि अण्डाणु एव शुक्राणु का सगम एक सयोग है । यह सगम नर एव नारी के सभोग के समय ही होता है। क्रोमोसोम्स में वशानुक्रम के वाहक जिन्हें जीन्स कहते हैं, पाये जाते हैं। यही जीन्स व्यक्ति में विशेषताओ को सचालित करते हैं। इस

प्रकार यह स्पष्ट है कि गर्भाधान के ही अवधि में व्यक्ति की सम्पूर्ण योग्यताएँ एव विशेषताएँ इत्यादि निर्धारित हो जाती हैं। तत्पश्चात इनमें कुछ परिवर्तन सभव नही होता है। यहाँ पर ऐसा ही विशेषताओ का वर्णन किया जायेगा जो गर्भाधान की अवधि में निर्धारित हो जाते हैं।

(1) आनुवाशिक क्षमता (Hereditary Endowment)

व्यक्ति के रूप रग, आकार योग्यता एव लिंग का निर्धारण गर्भाधान के ही समय हो जाता है जिसमे बाद मे परिवर्तन करना मुश्किल है। सही अर्थो मे यदि यह कहा जाय कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का सूत्रपात गर्भाधान के ही समय ही हो जाता है। गर्भाधान आनुवाशिक क्षमता को निर्धारित करती है। यदि सभी परिस्थितियाँ गर्भाधान के समय अनुकूल हैं तो व्यक्ति अपनी शारीरिक एव मानसिक क्षमताओं का भली प्रकार से विकास कर सकता है। गर्भाधान की प्रक्रिया अण्डाणु एव शुक्राणु के सगम से होती है। यह सगम होगा ही इसकी प्रायिकता लगभग 300,000,000,000,000 में मात्र एक होती है। साथ ही साथ गुणसूत्रों के प्रकार एव सख्या में भी कोई परिवर्तन करना मुश्किल है। अत गर्भाधान मात्र सभोग पर निर्भर करती है।

(2) लिंग (Sex)

लिंग का निर्धारण भी गर्भाधान के समय ही होता है। जैसा कि हमें मालूम है कि जब अण्डाणु एव शुक्राणु का सगम होता है तो एक नयी कोशिका जिसे युग्मनज (Zygote) कहते हैं उसका जन्म होता है। यही कोशिका आगे चलकर भ्रूण का रूप लेती है एव एक नया शिशु जन्म लेता है। लिग का निर्धारण करने मे क्रोमोसोम का महत्वपूर्ण योगदान होता है। जैसा कि मालूम है कि 23 जोडे गुणसूत्र नर एव मादा जनन कोशिकाओं में पाये जाते हैं। मादा की कोशिका मे पाये जाने वाले क्रोमोसोम्स 23 जोडे X क्रोमोसोम होते हैं तथा नर में पाये जाने वाले क्रोमोसोम्स में से एक जोडा X एव Y क्रोमोसोम का तथा शेष 22 जोडे मात्र X क्रोमोसोम होते हैं। यदि निषेचन या गर्भाधान के समय X क्रोमोसोम शुक्राणु का अण्डाणु के X क्रोमोसोम को निषेचित करने में सफल होता है (X + X) तो लडकी पैदा होती है तथा इसके विपरीत यदि अण्डाणु Y क्रोमोसोम से निषेचित होता है तो (X + Y) लडका पैदा होगा। इस तरह से अण्डाणु एव शुक्राणु के सगम के समय जो एक बार लिंग का निर्धारण हो गया उसमें परिवर्तन करना मुश्किल है। जन्म के बाद बालक या बालिका का सम्बोधन, उसका पहनावा तथा उसके सामाजिक व्यवहार सभी लिग के अनुसार होते है।

(3) सतानो की सख्या (Number of offsprings)

अण्डाणु एव शुक्राणु के सगम के बाद कितने बच्चे जन्म लेंगे यह उसी समय निश्चित होता है। सामान्यतया ऐसा देखा गया है कि मानव जाति में एक बार में एक सतान ही जन्म लेती है परन्तु प्राय यह भी दर्शनीय है कि इसकी सख्या एक से अधिक भी हो सकती है। उदाहरणार्थ—यदि गर्भाधान की अवधि में एक अण्डाणु एक ही शुक्राणु से निषेचित होता है तो केवल एक ही सतान पैदा होगी। परन्तु गर्भाधान के समय यह युग्मनज (Zygote) दो भागो में बॅट जाता है तो दो बच्चे पैदा होंगे। ऐसे बच्चों का समरूप यमज (Indentical Twins) कहते हैं। यदि एक ही साथ दो या दो से अधिक अण्डाणु उपलब्ध हो जाते हैं और उनका निषेचन अलग-अलग शुक्राणुओं द्वारा होता है उससे असमरूपयमज या भ्रातृयमज (Fraternal or Biovulor twins) कहते हैं।

समरूपयमज सतानें हर दृष्टि से एक जैसी होती हैं। उनमें शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से कोई अन्तर नही रहता है। इसके विपरीत भ्रातृयमज शारीरिक एव मानसिक रूप से असमान होते हैं। ऐसा अनुमान है कि उत्पन्न होने वाले यमजों में एक तिहाई बच्चे समरूपयमज होते हैं। समरूपयमजों का लिंग तथा शारीरिक एव मानसिक विशेषताएँ समान होती हैं तथा भ्रातृयमजों का लिंग समान भी हो सकता है तथा असमान भी। शानफिल्ड (1967) के

अनुसार अमेरिका में प्रत्येक 95 बच्चों में एक जुडवा बच्चा प्राप्त होता है। प्रत्येक 10593 मे एक बार तीन बच्चे (Tripltet) पैदा होते हैं और प्रत्येक 910,481 में एक बार में 4 बच्चे (Quadruplets) पैदा होते हैं। बच्चे जितने ज्यादा होगे एक साथ मे उनकी शारीरिक बनावट एव स्वास्थ्य उतना ही अनुपयुक्त एव खराब होगा। ऐसे बच्चों के समुचित विकास के लिए जन्मोपरान्त पोषक तत्वो की उचित व्यवस्था होनी चाहिए तथा पारिवारिक सदस्यों से उचित प्यार एव व्यवहार मिलना चाहिए।

(4) क्रमिक स्थिति (Ordinal Position)

गर्भाधान के ही समय बच्चे के परिवार में क्या क्रमिक स्थिति होगी उसका निर्धारण हो जाता है। क्रमिक स्थिति मे परिवर्तन असम्भव है। परिवार मे क्रमिक स्थिति से बच्चे को निश्चित भूमिका निर्वाह करने में सकेत प्रदान करती है और इसी के आधार पर उसके वरिष्ठ सदस्यो को उसके प्रति अभिवृत्ति भी बनती है। उदाहरणार्थ यदि परिवार में कोई बड़ी लडकी है तो उससे घर का सारा कार्य प्राय लिया जाता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह अपने अनुजो की उचित देखभाल भी करेगी। यदि परिवार मे अन्य लड़कों को अधिक आजादी मिलती है तो वह उससे द्वेष करने लगती है। ऐसी आदतें उसमें प्राय जन्म ले लेती हैं।

क्रमिक स्थिति प्रथम (First Born Child)

परिवार में जो प्रथम क्रम में बच्चा जन्म लेता है उसकी क्रमिक स्थिति के फलस्वरूप निम्न बातों की प्रत्याशा की जाती है—

(1) बच्चा परिपक्व व्यवहार करता है क्योकि उसे अधिकतर माता-पिता का साथ मिलता है।

(2) बच्चे में खेल का अवसर कम मिलने के कारण नाराजगी का प्रदर्शन होता है।

(3) पारिवारिक इच्छाओं एव प्रत्याशाओं के अनुरूप रहने की कोशिश करता है।

(4) बच्चे में असुरक्षा की भावना जन्म लेती है यदि वह जान जाता है कि दूसरा बच्चा घर में जन्म लेने वाला है । वह समझता है कि परिवार के सदस्य अब मेरे ऊपर कम स्नेह तथा कम ध्यान देंगे ।

(5) अगर बच्चे में यह भावना विकसित हो जाये । परिवार के सदस्य उस पर कम ध्यान दे रहे है तो वह उन सदस्यो को अपने कार्य से आकर्षित करने का प्रयास करता है।

(2) क्रमिक स्थिति-मध्यम (Middle Born child)

इन बच्चों का क्रम परिवार में मध्यम स्थान पर होता है। इन बच्चों में निम्नलिखित विशेषताएँ प्रदर्शित होती हैं—

(1) ऐसे बच्चे प्राय अपने बडे बालकों को मिलने वाली सुविधाओं एव लाभों का विरोध करते हैं।

(2) बच्चों में उल्लघन करने की भावना जन्म लेती है।

(3) ऐसे बच्चे अपने अनुजों को प्राय दण्ड देना चाहते है।

(4) परिवार के बच्चों के साथ कम बाहर के बच्चों के साथ अधिक समय बिताना चाहता है।

(5) माता-पिता के प्यार में कमी के कारण वह कार्य कम करने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है।

(3) क्रमिक स्थिति-अन्तिम (Last Born child)

ऐसे बच्चों की क्रमिक स्थिति पारिवारिक सरचना में अन्तिम होती है। ऐसे बच्चों में अग्रलिखित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं—

(1) ऐसे बच्चों में माता-पिता का अधिक प्यार एव स्नेह मिलने के कारण अधिक स्वतन्त्र एव कम अनुशासित होते हैं।

(2) माता पिता की अधिक रखवाली (over protection) के कारण उनमे निर्भरता की भावना (Dependency) बढने लगती है तथा अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति मे कमी करने लगते है।

(3) अन्तिम कडी होने के कारण बच्चे में सुरक्षा की भावना अधिक होती है।

(4) बाहरी बच्चो के साथ समायोजन अच्छा रहता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण से यह परिलक्षित होता है कि गर्भाधान के समय ही शारीरिक एव मानसिक विशेषताओ का बीजारोपण हो जाता है जिसमें परिवर्तन करना असभव है। जहाँ तक क्रमिक स्थिति का प्रश्न है इसके कारण बच्चा का व्यवहार विशेष स्वरूप ग्रहण कर लेता है और बाल्यावस्था के पश्चात् अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने पर असगत व्यवहार एव आदतें अदृश्य हो जाती है तथा बच्चो का व्यवहार समाज के नियमो के अनुरूप हो जाता है।

विकास मे आनुवाशिकता का महत्व

(Importance of Heredity in Development)

विकास किसका परिणाम है आनुवाशिकता का या पर्यावरण का। इस प्रकरण पर काफी विवाद चला आ रहा है। आनुवाशिकता के समर्थको के अनुसार विकास केवल आनुवाशिकता के ही कारण सम्भव है इसमे और किसी अन्य कारक की कोई भूमिका नहीं होती है। परन्तु पर्यावरणवादियो के अनुसार प्राणी को जैसा पर्यावरण प्राप्त होगा उसका विकास वैसा ही होगा। गर्भावस्था में ही जीव का विकास आरम्भ होता है और गर्भावस्था मे होने वाले विकास क्रम मे वश परम्परा ही प्रमुख भूमिका रहती है। वशपरम्परा की भूमिका जीवनभर चलती रहती है। वशानुक्रम का साधारण अर्थ यह लिया जाता है कि एक वश से उसकी सतति मे शारीरिक, मानसिक सवेगात्मक, नैतिक, सामाजिक तथा आरम्भिक गुणों तथा विशेषताओं का सक्रमण होकर एक सा पाया जाना। बालक जन्म के समय जिन विशेषताओं और गुणो को लेकर पैदा होता है उन्हें वशानुक्रम से प्राप्त गुण कहते हैं। प्राय ऐसा देखा जाता है कि माता पिता को रग रूप नाक नक्शा शक्ल-सूरत, चाल-ढाल बोल-चाल, डील-डौल, बुद्धि स्वभाव और शारीरिक बनावट के समान सतान भी होती है। इसी अध्याय में आनुवाशिकता की प्रक्रिया का वर्णन किया जा चुका है। इस भाग में केवल प्रायोगिक शोधो का उल्लेख करते हुए विकास में आनुवाशिकता की भूमिका का विशद् वर्णन किया जायेगा। समरूपयमजो पर जो अध्ययन किये जा चुके है उनसे आनुवाशिकता के महत्व पर प्रकाश पडता है। कुछ प्रमुख अध्ययन का वर्णन इस प्रकार है जो आनुवाशिकता के महत्व को दर्शाते है।

गाल्टन का अध्ययन (Galton's study) – गाल्टन प्रथम मनोवैज्ञानिक है जो विकास में आनुवशिकता के महत्व को दर्शाते हैं। इनके अनुसार वैयक्तिकता भिन्नता आनुवशिकता के ही कारण होती है। इस तथ्य को प्रमाणित करने हेतु, गाल्टन ने एक अध्ययन किया। इस अध्ययन में गाल्टन ने 977 ऐसे परिवारों का चुनाव किया जो समाज में प्रतिष्ठित एव सम्मानित थे। इन परिवारों में अधिकतर डाक्टर, वकील, साहित्यकार, वैज्ञानिक, नेता, प्रोफेसर, इन्जीनियर इत्यादि थे। **गाल्टन** ने इन परिवारों के पूर्वजो का भी गहन अध्ययन किया और पाया कि इन परिवारों के पूर्वज भी समाज में एक महत्वपूर्ण एव सम्मानित स्थान रखते थे। इसके विपरीत गाल्टन ने तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए 977 साधारण परिवारों का भी चुनाव किया। चयनोपरान्त गाल्टन ने जब इन परिवारों के पूर्वजों का अध्ययन किया तो ऐसा पाया कि इनके पूर्वजो मे कुछ लोग ही समाज में अपनी सम्मानित सस्थिति रखते थे। इस तुलनात्मक परिणाम के आधार पर गाल्टन ने यह विवरण प्रस्तुत किया कि उच्च आनुवाशिकता क्षमता वाले व्यक्ति निम्न आनुवाशिक क्षमता वाले व्यक्ति की तुलना में अधिक योग्य एव बुद्धिमान होते हैं। योग्यता एव बुद्धिमत्ता मे जो अन्तर परिलक्षित होता है उसके पीछे आनुवाशिकता का ही हाथ रहता है।

गोडार्ड का अध्ययन (Goddard's Study) — विकास आनुवाशिकता के महत्व को प्रमाणित करने के लिए गोडार्ड ने भी एक अध्ययन किया। गोडार्ड ने एक ऐसे व्यक्ति का अध्ययन किया जो सेनिक था तथा जिसका नाम मार्टिन कालीकाक था। मार्टिनकालीकाक का लैगिक सम्बन्ध एक चरित्रहीन महिला से था। यह महिला मन्द बुद्ध की भी थी। इस महिला से अनेक सतानो का जन्म हुआ। सर्वेक्षण के आधार पर यह पता चला कि इस महिला से सम्बन्धित पारिवारिक सदस्यों की सख्या 480 तक पहुँच गयी। इन परिवारिक सदस्यों का जन व्यक्तिगत अध्ययन किया गया तो ऐसा पाया गया कि ज्यादातर पारिवारिक सदस्य चरित्रहीन एव मन्दबुद्धि के ही थे। परिणामस्वरूप ऐसा पाया गया कि उसके परिवार मे 146 सदस्यो की मानसिक योग्यता मन्द थी। 46 सदस्यो का नैतिकस्तर गिर चुका था। 26 सदस्य अवैध सतान थे। 33 ने वैश्यावृत्ति अपना लिया था। 24 सदस्य शराबी हो गए तथा 8 सदस्यो ने वैश्यालय का धधा शुरू किया। 3 सदस्य मिर्गी की रोगी तथा 3 सदस्य आपराधिक प्रवृत्ति के पाये गये। मार्टिनकालीकाक ने आगे चलकर अपनी शादी एक भद्र महिला के साथ की। इस महिला से उत्पन्न बच्चे सामान्य मानसिक क्षमता वाले शिष्ट एव सभ्य निकले। गोडार्ड ने यह निष्कर्ष दिया कि आनुवाशिकता के ही कारण प्रथम महिला से जनित बच्चे मन्दबुद्धि तथा आपराधिक प्रवृत्ति के निकले तथा दूसरी महिला के बच्चे सामान्य मानसिक क्षमता वाले तथा शिष्ट एव सभ्य निकले।

डग्डेल का अध्ययन (Dugdale's study) — डग्डेल महोदय ने भी गोडार्ड की ही तरह एक अमेरिकी मछुआरा ज्यूक्स का अध्ययन किया। यह मछुआरा पूर्णत आचरणहीन था तथा उसने अपना जीवन साथी भी एक आचरहीन महिला को ही चुना। इस महिला से उत्पन्न वशजो की सख्या लगभग 1000 तक पहुँच गयी। इन वशजों का व्यक्तिगत अध्ययन करने के बाद डग्डेल ने यह निष्कर्ष दिया कि 1000 वशजों में से 200 सदस्य बचपनावस्था में ही मर गये। शेष में से 310 ने भीख माँगना शुरू कर दिया। 130 ने आपराधिक प्रवृत्ति शुरू कर दी। 240 सदस्य जीवनभर रोगों से पीडित रहे और सात सदस्यों ने हत्या करना शुरू कर दिया। पूरे 1000 वशज में से मात्र 20 सदस्य ऐसे मिले जिन्हें सामान्य श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता था। डग्डेल के अनुसार मुछआरे के वशज की जो दुर्गति हुई उसके पीछे मात्र आनुवाशिकता का ही हाथ था।

विंशिप का अध्ययन (Winship's Study) — विंशिप ने एडवर्ड नामक ऐसे व्यक्ति का अध्ययन किया जिसने एक विवाह शिक्षित एव योग्य महिला से तथा दूसरी शादी एक साधारण महिला से किया। दोनों महिलाओं से उत्पन्न बच्चो का जब विशिप ने तुलनात्मक अध्ययन किया तो ऐसा विवरण प्रस्तुत किया कि प्रथम महिला से जनित बच्चे शिक्षित एव योग्य निकले जबकि उसके विपरीत दूसरी साधारण महिला से जनित बच्चे साधारण स्तर के निकले इस परिणाम के आधार पर विंशिप ने आनुवाशिकता को ही इसके लिए उत्तरदायी माना न कि पर्यावरण को।

लर्नर का अध्ययन (Learner's study) — उपरलिखित अध्ययनों के अतिरिक्त लर्नर ने भी एक अध्ययन 1968 में यूरोप के राजघरानों में हिमीफीलिया नामक रोग के पीढी दर पीढी हस्तान्तरण का किया। इस रोग में प्राय यह देखा गया है कि रक्त स्राव अधिक होता है तथा रक्त में थक्कापन नही आ पाता है। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि सम्बन्धित परिवारों के सदस्यों में से अधिकतर इस रोग से ग्रस्त थे। इससे भी आनुवाशिकता के महत्व का पता चलता है।

आजकल भी चिकित्साविज्ञानियों के अनुसार कुछ रोग जैसे—दमा एव मधुमेह आनुवाशिकता के फलस्वरूप पीढी दर पीढी में सक्रमित होता रहता है।

समरूप यमज बच्चो पर अध्ययन (Study on Indentical Twins) — सही रूप में आनुवाशिकता का प्रभाव विकासात्मक प्रक्रियाओं पर पड़ता है या नही इसका सबसे पहले विश्वसनीय प्रमाण समरूप यमज पर किये गये अध्ययनों से मिलता है। **उदाहरणार्थ**—आनुवाशिकता के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए गाल्टन ने 80 समरूप

यमजों के व्यवहार एव व्यक्तित्व की परख की। जैसा कि हमे मालुम है कि समरूप यमज एक-दूसरे से पूर्णतया मिलते जुलते है और उन पर पर्यावरणीय कारको का प्रभाव नही पडता है। गाल्टन ने भी अपने अध्ययन में इसी बात की पुष्टि की कि समरूप यमजों का व्यवहार एव व्यक्तित्व एक जैसा ही होता है उन पर पर्यावरणीय असमानताओ का नगण्य प्रभाव पडता है।

न्यूमैन (1937) ने दो समरूप यमजो का अध्ययन किया। इन यमजो का नाम क्रमश रेमण्ड एव रिचर्ड था। जन्म के बाद क्रमश रेमण्ड तथा रिचर्ड को डाक्टर एव 'ट्रक ड्राईवर' के परिवारो में लालन-पालन हेतु रखा गया। दस वर्ष बाद जब उनकी मानसिक एव शारीरिक क्षमता का तुलनात्मक अध्ययन किया गया तो ऐसा पाया गया कि पर्यावरण मे व्यापक असमानता होने के बावजूद शारीरिक एव मानसिक क्षमता समान थी। यह अध्ययन आनुवाशिकता के महत्व को प्रदर्शित करती है। ऐसा ही अध्ययन करके कुछ मनोवैज्ञानिकों ने ऐसा ही निष्कर्ष निकाला है (Huntlay 1966, Mittler, 1966, Kallman, and Sander 1949, Jost and sontag 1944 etc)

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने यमजों की मानसिक क्षमताओं का भी अध्ययन किया है तथा यह प्रमाणित किया कि समरूप यमज की मानसिक क्षमता भ्रातृयमज की तुलना में अत्यधिक समान होती है। Hethrington and Parke (1975) के अनुसार असमान आनुवशिकता के लोगों की बौद्धिक फलागो मे नगण्य यह सम्बन्ध मिलता है जबकि समान आनुवशिकता वाले व्यक्तियों के बुद्धि फलाको मे उच्च सह सम्बन्ध पाया जाता है। बर्ट (Burt, 1966) के अनुसार अलग-अलग परिवेशों मे पोषित समरूप यमजों के बुद्धिफलाकों मे समान परिवेश में पोषित भ्रातृ यमजों के बुद्धि फलाकों की तुलना मे अपेक्षाकृत उच्च सह सम्बन्ध पाया गया।

मानसिक क्षमता के अतिरिक्त कुछ मानसिक रोगों मे भी आनुवाशिक आधार को महत्वपूर्ण माना गया है। **उदाहरणार्थ**—जुडवा बच्चों में मनोविदलन (Schizophrenia) नामक मानसिक रोग के आनुवाशिक सचारण पर विभिन्न देशो मे किये गये अध्ययन का साराश निम्न तालिका में प्रस्तुत किया गया है।

समरूप यमज में तथा भ्रातृयमज में मनोविदलन रोग का सवाहन

(स्रोत - Goltsmann I I and Sheilds (1973) Genetic theorizing and schizophrenia, British Journal of Psychiatry 122 17-18)

		समरूपयमज			भ्रातृयमज		
मनोवैज्ञानिक	वर्ष	सख्या	मनोवि-दलन के लक्षण	प्रतिशत	सख्या	मनोवि दलन के लक्षण	प्रतिशत
Luxenberger	1928	19	11	58	13	0	0
Rosanaffetal	1934	41	25	61	53	7	13
Essen Moller	1941	11	7	64	27	4	15
Kallman	1946	174	120	69	296	34	11
Slater	1953	37	24	65	58	8	14
Inouye	1961	55	33	60	11	2	18
Kringlen	1967	69	31	45	96	14	15
Fischeretal	1969	25	14	56	45	12	26
Tienori	1971	20	7	35	23	3	13
Allenetal	1972	121	52	43	131	12	9
Gotles man and Schields	1972	26	15	58	34	4	12

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि समरूप यमजों में मनोविदलन का रोग भ्रातृयमजों की तुलना में अधिक होता है। इस प्रकार यमजों पर किये गये अध्ययन से भी आनुवाशिक के प्रभाव को एक प्रामाणिक आधार मिलता है।

बालक के विकास मे वशानुक्रम का प्रभाव
(Effect of Heredity on child Development)

बाल विकास में वशानुक्रम का प्रभाव प्रमुख रूप से पॉच भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) लिग-भेद (Sex Differences)

बालक बालिका, स्त्री पुरुष के शारीरिक लक्षणों में वैयक्तिक भिन्नता और लिगों में भेद पाया जाना वशानुक्रम के कारण ही होता है।

(2) शारीरिक लक्षण (Physical Characteristics)

भिन्न भिन्न लडके लडकियों के शारीरिक लक्षण जैसे उनके चेहरे ऑख, नाक कान आदि की बनावट में अन्तर होता है। शारीरिक लक्षणो की यह भिन्नता वशानुक्रम का ही परिणाम है।

(3) बुद्धि पर प्रभाव (Effects on Intelligence)

वशानुक्रम की बुद्धि तीव्रता या मन्दता पर प्रभाव देखा गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय नीग्रों और गोरे सैनिकों की बुद्धि परीक्षा करके बुद्धि पर वशानुक्रम के प्रभाव का परिणाम इस प्रकार निकाला गया कि गोरों की मानसिक क्षमता क्रमश 104 और नीग्रो की 102 थी पर ये गलत भी साबित हो सकते हैं।

(4) स्वभाव पर प्रभाव (Effect on Temperament)

मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष दिया है कि व्यक्ति के विकास में आन्तरिक चालकों तथा अत स्रावी ग्रन्थियों का प्रभाव पडता है। जैसे—किशोरावस्था में जनन ग्रन्थियों की क्रियाशीलता बढ जाने से किशोर, किशोरियों के स्वभाव में अन्तर पाया जाना वशानुक्रम का ही परिणाम है।

(5) व्यक्ति तथा व्यवहार पर प्रभाव (Effect on individual and Behaviour)

गोटेसमैन (1963) ने 6 जुडवा किशोरों पर परीक्षण करके यह निष्कर्ष दिया कि उनकी अन्तर्मुखता का परिमाण पैतृक तत्वों से अधिक प्रभावित था। स्टर्न के अनुसार कुछ आन्तरिक शारीरिक रोग के साथ-साथ कुछ मानसिक रोग भी पैतृक होते हैं। फ्रीडमैन और गैलर (1963) ने अपने अध्ययनों द्वारा यह पुष्टि की है कि व्यक्तित्व पर वशानुक्रम का अधिक प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ एकरजवीर्य से जनित यमजों की मानसिक एव गामक क्षमताओं में समानता देखी गयी परन्तु भिन्न यमजों में यह बात नही पायी गयी। इसी प्रकार मीड ने यह अध्ययन करके निष्कर्ष दिया कि मानसिक सामाजिक तथा सास्कृतिक तत्व व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

विकास मे पर्यावरण की भूमिका
(Role of Environment on Development)

पिछले पन्नों में हमने देखा कि मानव विकास पर वशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है। आनुवशिकतावादियों के अनुसार आनुवशिका ही विकास को दिशा प्रदान करती है परन्तु पर्यावरणवादियों का विचार इसके विपरीत है। उनके अनुसार बच्चे को गर्भाधान की अवधि में

यमजों के व्यवहार एव व्यक्तित्व की परख की। जैसा कि हमे मालुम हे कि समरूप यमज एक-दूसरे से पूर्णतया मिलते जुलते है और उन पर पर्यावरणीय कारको का प्रभाव नही पडता है। गाल्टन ने भी अपने अध्ययन में इसी बात की पुष्टि की कि समरूप यमजो का व्यवहार एव व्यक्तित्व एक जैसा ही होता है उन पर पर्यावरणीय असमानताओ का नगण्य प्रभाव पडता है।

न्यूमैन (1937) ने दो समरूप यमजो का अध्ययन किया। इन यमजो का नाम क्रमश रेमण्ड एव रिचर्ड था। जन्म के बाद क्रमश रेमण्ड तथा रिचर्ड को डाक्टर एव 'ट्रक ड्राईवर' के परिवारो में लालन-पालन हेतु रखा गया। दस वर्ष बाद जब उनकी मानसिक एव शारीरिक क्षमता का तुलनात्मक अध्ययन किया गया तो ऐसा पाया गया कि पर्यावरण मे व्यापक असमानता होने के बावजूद शारीरिक एव मानसिक क्षमता समान थी। यह अध्ययन आनुवाशिकता के महत्व को प्रदर्शित करती है। ऐसा ही अध्ययन करके कुछ मनोवैज्ञानिको ने ऐसा ही निष्कर्ष निकाला है (Huntlay 1966, Mittler, 1966, Kallman, and Sander 1949, Jost and sontag 1944 etc)

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने यमजों की मानसिक क्षमताओं का भी अध्ययन किया है तथा यह प्रमाणित किया कि समरूप यमज की मानसिक क्षमता भ्रातृयमज की तुलना में अत्यधिक समान होती है। Hethrington and Parke (1975) के अनुसार असमान आनुवशिकता के लोगो की बौद्धिक फलागों मे नगण्य यह सम्बन्ध मिलता है जबकि समान आनुवशिकता वाले व्यक्तियों के बुद्धि फलाकों में उच्च सह-सम्बन्ध पाया जाता है। **बर्ट** (Burt, 1966) के अनुसार अलग-अलग परिवेशों में पोषित समरूप यमजो के बुद्धिफलाकों मे समान परिवेश में पोषित भ्रातृ यमजों के बुद्धि फलाकों की तुलना मे अपेक्षाकृत उच्च सह सम्बन्ध पाया गया।

मानसिक क्षमता के अतिरिक्त कुछ मानसिक रोगो मे भी आनुवाशिक आधार को महत्वपूर्ण माना गया है। **उदाहरणार्थ**—जुडवा बच्चों में मनोविदलन (Schizophrenia) नामक मानसिक रोग के आनुवाशिक सचारण पर विभिन्न देशो मे किये गये अध्ययन का साराश निम्न तालिका में प्रस्तुत किया गया है।

समरूप यमज में तथा भ्रातृयमज में मनोविदलन रोग का सवाहन

(स्रोत - Goltsmann I I and Sheilds (1973) Genetic theorizing and schizophrenia, British Journal of Psychiatry, 122 17-18)

मनोवैज्ञानिक	वर्ष	समरूपयमज सख्या	समरूपयमज मनोवि-दलन के लक्षण	समरूपयमज प्रतिशत	भ्रातृयमज सख्या	भ्रातृयमज मनोवि दलन के लक्षण	भ्रातृयमज प्रतिशत
Luxenberger	1928	19	11	58	13	0	0
Rosanaffetal	1934	41	25	61	53	7	13
Essen Moller	1941	11	7	64	27	4	15
Kallman	1946	174	120	69	296	34	11
Slater	1953	37	24	65	58	8	14
Inouye	1961	55	33	60	11	2	18
Kringlen	1967	69	31	45	96	14	15
Fischeretal	1969	25	14	56	45	12	26
Tienori	1971	20	7	35	23	3	13
Allenetal	1972	121	52	43	131	12	9
Gotles man and Schields	1972	26	15	58	34	4	12

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि समरूप यमजों में मनोविदलन का रोग भ्रातृयमजों की तुलना में अधिक होता है। इस प्रकार यमजों पर किये गये अध्ययन से भी आनुवाशिक के प्रभाव को एक प्रामाणिक आधार मिलता है।

बालक के विकास मे वशानुक्रम का प्रभाव
(Effect of Heredity on child Development)

बाल विकास में वशानुक्रम का प्रभाव प्रमुख रूप से पॉच भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) लिग-भेद (Sex Differences)

बालक बालिका, स्त्री पुरुष के शारीरिक लक्षणों में वैयक्तिक भिन्नता और लिगों में भेद पाया जाना वशानुक्रम के कारण ही होता है।

(2) शारीरिक लक्षण (Physical Characteristics)

भिन्न भिन्न लडके लडकियो के शारीरिक लक्षण जैसे उनके चेहरे, ऑख, नाक, कान आदि की बनावट में अन्तर होता है। शारीरिक लक्षणों की यह भिन्नता वशानुक्रम का ही परिणाम है।

(3) बुद्धि पर प्रभाव (Effects on Intelligence)

वशानुक्रम की बुद्धि तीव्रता या मन्दता पर प्रभाव देखा गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय नीग्रों और गोरे सैनिकों की बुद्धि परीक्षा करके बुद्धि पर वशानुक्रम के प्रभाव का परिणाम इस प्रकार निकाला गया कि गोरों की मानसिक क्षमता क्रमश 104 और नीग्रो की 102 थी पर ये गलत भी साबित हो सकते हैं।

(4) स्वभाव पर प्रभाव (Effect on Temperament)

मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष दिया है कि व्यक्ति के विकास में आन्तरिक चालकों तथा अत स्रावी ग्रन्थियों का प्रभाव पडता है। जैसे—किशोरावस्था में जनन ग्रन्थियों की क्रियाशीलता बढ जाने से किशोर, किशोरियों के स्वभाव में अन्तर पाया जाना वशानुक्रम का ही परिणाम है।

(5) व्यक्ति तथा व्यवहार पर प्रभाव (Effect on individual and Behaviour)

गोटेसमैन (1963) ने 6 जुडवा किशोरों पर परीक्षण करके यह निष्कर्ष दिया कि उनकी अन्तर्मुखता का परिमाण पैतृक तत्वों से अधिक प्रभावित था। स्टर्न के अनुसार कुछ आन्तरिक शारीरिक रोग के साथ-साथ कुछ मानसिक रोग भी पैतृक होते हैं। फ्रीडमैन और गैलर (1963) ने अपने अध्ययनों द्वारा यह पुष्टि की है कि व्यक्तित्व पर वशानुक्रम का अधिक प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ एकरजवीर्य से जनित यमजों की मानसिक एव गामक क्षमताओं में समानता देखी गयी परन्तु भिन्न यमजों में यह बात नही पायी गयी। इसी प्रकार मीड ने यह अध्ययन करके निष्कर्ष दिया कि मानसिक सामाजिक तथा सास्कृतिक तत्व व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

विकास मे पर्यावरण की भूमिका
(Role of Environment on Development)

पिछले पन्नों में हमने देखा कि मानव विकास पर वशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है। आनुवशिकतावादियों के अनुसार आनुवशिका ही विकास को दिशा प्रदान करती है परन्तु पर्यावरणवादियों का विचार इसके विपरीत है। उनके अनुसार बच्चे को गर्भाधान की अवधि में

यमजों के व्यवहार एव व्यक्तित्व की परख की। जैसा कि हमे मालुम हे कि समरूप यमज एक-दूसरे से पूर्णतया मिलते जुलते है और उन पर पर्यावरणीय कारको का प्रभाव नही पडता है। गाल्टन ने भी अपने अध्ययन मे इसी बात की पुष्टि की कि समरूप यमजो का व्यवहार एव व्यक्तित्व एक जैसा ही होता है उन पर पर्यावरणीय असमानताओ का नगण्य प्रभाव पडता है।

न्यूमैन (1937) ने दो समरूप यमजो का अध्ययन किया। इन यमजो का नाम क्रमश रेमण्ड एव रिचर्ड था। जन्म के बाद क्रमश रेमण्ड तथा रिचर्ड को डाक्टर एव **'ट्रक ड्राईवर'** के परिवारो में लालन पालन हेतु रखा गया। दस वर्ष बाद जब उनकी मानसिक एव शारीरिक क्षमता का तुलनात्मक अध्ययन किया गया तो ऐसा पाया गया कि पर्यावरण में व्यापक असमानता होने के बावजूद शारीरिक एव मानसिक क्षमता समान थी। यह अध्ययन आनुवाशिकता के महत्व को प्रदर्शित करती है। ऐसा ही अध्ययन करके कुछ मनोवैज्ञानिको ने ऐसा ही निष्कर्ष निकाला है (Huntlay 1966, Mittler, 1966, Kallman, and Sander 1949, Jost and sontag 1944 etc)

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने यमजों की मानसिक क्षमताओ का भी अध्ययन किया है तथा यह प्रमाणित किया कि समरूप यमज की मानसिक क्षमता भ्रातृयमज की तुलना में अत्यधिक समान होती है। Hethrington and Parke (1975) के अनुसार असमान आनुवशिकता के लोगो की बौद्धिक फलागो मे नगण्य यह सम्बन्ध मिलता है जबकि समान आनुवशिकता वाले व्यक्तियों के बुद्धि फलाकों मे उच्च सह-सम्बन्ध पाया जाता है। **वर्ट** (Burt, 1966) के अनुसार अलग-अलग परिवेशों मे पोषित समरूप यमजो के बुद्धिफलाकों मे समान परिवेश मे पोषित भ्रातृ यमजों के बुद्धि फलाको की तुलना में अपेक्षाकृत उच्च सह सम्बन्ध पाया गया।

मानसिक क्षमता के अतिरिक्त कुछ मानसिक रोगों मे भी आनुवाशिक आधार को महत्वपूर्ण माना गया है। **उदाहरणार्थ**—जुडवा बच्चों में मनोविदलन (Schizophrenia) नामक मानसिक रोग के आनुवाशिक सचारण पर विभिन्न देशों मे किये गये अध्ययन का साराश निम्न तालिका में प्रस्तुत किया गया है।

समरूप यमज में तथा भ्रातृयमज में मनोविदलन रोग का सवाहन

(स्रोत - Goltsmann I I and Sheilds (1973) Genetic theorizing and schizophrenia, British Journal of Psychiatry, 122 17-18)

मनोवैज्ञानिक	वर्ष	समरूपयमज			भ्रातृयमज		
		सख्या	मनोवि-दलन के लक्षण	प्रतिशत	सख्या	मनोविदलन के लक्षण	प्रतिशत
Luxenberger	1928	19	11	58	13	0	0
Rosanaffetal Essen	1934	41	25	61	53	7	13
Moller	1941	11	7	64	27	4	15
Kallman	1946	174	120	69	296	34	11
Slater	1953	37	24	65	58	8	14
Inouye	1961	55	33	60	11	2	18
Kringlen	1967	69	31	45	96	14	15
Fischeretal	1969	25	14	56	45	12	26
Tienori	1971	20	7	35	23	3	13
Allenetal	1972	121	52	43	131	12	9
Gotles man and Schields	1972	26	15	58	34	4	12

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि समरूप यमजों में मनोविदलन का रोग भ्रातृयमजों की तुलना में अधिक होता है। इस प्रकार यमजों पर किये गये अध्ययन से भी आनुवाशिक के प्रभाव को एक प्रामाणिक आधार मिलता है।

बालक के विकास मे वशानुक्रम का प्रभाव
(Effect of Heredity on child Development)

बाल विकास में वशानुक्रम का प्रभाव प्रमुख रूप से पॉच भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) लिग-भेद (Sex Differences)

बालक बालिका, स्त्री पुरुष के शारीरिक लक्षणों में वैयक्तिक भिन्नता और लिगों में भेद पाया जाना वशानुक्रम के कारण ही होता है।

(2) शारीरिक लक्षण (Physical Characteristics)

भिन्न भिन्न लडके लडकियों के शारीरिक लक्षण जैसे उनके चेहरे, ऑख, नाक, कान आदि की बनावट में अन्तर होता है। शारीरिक लक्षणों की यह भिन्नता वशानुक्रम का ही परिणाम है।

(3) बुद्धि पर प्रभाव (Effects on Intelligence)

वशानुक्रम की बुद्धि तीव्रता या मन्दता पर प्रभाव देखा गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय नीग्रों और गोरे सैनिकों की बुद्धि परीक्षा करके बुद्धि पर वशानुक्रम के प्रभाव का परिणाम इस प्रकार निकाला गया कि गोरों की मानसिक क्षमता क्रमश 104 और नीग्रो की 102 थी पर ये गलत भी साबित हो सकते हैं।

(4) स्वभाव पर प्रभाव (Effect on Temperament)

मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष दिया है कि व्यक्ति के विकास में आन्तरिक चालकों तथा अत स्रावी ग्रन्थियों का प्रभाव पडता है। जैसे—किशोरावस्था में जनन ग्रन्थियों की क्रियाशीलता बढ जाने से किशोर, किशोरियों के स्वभाव मे अन्तर पाया जाना वशानुक्रम का ही परिणाम है।

(5) व्यक्ति तथा व्यवहार पर प्रभाव (Effect on individual and Behaviour)

गोटेसमैन (1963) ने 6 जुडवा किशोरों पर परीक्षण करके यह निष्कर्ष दिया कि उनकी अन्तर्मुखता का परिमाण पैतृक तत्वों से अधिक प्रभावित था। स्टर्न के अनुसार कुछ आन्तरिक शारीरिक रोग के साथ-साथ कुछ मानसिक रोग भी पैतृक होते हैं। फ्रीडमैन और गैलर (1963) ने अपने अध्ययनों द्वारा यह पुष्टि की है कि व्यक्तित्व पर वशानुक्रम का अधिक प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ एकरजवीर्य से जनित यमजों की मानसिक एव गामक क्षमताओं में समानता देखी गयी परन्तु भिन्न यमजों में यह बात नही पायी गयी। इसी प्रकार मीड ने यह अध्ययन करके निष्कर्ष दिया कि मानसिक सामाजिक तथा सास्कृतिक तत्व व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

विकास मे पर्यावरण की भूमिका
(Role of Environment on Development)

पिछले पन्नों में हमने देखा कि मानव विकास पर वशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है। आनुवशिकतावादियों के अनुसार आनुवशिकता ही विकास को दिशा प्रदान करती है परन्तु पर्यावरणवादियों का विचार इसके विपरीत है। उनके अनुसार बच्चे को गर्भाधान की अवधि में

जो कुछ प्राप्त होता है उसका महत्व उतना नही है जितना कि पर्यावरण का है। जैसा कि हम सभी को यह ज्ञात है कि पर्यावरण के अभाव में व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है। विकास में अनेक व्यवधान उत्पन्न हो जाते हैं। व्यक्ति के विकास मे जिस वशानुक्रम के अतिरिक्त जिन अन्य कारकों का प्रभाव पडता है उसे पर्यावरण कह सकते है। रच (1967) के अनुसार पर्यावरण वे सभी परिस्थितियाँ हैं जो व्यवहार को उद्दीप्त करती हैं या व्यवहार में परिमार्जन उत्पन्न करती है।"

Environment is the totality of conditions that serve to stimulate or act to bring about modifications of behaviour"

Allport (1948) का कहना है कि बच्चे में जन्म के समय मात्र सीमित जैविक प्रतिवर्तों के अलावा कुछ भी व्यवहार प्रदर्शित नही होता है। परन्तु वही बालक जब पर्यावरण के सम्पर्क में आता है तो उसमें विभिन्न प्रकार की योग्यताएँ जन्म ले लेती हैं। इसी प्रकार से यदि बच्चे को जन्म के बाद मानवीय समाज से अलग कर दिया तो उसमें मानवोचित योग्यताएँ नही जन्म ले पायेंगी। पर्यावरणवादियों के अनुसार आज व्यक्ति जो कुछ भी है वह पर्यावरण का ही परिणाम है। पर्यावरणवादियो का दावा है कि मानव के विकास के लिए उचित पर्यावरण जरूरी है। जैसा पर्यावरण होगा वैसा ही बच्चे का विकास होगा।

इससे यह सिद्ध होता है कि पर्यावरण के महत्व को नकारा नही जा सकता है। पर्यावरण के प्रभाव को जीवन की दो प्रमुख अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम अवस्था जन्म पूर्व की अवस्था और दूसरी अवस्था जन्म पश्चात् की अवस्था कहा जा सकता है। बालक के विकास पर पर्यावरण का प्रभाव गर्भाधान से ही शुरू हो जाता है। जन्म से पूर्व की अवस्थाओं को बच्चे के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना गया है। (Ruch 1967, Hurlock 1975, Woodworth 1948, Ottinger and Simmons 1964)।

जन्म पूर्व की दशाओं के अलावा जन्म के बाद की अवस्थाएँ भी अधिक महत्वपूर्ण भूमिका बच्चे के विकास पर अदा करती हैं। पर्यावरण भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक, सास्कृतिक, भौतिक एव सामाजिक प्रकार का हो सकता है। पर्यावरण के ही फलस्वरूप बच्चे के व्यवहार तथा आचार विचार में अन्तर दिखायी देता है। माता के मानसिक विचारों एव भावों का प्रभाव बालक के विकास पर पडता है। माता-पिता का चरित्र स्वभाव एव आचार-विचार का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पडता है। अभिमन्यु ने अपनी माता के गर्भ में ही शौर्य का पाठ पढ लिया था। क्योंकि उसके माता पिता शौर्ययुक्त थे। एक निश्चित पर्यावरण में रहने वाले लोगों का व्यवहार भिन्न पर्यावरण में रहने वाले लोगों के व्यवहार से अलग होता है। उपर्युक्त विश्लेषण पर्यावरण की भूमिका को दर्शाते हैं। पर्यावरण के प्रभाव का अध्ययन कुछ मनोवैज्ञानिक शोधों द्वारा किया गया है जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

जन्म पूर्व पर्यावरण का प्रभाव
(Effect of Pre-natal Environment)

बच्चे के विकास पर जन्म पूर्व की दशाओं का प्रभाव पडता है ऐसा विचार पर्यावरणवादियों का है। ऐसा प्राय देखा जाता है कि यदि गर्भस्थ शिशु की माँ का स्वास्थ्य उत्तम नही है तथा माता को गर्भधारण के बाद पौष्टिक भोजन नही मिलता है उसका सीधा प्रभाव बच्चे के स्वास्थ्य पर परिलक्षित होता है। साथ ही साथ माँ की मानसिक स्थिति यदि सावेगिक तनाव से ग्रसित है तो इसका भी प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पडता है।

आटिंगर एव साइमन्स (1964) ने एक अध्ययन करके ऐसा निष्कर्ष दिया है कि माता के गर्भकालीन मानसिक क्षोभ का प्रभाव बच्चे के स्वास्थ्य पर पडता है। इस अध्ययन में 19

गर्भवती माताओ जो उच्च एव निम्न चिन्ता वाली थी उनका चयन किया गया। गर्भवती माताओ के चिन्ता का प्रभाव बच्चे के रोने के व्यवहार पर देखा गया। बच्चा पैदा हो जाने के बाद उसके रोने की क्रिया का दूसरे तीसरे एव चोथे दिन नोट किया गया। इस अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि गर्भकालीन दशा में उच्च चिन्ता वाली माताओं के बच्चों में क्रन्दन व्यवहार निम्न चिन्ता वाली माताओं के बच्चों की तुलना में अधिक पाया गया। इस अध्ययन से जन्मपूर्व पर्यावरण का प्रभाव बच्चे के विकास पर पडना है प्रमाणित होता है।

गर्भकालीन अवधि में धूम्रपान (Smoking) का भी गर्भस्थ शिशु के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। धूम्रपान के प्रभाव का अध्ययन Simpson (1957) द्वारा किया गया । इस अध्ययन से यह परिणाम मिला कि धूम्रपान करने वाली महिलाओं मे 33 प्रतिशत महिलाओं ने समय स पूर्व ही बच्चों को जन्म दिया जबकि धूम्रपान न करने वाली महिलाओं में से मात्र 6 25 प्रतिशत महिलाओं ने ही समय से पूर्व बच्चों को जन्म दिया।

इसी प्रकार एक अध्ययन स्टेचलर (1969) ने किया जिसमें इस बात का अध्ययन किया कि जो महिलाएँ प्रसव पीडा कम करने के लिए दवा का उपयोग करती हैं वे जन्मोपरान्त अपने बच्चे पर कम ध्यान देती हैं तथा जो माताएँ प्रसव पीडा से बचने के लिए दवा का उपयोग कम करती हैं वे अपने बच्चे पर ज्यादा ध्यान देती हैं।

प्राणिशास्त्रवेत्ता न्यूमैन तथा मनोवैज्ञानिक फ्रीमैन तथा गणनाशास्त्री वेलेजिगर ने 19 यमजों के मनोवैज्ञानिक परीक्षण से यह सिद्ध किया कि पर्यावरण भिन्न होने से बच्चों के मानसिक एव सामाजिक विकास में अन्तर आ जाता है।

जन्मोपरान्त पर्यावरण का प्रभाव
(Effect of Post natal Environment)

जन्म पूर्व पर्यावरण की तरह ही जन्मोपरान्त पर्यावरण का भी बच्चे के विकास पर प्रभाव पडता है। जन्मोपरान्त बच्चे को जैसा पर्यावरण उपलब्ध होगा वैसा ही योग्यताएँ, क्षमताएँ उसमें जन्म लेगी तथा उसका शारीरिक, गामक, सामाजिक, नैतिक एव चारित्रिक विकास होगा। यह निर्विवाद सत्य है कि यदि शिशु को जन्मोपरान्त उचित पर्यावरण नही मिलता है तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है तथा उसमें कई विकृतियाँ जन्म ले लेती हैं। जन्मोपरान्त पर्यावरण पर जो अध्ययन किये गये वे निम्नवत् हैं।

सामाजिक वचन का प्रभाव
(Effect of Social Deprivation)

प्राय ऐसा देखा जाता है कि यदि बच्चे को जन्म के बाद समाज से अलग कर दिया तो उसमें मानवीय गुणों एव योग्यताओं का विकास नही हो पाता है। इस तरह के प्रमाण कई अध्ययनों से मिले हैं। वैसे मानव को समाज से अलग करना एक असभव कार्य है परन्तु कुछ ऐसे मानव मिले जिन्हें बचपन में ही मानव समाज से अलग होना पडा तथा जब वे पुन मानव समाज में लाये गये तो पाया गया कि उनमें मानवोचित्त गुणों का विलोप हो गया था। उनका व्यवहार वैसा ही देखा गया जैसा उनका समाज था या वे जिस पर्यावरण से प्राप्त किये गये थे। जब किसी व्यक्ति को जन्म पश्चात् समाज से दूर रखा जाता है उसका सामाजीकरण नही हो पाता है और उसका व्यवहार भी समाज द्वारा स्वीकृत नियमों के अनुरूप नही होता है। प्राय यह भी देखा गया है कि सामाजिक अधिगम के अभाव में मनुष्य का व्यवहार पशुवत हो जाता है।

पर्यावरण का प्रभाव ऐसे अध्ययनो से स्पष्ट होता है जिसमे ऐसे बच्चो पर अध्ययन किया गया जो जन्मपश्चात ही जगली जानवरो के पर्यावरण मे पड गए तथा मानवीय पर्यावरण से उनका सम्बन्ध समाप्त हो गया। सन् 1920 मे एक ईसाई पादरी को भेडियों की एक गुफा से मिदनापुर (प बगाल) में दो लडकियाँ (Woulf Girls) प्राप्त हुईं। इनमें से एक की आयु 3 से 4 वर्ष के बीच थी और दूसरी की आयु 8 से 9 वर्ष के बीच थी। वे दोनों हाथ पैरों से चलती थी। कच्चा मास खाती थी, नग्न रहा करती थी जीभ निकालकर भौकती थी, दिन को सोती और रात में जागा करती थी। वे मानव भाषा नही समझती थी। उनमे भेडियों के सभी आचार विचार पाये गये क्योकि वे भेडियों के पर्यावरण से प्रभावित थी। इन लडकियों को 7 वर्ष तक लगातार मिशनरियो के माध्यम से प्रशिक्षण दिया गया परन्तु उनमें नाममात्र का मानवोचित व्यवहार देखने को मिला। उदाहरण के लिए प्रशिक्षण के बाद वे दोनों लडकियों ने पैर से चलना सीखा साथ ही साथ कपडे पहनना और मानव की बोली बोलना सीखा। यह सब पर्यावरण के बदौलत हुआ।

इसी प्रकार की दूसरी लडकी जो 1967 में बुलन्दशहर (उप्र) में दीनाशनिचर नाम की पायी गयी। जो 28 वर्ष की उम्र में क्षयरोग से मर गयी। उस लडकी (Woulf Girl) में भी जगली वातावरण में रहने के कारण प्रयुक्त व्यवहार देखने को मिला। परन्तु मानवीय वातावरण में समायोजित न होने के कारण शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो गई। एक उदाहरण 'रामू' का है जो 6 जनवरी 1954 को लखनऊ में पाया गया। यह 'रामू' भी भेडियों के पर्यावरण में पला था। उस समय डाक्टर के एन शर्मा ने उसका नाम 'रामू' रखा था। उसकी लम्बाई लगभग 4' $3\frac{1}{4}$ " थी और भार मात्र 34 पौण्ड था। लखनऊ विश्वविद्यालय के तत्कालीन मनोविज्ञान विभागाध्यक्ष प्रो काली प्रसाद ने उसका निरीक्षण किया तथा उन्हें कुछ सुधार की आशा दिखाई नही दी। तत्कालीन उ प्र के मुख्यमत्री प गोविन्द बल्लभ पन्त ने उस बच्चे के सुधार के लिए सरकार की तरफ से खर्च वहन करने की घोषणा की। अत्यधिक सावधानी के बावजूद भी उस रामू' में मानवीय योग्यताओं एव क्षमताओं का विकास नही हो पाया तथा 14 मार्च 1968 मे उसकी भी मृत्यु हो गयी। इस तरह इन अध्ययनो से यह स्पष्ट होता है कि मानवीय गुणों एव क्षमताओं के विकास हेतु पर्यावरण की भूमिका महत्वपूर्ण है।

प्राणियों के व्यवहार पर असमान पर्यावरण का भी प्रभाव पडता है। फ्रीमैन तथा आयोवा विश्वविद्यालय द्वारा पालित बच्चों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन इस बात की पुष्टि करते हैं कि पर्यावरण का बालक के विकास पर अक्षुण्ण प्रभाव पडता है। फ्रीमैन ने इस बात को प्रमाणित किया कि जो अनाथ बच्चे पालिक गृह में शीघ्र भरती किये गए थे उनका मानसिक विकास उन बच्चों की तुलना में उच्च श्रेणी का था जो सडकों पर आवारा घूमते थे। आयोवा विश्वविद्यालय ने एक चालीस नाजायज बच्चो पर अध्ययन किया। इससे यह निष्कर्ष मिला कि पर्यावरण का बच्चों के विकास पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। जिन बच्चों की सख्या 71 थी उनकी बुद्धिलब्धि उचित वातावरण में 116 पायी गयी।

प्राणियों के व्यहवार पर भी असामान्य पर्यावरण का अधिक प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ एक अध्ययन में केलाग (1937) ने नियत्रित दशाओं में यह देखने की कोशिश की कि किस प्रकार परिवर्तित पर्यावरण द्वारा प्राणी का परम्परागत व्यवहार लुप्त हो जाता है। इस अध्ययन के लिए केलाग (1937) ने अपने बच्चे जिसका नाम डोनाल्ड (10 माह) तथा वनमानुष के बच्चे जिसका नाम गुआ (7 5 माह) था एक साथ समान वातावरण में रखकर तलनात्मक अध्ययन किया। दोनों प्रयोज्य को समान, खाना, समान विस्तर सोने के लिए और

समान लालन पोषण की व्यवस्था प्रदान की गयी। इस परिवर्तित वातावरण के फलस्वरूप गुआ में कई मानवोचित गुणो का प्रदर्शन हुआ। उदाहरणार्थ—उसने कपडे पहनना चम्मच से खाना ग्रहण करना तथा निर्देशानुसार व्यवहार करना शीघ्र ही सीख लिया। परन्तु मानसिक योग्यता में दोनो प्रयोज्यों में काफी अन्तर देखने को मिला। लगातार 9 माह तक मानवीय पर्यावरण मे पालन-पोषण के बाद केलाग ने यह निष्कर्ष दिया कि मानवीय पर्यावरण मिलने के फलस्वरूप गुआ ने अनेक मानवीय व्यवहारों का अर्जन किया परन्तु उसकी सीमित मानसिक क्षमता के कारण वह लिखने एव पढने के कार्य में सफल नही हो पाया । उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि पारिवारिक पर्यावरण के कारण व्यक्ति या प्राणी मे कुछ नयी बातें देखी जा सकती हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिको ने सास्कृतिक पर्यावरण का प्रभाव भी विकास पर देखने का प्रयास किया है। प्रेसी (1957) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि शहर में रहने वाले छात्रो का बुद्धि फलाक अधिक और गॉव में रहने वाले छात्रों का बुद्धि फलाक कम होता है। गार्डन ने भी अपने अध्ययनों के आधार पर इस बात की पुष्टि की है कि अनुकूल पर्यावरण के अभाव में मानसिक क्षमता में ह्रास देखा जाता है। इसके लिए गार्डन ने नाविको के 6 वर्ष से कम बच्चों की मानसिक योग्यता 90 से 110 के मध्य प्राप्त किया जबकि 9 वर्ष से अधिक बच्चों की मानसिक क्षमता 70 पायी गयी। इसका अर्थ यह है कि उचित पर्यावरण के अभाव मे मानसिक क्षमता में गिरावट स्वाभाविक है। इन अध्ययनों के अतिरिक्त शेरमैन स्कील्स एव व्हीलर ने भी यह विचार व्यक्त किया है कि आर्थिक तगी के कारण भी मानसिक योग्यताओ का उचित विकास नहीं हो पाता है।

ऐसे व्यवहारवादी पर्यावरण को विकास के निर्धारक के रूप में मानते हैं। वाट्सन जो व्यवहारवाद के जनक के रूप में जाने जाते हैं। उनका मत है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व एव व्यवहार मूलरूप से पर्यावरण की दशाओं पर निर्भर करता है। वाट्सन के अनुसार व्यक्ति की आनुवशिकता चाहे जिस प्रकार भी हो उस का व्यक्तित्व वैसा ही होगा जैसे पर्यावरण प्राप्त होगा। वाट्सन के ही शब्दों में "यदि मुझे एक दर्जन बच्चे दिये जायें तो में पर्यावरण के अनुसार उनमें से किसी को डाक्टर, किसी को वकील, किसी को कलाकार किसी को व्यापारी, किसी को नेता और इतना ही नही किसी को भिखारी एव चोर भी बना सकता हूँ। उनकी आनुवशिकता चाहे जैसी भी हो।"

उपर्युक्त कथन इस बात को प्रमाणित करते हैं कि पर्यावरण का महत्व विकास की दृष्टि से अधिक है। आनुवशिकता का महत्व पर्यावरण के समक्ष गौण है परन्तु यह एक सतुलित मत नही है। यदि दोनों कारको को उचित महत्व दिया जाये तो विकास ज्यादा अच्छा होगा (Baley 1970, Hilgard et al 1975, Tilker 1975, Hurlock 1975)।

विकास क्रम पर आनुवाशिकता एव पर्यावरण का सापेक्ष प्रभाव
(Relative effect of Heredity and Environment on Development)

बालक या व्यक्ति के जीवन में यह बात देखी जा सकती है कि कभी उसके जीवन में वशानुक्रम का तो कभी पर्यावरण का प्रभाव पडता है और कभी दोनों कारकों का सम्मिलित प्रभाव भी पडता है। इसलिए दोनों मतों वाले यह दावे से नही कह सकते हैं कि केवल वशानुक्रम का या केवल पर्यावरण का बालक के जीवन पर प्रभाव पडता है। वास्तव में वशानुक्रम एव पर्यावरण एक दूसरे में के पूरक हैं या इनके प्रभाव को अलग विलग नही किया जा सकता है। सम्भवत वास्तविकता यह है कि व्यक्तियों में पायी जाने वाली भिन्नता कुछ

अश में वशानुक्रम के कारण और कुछ अश पर्यावरण के कारण होता है। इसलिए अधिकाश मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि पर्यावरण एव आनुवशिकता समय के साथ व्यवहार को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति के जैविक मनोवैज्ञानिक एव सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले इन क्रियाओ को निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

$$D = F(H \times E \times T)$$

जिसमें D = विकासात्मक स्तर (Development level)

E = पर्यावरण (Envnronment)

H = वशानुक्रम (Heredıty)

T = समय (Tıme)

उपर्युक्त सूत्र से यह स्पष्ट हो रहा है कि विकास स्तर को दोनों कारक समान रूप से प्रभावित करते हैं। इसमे से यदि किसी एक कारक का अभाव रहता है तो विकास समुचित रूप से सम्पन्न नही हो पायेगा। अत यहाँ पर यह प्रश्न करना निरर्थक है कि किस कारक का कितना प्रभाव पडता है बल्कि यह कहना ज्यादा उचित होगा कि दोनों का सम्मिलित प्रभाव समान रूप से विकास को प्रभावित करता है। वुडवर्थ के शब्दों में आनुवाशिकता, विकास की प्रथम अवस्था में चाहे जितनी शक्तिशाली रही हो, यह विकास में वृद्धि के साथ-साथ और व्यक्ति म पर्यावरण प्रभावों के सचय से अपेक्षाकृत अप्रभावी हो जाती है।

"It has been some tımes been argued that heredıty, however potent ın the first stage of development, must become relatıvely ıneffectıve as development process and the effects of the envıronment accumulate ın the organısm " (Woodworth, 1947)

वुडवर्थ (1947) आगे फिर लिखते हैं कि आनुवाशिक कारकों के बिना न तो वृक्षों में पत्तियाँ और न ही जीवन हो सकता है और गर्मी तथा नमी जैसे पर्यावरणात्मक कारकों के अभाव में पत्तियों का विकास नही हो सकता है। आनुवाशिकता एव पर्यावरण जीवन के हर क्षेत्र में एक साथ कार्य करते हैं।

Without hereditary factors, ındeed, there would be no leaves on eıther tree, there would be no lıfe And wıthout the envıronmental factors of warmth and moısture there would be no leaves Heredıty and envıronment work together ın every manıfertatıons of lıfe woodworth 1947)

उपर्युक्त दोनों कथनों से यह सिद्ध होता है कि आनुवाशिकता एव पर्यावरण दोनों का महत्व विकास में होता है। किसी एक कारक के अभाव में विकास अवरुद्ध हो जाता है। अगर वशानुक्रम का कार्य जीवन प्रदान करना है तो पर्यावरण का कार्य जीवन को सवारना है। अत विकास पर्यावरण एव वशानुक्रम का योग नही बल्कि गुणनफल है।

निम्नकोटि के प्राणियों में किये गये अध्ययन ने वशानुक्रम और पर्यावरण के सापेक्ष प्रभाव को प्रमाणित किया है। कुछ कीटाणुओं के शरीर के अन्दर रग को वशानुक्रम से परिवर्तित किया जा सकता है बशर्ते कि उनका पर्यावरण भी परिवर्तित कर दिया जाये। मक्खियों पर परीक्षण करके यह बात देखी गयी है कि वशानुक्रम से प्राप्त उनके शरीर में जो प्रत्य न थे उन्हें सिलवर नाइट्रेट का खुराक देकर अर्जित कर दिया गया। मगोल जाति की मन्दबुद्धि पर वशानुक्रम एव पर्यावरण का सम्मिलित प्रभाव परीक्षण द्वारा देखा गया। यह

समझा जाता है कि उनके दोष पूर्ण वशानुक्रम के कारण उनके वश सूत्र दूषित हो गये और इस कारण उनमें बुद्धिमन्दता आ गई है। परन्तु शोध से यह पता चलना है कि विषैले पदार्थों के उत्पन्न होने के कारण बुद्धिमन्दता पाई जाती है। इसलिए मगोल जानि के अधिकाश लोगों में पाई जाने वाली बुद्धिमदता पर पभावशाली पर्यावरण के साथ-साथ दूषित गुणसूत्रों का भी असर पडता है।

अनेक मनोवैज्ञानिको का यह मानना है कि यदि बालक अच्छे पर्यावरण में रखा जाता है तो उसकी मानसिक योग्यता बढती है। वास्तव में बालक का अच्छा होना या बुरा होना पर्यावरण पर निर्भर रहता है। एक हा पिता का एक पुत्र विद्वान दूसरा मूर्ख तीसरा चोर ओर चौथा सच्चा मित्र निकलता है। यह बात वशानुक्रम के साथ-माथ पर्यावरण की भिन्नता के फलस्वरूप होती है। यदि कोई बालक के वश परम्परा से अधिक प्रतिभावान रहता है परन्तु यदि उसे जगली जानवरो के मध्य रख दिया जाता है तो वह अपनी प्रतिभा का विकास नही कर पाता है। इसलिए माता पिता का यह कर्तव्य है कि व्यक्तित्व के उचित विकास हेतु उसे अच्छे से अच्छे वातावरण में रखने का प्रयास करना चाहिए। यद्यपि बुद्धि वशानुक्रम पर निर्भर रहती है परन्तु उसका विकास और अभिव्यक्ति पर्यावरण पर ही निर्भर रहती है।

अत आज यह प्रमाणित हो चुका है कि विकास आनुवाशिकता एव पर्यावरण में परस्पर अर्न्तक्रिया का परिणाम है। इन दोनों कारकों के सापेक्षिक महत्व को वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिये विभिन्न आनुवशिकता वाले प्रयोगों का भिन्न भिन्न पर्यावरणीय परिस्थितियो में लालन-पालन करके विकासात्मक अभिलेख तैयार करना चाहिए। ऐसे अध्ययन shields 1962, Erlenmeyer kimling and Jarvic 1963, Balay 1970 द्वारा सम्पन्न किये गये हैं। इन शोधकर्ताओं में इर्लेनमेयर किमलिंग एव जारविक का अध्ययन काफी महत्वपूर्ण है इन मनोवैज्ञानिकों ने आनुवशिकता एव पर्यावरण के सापेक्ष महत्व को निम्नलिखित परिकल्पनाओ के तहत सिद्ध करने की कोशिश की।

(1) विभिन्न परिवारों में पर्यावरणीय अन्तर

(2) परिवारों में आनुवशिक अन्तर

(3) परिवार के सदायों में पर्यावरणीय अन्तर

(4) परिवार के सदस्यों में आनुवशिक अन्तर

इन परिक्लपनाओं के आधार पर सम्पन्न किये गये अध्ययनों से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए वे इस प्रकार हैं—

(1) आनुवाशिकता समान परन्तु परिवेश असमान हो तो विकास में अन्तर प्राप्त हो गया।

(2) आनुवाशिकता एव परिवेश दोनों असमान हो तो विकास में स्पष्ट अन्तर प्राप्त होगा।

(3) असमान आनुवाशिकता परन्तु समान परिवेश होने पर विकास में, सम्पन्नता प्राप्त हो सकती है।

(4) आनुवशिकता एव पर्यावरण दोनों समान होने पर समानता प्राप्त हो सकती है।

इन निष्कर्षों से आनुवाशिकता का महत्व अधिक परिलक्षित होता है परन्तु निरपेक्ष नही। अर्थात् परिवेश भी विकास की गति एव दिशा में अपनी अहम् भूमिका रखता है। अत

यह कहा जा सकता है कि आनुवाशिकता एव पर्यावरण दोनों का बालक के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है ।

परिपक्वता एव अधिगम विकास के निर्धारक के रूप मे

(Maturation and Learning As determinant of Development)

वशानुक्रम एव पर्यावरण की तरह विकास को एक निश्चित दिशा एव गति देने में परिपक्वता एव अधिगम का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस विषय पर भी मनोवैज्ञानिकों मे काफी मतभेद है कि किसका प्रभाव विकास पर ज्यादा है तथा किसका कम। इस सम्बन्ध में यदि परिपक्वता को महत्वपूर्ण माना जाये तो अधिगम के प्रभाव की अवहेलना होगा। अत यदि दोनों के प्रभाव को सम्मिलित रूप से देखा जाये तो अच्छा होगा। परिपक्वता एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की शारीरिक एव मानसिक सरचना में वृद्धि होती है। परिपक्वता पर सवप्रथम कार्य प्रमुख बाल मनोवैज्ञानिक गेसेल (Gesell) द्वारा किया गया । गेसेल ने परिपक्वता का अर्थ स्पष्ट करते हुए यह व्यक्त किया है कि शारीरिक स्नायुओं एव मॉसपेशियों में होने वाली ऐसी विकासात्मक परिवर्तन जिस पर किसी अन्य कारक का प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता है बल्कि वह आन्तरिक प्रणाली के द्वारा उत्पन्न होता है उसे परिपक्वता की सज्ञा दी जाती है। मार्टिन के अनुसार परिपक्वता सम्प्रत्यय का उपयोग उन सरचनात्मक परिवर्तनों की व्याख्या के लिए किया जाता है जो स्नायुविक प्रणाली के असख्य सम्बन्धों के समन्वय को सुधारती है।

"The term maturation is used to describe the structural changes which improve the coordination of numerous relationships within the neural system"

रच (1970) ने परिपक्वता को आनुवशिकता का प्रमाण माना है। परिपक्वता के माध्यम से आनुवशिकता क्रियाशील रहती है। जन्मोपरान्त जिस प्रक्रिया के द्वारा आनुवशिकता क्रियाशील रहती है उसे ही परिपक्वता कहते हैं।

The process by which heredity continues to function after birth is called maturation

रच की परिभाषा से यह स्पष्ट हो रहा है कि गर्माधान के समय जो विशेषताएँ बच्चे को प्राप्त होती हैं वे जन्म के बाद भी क्रियाशील रहती हैं। उसी के फलस्वरूप अनेक प्रकार के शारीरिक एव मानसिक परिवर्तन होते हैं। परिपक्वता के ही फलस्वरूप बच्चे के आकार, वजन, तथा मानसिक क्षमता में वृद्धि होती है । परिपक्वता के ही कारण बालक तथा बालिकाओं में विभिन्न विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं तथा वे दोनों एक दूसरे से शारीरिक आकार में असमान दिखायी देते हैं। परिपक्वता के ही कारण यौवनारम्भ में बालकों की आवाज अपेक्षाकृत मन्द हो जाती है। परिपक्वता के स्वरूप पर वुडवर्थ (1948) ने प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "मासपेशियों में होने वाला विकास जो कि अभ्यास के कारण नही उत्पन्न होता है, मस्तिष्क में होने वाला विकास जो अधिगम या चिन्तन के कारण नही है इत्यादि परिपक्वता के उदाहरण हैं।

Growth of the muscles resulting from other causes than the muscular exercise, grwoth of the brain resulting from other causes than the use of the brain in learning and thinking etc would be examples of maturation"

वुडवर्थ के कथन ये यह स्पष्ट होता है कि मॉसपेशियों या शारीरिक अगो के समन्वय में होने वाला परिमार्जन जो अभ्यास के फलस्वरूप नही है परिपक्वता है। परिपक्वता को दो भागों में बॉटा जा सकता है।

(1) स्नायुविक परिपक्वता (Neural Maturıty) जो प्राय शारीरिक मॉसपेशियों के लिए परिपक्व होने से है। यह परिपक्वता प्राय यौवनारम्भ या किशोरावस्था तक पूरी हो जाती है । जैसा कि हमे मालूम है कि लडकियाँ तथा लडको में क्रमश 13 एव 14 वर्ष की आयु में परिपक्वता प्रदर्शित होने लगती है। दूसरा प्रकार व्यावहारिक परिपक्वता कहा जाता है जो व्यवहार के पक्ष में सम्बन्धित है। व्यवहार की परिपक्वता पूरे जीवन भर चलती रहती है। इसकी अवधि लम्बी होती है। परिपक्वता की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(1) परिपक्वता क्रियाशील होती है।

(2) परिपक्वता के ही माध्यम से आनुवाशिकता के अस्तित्व को सिद्ध करने में मदद मिलती है।

(3) परिपक्वता के ही कारण मानव में ऊतक विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

(4) समायोजन के लिए परिपक्वता की अहम् भूमिका होती है।

(5) परिपक्वता निश्चित समय पर शरीर के प्रत्येक भाग में परिलक्षित होती है उसे प्रशिक्षण द्वारा उत्पन्न करना मुश्किल है।

परिपक्वता की ही तरह अधिगम का भी महत्व शारीरिक विशेषताओं के अर्जन में देखा जाता है। अभ्यास या प्रशिक्षण के द्वारा व्यवहार में सुधार या परिमार्जन ही अधिगम कहा जा सकता है।

हिलगार्ड (1960) के अनुसार अधिगम वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी परिस्थिति का सामना करने पर या तो कोई नई अनुक्रिया उत्पन्न होती है या किसी क्रिया में परिवर्तन होता है परन्तु, इस क्रिया में परिवर्तन की जो विशेषताएँ होती हैं उन्हें नैसर्गिक या जन्मजात विशेषताएँ अथवा परिपक्वता या अस्थाई शारीरिक परिवर्तन से भिन्न समझना चाहिए अर्थात् परिवर्तन दो प्रकार के हो सकते हैं—परिवर्तन जो सीखने पर निर्भर हो तथा परिवर्तन जो सीखने पर निर्भर न हो।

मैक्ग्यू (Megouch 1947) ने अधिगम को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

'अधिगम जैसा हम उसे मानते हैं क्रियाओं में होने वाला यह परिवर्तन है जो अभ्यास की परिस्थितियों में उत्पन्न होता है। अधिकतर इस परिवर्तन की एक दिशा होती है जो जीव की वर्तमान प्रेरणात्मक अवस्था की सतुष्टि करती है।

"Learnıng as we measure ıt ıs a change ın actıvıtıes as a result of practıce In most cases thıs change has a dırectıon whıch satısfies the current motıvatıonal heed of the ındıvıdual"

किंग (kıng 1971) ने अधिगम को अभ्यास की अवस्था से उत्पन्न व्यवहार में स्थायी परिवर्तन माना है। ब्रेहमर (Brehmer 1973) ने अधिगम को इस प्रकार परिभाषित किया है—

अधिगम ऐसा प्रक्रम है जिसके द्वारा जीव वातावरण से क्षतिपूर्ति के परिणामस्वरूप अपने व्यवहार का परिमार्जन करता है ।

इन सभी परिभाषाओं के आधार पर अधिगम की विशेषताओ को इस प्रकार विश्लेषित किया जा सकता है—

(1) अभ्यास के फलस्वरूप अधिगम होता है।

(2) अभ्यास के फलस्वरूप कार्य में उन्नति होती है।

(3) अधिगम मे जो परिवर्तन प्रशिक्षण द्वारा होना हैं वह स्थायी होता है।

(4) अधिगम द्वारा नयी क्रियाओ का अर्जन तथा पुरानी क्रियाओं में परिमार्जन होता है।

(5) अधिगम उद्देश्यपूर्ण (Goaldirected) होता है।

परिपक्वता एव अधिगम मे पारस्परिक सम्बन्ध
(Interrelationship between Maturation and Learning)

परिपक्वता एव अधिगम के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करते हुए **कारमाई केल** (Carmiacheal) ने यह व्यक्त किया है कि यह सीमा नही बॉधी जा सकती है कि कब परिपक्वता समाप्त होती हैं और अधिगम का प्रभाव कब प्रारम्भ होता है। **मेकग्रा** (Mcgraw) ने भी कारमाइकेलर (Carmiacheal) द्वारा प्रस्तुत तथ्य के पक्ष में ही अपना विचार व्यक्त किया है। इनके अनुसार प्रत्येक प्रकार की परिपक्वता पर अधिगम का प्रभाव पडता है और इसी तरह अधिगम में परिपक्वता की भूमिका रहती है। दोनों को एक दूसरे से अलग करना विकास के लिए दुष्कर होगा। दोनों का सम्मिलित प्रभाव आवश्यक है। **उदाहरणार्थ**—यदि दो पहिये की साइकिल चलाने की योग्यता हेतु परिपक्वता जरूरी है तो चलाने की योग्यता में सुधार हेतु अधिगम जरूरी है। इसका अर्थ यह है कि इस योग्यता हेतु या किसी व्यवहार के उत्पन्न होने के लिए उस स्तर की परिपक्वता शरीर में आनी चाहिए तभी वह व्यवहार अधिगम के कारण सुदृढ हो सकता है अन्यथा नही । यदि परिपक्वता उस स्तर की नहीं है कि जिस स्तर पर व्यवहार उत्पन्न किया जा सकता है तो अधिगम प्रभावी नही होगी। अत यदि यह कहा जाये कि विकास परिपक्वता अधिगम की अन्तक्रिया का परिणाम है तो अतिशयोक्ति नही होगी। इसको निम्नलिखित सूत्र से और स्पष्ट किया जा सकता है।

$D = F(M \times L)$

D = Development (विकास)

F = Function ((प्रक्रिया/अन्तर्क्रिया)

M = Maturation (परिपक्वता)

L = Learning (अधिगम)।

परिपक्वता एव अधिगम के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कई मनोवैज्ञानिकों ने अपना पक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्राय सभी मनोवैज्ञानिक इस बात के पक्षधर हैं कि परिपक्वता विकास की सीमा को निर्धारित करती है और निर्धारित सीमा से अधिक प्रगति नही हो सकती है। चाहे अधिगम विधि कितनी भी अनुकूल क्यों न हो तथा अधिगमकर्ता में प्रेरणा का कितना प्रवल स्तर क्यों न विद्यमान हो। इस विषय पर कैटेल (1957) ने स्पष्ट लिखा है कि सम्पूर्ण अधिगम एव समायोजन प्राणी में अन्तर्निहित गुणों द्वारा सीमित कर दिया जाता है।

जैसाकि हम सभी को विदित है कि अधिगम पर्यावरण स सम्बन्धित है। अत पर्यावरण की दशाएँ विकास को प्रभावित कर सकती हैं परन्तु उचित समय से पूर्व विकास को प्रारम्भ

नही कर सकती हैं। गसेल (Gesell) के अनुसार पर्यावरणीय कारक विकास को सहयोग प्रदान कर सकते हैं। उसमें तीव्रता प्रदान कर सकते हैं और परिमार्जन भी कर सकते हैं।

परिपक्वता तथा अधिगम के मध्य प्रमुख अन्तर सम्बन्ध यह भी है कि अधिगम व्यवहार को परिमार्जन करनी है ताथ परिपक्वता एक दिशा प्रदान करती है। Harris (1960) के अनुसार अधिगम तभी कराना चाहिए जब व्यक्ति इसके लिए तैयार हो तथा परिपक्वता की दृष्टि से तत्पर हो। उन्होंने यह भी लिखा है कि जो अपने जीवन मे अधिगम विलम्ब से प्रारम्भ करता है वह अपनी पूरी क्षमता का अनुमान नही लगा सकता है।

मानव विकास मुख्यत परिपक्वता तथा अधिगम पर निर्भर करता है। दोनो ही पारस्परिक क्रिया से अनेक प्रकार के परिवर्तन उपस्थित होते हैं। बालक के जन्म के समय परिपक्वता की प्रधानता रहती है परन्तु जन्मोपरान्त अधिगम की उद्यतता रहती है। मनोवैज्ञानिकों का उस विषय मे मतभेद पाया जाता है कि परिपक्वता जन्मजात प्रवृत्ति है अथवा अनुभव का परिणाम है। आसुवेल (1950) का मत है कि प्रजाति के लिए सामान्यशील गुणों मे विकास जैसे प्राण जाने की आशका से उत्पन्न भय वशानुक्रम के प्रभाव के कारण होता है। व्यक्ति के लिए विचित्र शीलगुणों का विकास जैसे कुत्ते से भय और बिजली का भय प्रधानत सीखने से उत्पन्न होता है। ओल्सन (Olson 1959) का मत है कि शरीर में जो भी सस्थागत दैहिक रासायनिक परिवर्तन होते हैं वे बालक को प्रौढता की ओर अग्रसरित करते हैं। आगे चलकर उसका कहना है कि जो कुछ भी निर्माण करने वाली शक्तियाँ उसी समय परिवर्तन लाती हैं जबकि उसके लिए उचित वातावरण रहता है। परिपक्वता के लिए पोषक द्रव्य की आवश्यकता पडती है, जबकि विकास क्रम हेतु परिपक्वता की।

मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह ज्ञात है कि सीखने के विभिन्न रूप तब तक उत्पन्न नही होते जब तक कि बालक मॉसपेशियों स्नायु और दैहिक अनुपात के शारीरिक विकास तथा अधिगम की रुचि व इच्छा से परिपूर्ण होकर तत्पर व सक्षम नही होते। अर्थात् बालक में जब तक अधिगम की तत्परता तथा उद्यतता नही जागृत होगी तब तक किसी भी क्रिया में प्रशिक्षण व्यर्थ रहता है। जब वह सीखने के लिए तत्पर रहता है तब वह क्रिया के प्रति रुचि दिखाता है इसलिए हम यह देखते हैं कि विकास क्रम परिपक्वीकरण और अभ्यास साथ साथ चलते और कार्य करते हैं।

परिपक्वता एव अधिगम के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन हेतु Hilgard (1932) Davis (1940) Bousfield (1953) तथा Husband (1965) के अतिरिक्त अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी मानव प्रयोज्यों तथा पशुओ पर अध्ययन करके अपने निष्कर्ष दिये हैं। उदाहरण के लिए Goodenough ने जन्मजात अन्धी एव बहरी लडकी में भय क्रोध एव प्रसन्नता जैसे सवेगों का प्रदर्शन उसी प्रकार प्राप्त किया जिस प्रकार सामान्य प्रयोज्यों में दृष्टिगत होते हैं। अत यह कहा जा सकता है कि परिपक्वता के कारण उत्पन्न होने वाले व्यवहारो मे अभ्यास की आवश्यकता नही पडती है। बल्कि ऐसे व्यवहार परिपक्वता को निश्चित अवधि सामा मे उत्पन्न हो जाते है। इसलिए Mcgraw (1935) ने यह विचार व्यक्त किया है कि प्रजातीय क्रियाओ के विकास में परिपक्वता और वैयक्तिक क्रियाओं के विकास में अधिगम का अधिक महत्वपूर्ण योगदान होता है।

Mcgraw (1935) ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के विकास का अध्ययन करने के लिए दो समरूपयमज (Idential twins) को प्रयोज्य के रूप में चुना। इन दोनो का नाम क्रमश जानी और जिम्मी रखा गया। जानी को प्रायोगिक प्रयोज्य के रूप में तथा जिम्मी को नियत्रित

प्रयोज्य के रूप में रखा गया। प्रायोगिक अवधि के अन्त में दोनों के कार्यों की तुलना की गयी। जहाँ तक प्रजातीय क्रियाओं के विकास का प्रश्न था दोनों में समान कौशल परिलक्षित हुए परन्तु वैयक्तिक क्रियाओं के विकास में प्रशिक्षण के अभाव के कारण जानी की तुलना में जिम्मी काफी पीछे रह गया। पेशीय क्रियाओं के विकास में परिपक्वता का महत्व अधिक है और वैयक्तिक क्रियाओं के विकास में अधिगम या प्रशिक्षण आवश्यक है। इन प्रयोज्यों में जो प्रजातीय क्रियाएँ व्यवहार के रूप में ली गयी थी वे थी रेंगना, खिसकना, बैठना चलना इत्यादि तथा वैयक्तिक क्रियाओं में क्रमश ऊँची कूद झूलना, सन्दूक जोडना तथा साइकिल चलाना इत्यादि व्यवहार किये गये थे।

गेसेल (1929) एव थाम्पसन (1965) ने भी यह व्यक्त किया है कि व्यक्ति मे उपयुक्त शारीरिक परिपक्वता होने पर ही अधिगम द्वारा अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। Ruch (1970) के अनुसार परिपक्वता की उपयुक्त अवस्था में निर्धारित कार्य को करने में अपेक्षाकृत कम प्रशिक्षण की जरूरत पडती है।

Bousfield (1953) के अनुसार विभिन्न उद्दीपकों के प्रति अनुक्रिया देने के पूर्व व्यक्ति में स्नायुविक एव मासपेशीय सरचनाओं का उचित विकास अनावश्यक है। इसे पेशीय प्राथमिकता का सिद्धान्त कहते हैं। उदाहरणार्थ पैर में उचित शारीरिक विकास के अभाव में टहलने के प्रशिक्षण से कोई लाभ नही होगा।

Dennis (1940) के अनुसार शारीरिक विकास परिपक्वता पर अधिक निर्भर करते हैं। डेनिस ने अपने अध्ययन में होपी बालकों के दो समूह को लिया । प्रथम समूह को जन्म के बाद प्रारम्भिक माह में स्वतन्त्र रूप से गति करने दिया गया जबकि द्वितीय समूह के बच्चों को क्रैडिलबोर्ड में बाँधकर रखा गया। परन्तु यह देखा गया कि दोनों समूह के बच्चों ने एक ही समय पर पैर की गति प्रदर्शित किया । इस अध्ययन से स्पष्ट है कि बच्चों में टहलने की क्षमता पूर्णतया परिपक्वता द्वारा निर्धारित होती है।

उपर्युक्त अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि शारीरिक विकास की भूमिका व्यावहारिक क्षमता का उचित प्रदर्शन हेतु महत्वपूर्ण होती है। हरलाक (1950) के अनुसार किसी कार्य का अधिगम या व्यवहार व्यक्ति की वास्तविक उम्र पर उतना निर्भर नही करता है जितना उसकी शारीरिक उम्र पर निर्भर करता है। अत इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होता है कि किसी भी व्यवहार के प्रदर्शन हेतु परिपक्वता एव अधिगम का महत्वपूर्ण स्थान होता है। परिपक्वता के अभाव में हम किसी भी कार्य का अधिगम महत्वपूर्ण ढग से नही करा सकते हैं। अत अन्य शब्दों में परिपक्वता एव अधिगम का पारस्परिक सम्बन्ध विकास के लिए महत्वपूर्ण होता है ।

●

5 शारीरिक विकास
(Physical Development)

शारीरिक विकास को गर्भावस्था के प्रारम्भ से लेकर वृद्धावस्था की समाप्ति के मध्य घटने वाली शारीरिक एव दैहिक परिवर्तनों की सम्पूर्ण शृखला को कहा जा सकता है। वृद्धि या विकास की प्रक्रिया गर्भाधान के बाद से ही प्रारम्भ हो जाती है तथा वृद्धावस्था के अन्त तक जारी रहती है। वृद्धावस्था के अन्त तक मात्र शारीरिक परिवर्तन ही देखने को मिलते है। शारीरिक विवृद्धियाँ विकास का मानव के व्यवहारों को प्रभावित करता है। शारीरिक विकास को यदि बॉटा जाये तो लगभग यह विकास पॉच अवस्थाओं में परिलक्षित होता है। ये अवस्थाएँ क्रमश गर्भावस्था, नवजात अवस्था, शैशवावस्था, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था है। शरीर के विकास का स्वरूप हमेशा एक जैसा नही रहता है बल्कि उसमें विभिन्नता पाई जाती है। मेरेडिथ (Meridith 1945) ने यह विचार व्यक्त किया है कि प्रथम दो वर्षों में शरीर विकास की गति तीव्र होती है तथा द्वितीय वर्ष से लेकर 11 वर्ष की अवधि में विकास की गति कुछ मन्द हो जाती है। पन्द्रह वर्ष से लेकर 19वें वर्ष तक फिर गति धीमी हो जाती है परन्तु 11वें वर्ष से 15वें वर्ष की अवधि में गति तीव्र पायी जाती है। क्रो और क्रो के अनुसार शारीरिक विकास के अन्तर्गत मानव शरीर रचना के दो स्वरूपों का अध्ययन किया जाता है, जैसे—सरचनागत (Anatomical) और दैहिक (Physiological)। शरीर सरचना के अन्तर्गत अस्थि पजर, विवृद्धि, हड्डियों का विकास, ऊँचाई और वजन में परिवर्तन, फिर सिर, पैर, भुजा का विकास आदि का अध्ययन किया जाता है जबकि दैहिक पक्ष के अन्तर्गत अन्तरावयीव परिवर्तन उदाहरणार्थ—श्वासक्रिया, रक्त सचार, पाचन क्रिया स्नायुमडल का विकास, अत श्रावी ग्रन्थियों का विकास आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो रहा है कि व्यवहार में घटित होने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए व्यक्ति के शारीरिक परिवर्तनों एव विकास की जानकारी आवश्यक है। अन्य शब्दों में यह कहना उचित होगा कि व्यवहार में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों के अध्ययन के लिए शारीरिक परिवर्तनों की प्रक्रिया का अध्ययन करना आवश्यक होगा क्योंकि शारीरिक विकासों का व्यक्ति के मानसिक, सावेगिक, व्यवहारात्मक एव व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐसा ही मत हरलाक (Hurlock 1950), एण्डरसन (Anderson 1942), जुवेक एव सालवर्ग (Zubec and Solberg 1954) और थाम्पसन (Thompson 1954) ने भी व्यक्त किया है।

एण्डरसन (Anderson, 1942) के अनुसार यदि बच्चों पर कार्य करने वाले को यह आभास मिल जाता है कि व्यवहार का निर्धारण अनेक तत्वों से होता है जिनमें से कुछ तत्व शारीरिक बनावट एव बच्चों की दैहिक अवस्था से सम्बन्धित होते हैं। बालक अध्ययनकर्ता शीघ्र ही शारीरिक विकास, शरीर के आकार (रूप) समायोजन, भूख इत्यादि की समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। ये सभी बच्चे के समायोजन को प्रभावित करते हैं।

ऊपर की विवेचनाओं से यह स्पष्ट हो रहा है कि शरीर के प्रत्येक अगों की विकास की गति अलग-अलग अवस्थाओं में अलग-अलग होती है। जैसाकि प्रथम दो वर्ष से 11 वर्ष की

अवस्था में विकास की गति कुछ मन्द होती है परन्तु 11वें से 15वे वर्ष की अवधि में विकास की गति तीव्र पाई जाती हैं। क्रागमैन (1940) का मत है कि शारीरिक विकास का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जाये तो उपयुक्त परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं।

(1) प्रत्येक उम्र के लिए वजन, ऊँचाई इत्यादि का प्रमापीकरण।
(2) शारीरिक गुणों के आनुवाशिक सवाहन का अध्ययन ।
(3) जैविक दृष्टिकोण से मानव शास्त्र की व्याख्या।
(4) विभिन्न आयामो पर कम बल्कि परिपक्वता के महत्व पर अधिक जोर देना।
(5) शारीरिक विकास एव मानसिक विकास मे सम्बन्ध।
(6) वृद्धि प्रदत्तों के आधार पर स्वास्थ्य समायोजन का मूल्याकन ।

क्रागमन (1940) द्वारा प्रतिपादित नवीन उपनतियाँ जो शारीरिक वृद्धि एव व्यवहार के परस्पर सम्बन्धियों के लिए उपयोगी है। इन नवीन उपनतियों के आधार पर अध्ययन करके विकास की दिशा का निरीक्षण किया जा सकना है। यदि इन उपनतियों को ध्यान मे वगैर रखे अध्ययन का प्रयास किया जाये तो विकास की पूरी तस्वीर का अध्ययन करना मुश्किल होगा। आगे विकास के विभिन्न आयामों की चर्चा करना महत्वपूर्ण होगा।

गर्भावस्था मे शारीरिक विकास
(Physical Development in Prenatal Stage)

जैसा कि हम सभी को इस बात का ज्ञान है कि प्राणी का शारीरिक विकास गर्भाधान के समय से आरम्भ होता है। गर्भाधान की ही अवधि में ही नवीन प्राणी का उद्‌भव होता है। गर्भाधान की प्रक्रिया उस समय आरम्भ होती है जब अण्डाणु (ovum) गर्भाशय के पास स्थित फेलोपियन ट्यूब में प्रत्येक मासिक चक्र के दरम्यान प्रवेश करता है तथा शुक्राणु उसे निषेचित करते हैं। नर एव मादा के लैगिक क्रिया के फलस्वरूप शुक्राणु का स्राव होता है तथा ये अण्डाणु को निषेचित करते हैं जिसके फलस्वरूप अण्डाणु एव शुक्राणुओ के केन्द्रक एक दूसरे की तरफ अग्रसर होते हैं और उसकी झिल्लियों का बिखडन होता है । दोनों परस्पर एक-दूसरे से मिलते हैं तथा एक नयी कोशिका का निर्माण होता है। यही नयी कोशिका नये जीवन की आधारशिला कहलाती है। गर्भावस्था का प्रसार 270-280 दिनों का होता है। गर्भाधान से लेकर शिशु के जन्म की अवधि को गर्भावस्था कहा जाता है। गर्भावस्था को 3 भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) **अण्डाणु अवस्था** (State of Ovum)—यह अवस्था गर्भधारण से लेकर द्वितीय सप्ताह तक मानी जाती है। इस अवस्था में निर्मित पिण्ड का आकार अण्डाकार होता है। इस अवस्था में कोशिका विखडन की प्रक्रिया जारी रहती है। इसमें माता के द्वारा पिण्ड को पोषक तत्व गर्भाशय मे प्रदान किये जाते हैं। यह पिण्ड गर्भाशय की दीवाल से सटा रहता है।

(2) **भ्रूणावस्था** (Embryonic stage)—यह अवस्था गर्भधारण के बाद द्वितीय सप्ताह से शुरू होकर दो माह के अन्त तक चलती है। उसमें भ्रूण का निर्माण हो जाता है। उस अवस्था मे परिवर्तन की गति अत्यधिक तीव्र होती है। इसी अवस्था में शरीर के विभिन्न अगों का विकास एव निर्माण शुरू हो जाता है। इस अवस्था में सिर का आकार अपेक्षाकृत बडा होता है। उस समय भ्रूण का वजन लगभग दो ग्राम होता है तथा उसकी लम्बाई एक से दो इंच की होती हैं। इसी अवस्था के दरम्यान आन्तरिक अगों का भी विकास शुरू हो जाता है। इस अवस्था मे विकास की गति तीव्र होती है इसलिए इसे तीव्र विकास की अवस्था भी कहते हैं।

(3) **गर्भस्थ शिशु की अवस्था** (The fetal stage)—गर्भावस्था की यह तीसरी महत्वपूर्ण अवस्था है। यह भ्रूणावस्था से शुरू होकर बच्चे के जन्म तक मानी जाती है। इस

अवस्था में शरीर के सभी अगों की वृद्धि होती है। नवजात शिशु के जन्म लेने के पूर्व शरीर के बाह्य एव आन्तरिक अगो का निर्माण हो चुका रहता है। यह अवस्था नवजात शिशु के जन्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती है तथा यह भी कहा जाता है कि यदि उस समय बच्चा समय से पूर्व जन्म ले ले तो वह जीवित रह सकता है।

नवजात शिशु की ऊँचाई 17" से लेकर 22" तक होती है। स्टुअर्ट, मेरेडिथ स्टोल्ज तथा वायले के अनुसार 1 वर्ष के बाद बच्चे की ऊँचाई 27" से लेकर 29" तक हो जाती हें। आठवे माह में वजन लगभग 7 या 7 5 पौण्ड तथा लम्बाई 20" हो जाती है परन्तु पॉचवें माह में वजन 10 औंस एव लम्बाई 10" होती है। सिर कें आकार में लगभग 8-9 गुना तथा हाथ-पाँव में लगभग 8 गुनी वृद्धि हो जाती है। गर्भावस्था में ज्ञानेन्द्रियो का भी विकास हो चुका रहता है। परन्तु सावेदिक क्षमता का विकास जन्म के बाद ही होता है। **वर्नार्ड एव सोन्टाग** (Bernard and Sontag 1947) का मत है कि जहॉ तक कान की क्षमता का प्रश्न है यह गर्भस्थ शिशु अनेक तीव्रताओं की ध्वनियो को ग्रहण करने में जन्म से कुछ सप्ताह पूर्व ही सफल हो सकता है। शारीरिक विकास का कार्य गर्भावस्था में तीव्रगति से चलता है। गर्भावस्था के दौरान अनेक परिवर्तन भी देखे जा सकते है। इन परिवर्तनों में शरीर के आकार का परिवर्तन, शारीरिक भागों के समानुपात में परिवर्तन प्राचीन आकृतियों का लोप तथा नवीन आकृतियों का अर्जन प्रमुख है। गर्भकालीन विकास को कुछ तत्व प्रभावित करते हैं जिनका चर्चा करना आवश्यक है।

गर्भकालीन विकास के निर्धारक
(Determintants of Pre-natal Development)

(1) पौष्टिक आहार (Nutrional Diets)

गर्भस्थ शिशु पर पौष्टिक आहार जो गर्भवती महिला को मिलता है उसके विकास पर प्रभाव डालता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि माता का स्वास्थ्य अच्छा रहने के लिए उसे गर्भधारण के समय पौष्टिक आहार की उचित व्यवस्था होनी चाहिये । पौष्टिक आहार के अभाव में माता का स्वास्थ्य खराब हो जाता है उसमें कमजोरी आ जाती है तथा पर्यावरण से समायोजन करने में समस्या होती है। इन सभी कारकों का सीधा प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर भी पडता है तथा बच्चा जन्म के पहले ही पैदा हो सकता है एव उसमें दुर्बलता कमजोरी आदि समस्याओ का सामना करना पडता है। इसलिए गर्भधारण के समय सतुलित भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अधिक पौष्टिक आहार का सेवन भी प्रसव के समय समस्या खडी कर सकता है। अधिक सेवन से बच्चे में मोटापन आ सकता है जिसके परिणामस्वरूप गर्भवती माता को प्रसव के समय अधिक पीडा होती है। वीटामिन्स कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन युक्त आहार समुचित मात्रा में देना चाहिए जिससे शरीर में इन तत्वों की कमी न होने पाये। प्रोटीन की समुचित मात्रा से बच्चे का विकास दर तीव्र होता है। उसकी लम्बाई तथा हड्डियों की मजबूती आदि पर आर्थिक प्रभाव पडता है। विटामिन ए की उचित मात्रा से दृष्टि क्षमता का विकास होता है तथा विटामिन डी की उचित मात्रा में हड्डियों का विकास होता है। विटामिन तथा पोषक तत्वों की कमी के फलस्वरूप मानसिक दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं तथा शारीरिक विकास के अन्य पक्षों का विकास भी अवरुद्ध हो सकता है।

(2) गर्भकालीन बीमारियाँ एव मानसिक तनाव
(Pre-natal Diseases and Mental Tension)

गर्भकालीन अवस्था में शिशु की माँ को शारीरिक या मानसिक बीमारियाँ बच्चे के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालती हैं। लम्बी गर्भकालीन बीमारी से गर्भपात भी हो सकता है तथा क्षय रोग व प्रमेह की शिकायत भी हो सकती है। सावेगिक उलझनों का प्रभाव भी बच्चों की

शारीरिक क्रियाशीलता तथा मानसिक विकास पर पहुँच सकता है। रच (Ruch 1967) बुडवर्थ (Woodworth 1948) तथा Hurlock (1957) एव आटिगर एव साइमन्स (Ottinger and simmons 1964) के अनुसार सावेगिक ऊलझन का सवाहन गर्भस्थ शिशु में देखा गया है। अटिगर एव साइमन्स (Ottinger and Simmons 1964) ने अपने अध्ययन में गर्भावस्था में माँ की चिन्ता का प्रभाव शिशु पर रोने के व्यवहार पर देखा तो पाया कि गर्भवती माताएँ जो चिन्तित रहती हैं उनके बच्चों में रोने की आवृत्ति ज्यादा होती है तथा उन गर्भवती माताओ में जो कम चिन्तित रहती है उनके उत्पन्न बच्चों में रोने की आवृत्ति कम देखी गयी। थामसन ने आटिगर एव साइमन्स के विचार को अपना समर्थन दिया है। स्टेचर (1964) ने यह विचार व्यक्त किया है कि गर्भावस्था के समय दवा आदि का सेवन कम से कम करना चाहिए। 1960 के दौरान प्राय एक दवा जिसका नाम थैलिडोमाइड था का व्यापक प्रयोग गर्भवती महिलाओं द्वारा किया जाता था । परन्तु उस दवा के अनेक दुष्परिणाम सामने आये जिससे इस दवा पर रोक लगा दी गयी । इस दवा के उपयोग से विकृत बच्चे पैदा होने लगे। अत गर्भकालीन बीमारियाँ तथा मानसिक तनाव का बुरा प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पडता है।

(3) मादक द्रव्यो का सेवन (Use of Intoxicating Drugs)

गर्भावस्था के अवधि में माताओं द्वारा मादक द्रव्यों का सेवन गर्भस्थ शुश के विकास को बुरी तरह प्रभावित करता है। यदि गर्भवती महिलाएँ शराब, धूम्रपान तथा अन्य नशीले पदार्थों का सेवन करती है तो शिशु का शारीरिक एव मानसिक विकास प्रभावित हो सकता है। सिम्पसन (simpson 1957) ने अपने अध्ययन से यह निष्कर्ष दिया कि धूम्रपान से शरीर में निकोटिन विषाक्त तत्व प्रवेश करता है जो रक्तचाप तथा हृदय गति को सामान्य प्रक्रिया को प्रभावित करता है। उसके फलस्वरूप बच्चे समय से पूर्व ही जन्म लेते हैं। इनके अध्ययन से यह परिणाम सामने आया कि धूम्रपान न करने वाली महिलाओं में से केवल 6 25 प्रतिशत महिलाओं ने समय से पूर्व बच्चे को जन्म दिये जबकि धूम्रपान करने वाली महिलाओं का समय से पूर्व जन्म देने वाले बच्चों का प्रतिशत 33 रहा। इसी प्रकार गोल्स्टीन (Goldsteine 1971) ने पाया कि गर्भवती माता द्वारा धूम्रपान की अधिकता उनसे उत्पन्न बच्चों की लम्बाई को कम करती है।

(4) उम्र का प्रभाव (Effect of Age)

माता-पिता की शारीरिक आयु बच्चों की मानसिक एव शारीरिक विकास को प्रभावित करती है। स्टेकल (Steekal 1931) तथा टरमन (Terman 1931) का अध्ययन यह निष्कर्ष देता है कि परिपक्व आयु में उत्पन्न बच्चे अधिक तीव्र मानसिक क्षमता वाले होते हैं तथा अपरिपक्व या कम उम्र में ही उत्पन्न बच्चों की मानसिक क्षमता मन्द होती है तथा इनका शारीरिक विकास मन्दगति से होता है। इस तरह माता एव पिता का यह कर्तव्य होता है कि बच्चों की शारीरिक एव मानसिक क्षमता के विकास हेतु कम उम्र में सतानोत्पत्ति न करें।

(5) ऋतु का प्रभाव (Effect of Season)

हरलाक (1972) ब्लैन्सकी (1929), पिन्टनर एव फारलैनो (1943) तथा पिन्टनर एव मालर (1937) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि बच्चों के शारीरिक एव मानसिक विकास पर ऋतु का भी प्रभाव पडता है। गर्भाधान के समय के आधार पर ही तो जन्म की ऋतु निर्भर करती है। इन मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष दिया है कि गर्मी की ऋतु में उत्पन्न बच्चों की विकास गति जाडे में उत्पन्न बच्चों की तुलना में तीव्र होती है। अत वृद्धि एव विकास के निर्धारक के रूप में ऋतु का महत्व गर्भधारण के समय तथा जन्म के समय दोनों अवसरों पर होता है।

नवजात शिशु
(The Neonate)

माता के गर्भ में 280 दिनों तक रहने के बाद एक बच्चे का जन्म होता है जिसे शिशु (Neonate) कहते हैं। बच्चों का जन्म समय से पूर्व तथा समय से भी दोनों हो सकता है। यदि बच्चे का जन्म समय पूर्व हो जाता है तो उसका उचित शारीरिक एव मानसिक विकास समय से हुए बच्चे की तुलना में विलम्ब से होता है तथा उचित रूप में नही होता है।

एक प्रचलित धारणा यह भी है कि लडकियों का जन्म लड़कों की तुलना में विलम्ब से होता है। यह विस्तृत सर्वेक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष मिलता है कि बच्चो का वजन लम्बाई तथा सिर की परिधि समय से पूर्व जन्म लिए बच्चों का कम होता है (Kjolseth, 1931)। नवजात शिशु का शारीरिक अनुपात वयस्कों के शारीरिक अनुपात से भिन्न होता है। जन्म के समय शिशु के सिर की व्यासपरिधि 12" 14" रहती है तथा जन्म के समय मस्तिष्क का भार 350 ग्राम होता है। बच्चों का सिर बच्चियों की तुलना में बडा होता है। जन्म के समय सिर का भार पूरे शरीर के भार का 22 प्रतिशत होता है। Braum and Searls (1971) के अनुसार शिशु की खोपडी एव चेहरे का अनुपात 1/8 और प्रौढो में 1/2 होती है। जन्म के समय बच्चे के सिर की लम्बाई शरीर की लम्बाई का 1/10 तथा प्रौढो में यह अनुपात 1/7 का होता है।

सामान्यत नवजात शिशु की लम्बाई 17" 22" तक की होती है। स्टुअर्ट, मेरिडिथ, स्टोल्ज तथा वायले के अनुसार 9 वर्ष के पश्चात् बच्चे की लम्बाई 27" से 29" तक हो जाती है। जन्म के समय नवजात शिशु का भार 5 पौण्ड से लेकर 8 पौण्ड तक होता है। जन्म के समय लडकियाँ का भार लडकों की तुलना में कम होता है। 9 वर्ष में यह ५ तिगुना हो जाता है। गेसेल (1939) के अनुसार दूसरे एव तीसरे वर्ष में 3 से लेकर 5 पौण्ड तक सालाना वजन में वृद्धि होती है। शरीर भार में भी व्यक्तिगत विभिन्नताएँ वशानुक्रम, जाति, सामाजिक-आर्थिक स्तर और पोषाहार आदि के कारण होती है। मेरेडिथ (Meredith 1957) के अनुसार अच्छी सामाजिक-आर्थिक स्थिति वाले बालक खराब सामाजिक आर्थिक स्थिति वाले बालकों से अधिक भार वाले होते हैं। अस्थियों का मासपेशियों, चर्बी तथा नाडीतन्त्र का विकास शारीरिक अनुपात व वनावट आदि के कारण होता है।

जन्म के समय नवजान शिशु क्रन्दन (crying) करता है। यह क्रन्दन तीव्र और शक्तिशाली होता है। प्राय भूख, पीडा, बेचैनी आदि के कारण शिशु क्रन्दन करता है। रोने के अतिरिक्त नवजात शिशु विस्फोटक ध्वनियाँ भी करते हैं जिसमें गर्गाहट तथा घर्घाहट की आवाज निकलती है। जन्म के 5 मिनट के बाद जम्हाई की ध्वनि सुनाई पडती है । तत्पश्चात् हिचकी की ध्वनि भी जीवन के प्रथम चरण में आरम्भ हो जाती है।

वेले एव डेनिस (Baley and Davnis 1968) के अनुसार बालक की प्रारम्भिक अवस्था में शरीर के साधारण आकार और अनुपात में बहुत बडा परिवर्तन होता है। शैशवावस्था में धड बेडौल रहता है। उस समय उसके शरीर भार में ऊँचाई की अपेक्षा अधिक अभिवृद्धि होती है। जन्म के समय शिशुओं के पैर छोटे तथा हाथ लम्बे होते हैं और साथ ही साथ उनके हाथ के पजे भी। परन्तु, ज्यों-ज्यों उनकी आयु बढती जाती है त्यों त्यों उनके हाथ पैर बढते चले जाते हैं। जन्म से लेकर दूसरे वर्ष तक उनकी भुजाएँ और हाथ लगभग 75 प्रतिशत और पैर लगभग 40 प्रतिशत बढते हैं। इस प्रकार के प्रारम्भिक अवस्था में भुजा भारी रहती है और पैरों का विकास मन्दगति से होता है।

नवजात शिशु के आकार, ऊँचाई वजन तथा अन्य विशेषताओं पर अन्य कारकों का भी प्रभाव पड सकता है। केट्स एव गुडविन (Cates ana Goodwin 1936) के अनुसार

बालकों का वजन एव ऊँचाई बालिकाओ से क्रमश 4 एव 2 प्रतिशत ज्यादे होती है। Schultz 1926, Scammon and Calkins 1929 आदि ने शिशु के आकार एव इत्यादि पर लैंगिक भिन्नता (Sex differences) का भी प्रभाव देखा है। **ब्रेन्टन** (Brenton 1922) और मैरेडिथ (Meredith 1957) तथा मेरेडिथ एव ब्राऊन (Meredith and Brown 1939) ने प्रजातीय कारकों के कारण नवजाल शिशुओं के वजन एव ऊँचाई इत्यादि मे महत्वपूर्ण अन्तर नही प्राप्त किये।

जन्म के बाद शारीरिक विकास
(Post natal Physical Development)

जन्मोपरान्त नवजात शिशु मे जो शारीरिक वृद्धि होती है उसे जन्मोपरान्त शारीरिक विकास की सज्ञा दी जाती है। स्कैमन (Scammon 1980) के अनुसार जन्म के पश्चात् विभिन्न आयामों में होने वाली विकास की गति कुछ अवधियों में तीव्र तथा कुछ मे मन्द पाई जाती है। **उदाहरणार्थ**—शैशवावस्था में होने वाली विकास की गति तीव्र होती है जबकि बाल्यावस्था में गति लगभग स्थिर हो जाती है। तत्पश्चात् 8-10 वर्ष में गति तीव्र होती है एव किशोरावस्था तक यह गति तीव्र ही बनी रहती है। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि कुछ अवस्थाओं में विकास की गति तीव्र तथा कुछ में मन्द होती है। विकास प्रक्रिया में पाई जाने वाली उस विशेषता को विकास चक्र (Growth Cycle) कहते हैं। हरलाक (Hurlock 1950) के अनुसार शरीर के विभिन्न अगों के वृद्धि की गति अलग अलग होती है और प्रत्येक अग में परिपक्वता आने का समय भी भिन्न भिन्न होता है। मासपेशियाँ, हड्डियाँ, फेफडों एव जननागों में वृद्धि चक्र की अवधि में लगभग 20 गुना वृद्धि होती है जबकि आँख, नाक, मस्तिष्क एव कुछ अन्य अगों में वृद्धि की गति अपेक्षाकृत कम होती है। उसका कारण यह है कि जन्म के समय इन अगों की वृद्धि हो चुकी रहती है।

रेनाल्डस् एव सानटेग (Renalds and Sontag 1944) ने यह व्यक्त किया है कि वर्ष के विभिन्न माहों में शरीर के विभिन्न आयामों की वृद्धि दर अलग-अलग होती है। **उदाहरणार्थ**—बच्चे के वजन में जुलाई से मध्य दिसम्बर तक वृद्धि होती है। इस अवधि में फरवरी से जून तुलना में वजन में अधिक चार गुना वृद्धि होती है। उसी प्रकार अप्रेल से मध्य अगस्त तक ऊँचाई में सर्वाधिक वृद्धि होती है और वजन की गति मन्द होती है। वजन में अगस्त से नवम्बर के अन्त तक अधिकतम वृद्धि देखी जा सकती है। जन्मोपरान्त शरीर के विभिन्न आयामों में होने वाली विकास की सामान्य चर्चा करना यहाँ अवश्यक है।

(1) लम्बाई मे वृद्धि (Growth in height)

प्रथम दो वर्षों में लम्बाई में तेजी से वृद्धि होती है। **हरलाक** (Hurlock 1950) के अनुसार प्रारम्भ के चार महीनों में बच्चे की लम्बाई लगभग 23 से 24" तथा प्रथम वर्ष पूरा होने पर 27-29" तक हो जाती है। 6 वर्ष की आयु में बच्चों की ऊँचाई 40" रहती है (Meredith 1975 एव Tanner 1970)। 12 वर्ष की अवस्था तक यह ऊँचाई 55-58" तक हो जाती है। बारहवें वर्ष में बालक-बालिकाओं की तुलना में कम लम्बे होते हैं। किशोरावस्था में तीव्रगति से परिवर्तन होता है। 18 या 19 वर्ष की आयु में यह लम्बाई 62 से लेकर 72" तक पहुँच जाती है। किशोरियों की ऊँचाई 64" तक होती है। 25 वर्ष की आयु के बाद यह लम्बाई स्थिर हो जाती है। साइमन्स (Simmons 1974) ने यह पाया है कि लडकियाँ लडकों की अपेक्षा पूर्ण ऊँचाई पहले ही प्राप्त कर लेती हैं।

Hurlock (1975) तथा Meredith (1975) ने प्रजातीय कारकों का प्रभाव ऊँचाई पर प्राप्त किया। नेपाली बच्चे एव चीनी बच्चे अफ्रीकी एव जर्मनी के बच्चों से काफी छोटे

होते है। मेरेडिथ (1975) ने यह भी बताया है कि सतुलित भोजन के अभाव मे ऊँचाई प्रभावित होती है। हालिंगवर्थ (Hollingworth (1926) के अनुसार प्रतिभावान बच्चों की लम्बाई सामान्य बच्चो की तुलना में अधिक होती है। इसी प्रकार काटज (Katz) 1940 ने भी कहा है कि अतिश्रेष्ठ लडकियॉ श्रेष्ठों की तुलना में और श्रेष्ठ लडकियाँ औसत लडकियो की तुलना मे अधिक लम्बी होती हैं तथा इनका वजन भी अधिक होता है। यद्यपि उपर्युक्त शोध ऐसा सम्बन्ध बुद्धिलब्धि एव लम्बाई में प्रदर्शित कर रहे हैं परन्तु अभी इस विषय में और शोध करने की आवश्यकता है।

(2) वजन मे वृद्धि (Growth in Weight)

जन्म के समय नवजात शिशु का भार मात्र 5 पौण्ड से लेकर 8 पौण्ड तक का होता है। साधारण तथा जन्म के समय बच्चियाँ बच्चो की तुलना में कम वजन वाली होती हैं। 1 वर्ष में यह वजन तीन गुना हो जाता है तथा गैसेल (1939) के अनुसार दूसरे तीसरे वर्ष में 3-5 पौण्ड तक वार्षिक वजन में वृद्धि होती है। 5 वर्ष की आयु में बच्चा 35 40 पौण्ड वजन का हो जाता है। और 6 वर्ष की आयु मे 40-45 पौण्ड का तथा 12 वर्ष की आयु में 85-90 पौण्ड का हो जाता है। किशोरावस्था में वजन में वृद्धि होती है तथा 16 वर्ष में यह 115 120 पौण्ड तक पहुॅच जाती है। वजन का बढन्ग स्थायी नही रहता है। यह 50 वर्ष की आयु तक बढता ही जाता है। 13 14 वर्ष की आयु मे लडकियों की छाती और कूल्हे बढने से उनका शरीर भार लडको की अपेक्षा अधिक होता है। शारीरिक भार पर भी व्यक्तिगत विभिन्नताऍ देखने को मिलती हैं। प्राय समान आयु के लडकों का वजन लडकियों से अधिक होता है।

हलिंग वर्थ (Hollinworth 1926) के अनुसार प्रतिभा सम्पन्न बच्चों का वजन औसत या मन्द बुद्धि के बच्चों की तुलना में अधिक होता है।

मेरेडिथ (Meredith 1941) के अनुसार अमेरिका मे आज के बच्चो का वजन अर्धशताब्दी पहले के बच्चों से लगभग 15% अधिक होता है । वजन पर प्रतिवर्ष भोजन एव बीमारी इत्यादि का प्रभाव भी पडता है।

शारीरिक अनुपात (Physical Proportions)

जन्म के समय बच्चे के शरीर का जो समानुपात होता है उसमें आगे चलकर काफी परिवर्तन होता है। आयु में वृद्धि के साथ-साथ केवल ऊॅचाई एव भार में ही नही बल्कि शारीरिक अगों के समानुपातों में भी परिवर्तन दृष्टिगत होता है। किशोरवास्था में शरीर के सभी अगों के आयामों में परिपक्व समानुपात आ जाता है। प्रत्येक किशोर देखने में प्रौढ लगने लगते हैं। यहाँ पर शरीर के कुछ अगों की समानुपातिक वृद्धि की चर्चा आवश्यक है।

(1) सिर का समानुपात (Proportions of the Head)

जन्म के समय शिशु के सिर का व्यास 12 14" रहती है। जन्म के समय मस्तिष्क का भार लगभग 350 ग्राम होता है। और प्रौढावस्था तक 1200 1400 ग्राम तक हो जाता है। जन्म के समय सिर का भार पूरे शरीर के भार का 22% होता है। वाशवाशवनेश (Washwashnesh 1959) का कथन है कि प्रथम वर्ष में 35% तथा पॉचवें वर्ष तक 48% सिर का भार बढ जाता है। बारहवें वर्ष में 10 और अठारहवें वर्ष में 8 प्रतिशत तक बढ जाता है। परिपक्वावस्था तक सिर में दुगुनी वृद्धि पायी जाती है। Boyd (वायड 1935) के अनुसार सिर का जो समानुपात जन्म के समय रहता है वह 5 वें, 12वें तथा 18वें वर्ष में क्रमश 13%, 10% एव 8% रह जाता है। जन्म के समय सिर की खोपडी बडी होती है। इस समय इसका समानुपात 1 से 8 का होता है। इस समय हमरेण्ड (Hemrand 1953) के अनुसार चेहरे और खोपडी में 5 वर्ष की अवस्था में यह समानुपात 1 5 का और परिपक्वास्था में 1 2° 5 का

होता है। जन्म से किशोरावस्था तक खोपडी का विकास मन्दगति से होता है और तरुणावस्था के पश्चात् का विकास रुक जाता है। शैशवावस्था में मस्तिष्क, नेत्र गोलक पूर्वबाल्यावस्था में वायु-शिरानाला तथा उत्तरबाल्यावस्था और किशोरावस्था मे दाँतों के निकलने और मॉसपेशियों की अभिवृद्धि से सिर के अनुपातिक विकास पर प्रभाव पडता है। प्रथम वर्ष में सिर की परिधि तीसरे वर्ष की परिधि की 2/3 होती है। 6 वर्ष में प्रौढ आकार की 90% होती है और बारहवें वर्ष में प्रौढ आकार का 95% होती है। प्रत्येक अवस्था मे बालिकाओं की सिर का समानुपात बालकों की तुलना में कम होता है।

(ii) मुखाकृति का समानुपात (Proportion of Face)

जन्म के समय सिर का उपरी भाग मुखाकृति की तुलना मे बडा प्रतीत होता है। 5 या 6 वर्ष की आयु तक चेहरा सिर की तुलना में बहुत छोटा प्रतीत होता है। उसका मुख्य कारण यह है कि प्रारम्भ में बालकों में बड़े दाँत नही निकलते हैं। जब बालक में स्थायी दाँतों के निकलने की प्रक्रिया आरम्भ होती है और जबडे तथा हड्डी का विकास हो जाता है तब चेहरा कुछ लम्बा प्रतीत होने लगता है। 8 या 9 माह में चेहरे का निचला भाग उपरी भाग की तुलना में अधिक बढता है। क्रागमैन (Crogman 1939) के अनुसार जन्म से लेकन 6 वर्ष की अवस्था तक चेहरे या मुखाकृति का निचला भाग शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में दॉत के अभाव में छोटा लगता है। प्रथम 7 वर्ष में चेहरे की हड्डियों का विकास हो जाता है तथा किशोरावस्था तक माथा चपटा और चेहरा आयाताकार हो जाता है।

जन्म के समय शिशु की नाक चौडी, चपटी व बेडौल होती है परन्तु नाक की उपस्थि ज्यों-ज्यों बढनी है त्यों-त्यों उसमें सुडौलपन दिखायी देने लगती है। 13-14 वर्ष की आयु में नाक का पूर्ण रूप से विकास हो जाता है। इसी आयु में बालक परिपक्वता को प्राप्त करता है तथा उसके नाक में बाल दिखायी देने लगते हैं।

(iii) धड का समानुपात (Proportions of Trunk)

शारीरिक समन्वय एव सन्तुलन के लिए धड का उचित विकास होना आवश्यक है। Bayley and Danis (1937) के अनुसार बालक की प्रारम्भिक अवस्था में शरीर के साधारण आकार और अनुपात में बहुत बडा परिवर्तन होता है। शैशवावस्था में धड में बेडौलपन होता है। इस सयम बालक के शरीर के भार में ऊँचाई की अपेक्षा अधिक्र वृद्धि होती है। 6 वर्ष की आयु में उसके धड की लम्बाई तथा चौडाई में दोगुनी वृद्धि होती है। तत्पश्चात् उसके शरीर में दौर्वल्यपन आ जाता है और किशोरावस्था में चौडाई में वृद्धि होती है और लम्बाई में लगभग 50% वृद्धि होती है। किशोरावस्था में छाती चौडी और लम्बी हो जाती है और कूल्हें में भी वृद्धि दिखायी देती है। 14 से 17 वर्ष की आयु में सर्वाधिक वृद्धि देखी जाती है तथा इसी समय लडके तथा लडकियों में लैंगिक आभास से सम्बन्धित अगों या जननागों का अधिक विकास होता है।

(iv) हाथ व पैर का समानुपात (Proportions of Hand and Legs)

जन्मजात शिशु के पैर छोटे तथा हाथ लम्बे होते हैं। धीरे-धीरे जब आयु में वृद्धि होती है तो उनके हाथों एव पैरों में भी वृद्धि होती है। जन्म से लेकर दूसरे वर्ष तक उनकी भुजाएँ और हाथ लगभग 75% और पैर लगभग 40% बढते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में भुजा भारी रहती हैं तथा पैरों का विकास मन्दगति से होता है। 8 वर्ष की आयु में हाथ 50% बढते हैं तथा 8 से 18 वर्ष की आयु में भुजाओं की विकास गति धीरे-धीरे बढ जाती है। परन्तु पैर चौगुने और किशोरावस्था में पाँच गुने बढ जाते हैं। लडकियों की अपेक्षा लडकों के पैर के आकार अक्सर बडे होते हैं।

(4) हड्डियो का विकास (Development of Bones)

एक्सरे परीक्षण के आधार पर Bayley (1940) Flory and Todd (1940) ने यह निष्कर्ष दिया है कि शिशु की प्रारम्भिक अवस्था में अस्थियों का विकास तीव्रगति से होता है। बाल्यावस्था में उनके विकास की गति कुछ मन्द हो जाती है। परन्तु किशोरावस्था में पुन तीव्रगति ले लेती है। तरुणावस्था में हाथ, पैर और कूल्हों की अस्थियाँ विशेष रूप से वृद्धि करती हैं। मुखाकृति की हड्डी में वृद्धि होने से इसका रूप बदल जाता है। जन्मोपरान्त शिशु में मात्र 270 हड्डियाँ छोटी, लचीली और कोमल होती हैं। 13 14 वर्ष की आयु में इसमें वृद्धि होती है और 370 तक पहुँच जाती हैं ।

तत्पश्चात प्रौढावस्था में घटकर मात्र 206 रह जाती हैं। सर्वप्रथम उपास्थि से हाथ पैर की हड्डियों का निर्माण होती है तथा प्रोटीन के समान तत्व तथा खनिज पदार्थ की मात्रा हड्डियों में प्रारम्भिक आयु में कम होती है। आयु में वृद्धि के साथ ही साथ हड्डियों में कडापन एव मजबूती आती है। चूना, फासफोरस और खनिज लवण के कारण हड्डियाँ में कडापन आता है। लडको की अपेक्षा लडकियो की कलाई की हड्डियाँ अधिक कोमल और लचीली होती हैं। ग्रलिथ और पारले (Grahth and Parley 1939) के अनुसार गम्भीर बीमारी तथा कुपोषण से हड्डियों का विकास अवरुद्ध हो जाता है। बचपन में छोटे जूते पहनने से भी पैर की हड्डियों में वृद्धि को बाधा पहुँचती है।

(5) दाँतो का विकास (Development of Teeth)

सामान्यत 6 से 8 माह की अवस्था में दाँत निकलते हैं । दाँतों के निकलते समय बच्चे को अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पडते हैं। इसमें दस्त तथा भूख कम लगने की शिकायत मिलती है। बच्चे क्षीणकाय हो जाते हैं तथा उनमें चिडचिडापन भी आ जाता है। बालकों के दो प्रकार के दाँत निकलते हैं एक अस्थायी या दूध के दाँत और दूसरे स्थायी दाँत। दूध के दाँतों की सख्या 20 और स्थायी दाँतों की सख्या 32 होती है। 3 वर्ष की आयु तक अस्थायी दाँत पूर्णरूप से निकल आते हैं। क्लीन और पामर (Klein and Palmer) के अनुसार 6 वर्ष की आयु में स्थायी दाँतों का उद्भव होता है तथा उसी समय से अस्थायी दाँतों का गिरना आरम्भ होता है। 8 वर्ष में 17 दाँत, 10 वर्ष में लगभग 15 दाँत और 12 वर्ष में 25 दाँत तथा 13 या 14 वर्ष की आयु में प्राय सभी स्थायी दाँत निकल आते हैं। विवेक दाँत (Wisdom teeth) 20-25 वर्ष की आयु में दिखायी देते हैं।

लडकियों की तुलना में लडकों में दाँत पहले दिखायी देते हैं। दाँतों के विकास में कैलसियम, फासफोरस विटामिन ए, डी, सी और पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है। लेविस का कथन है कि अधिक समय तक अँगूठा चूसने से स्थायी दाँतों पर बुरा प्रभाव पडता है। पोंचर (1941) के अनुसार प्राय 10 माह, $2\frac{1}{2}$ और पाँच वर्ष की आयु में उपापचयात्मक और कोशीय व्यतिक्रम के उत्पन्न होने से भी दाँत के विकास पर बुरा प्रभाव पडता है। कोहेन एव एण्डरसन (Cohen & Anderson, 1931) के अनुसार सामान्य मानसिक योग्यता के बच्चों में मन्द मानसिक योग्यता के बच्चों की तुलना में प्रत्येक आयु स्तर पर दाँतों की सख्या अधिक होती है। एण्डरसन तथा गुडएनफ (Anderson and Goodenough 1930) ने अस्थायी एव स्थायी दाँतों के निकलने का स्थल तथा आयु को निम्न तरह से दर्शाया है।

होता है। जन्म से किशोरावस्था तक खोपडी का विकास मन्दगति से होता है और तरुणावस्था के पश्चात् का विकास रुक जाता है। शैशवावस्था में मस्तिष्क, नेत्र गोलक, पूर्वबाल्यावस्था में वायु-शिरानाला तथा उत्तरबाल्यावस्था और किशोरावस्था मे दाँतों के निकलने और मॉसपेशियों की अभिवृद्धि से सिर के अनुपातिक विकास पर प्रभाव पडता है। प्रथम वर्ष में सिर की परिधि तीसरे वर्ष की परिधि की 2/3 होती है। 6 वर्ष में प्रौढ आकार की 90% होती है और बारहवें वर्ष में प्रौढ आकार का 95% होती है। प्रत्येक अवस्था मे बालिकाओं की सिर का समानुपात बालकों की तुलना में कम होता है।

(ii) मुखाकृति का समानुपात (Proportion of Face)

जन्म के समय सिर का ऊपरी भाग मुखाकृति की तुलना मे बडा प्रतीत होता है। 5 या 6 वर्ष की आयु तक चेहरा सिर की तुलना में बहुत छोटा प्रतीत होता है। उसका मुख्य कारण यह है कि प्रारम्भ में बालकों में बड़े दाँत नही निकलते हैं। जब बालक में स्थायी दाँतों के निकलने की प्रक्रिया आरम्भ होती है और जबडे तथा हड्डी का विकास हो जाता है तब चेहरा कुछ लम्बा प्रतीत होने लगता है। 8 या 9 माह में चेहरे का निचला भाग ऊपरी भाग की तुलना में अधिक बढता है। क्रागमैन (Crogman 1939) के अनुसार जन्म से लेकन 6 वर्ष की अवस्था तक चेहरे या मुखाकृति का निचला भाग शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में दाँत के अभाव में छोटा लगता है। प्रथम 7 वर्ष में चेहरे की हड्डियों का विकास हो जाता है तथा किशोरावस्था तक माथा चपटा और चेहरा आयाताकार हो जाता है।

जन्म के समय शिशु की नाक चौडी, चपटी व बेडौल होती है परन्तु नाक की उपस्थि ज्यों-ज्यों बढनी है त्यों-त्यों उसमें सुडौलपन दिखायी देने लगती है। 13-14 वर्ष की आयु में नाक का पूर्ण रूप से विकास हो जाता है। इसी आयु में बालक परिपक्वता को प्राप्त करता है तथा उसके नाक में बाल दिखायी देने लगते हैं।

(iii) धड का समानुपात (Proportions of Trunk)

शारीरिक समन्वय एव सन्तुलन के लिए धड का उचित विकास होना आवश्यक है। Bayley and Danis (1937) के अनुसार बालक की प्रारम्भिक अवस्था में शरीर के साधारण आकार और अनुपात में बहुत बडा परिवर्तन होता है। शैशवावस्था में धड में बेडौलपन होता है। इस सयम बालक के शरीर के भार में ऊँचाई की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है। 6 वर्ष की आयु में उसके धड की लम्बाई तथा चौडाई में दोगुनी वृद्धि होती है। तत्पश्चात् उसके शरीर में दौर्वल्यपन आ जाता है और किशोरावस्था में चौडाई में वृद्धि होती है और लम्बाई में लगभग 50% वृद्धि होती है। किशोरावस्था में छाती चौडी और लम्बी हो जाती है और कूल्हें में भी वृद्धि दिखायी देती है। 14 से 17 वर्ष की आयु में सर्वाधिक वृद्धि देखी जाती है तथा इसी समय लडके तथा लडकियों में लैंगिक आभास से सम्बन्धित अगों या जननागों का अधिक विकास होता है।

(iv) हाथ व पैर का समानुपात (Proportions of Hand and Legs)

जन्मजात शिशु के पैर छोटे तथा हाथ लम्बे होते हैं। धीरे-धीरे जब आयु में वृद्धि होती है तो उनके हाथों एव पैरों में भी वृद्धि होती है। जन्म से लेकर दूसरे वर्ष तक उनकी भुजाएँ और हाथ लगभग 75% और पैर लगभग 40% बढते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में भुजा भारी रहती हैं तथा पैरों का विकास मन्दगति से होता है। 8 वर्ष की आयु में हाथ 50% बढते हैं तथा 8 से 18 वर्ष की आयु में भुजाओं की विकास गति धीरे-धीरे बढ जाती है। परन्तु पैर चौगुने और किशोरावस्था में पाँच गुने बढ जाते हैं। लडकियों की अपेक्षा लडकों के पैर के आकार अक्सर बडे होते हैं।

(4) हड्डियो का विकास (Development of Bones)

एक्सरे परीक्षण के आधार पर Bayley (1940) Flory and Todd (1940) ने यह निष्कर्ष दिया है कि शिशु की प्रारम्भिक अवस्था में अस्थियों का विकास तीव्रगति से होता है। बाल्यावस्था में उनके विकास की गति कुछ मन्द हो जाती है। परन्तु किशोरावस्था में पुन तीव्रगति ले लेती है। तरुणावस्था में हाथ पैर और कूल्हों की अस्थियाँ विशेष रूप से वृद्धि करती हैं। मुखाकृति की हड्डी में वृद्धि होने से इसका रूप बदल जाता है। जन्मोपरान्त शिशु में मात्र 270 हड्डियाँ छोटी, लचीली और कोमल होती हैं। 13-14 वर्ष की आयु में इसमें वृद्धि होती है और 370 तक पहुँच जाती हैं ।

तत्पश्चात प्रौढावस्था में घटकर मात्र 206 रह जाती हैं। सर्वप्रथम उपास्थि से हाथ पैर की हड्डियों का निर्माण होती है तथा प्रोटीन के समान तत्व तथा खनिज पदार्थ की मात्रा हड्डियों में प्रारम्भिक आयु में कम होती है। आयु में वृद्धि के साथ ही साथ हड्डियों में कडापन एव मजबूती आती है। चूना, फासफोरस और खनिज लवण के कारण हड्डियाँ में कडापन आता है। लडको की अपेक्षा लडकियो की कलाई की हड्डियाँ अधिक कोमल और लचीली होती हैं। ग्रलिथ और पारले (Gralith and Parley 1939) के अनुसार गम्भीर बीमारी तथा कुपोषण से हड्डियों का विकास अवरुद्ध हो जाता है। बचपन में छोटे जूते पहनने से भी पैर की हड्डियों में वृद्धि को बाधा पहुँचती है।

(5) दॉतो का विकास (Development of Teeth)

सामान्यत 6 से 8 माह की अवस्था में दाँत निकलते हैं । दाँतों के निकलते समय बच्चे को अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पडते हैं। इसमें दस्त तथा भूख कम लगने की शिकायत मिलती है। बच्चे क्षीणकाय हो जाते हैं तथा उनमें चिडचिडापन भी आ जाता है। बालकों के दो प्रकार के दाँत निकलते हैं एक अस्थायी या दूध के दाँत और दूसरे स्थायी दाँत। दूध के दाँतों की सख्या 20 और स्थायी दाँतों की सख्या 32 होती है। 3 वर्ष की आयु तक अस्थायी दाँत पूर्णरूप से निकल आते हैं। क्लीन और पामर (Klein and Palmer) के अनुसार 6 वर्ष की आयु में स्थायी दाँतों का उद्भव होता है तथा उसी समय से अस्थायी दाँतों का गिरना आरम्भ होता है। 8 वर्ष में 17 दाँत, 10 वर्ष में लगभग 15 दाँत और 12 वर्ष में 25 दॉत तथा 13 या 14 वर्ष की आयु में प्राय सभी स्थायी दाँत निकल आते हैं। विवेक दाँत (Wisdom teeth) 20-25 वर्ष की आयु में दिखायी देते हैं।

लडकियों की तुलना में लडकों में दाँत पहले दिखायी देते हैं। दाँतों के विकास में कैलसियम, फासफोरस विटामिन ए, डी, सी और पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है। लेविस का कथन है कि अधिक समय तक अँगूठा चूसने से स्थायी दाँतों पर बुरा प्रभाव पडता है। पोंचर (1941) के अनुसार प्राय 10 माह, $2\frac{1}{2}$ और पाँच वर्ष की आयु में उपापचयात्मक और कोशीय व्यतिक्रम के उत्पन्न होने से भी दाँत के विकास पर बुरा प्रभाव पडता है। कोहेन एव एण्डरसन (Cohen & Anderson, 1931) के अनुसार सामान्य मानसिक योग्यता के बच्चों में मन्द मानसिक योग्यता के बच्चों की तुलना में प्रत्येक आयु स्तर पर दाँतों की सख्या अधिक होती है। एण्डरसन तथा गुडएनफ (Anderson and Goodenough 1930) ने अस्थायी एव स्थायी दाँतों के निकलने का स्थल तथा आयु को निम्न तरह से दर्शाया है।

अस्थायी दाँत			स्थायी दाँत		
जबडा	दाँतो के नाम	आयु माह	जबड़ा	दाँतो के नाम	आयु (वर्ष)
	Central Incisor	8-12		Central Incisor	7 8
	Lateral Incisor	8 12		Lateral Incisor	7 8
	Canine			Cuspid or	12-14
	(Eye tooth)	18 22		Canine	
उपरी	First Molar	12 16	उपरी	First Bicuspid	9 12
	Second Molar	24-32		Second Bicuspid	9 2
				First Molar	6
				Second Molar	12 15
				Third Molar	
				(wisdom teeth)	17 25
	Central Incisor	6 8		Central Incisor	7 8
	Lateral Incisor	10 14		Lateral Incisor	7 8
	Canine			Cuspid or canine	12 14
	(Eye tooth)	18-22	निचला	First Bicuspid	9-12
निचला	First Molar	12-16		Second Bicuspid	9 12
	Second Molar	24 32		First Molar	6
				Second Molar	12 15
				Third Molar	17 25

स्रोत—(एण्डरसन तथा गुडएनफ (1930) पैरेन्ट मैग्जीन से)

(6) तत्रिका तत्र का विकास (Development of Nervous System)

बच्चों में तत्रिकातत्र का विकास जन्मपूर्व और जन्मोपरान्त तीन या चार वर्षों तक बहुत तीव्रगति से चलता है। गर्भावस्था में मुख्य रूप से स्नायुकोषो की सख्या एव आकार में वृद्धि होती है । जन्म के समय जो कोश अपरिपक्व रह जाते हैं उनका विकास जन्मोपरान्त होता है। तत्रिकातत्र का प्रमुख भाग मस्तिष्क है। कुछ अध्ययनों से यह पता चलता है कि मस्तिष्क का विकास जन्म के पश्चात 4 वर्षों तक तीव्रगति से होता है तत्पश्चात् अगले 4 वर्षों में विकास की गति धीमी हो जाती है। तत्पश्चात् फिर गति में तेजी आती है और 8वें वर्ष से 16वें वर्ष के मध्य तक यह गति तीव्र रहती है। इसी अवधि में मस्तिष्क परिपक्व हो जाता है। जन्म के समय मस्तिष्क का वजन 350 ग्राम होता है। जबकि प्रौढ मस्तिष्क का भार 1200-1400 ग्राम तक होते हैं। जन्म के समय मस्तिष्क का वजन प्रौढ मस्तिष्क का 1/4 होता है। 9वें माह में 1/2, दूसरे वर्ष में 3/4, चौथे वर्ष में 4/5 तथा छठे वर्ष में उसका वजन लगभग 90% के बराबर हो जाता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जन्म के समय मस्तिष्क का भार शरीर के भार का 1/8 होता है। 10 वर्ष में 1/18 तथा पन्द्रहवें वर्ष में 1/30 तथा परिपक्वावस्था में 1/40 होता है।

मस्तिष्क के विकास की गति किशोरावस्था में मन्द होती है। परन्तु बल्कुटीय उत्तकों के विकास की प्रक्रिया जारी रहती है। आठवें वर्ष के अन्त तक मस्तिष्क का आकार लगभग

परिपक्वता को प्राप्त कर लेता है परन्तु प्रमास्तिष्कीय साहचर्य मार्गों (Inter cerebral Association Tracks) का विकास एव भूरे पदार्थ (Gray Matter) के निर्माण का कार्य पूरा नही हुआ रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मस्तिष्क का विकास एक आन्तरिक प्रक्रिया है और इसकी पूरी जानकारी केवल मस्तिष्क के आकार और वजन के आधार पर नही किया जा सकता है। Fernstorns and wourtman 1974, Tanner 1970)

(7) आन्तरिक अगो का विकास (Development of Internal organs)

बच्चो की आयु मे वृद्धि के फलस्वरूप केवल उनके बाह्य अगों, वजन, ऊँचाइ मे ही वृद्धि नहीं होती है बल्कि बच्चों के आन्तरिक अगों का भी विकास होता रहता है। इन आतरिक अगो में श्वसन प्रणाली रक्तसचार प्रणाली एव पाचनतत्र आदि प्रमुख हैं। इन उपर्युक्त तत्रो के समुचित विकास से शारीरिक विकास भी उचित रूप से होता हैं। जन्म के समय जब श्वास क्रिया का प्रारम्भ होता है तब फेफडों का विकास होने लगता है । जन्म के समय फेफडों का आकार छोटा होता है। 12 वर्ष की आयु में सिर और फेफडे का विकास और आकार एक जैसा होता है। 15 वर्ष की अवस्था में सिर और छाती के आकार में 2 3 का और प्रौढावस्था मे 3 5 का समानुपात होता है। किशोरावस्था में फेफडों का आकार, आयतन और वजन बढ जाता है और सास लेने की क्षमता में वृद्धि होती है। लडकियो के फेफडों का विकास 16 17 वर्ष की आयु तक तथा लडकों का 18-19 वर्ष की आयु तक हो जाता है। किशोरावस्था मे प्रश्वसन प्रक्रिया धीमी और नियमित हो जाती है। इलिफ और ली (Ellif and Lee 1939) के अनुसार बालक और बालिकाओं के प्रश्वसन क्रिया में कोई भेद नही होता हे।

गर्भाधान के समय से लगभग 3 सप्ताह पश्चात हृदय की धडकन आरम्भ हो जाती है। जन्म के समय हृदय छाती के विवर में ऊपर स्थित रहता है। और शरीर के वजन के अनुपात हृदय अधिक भारी और बडा रहता है। पूर्व बाल्यावस्था में इसका आकार नसों और धमनियों की तुलना मे छोटा होता है। 6 वर्ष की आयु में जन्म के समय की अपेक्षा चौगुना या पाँच गुना बडा हो जाता है। पूर्व किशोरावस्था में शरीर की तुलना में इसका माप का अनुपात बहुत कम हो जाता है। परन्तु किशोरावस्था में इसका तौल तथा आयतन में लगभग 7 गुना तक की वृद्धि हो जाती है और परिपक्वावस्था मे इसका भार 12 गुना बढ जाता है। इस अवस्था में मॉसपेशियों का आकार और सख्या की दृष्टि से अधिक बढ जाता है। नसो तथा धमनियों की तुलना मे फेफडा बडा हो जाता है तथा रक्तवाहिनी नलिकाएँ लम्बी, मोटी व चौडी हो जाती हैं।

जन्म के समय तथा शैशवावस्था में रक्तचाप बहुत कम रहता है अर्थात् 40 मिमी रहता है। जन्म के समय नाडी की गति अधिक तीव्र रहती है। बालकों की 130 तथा बालिकाओं की 144 रहती है। बालकों और किशोरों के हृदय और धमनियों की चौडाई में 5 1 का समानुपात होता है। पूर्व किशोरावस्था में हृदय और रक्तवाहिनी नलिकाएं अधिक बदल जाती हैं। इस समय अधिक शारीरिक परिश्रम करने से हृदय की धडकन बढ जाती है और चक्कर आने लगते हैं। बाल्यावस्था में बालक तथा बालिकाओं का रक्त चाप समान रहता है परन्तु 10-13 वर्ष की अवस्था मे बालिकाओं का रक्तचाप बालकों की अपेक्षा बढ जाता है। किशोरावस्था में यह रक्तचाप बालकों में बालिकाओं की अपेक्षा बढ जाता है। नाडी की गति में आयु बढने के साथ साथ मन्दता आती है। नवजात शिशु में 130 प्रति मिनट 9 वर्ष की आयु में 80 प्रति मिनट तथा 13 वर्ष की आयु में 73 प्रति मिनट और बालिकाओं में 66 प्रतिमिनट नाडी की गति रहती है।

आयु के बढने के साथ-साथ पाचनतन्त्र का भी विकास होता है। नवजात शिशु का पेट नली व टब (Tub) के समान होता है। वह 1 औंस भोजन पचा सकता है। और 1 महीने मे 3 औंस भोजन पचा सकता है। क्रमश उसके पेट के आकार तथा आकृति में परिवर्तन होता है।

छोटी ऑतें भोजन पचाने का और बड़ी ऑत मल निष्कासन का कार्य करती है। शिशु की ऑत लगभग 340 सेंटीमीटर लम्बी होती है। प्रथम वर्ष में अन्त श्रावी सम्बन्धी क्रियाशीलता बढती है। किशोरावस्था प्रारम्भ होने के पहले सभी पाचनतन्त्र परिपक्व हो जाते हैं। Mckay and Fowler (1941) के अनुसार लडकियों की पाचनशक्ति कम एव लडको की पाचन शक्ति अधिक होती है। इसी के फलस्वरूप लडके लडकियो की तुलना में भोजन ज्यादा करते हैं। ग्रन्थियों का विकास भी बच्चे में समय से देखा जा सकता है। शरीर मे अनेक प्रकार की प्रणालीयुक्त वहिश्रावी और प्रणालीविहीन अन्तश्रावी ग्रन्थियाँ रहती हैं जिनसे तरल पदार्थ (Hormone) श्रवित होते रहते हैं। और रक्त में मिश्रित होकर शारीरिक मानसिक, सेवदनात्मक तथा व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करते हैं। प्रमुख ग्रन्थियाँ क्रमश पियूषग्रन्थि, गलग्रन्थि, अधिवृक्क ग्रन्थि, जनन ग्रन्थि इत्यादि है।

पीयूषग्रन्थि गर्भावस्था के चौथे महीने में निर्मित हो जाती हैं। इसका धीरे-धीरे विकास होता है। रोसले तथा राऊलेट (1952) के अनुसार 35 वर्ष की आयु में यह पूर्णरूपेण विकसित हो जाती है। इसके आन्तरिक एव बाह्य दो भाग होते हैं। आन्तरिक भाग का प्रभाव अस्थियों तथा मासपेशियों पर पडता है। इस ग्रन्थि की अत्यधिक सक्रियता के फलस्वरूप शरीर दैत्याकार का रूप लेता है और इसकी न्यून क्रियाशीलता से शरीर की वृद्धि वाधित हो जाती है तथा व्यक्ति बौना का शिकार हो जाता है। इस ग्रन्थि का बाह्य भाग यौन विकास को प्रभावित करता है।

गलग्रन्थि शरीर मे साधारण उपचयन की गति तथा उपापचप की क्रिया को नियन्त्रित करती है। जन्म पूर्व अवस्था में इसका विकास प्रारम्भ हो जाता है। दूसरे तीसरे एव चौथे माह में यह विकसित हो जाती है। कूपर (Cooper 1925) के अनुसार इसकी क्रियाशीलता तरुणावस्था तक जारी रहती है। और 25 वर्ष से इसमें ह्रास होना शुरू हो जाता है। इसकी अल्प सक्रियता शारीरिक विकास में बाधक होती है तथा यौन एव मानसिक विकास को प्रभावित करती है। इसकी अधिक क्रियाशीलता के फलस्वरूप शरीर में सरचनात्मक परिवर्तन होता है। इसके कारण भार में कमी, निद्रा नाश तथा रक्तचाप में वृद्धि देखी गयी है।

अधिवृक्क ग्रन्थि की अभिवृद्धि गर्भावस्था में ही हो जाती है। जन्मोपरान्त इसके आकार में छोटापन दिखाई देता है। बाल्यावस्था में इसके विकास की गति धीमी रहती है। परन्तु प्रारम्भिक किशोरावस्था में इसका अधिक विकास हो जाता है। यह ग्रन्थि रक्त को शर्करा की मात्रा, नाडी की गति रक्तचाप और पाचन क्रिया को प्रभावित करती है। इससे एड्रानिल तथा कार्टेन रस स्रावित होते हैं।

जननग्रन्थियों से पुरुष एव स्त्री हारमोन निकलते हैं। इन ग्रन्थियों का प्रादुर्भाव गर्भावस्था में विशेषकर 7 या 9 वें माह में हो जाता है। बाल्यावस्था में इन ग्रन्थियों का विकास धीमी गति से होता है। तरुणावस्था में इसमें वृद्धि की गति तीव्र होती है। इन ग्रन्थियों का मानसिक तथा सवेगात्मक पक्ष के अलावा शारीरिक पक्ष पर भी प्रभाव पडता है। किशोरावस्था में दाढी एव मूछों का आना, ऊँचाई में वृद्धि आना, मुँहासे निकलना तथा किशोरों की आवाज भारी होना किशोरियों में मासिक चक्र का आरम्भ, आँखों तथा गुप्तागों पर बाल उगना, वक्षस्थल पर उभार आना, कूल्हे बढना, किशोरियों की आवाज मधुर होना जननेन्द्रियों का बढना, शरीर का पुष्ट होना आदि इन ग्रन्थियों के लक्षण माने जाते हैं।

शैशवावस्था मे शारीरिक व्यवहार

(Psysical Behaviour in Infancy)

जन्मोपरान्त बच्चे में क्या-क्या शारीरिक व्यवहार परिलक्षित होते हैं। उनका वर्ण नीचे किया जायेगा।

जन्म के समय

(At Birth)

जन्म के समय बच्चों में प्रकाश के प्रति आँखें बन्द करके, पुतली घुमा करके अनुक्रिया देखी जा सकती है।

जन्म से छ सप्ताह तक

(Birth to Six Weeks)

(1) चौकाने वाली प्रतिक्रियाओं का उत्पन्न होना। उदाहरणार्थ अचानक आवाज करने पर या पालना को हिलाने पर अपने पूरे शरीर को कडा कर लेना तथा चिल्लाना या रोना।

(2) इसी अवधि में पकड़ने का प्रतिवर्त (Grasp Reflex) दिखायी देता है। उदाहरणार्थ—जब कोई वस्तु बच्चे के हाथ पर रखी जाती है तो वह स्वत उसे पकडने की कोशिश करता है।

(3) इसी अवधि में बच्चे में मिमियानें तथा गले से आवाज करने की प्रक्रिया शुरू होती है।

छ सप्ताह से दस सप्ताह तक

(Six to ten Weeks)

(1) इस अवधि में सामान्य क्रियाओं में बढोत्तरी होती है।

(2) इसी अवधि में अपने हाथ में वस्तु को रखने की क्षमता कुछ समय के लिए विकसित होती है।

(3) घूरने की क्रिया सावधानीपूर्वक होती है।

(4) इस अवधि के अत तक बच्चा किसी भी उद्दीपक के प्रति अपनी अनुक्रिया मुस्कुरा कर देता है।

(5) इसी अवधि में किलकारने की तथा बलबलाने वाली ध्वनियों का विकास होत है।

(6) इसी समय बच्चा अपने पास के व्यक्तियों तथा वस्तुओं को ऑख द्वारा देखता ह तथा उसका पीछा करता है।

(7) इसी अवधि में जागने की क्षमता लम्बे समय तक देखी जाती है तथा वह अपना ध्यान सासारिक वस्तुओं पर लगाता है।

दस सप्ताह से चौदह सप्ताह तक

(Ten to Fourteen Weeks)

(1) इस अवधि में बच्चा रगीन चमकदार वस्तुओं पर अपने आँखों को केन्द्रित कर सकता है तथा उसके गति के अनुसार पीछा कर सकता है।

(2) पेट के बल लिटाने पर वह अपने सिर को उठा सकता है तथा सामने देखते हुए इस स्थिति को जारी रख सकता है।

(3) इस अवस्था में वह वस्तुओं और व्यक्तियों में ज्यादा रुचि लेता है ।

चौदह सप्ताह से अट्ठारह सप्ताह तक

(Fourteen to Eighteen Weeks)

(1) जब बच्चे को सहायता प्रदान की जाती है तो वह अपने सिर को सीधा और शीघ्रता से उठा सकता है। इस अवधि में स्वैच्छिक गतियों में ज्यादा समन्वय होता है।

छोटी ऑतें भोजन पचाने का और बड़ी ऑत मल निष्कासन का कार्य करती है। शिशु की आँत लगभग 340 सेंटीमीटर लम्बी होती है। प्रथम वर्ष में अन्त श्रावी सम्बन्धी क्रियाशीलता बढती है। किशोरावस्था प्रारम्भ होने के पहले सभी पाचनतन्त्र परिपक्व हो जाते हैं। Mckay and Fowler (1941) के अनुसार लडकियों की पाचनशक्ति कम एव लडको की पाचन शक्ति अधिक होती है। इसी के फलस्वरूप लडके लडकियो की तुलना में भोजन ज्यादा करते हैं। ग्रन्थियो का विकास भी बच्चे में समय से देखा जा सकता है। शरीर मे अनेक प्रकार की प्रणालीयुक्त वहिश्रावी और प्रणालीविहीन अन्तश्रावी ग्रन्थियाँ रहती है जिनसे तरल पदार्थ (Hormone) श्रवित होते रहते हैं। और रक्त में मिश्रित होकर शारीरिक मानसिक, सेवदनात्मक तथा व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करते हैं। प्रमुख ग्रन्थियाँ क्रमश पियूषग्रन्थि, गलग्रन्थि, अधिवृक्क ग्रन्थि, जनन ग्रन्थि इत्यादि है।

पीयूषग्रन्थि गर्भावस्था के चौथे महीने में निर्मित हो जाती हैं। इसका धीरे-धीरे विकास होता है। रोसले तथा राऊलेट (1952) के अनुसार 35 वर्ष की आयु में यह पूर्णरूपेण विकसित हो जाती है। इसके आन्तरिक एव बाह्य दो भाग होते हैं। आन्तरिक भाग का प्रभाव अस्थियों तथा मासपेशियों पर पडता है। इस ग्रन्थि की अत्यधिक सक्रियता के फलस्वरूप शरीर दैत्याकार का रूप लेता है और इसकी न्यून क्रियाशीलता से शरीर की वृद्धि वाधित हो जाती है तथा व्यक्ति बौना का शिकार हो जाता है। इस ग्रन्थि का बाह्य भाग यौन विकास को प्रभावित करता है।

गलग्रन्थि शरीर मे साधारण उपचयन की गति तथा उपापचय की क्रिया को नियन्त्रित करती है। जन्म पूर्व अवस्था में इसका विकास प्रारम्भ हो जाता है। दूसरे, तीसरे एव चौथे माह में यह विकसित हो जाती है। कूपर (Cooper 1925) के अनुसार इसकी क्रियाशीलता तरुणावस्था तक जारी रहती है। और 25 वर्ष से इसमें ह्रास होना शुरू हो जाता है। इसकी अल्प सक्रियता शारीरिक विकास में बाधक होती है तथा यौन एव मानसिक विकास को प्रभावित करती है। इसकी अधिक क्रियाशीलता के फलस्वरूप शरीर में सरचनात्मक परिवर्तन होता है। इसके कारण भार में कमी, निद्रा नाश तथा रक्तचाप में वृद्धि देखी गयी है।

अधिवृक्क ग्रन्थि की अभिवृद्धि गर्भावस्था में ही हो जाती है। जन्मोपरान्त इसके आकार में छोटापन दिखाई देता है। बाल्यावस्था में इसके विकास की गति धीमी रहती है। परन्तु प्रारम्भिक किशोरावस्था में इसका अधिक विकास हो जाता है। यह ग्रन्थि रक्त को शर्करा की मात्रा, नाडी की गति, रक्तचाप और पाचन क्रिया को प्रभावित करती है। इससे एड्रानिल तथा कार्टेन रस स्रावित होते हैं।

जननग्रन्थियों से पुरुष एव स्त्री हारमोन निकलते हैं। इन ग्रन्थियों का प्रादुर्भाव गर्भावस्था में विशेषकर 7 या 9 वें माह में हो जाता है। बाल्यावस्था में इन ग्रन्थियों का विकास धीमी गति से होता है। तरुणावस्था में इसमें वृद्धि की गति तीव्र होती है। इन ग्रन्थियों का मानसिक तथा सवेगात्मक पक्ष के अलावा शारीरिक पक्ष पर भी प्रभाव पडता है। किशोरावस्था में दाढी एव मूछों का आना, ऊँचाई में वृद्धि आना, मुँहासे निकलना तथा किशोरों की आवाज भारी होना किशोरियों में मासिक चक्र का आरम्भ, आँखों तथा गुप्तागों पर बाल उगना, वक्षस्थल पर उभार आना, कूल्हे बढना, किशोरियों की आवाज मधुर होना जननेन्द्रियों का बढना, शरीर का पुष्ट होना आदि इन ग्रन्थियों के लक्षण माने जाते हैं।

शैशवावस्था मे शारीरिक व्यवहार

(Psysical Behaviour in Infancy)

जन्मोपरान्त बच्चे में क्या-क्या शारीरिक व्यवहार परिलक्षित होते हैं। उनका वर्ण नीचे किया जायेगा।

जन्म क समय
(At Birth)

जन्म के समय बच्चों में प्रकाश के प्रति ऑखें बन्द करके, पुतली घुमा करके अनुक्रिया देखी जा सकती है।

जन्म से छ सप्ताह तक
(Birth to Six Weeks)

(1) चौकाने वाली प्रतिक्रियाओं का उत्पन्न होना। उदाहरणार्थ अचानक आवाज करने पर या पालना को हिलाने पर अपने पूरे शरीर को कडा कर लेना तथा चिल्लाना या रोना।
(2) इसी अवधि में पकड़ने का प्रतिवर्त (Grasp Reflex) दिखायी देता है। उदाहरणार्थ—जब कोई वस्तु बच्चे के हाथ पर रखी जाती है तो वह स्वत उसे पकडने की कोशिश करता है।
(3) इसी अवधि मे बच्चे में मिमियानें तथा गले से आवाज करने की प्रक्रिया शुरू होती है।

छ सप्ताह से दस सप्ताह तक
(Six to ten Weeks)

(1) इस अवधि में सामान्य क्रियाओं में बढोत्तरी होती है।
(2) इसी अवधि में अपने हाथ में वस्तु को रखने की क्षमता कुछ समय के लिए विकसित होती है।
(3) घूरने की क्रिया सावधानीपूर्वक होती है।
(4) इस अवधि के अत तक बच्चा किसी भी उद्दीपक के प्रति अपनी अनुक्रिया मुस्कुरा कर देता है।
(5) इसी अवधि में किलकारने की तथा बलबलाने वाली ध्वनियों का विकास होत है।
(6) इसी समय बच्चा अपने पास के व्यक्तियों तथा वस्तुओं को ऑख द्वारा देखता ह तथा उसका पीछा करता है।
(7) इसी अवधि में जागने की क्षमता लम्बे समय तक देखी जाती है तथा वह अपना ध्यान सासारिक वस्तुओं पर लगाता है।

दस सप्ताह से चौदह सप्ताह तक
(Ten to Fourteen Weeks)

(1) इस अवधि में बच्चा रगीन चमकदार वस्तुओं पर अपने आँखों को केन्द्रित कर सकता है तथा उसके गति के अनुसार पीछा कर सकता है।
(2) पेट के बल लिटाने पर वह अपने सिर को उठा सकता है तथा सामने देखते हुए इस स्थिति को जारी रख सकता है।
(3) इस अवस्था में वह वस्तुओं और व्यक्तियों में ज्यादा रुचि लेता है ।

चौदह सप्ताह से अट्ठारह सप्ताह तक
(Fourteen to Eighteen Weeks)

(1) जब बच्चे को सहायता प्रदान की जाती है तो वह अपने सिर को सीधा और शीघ्रता से उठा सकता है। इस अवधि में स्वैच्छिक गतियों में ज्यादा समन्वय होता है।

(2) इस अवधि मे वस्तुओ तक पहुँचने के लिए अपने हाथों का उपयोग क सकता हे।

(3) इस अवधि मे बच्चा किलकारी और बलबलाने जैसी आवाजों को बना सकता है।

(4) इस अवधि मे मॉं को पहचानने की क्षमता कुछ विकसित हो जाती है।

अट्ठारह सप्ताह से बाइस सप्ताह तक

(Eighteen Weeks to Twenty Two Weeks)

(1) इस अवधि मे स्वेच्छिक क्रियाओं की मात्रा में बढोत्तरी हो जाती है तथा शिशु अपने कपडे को खींच सकता हे तथा अपने हाथों, ऑखों और मुँह से वस्तुओ को खोजता है।

(2) इस अवधि मे सभी वस्तुओ को मुँह में रखने की आदत दिखायी देती है तथा शिशु अपने अगूठे या छोटी चीजो को जो उसके पास रखी है उसे चूसता है।

(3) इस अवधि के दरम्यान शिशु बिना सहायता के सीधे बैठ सकता है। वह अपने सिर को चाक्षुषया श्रवणसम्बन्धी उद्दीपको की तरफ मोड सकता है।

(4) इसी अवधि में द्विनेत्री स्थिरीकरण का भी विकास होता है।

बाइस सप्ताह से छब्बीस सप्ताह तक

(Twenty two Weeks to Twenty six Weeks)

(1) छ माह के अत तक शिशु सीधे बैठने में सफल हो जाता है।

(2) इस अवधि में शक्ति एव क्षमता की मात्रा अधिक होती है।

(3) अगर शिशु को पीठ के बल लिटा दिया जाये तो इस अवधि में वह अपने पूरे शरीर को घुमाकर पेट के बल हो जाता है।

(4) इस अवधि मे वह आवाज या ध्वनि के श्रोत की तरफ अपना ध्यान कर लेता है तथा उसी के तरफ अपना सिर भी मोड लेता है।

(5) इस अवधि मे वह अपने दृष्टिक्षेत्र में स्थित मनुष्यों तथा वस्तुओ पर ध्यान केन्द्रित करता है तथा घूरता है।

(6) क्रोध की भावना को चिल्लाकर, रोकर प्रदर्शत करता है।

(7) इसी अवधि मे शिशु कुछ निश्चित ध्वनियों को कुछ निश्चित वसतुओं एव व्यक्तियो से साहचर्य स्थापित करता है। **उदाहरणार्थ**—धीरे से मम्मी शब्द कहो पर वह अपने ऑखो को घुमाकर उस ध्वनि की दिशा म देखता है। इसी अवधि में वह दरवाजे खुलने की आवाज को भोजन स जोड लेता है कि उसे अब दूध आदि पीने को दिया जायेगा।

छब्बीस सप्ताह से तीस सप्ताह तक

(Twenty six weeks to thirty weeks)

(1) इस अवधि में शिशु अपने दॉये या बॉये हाथ से वस्त को पकड सकता है।

(2) इसी अवधि मे वह एक हाथ से दूसरे हाथ में वस्तु को बदल सकता है। इसी अवधि में नेत्रहस्त समन्वय ज्यादा होना है।

तीस से चौतीस सप्ताह तक
(Thirty to Thirty four weeks)

(1) इस अवधि में गतिमान वस्तुओं का आँखों से पीछा करने की क्षमता मे वृद्धि हो जाती है।

(2) इस अवधि मे उदर से रेंगने की क्षमता विकसित होती है।

(3) सहायता देने पर शिशु खडा होने को सोचता है। प्रारम्भ मे यह सहायता प्रोढ द्वारा तथा बाद में यह सहायता पालने की रेलिंग को पकडकर मिलती हे।

(4) लम्बे समय तक एक ही खिलौने से खेलने की क्षमता विकसित होती है।

चोतीस सप्ताह से अडतीस सप्ताह तक
(Thirty four weeks to Thirty eight weeks)

(1) इस अवधि में शिशु बिना किसी सहायता के स्वय बैठ सकता है।

(2) वह अपने आप आगे बढ भी सकता हे।

(3) लोगो के उपस्थित होने पर वह अपनी प्रसन्नता का इजहार भी कर सकता हें। शिशु का नाम लेकर बुलाने पर वह उसके प्रति अनुक्रिया भी कर सकता है।

अडतीस सप्ताह से बयालीस सप्ताह तक
(Thirty eight weeks to forty two weeks)

(1) इस अवधि मे भुजाओ, हाथों, पैरो तथा धड के क्रियाओं में समन्वय अधिक पाया जाता है।

(2) इस अवधि में वह सहायता मिलने पर खडा हो सकता है। वह पालने की रेलिंग पकडकर कुछ दूर चल भी सकता है।

बयालिस सप्ताह से छियालिस सप्ताह तक
(Forty two weeks to Forty six weeks)

(1) इस अवधि में माता को तथा भाई बहनों के पहचानने की क्षमता विकसित हो जाती है।

(2) इस अवधि में वस्तुओं को ले जाने या ढोने की क्षमता विकसित हो जाती है। उदाहरण के लिए खाना खिलाते समय चम्मच पकड लेना।

(3) इस अवधि में शिशु कम समय के लिए सोता है।

(4) स्वतन्त्र रूप से चलने के लिए अधिक प्रयास करता है।

(5) खिलौने एव साधारण खेल में रुचि अधिक प्रदर्शित करता है।

(6) कुछ परिस्थितियों में वह छोटे शब्दों का प्रयोग भी करना सीख जाता है।

छियालिस सप्ताह से बावन सप्ताह तक
(Forty six weeks to Fifty two weeks)

(1) इस समय शिशु पूरे एक वर्ष का हो चुका रहता है। इस अवधि में टहलने या चलने की क्षमता विकसित हो जाती है।

(2) इस अवधि में उसके पास शब्दकोष की सख्या ज्यादा हो जाती है तथा समय बीतने के साथ-साथ वह शब्दों का प्रयोग करना भी सीख जाता है।

(3) प्रसन्नता की अवस्था में वह इसका इजहार बलबला कर या कुछ शब्द बोलकर करता है।

(4) इस अवधि मे खाने की वस्तुओं के प्रति वरीयता को बोलकर व्यक्त करता है।
(5) अपनी प्रतिमा को दर्पण में देखने की रुचि विकसित हो जाती है।
(6) साधारण खेल को खेलने मे प्रसन्नता होती है।
(7) चिडचिडापन, खुशी भय ईर्ष्या, दुख और प्रेम जैसे सवेगो का प्रदर्शन होता है।

बारह मास से पन्द्रह मास तक
(Twelve months to Fifteen months)

(1) इस अवधि में शिशु काफी उत्साह एव रुचि से विभिन्न प्रकार की क्रियाओ को करता है।
(2) इस अवधि मे अधिक स्वतन्त्रता एव स्वायत्तता की भावना विकसित हो जाती है।
(3) इस अवधि मे जानने की उत्सुकता (Curiosity) तथा अपने ज्ञानेन्द्रियो द्वारा वस्तुओ को खोजने की इच्छा विकसित हो जाती है।
(4) इस अवधि मे ज्यादा से ज्यादा शब्दो का अर्थ और वाक्यो को समझने की योग्यता विकसित हा जाती है।
(5) इस अवधि मे वह चलने मे रुचि रखता है तथा उसको कुछ पद चलकर पूरा करता है।
(6) इस अवधि में उसका अण्डरवीयर गीला है या गर्म है इसका भी ज्ञान हो जाता है।

पन्द्रह माह से अट्ठारह माह तक
(Fifteen months to Eighteen months)

(1) ऊपर चढने की योग्यता विकसित होती है परन्तु यह पूर्णरूप से सही नही होती है।
(2) इस अवधि मे वह गैर तरीके से या अव्यवस्थित रूप से दौडना चाहता है।

अट्ठारह माह से इक्कीस माह तक
(Eighteen months to Twenty one months)

(1) वह कपडे पहने समय अपने माँ की मदद करने का प्रयास करता है।
(2) इस अवधि मे यदि उसे शौचालय जाना है तो इसका इजहार करता है।

इक्कीस माह से दो वर्ष तक
(Twenty one months to Two years)

(1) इस अवधि में शिशु को अपनी खुशी अपनी आवश्यकताओ, क्रोध, चिडचिड़ाहट हताशा इत्यादि प्रदर्शित करने के लिए शब्दकोष की सख्या में बढोत्तरी होती है।
(2) प्रत्येक दिन वह नये शब्द को आसानी से सीखता है जो उसके तथा उसके माता पिता के लिए खुशी के प्रतीक होते हैं।
(3) बहुत क्लिष्ट खेल तथा खिलौने के प्रति आकर्षण बढता है।
(4) इस अवधि मे बच्चा दौड सकता है तथा आसानी से चढ सकता है।
(5) इस अवधि में वह अपने भाई-बहनों में काफी रुचि दिखलाता है तथा माता पिता के साथ सम्बन्धों को स्थापित करता है।

6 सांवेदिक एवं प्रात्यक्षिक विकास
(Sensory and Perceptual Development)

जन्म के समय शिशु में जो भी विकास परिलक्षित होते हैं, उनका एकमात्र लक्ष्य यह होता है कि शिशु परिवेष की विभिन्न दशाओ के प्रति उचित समायोजन स्थापित कर सके। जेसा कि हमे मालूम है कि पर्यावरण के साथ समायोजन हेतु ज्ञानेन्द्रियों की प्रमुख भूमिका होती है। इसलिए ज्ञानेन्द्रियो का उचित विकास होना आवश्यक होता है। ऑख, नाक, कान एव जिह्वा ये हमारी पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ कही जाती है। इन ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से शिशु ससार मे स्थित अनेक वस्तुओ के प्रति ज्ञानार्जन करता है। इसलिए ज्ञानार्जन हेतु इन ज्ञानेन्द्रियो का समुचित विकास होना आवश्यक है। इस अध्याय में इन्ही ज्ञानेन्द्रियो की विशद् चर्चा की जायेगी।

सावेदिक प्रक्रिया का स्वरूप (The nature of Sensory Process)

सवेदना एक ऐसी सज्ञानात्मक प्रक्रम है जिसके माध्यम से बच्चो का बाह्य पर्यावरण या उसके किसी एक घटक की प्राथमिक जानकारी मिलती है। सावेदिक प्रक्रिया से मात्र किसी वस्तु का आभास होता है परन्तु उसके विषय में पूर्ण जानकारी नही मिल पाती है। वस्तुओ के प्राथमिक आभास (सवेदना) धीरे धीरे प्रत्यक्षीकरण का रूप ले लेती है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि शुद्ध सवेदना सभव नही होती है। इसका कारण यह है कि सवेदना होते ही वह उसके विषय मे जानकारी प्राप्त करना चाहता है तथा अपने अनुभवों का उपयोग इस सवेदना को समझने मे करता है। आसगुड (Osgood 1953) ने कहा कि शुद्ध सवेदना मात्र बच्चो में ही पायी जाती है। इसी तरह से वार्ड (Ward) ने भी कहा है कि शुद्ध सवेदना मात्र एक मनोवैज्ञानिक कथन है। शुद्ध सवेदना का होना सभव नही है। इसका कारण यह होता है सवेदना होते ही तुरन्त उसके विषय में अधिक जानकारी की कोशिश की जाती है और उस वस्तु का व्यापक स्वरूप सामने आ जाता है जो प्रत्यक्षीकरण का रूप ले लेती है।

आइजेंक (Eysenk 1972) तथा उनकें सहयोगियों के मतानुसार, "सवेदना वह मानसिक गोचर है जिसका आतरिक विभाजन नही होता है। यह ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करने वाला बाह्य उद्दीपको द्वारा उत्पन्न होता है। इसकी तीव्रता उत्तेजना की शक्ति पर निर्भर होती है तथा इसके गुण ज्ञानेन्द्रियों की प्रकृति पर निर्भर होते हैं। वातावरण में पाये जाने वाली उत्तेजनाओ को ज्ञानेन्द्रियॉ ही ग्रहण करती हैं और ज्ञानवाही नाडियों के द्वारा मस्तिष्क तक इसकी सूचना भेज दी जाती है। यदि उत्तेजना का ज्ञान अर्थहीन है तो वही सवेदना है परन्तु जब हम उत्तेजना का ज्ञान अर्थपूर्ण बना देते हैं तो वही प्रत्यक्षीकरण का रूप ले लेती है। सवेदी प्रक्रिया मूलत सग्राहकों पर निर्भर करती है। सग्राहकों की भूमिका को स्पष्ट करते हुए बाब्स्की

(Babsky, 1970) ने स्पष्ट किया हे कि कोई भी मानसिक कार्य बाह्य सवेदित उत्तेजना के अभाव मे चेतना में उत्पन्न नही हो सक्ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हा रहा है कि सवेदनाएँ किसी वस्तु की प्राथमिक सज्ञानात्मक अनुभव है। इनकी उत्पत्ति सवेदी सग्राहकों के उद्दीपन होने के कारण होती हैं। ड्रमण्ड एव मेलोन (Drummond & Mellone, 1926) ने स्पष्ट किया है कि किसी ज्ञानवाही स्नायु के उद्दीप्त होने पर जो सीधा तथा तात्कालिक अनुभव होता है वही सवेदना होती है।

A sensation is the mental experience resulting directly and immediately from the stimulation of an afferent nerve

कुछ मनोवैज्ञानिक विस्तार और स्थानीय प्रतीको को भी सवेदना की विशेषताओं के रूप में मानते हैं। प्राणी ज्ञानेन्द्रियो के ही द्वारा उद्दीपको के बारे मे ज्ञानार्जन करता है। सभी ज्ञानेन्द्रियों में उत्तेजना ग्रहण करने की शक्ति पायी जाती है। ज्ञानेन्द्रियो के आधार पर सवेदना का विभाजन दृष्टि सवेदना, श्रवण सवेदना ध्राण सवेदना, स्पर्श सवेदना तथा स्वाद सवेदना के रूप मे किया जा सकता है।

प्रात्याक्षिक प्रक्रम का स्वरूप (Nature of Perceptual Process)

ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्यजगत मे व्याप्त उद्दीपको के विषय मे अपने पूर्वानुभव के कारण उनके नाम, गुण आदि के सदर्भ मे ज्ञान प्राप्त करना ही प्रत्यक्षीकरण होता है। ग्राह एव राट्स (1954) ने यह विचार व्यक्त किया है कि सवेदना और प्रत्यक्षीकरण मे अन्तर स्थापित करना एक अनावश्यक एव असगत निर्णय है। वार्टले (1958) के अनुसार प्रत्यक्षीकरण की सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत करना एक असभव कार्य है । कुछ मनोवैज्ञानिको ने प्रत्यक्षीकरण को स्पष्ट करने के लिए अपनी अपनी परिभाषाएँ दी हैं जिसका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है। बोरिंग (Boring 1942) के अनुसार सवेदना का तात्पर्य सग्राहक के उस कार्य से है जब वह उद्दीपक होता है जबकि प्रत्यक्षीकरण का तात्पर्य उसे अर्थ प्रदान करने से है।

वुण्ट के अनुसार ज्ञान की प्रथम अवस्था सवेदना है तथा दूसरी अवस्था प्रत्यक्षीकरण है। प्रत्यक्षीकरण सवेदना और उसके अर्थो का योग है।

कैण्डलैण्ड (Canaland 1968) ने सवेदना और प्रत्यक्षीकरण मे अन्तर करते हुए यह स्पष्ट किया है कि सग्राहकों में जो क्रियाएँ होती है उसे सवेदना तथा उस सवेदना को अर्थ प्रदान करना प्रत्यक्षीकरण कहलाता है।

न्यूमैन (Newman, 1953) ने भी प्रत्यक्षीकरण द्वारा पर्यावरण में स्थित वर्तमान वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना ही माना है।

इसी तरह के विचार स्टैगनर एव एव कारवास्की (Stagner and Carvasky, 1952) में भी व्यक्त किया है। Osgood (1953) के अनुसार उद्दीपन एव परिणाम के मध्य कुछ चर क्रियाशील होते हैं इसी चर को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। डेम्बर (Dember 1965) ने भी आसगुड जैसा ही विचार प्रकट किया है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखने से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्षीकरण केन्द्रीय स्नायुमण्डल (Central Nervous System) में घटित होनी वाली एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है। जिसमें पूर्वानुभवों के आधार पर उत्तेजनाओं का ज्ञान होता है। इस प्रक्रिया द्वारा

पर्यावरण से सूचनाएँ मिलती है व्यक्ति उनके प्रति उचित व्यवहार करता है तथा विभेदन व्यवहार भी सभव हो पाता है।

प्रत्यक्षीकरण हमेशा चयनात्मक होता है। प्रत्यक्षीकरण में स्थैर्य पाया जाता है। प्रत्यक्षीकरण सगठित होता है। अत प्रत्यक्षीकरण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है जिसमें सग्राहक प्रक्रिया, एकीकरण प्रक्रिया, प्रतीकात्मक प्रक्रिया एव भावात्मक प्रक्रिया घटित होती है। दैनिक जीवन मे इन क्षमताओ की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और व्यक्ति के जीवन में होने वाले विकासात्मक परिवर्तनो के साथ साथ इन क्षमताओं मे भी अभिवृद्धि होती रहती है।

शिशुओ मे सावेदिक क्षमताएँ
(Sensory Capabilities in Infants)

जन्म के समय नवजात शिशु में सभी ज्ञानेन्दियाँ विद्यमान रहती है। परन्तु इन ज्ञानेन्द्रियों की कार्यक्षमता काफी मन्द एव सीमित होती है। जैसे जैसे शिशुओं के उम्र में वृद्धि होती है वैसे वैसे उनकी इन क्षमताओ में भी वृद्धि देखी जा सकती है। शिशु सभी उत्तेजनाओं से प्रभावित होता है तथा वह उसकी अनुक्रिया अपने शरीर की क्रियाओं मे परिवर्तन करके करता है। इन क्षमताओं का विकास शारीरिक विकास के साथ साथ होता रहता है। नवजात शिशु के सावेदिक विकास का क्रम निम्नलिखित है

(1) दृष्टि सवेदना (Visual Sensation)

जन्मोपरान्त ही दृष्टि सवेदना परिलक्षित होने लगती है। जन्म के समय से ही शिशुओं मे प्रकाश और अधकार विभेदन की क्षमता दिखायी देती है। शिशु प्रकाश की तीव्रता के आधार पर विभिन्न प्रकार की अनुक्रियाएँ करते हैं। जन्म के बाद शिशुओं मे रगहीन एव रगीन प्रकाश मे विभेदन की क्षमता देखी जाती है। स्मिथ (Smith 1936) का विचार है कि रोता हुआ शिशु गहरे रग के उद्दीपक (खिलौने) को देखकर चुप हो जाता है। जबकि प्रेयर एव केनेस्ट्रीनी (1956) के कथनानुसार शिशु जन्म के बाद कुछ महीनों तक केवल अधकार और प्रकाश में ही अन्तर करने में सक्षम होता है तथा रगों में अन्तर करने की योग्यता दो वर्ष पश्चात् ही आती है। शिशु 3-4 माह की उम्र में गहरे रगों के प्रति उत्सुकता प्रदर्शित करते हैं तथा रगीन वस्तुओं के प्राप्त करने या उस तरफ बढने की कोशिश करते हैं। चार माह का शिशु नवीन उद्दीपकों के प्रति अनुक्रियाएँ करने लगता है। कार्नेल एव स्ट्रास (1973) के अनुसार उद्दीपकों मे विभेदन की क्षमता भी चार माह में प्रदर्शित हो जाती है।

(2) श्रवण सवेदना (Auditory Sensation)

जरसिल्ड (Jersild 1975) के अनुसार जन्म के समय शिशुओं में प्रकाश एव ताप आदि सवेदनाएँ तो पायी जाती हैं परन्तु श्रवण सवेदना पाई जाती है या नहीं यह एक विवादास्पद विषय है। नवजात शिशु में ध्वनि के प्रति अनुक्रिया नही प्राप्त होती है। एक अनुमान के आधार पर यह कथनीय है कि जन्मोपरान्त प्रथम सप्ताह के अत तक शिशुओं में ध्वनि के प्रति जागरूकता दिखायी देने लगती है। तेज ध्वनि के फलस्वरूप बच्चों में चौकाने वाली प्रतिवर्त दिखायी देती है। तथा इसी के कारण उनमें रोने का व्यवहार भी प्रदर्शित होता है। 3-4 माह की उम्र तक बच्चे ध्वनि के प्रति ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास करते हैं। Pratt (1954) के अनुसार नवजात शिशु तीसरे या सातवें दिन के मध्य ध्वनि के प्रति प्रतिक्रिया करने

लगते है। आयु मे वृद्धि के फलस्वरूप शिशु ध्वनि की तरफ मुँह कर लेना तथा सिर उठाकर देखना आदि योग्यता अर्जित कर लेते है। 3 4 माह की उम्र मे ही बच्चे तेज और मन्द ध्वनियो में अन्तर करना सीख जाते है।

(3) स्वाद सवेदना (Taste Sensation)

नवजात शिशु मे स्वाद सवेदना देखी जाती है। जब बच्चे को मीठी या खट्टी चीजे पिलायी जाती है तो वह इन चीजो के प्रति अलग अलग प्रतिक्रियाएँ करता है। **उदाहरणार्थ**—मीठी दवा पिलाने पर वह दवा पीना चाहता है तथा खट्टी या तीखी दवा पिलाने पर वह उसे मुँह से बाहर निकालना चाहता है। प्रैट (Pratt 1954) के अनुसार शिशुओ में स्वाद की प्रभाव सीमाएँ अलग अलग होती है परन्तु मर्फी (Murphy, 1963) का विचार है कि स्वाद सवेदना शिशु के जन्म के 2-3 महीने के बाद विकसित हो जाता है। बच्चो मे स्वाद सवेदना पर विभिन्न मनोवैज्ञानिको ने कार्य किया है। **उदाहरणार्थ**—डिसोर मालर एव टरनर (1973) ने 23 से 84 घण्टे की आयु से शिशुओ मे जल (Water) एव ग्लूकोज (Glucose) फ्रूक्टोज तथा सुक्रोज के घोल उनके मुँह मे डाले गये । शिशुओ में जल एव मीठे घोलो मे विभेदन की क्षमता प्रदर्शित हुई तथा मीठे जल के प्रति वरीयता दिखायी एव केवल जल के प्रति व्यवहार अवरोधी पाया गया। कुशमाल शली एव नेल्सन जैसे बाल मनोवैज्ञानिको को भी अपने अध्ययन मे ऐसा ही परिणाम मिला। अत यह कहा जा सकता है कि आयु मे वृद्धि के फलस्वरूप इस योग्यता मे वृद्धि होती है।

(4) घ्राण सवेदना (Olfactory Sensation)

घ्राण सवेदना के विषय मे श्रवण सवेदना की ही तरह मनोवैज्ञानिक एकमत नही है। Pratt (1954) जैसे मनौवैज्ञानिक का मत हें कि घ्राण सवेदना नवजात शिशु मे जन्म के समय ही पायी जाती है जबकि Nelson Jones and Taylor जैसे मनोवैज्ञानिकों का मत है कि नवजात शिशु में घ्राण सवेदना नही पायी जाती है। परन्तु स्टर्न (Stern) का मत है कि घ्राण सवेदना जन्म के समय शिशुओं में देखी जा सकती है। ऐसा अनुमान है कि नवजात शिशु 3 4 माह मे घ्राण सवेदना विकसित कर लेता है। प्रथम वर्षोपरान्त गन्ध सवेदना की योग्यता मे काफी विकास हो जाता है। दो तीन माह मे शिशु गधो में अन्तर करना सीख जाता है।

(5) त्वचीय सवेदना (Cutaneous Sensation)

यह सवेदना शिशुओं में जन्म के ही समय प्रदर्शित होती है। त्वचीय सवेदना में शीत, ताप, स्पर्श, दबाव व पीडा की सवेदनाएँ सम्मिलित रहती हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि पीडा की सवेदना भी जन्म के एक दो दिन तक कम पाई जाती है। (Pratt 1954) । जबकि कुछ मनोवैज्ञानिकों की राय में पीडा सवेदना जन्मोपरान्त कुछ घटों के बाद ही देखी जा सकती है। Pratt (1954) का मत है कि पैर, ओठ, नाक, सिर आदि की त्वचा में पीडा सवेदना अधिक होता है। शिशुओं में स्पर्श सवेदना जन्मोपरान्त पाई जाती है। राइस (Rice, 1931) का मत है कि बच्चों में पीडा सवेदना जन्म के लगभग 4-5 घटे के बाद दिखायी देती है। उष्ण एव शीत की सवेदना शिशुओं में जन्म के समय पायी जाती है। **उदाहरणार्थ**—ठडे पानी से स्नान कराने पर रोने का व्यवहार तथा गर्म पानी से नहलाने पर सुखद व्यवहार दर्शाना शीत

(6) आन्तरिक सवेदनाएँ (Organic Sensations)

नवजात शिशुओ में उपर्युक्त सवेदनाओं के अतिरिक्त आतरिक सवेदनाएँ जैसे—भूख और प्यास भी देखी जाती हैं। मनोवैज्ञानिक आन्तरिक सवेदनाओं के विकास पर एकमत नही है। जन्म के समय प्यास एव भूख की सवेदना पायी जाती है या नही यह एक विवादास्पद विषय है। परन्तु प्राय यह देखा जा सकता है कि रोते हुए शिशु को पानी या दूध पिलाने पर रोने का व्यवहार अदृश्य हो जाता है । इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि शिशुओ मे जन्म के समय भूख एव प्यास की सवेदना पायी जाती है। परन्तु कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि बच्चे को दूध आदि पिलाने पर भी उसका क्रन्दन बन्द नही होता है। ऐसी दशा मे शिशुओं मे क्रन्दन उसकी अस्वस्थता के कारण भी हो सकती है। अत सामान्य दशाओं मे रोने का व्यवहार भूख या प्यास से सम्बन्धित हो सकते हैं।

प्रात्यक्षिक योग्यता का विकास
(Development of Perceptual Ability)

बच्चे के शारीरिक विकास तथा आयु में वृद्धि होने के साथ साथ प्रात्यक्षिक योग्यता का भी विकास होता जाता है। समायोजन की दृष्टि से प्रात्यक्षिक योग्यता का विकास आवश्यक हैं। नवजात शिशु मे जन्म के समय इस योग्यता में कमी देखी जाती है परन्तु आयु तथा अनुभव मे विवृद्धि के फलस्वरूप इस योग्यता मे काफी विकास होता है। गेसेल तथा इल्ग (1937) का कथन है कि अपनी माँ को पहचानने की क्षमता तथा प्रौढो के चेहरे के भाव भाँप लेने की योग्यता का विकास 3 से 6 माह के मध्य दिखायी देते है। 6 माह में ही शिशु परिचित तथा अपरिचित व्यक्ति को पहचानने लगता है। Buhler (1954) का विचार है कि 3 माह बाद ही शिशु प्रौढों को पहचान सकता है जबकि गाँव में रहने वालों की यह धारणा है कि शिशु 1 माह मे माँ को तथा 6 महीने में पिता को पहचानने लगता है। प्रात्यक्षिक योग्यता के विकास के ही कारण वह विभिन्न वस्तुओं का नाम या वर्ण, रूप, रग एव आकार इत्यादि का ज्ञान अर्जित करता है और सम्पूर्ण पर्यावरण का एक सज्ञानात्मक मानचित्र निर्मित करता है। प्रात्यक्षिक योग्यता के विकास के फलस्वरूप वह समानता और असमानता का भी अनुभव करता है। आयु मे तथा अनुभव में विवृद्धि के कारण बच्चे में सम्प्रत्ययो का भी विकास होता है। सजीव तथा निर्जीव वस्तुओं को भी वह प्रात्यक्षिक योग्यता के ही कारण विभेदित कर सकता है।

जन्मोपरान्त शिशु में प्रात्यक्षिक योग्यताओं तथा प्रात्याक्षिक कौशलो सम्बन्धी क्षमताओ का विकास होता है। जन्म के पाँच दिन बाद ही उसे रग, चमक, आकार एव रूप की तथा गतिशील प्रकाश पर ध्यान केन्द्रण की योग्यता का विकास देखा गया है। हेथ (1966) तथा फैट्ज (1961) का ऐसा ही विचार है।

विकास की उपर्युक्त विशेषताओं को शैशवावस्था में देखा जा सकता है। शैशवावस्था की ही भाँति बाल्यावस्था के विकास की विशेषताएँ (परिपक्वता एव अधिगम) जटिल प्रात्यक्षिक कार्यों को सफलतापूर्वक करने की योग्यता बच्चों में विकसित हो जाती हैं। इसी योग्यता को मुसेन (1970) ने प्रात्यक्षिक अधिगम का नाम दिया है। प्रात्यक्षिक अधिगम का विकास उस समय देखा जाता है जब शिशु में अवधान और स्थैर्य का विकास पूर्ण रूप से हो

जाता हे। सरल अर्थो में यह कहा जा सकता है कि शिशु मे प्रात्यक्षिक स्थैर्य का विकास तभी सभव है जब वह उद्दीपकों पर अवधान केन्द्रित करने में सक्षम हो जाता है।

बालको मे अर्थ का विकास (Development of Meaning in children)

सावेदिक एव प्राथमिक क्षमताओ के विकास के फलस्वरूप ही अर्थ विकास की योग्यता दिखायी देती हें। उस क्षमता के अर्जन मे तीन प्रमुख प्रक्रमो का योगदान होता है। ये निम्नलिखित है—

(1) सावेदिक प्रक्रम (Sensory Process)

(2) क्रियात्मक प्रहस्तन (Motor Manipulations)

(3) प्रश्नों की झडी (Series of questions)

वस्तुओ के अर्थ समझने की प्रक्रिया सर्वप्रथम सविदिक प्रक्रिया से शुरू होती हे। बच्चो को जब कोई वस्तु दी जाती है तो बच्चे उसे भली प्रकार से देखते है या कभी कभी स्पर्श करके उसका अनुभव करते हैं। कभी कभी स्वाद सवेदना से उसे चखकर अपनी अभिवृत्ति विकसित करते है। इन प्रक्रियाओ के फलस्वरूप यदि बच्चे को सुख मिलता है तो उस वस्तु के प्रति उसका आकर्षण बढ जाता है तथा उसके विपरीत यदि इनसे दुखद भाव जन्म लेता है तो इसे वस्तु से बचना चाहते हैं या विरोधी अभिवृत्ति जन्म लेती है तथा अनाकर्षक बढता है ।

क्रियात्मक प्रहस्तन के माध्यम से वस्तु को शिशु स्पर्श करके या उसे तोड मरोड कर देखता हे। इस तरह से वह वस्तु को समझने की कोशिश करता है। उसमे भी सुखद एव दुखद अनुभूति के माध्यम से विधेयात्मक एव निषेधात्मक अभिवृत्ति विकसित करके आकर्षण एव अनाकर्षण का व्यवहार प्रदर्शित करता है।

तीसरी प्रक्रिया के दरम्यान बच्चा किसी वस्तु को समझने के लिए प्रश्न करता है। यह प्रश्न माता-पिता भाई बहिन तथा परिवार के अन्य सदस्यों से हो सकते हैं जो बच्चे के प्रति प्रेम रखते हैं। औसतन 3-4 वर्ष की आयु मे प्रश्नों की झडी लगाते हैं और कभी कभी प्रौढ लोग बच्चों पर अपना क्रोध एव नाराजगी भी प्रकट करते हैं।

अर्थ को समझने के लिए महत्वपूर्ण तीन प्रक्रियाओं पर भाषा, परिवार और बच्चों के पर्यावरण में उपस्थित वस्तुओं का भी प्रभाव पडता है।

बालको मे सम्प्रत्यय का विकास (Development of Concepts in Chiledren)

समानताओं एव असमानताओं के फलस्वरूप सामान्यीकरण एव विभेदन की योग्यता बच्चों में प्रात्यक्षिक एव तार्किक योग्यता के बाद देखने को मिलता है। सम्प्रत्यय विकास से बच्चे में समान एव असमान बस्तुओं को विभेदित करने की क्षमता विकसित होती है। सम्प्रत्यय के स्वरूप तथा निर्माण पर अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन किये हैं। अण्डरवुण्ड (underwood, 1965) ने सम्प्रत्यय निर्माण को एक सामान्यीकरण प्रक्रिया माना है जो वस्तुओं में उपस्थित अन्तर एव समानताओं के विभेदन का अनुगमन करता है । सरल शब्दों में समानता एव असमानता के आधार पर वस्तुओं को अलग करना ही सम्प्रत्यय निर्माण है। इसी प्रकार से आसगुड (Osgood 1953) ने सम्प्रत्यय को परिभाषित करते हुए लिखा है कि यह एक उभयनिष्ठ प्रक्रिया है जो किसी वस्तु के वर्ग (Class) के प्रति की जाती है, जिसके सदस्यों में उभयनिष्ठ विशेषताएँ होती हैं। बावर एव ब्रनेसो का मत है कि सम्प्रत्यय विकास वैयक्तिक

उत्तेजक आयामो का चयन है। तथा प्रयोगकर्ता द्वारा प्रदत्त सूचनात्मक प्रतिपूर्ति के आधार पर उनके मूल्यों को अनुक्रिया श्रेणियों से अनुबधित करना है।

उपर्युक्त परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि वस्तुओ को उनमें उपस्थित विशेषताओ के आधार पर क्रमबद्ध रूप से वर्गीकृत करना ही सम्प्रत्यय निर्माण है। अत सम्प्रत्यय निर्माण एक प्रकार की सामान्यीकरण प्रक्रिया है जिसके द्वारा समस्त गुणो वाले उद्दीपक एक निश्चित नाम एव वर्ग से सम्बोधित किये जाते हैं। इस आधार पर सम्प्रत्यय विकास के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष दिये जा सकते हैं—

(1) सम्प्रत्यय विकास प्रत्यक्ष सावेदिक प्रदत्त न होकर उनके विस्तार एव यौगिक के परिणाम होते है।
(2) पूर्वानुभव का महत्व सम्प्रत्यय विकास मे देखा जाता है ।
(3) सम्प्रत्यय विकास मे सामान्यीकरण तथा विभेदन की प्रक्रिया भी कार्य करती है।
(4) यह एक सगठित जटिल मानसिक प्रणाली है।
(5) प्रतीकों का उपयोग सम्प्रत्यय निर्माण में आवश्यक है ।
(6) सम्प्रत्यय विकास के फलस्वरूप व्यक्ति का व्यवहार परिमार्जित तथा चयनात्मक हो जाता है।
(7) सम्प्रत्यय निर्माण एव विकास मे भाषा की अहम भूमिका होती है।

सम्प्रत्यय निर्माण मे निहित प्रक्रियाएँ
(Process Involved In Concept Formation)

सम्प्रत्यय निर्माण मे निम्नलिखित प्रक्रियाओं की अहम् भूमिका होती है।

(1) निरीक्षण या अवलोकन (Observation)

बच्चे के सामने जब कोई वस्तु रखी जाती है तो वह सर्वप्रथम उसका भली प्रकार निरीक्षण या प्रत्यक्षीकरण करता है। अपने अनुभवो के आधार पर ज्ञात वस्तुओं से वह समानता एव असमानता ज्ञात करता है। समान वस्तु तथा असमान वस्तु को क्रमश अलग अलग वर्ग एव क्रम मे रखता है। समानता के आधार पर सामान्यीकरण तथा असमानता के आधार पर विभेदीकरण करना प्रारम्भ करता है। उसके फलस्वरूप सम्प्रत्यय विकास की योग्यता जन्म लेती है।

(2) विश्लेषण (Analysis)

वस्तुओं का निरीक्षण करने के बाद वह उसका विश्लेषण करता है। समान विशेषता वाली वस्तुओं को एक वर्ग में तथा असमान विशेषता वाली वस्तुओ को दूसरे वर्ग में रखता है। इसमें भी विश्लेषण के आधार पर सामान्यीकरण एव विभेदन करना सीखता है।

(3) तुलना (Comparison)

बच्चे पर्यावरण में विद्यमान वस्तुओं की तुलना करके निष्कर्ष निकालने का प्रयास करते हैं। तुलना प्रक्रिया के माध्यम से भी विभिन्न सम्प्रत्ययों का विकास होता है। इसमें भी वह तुलना वस्तु की विशेषता के आधार पर करता है ।

(4) सश्लेषण (Synthesis)

पर्यावरण में उपस्थित वस्तुओं में जो उभयनिष्ठ कारक या गुण होते हैं उनके आधार पर बच्चे उन वस्तुओं को एक निश्चित वर्ग (Class) का मानते हैं। यह प्रक्रिया सश्लेषणात्मक

प्रक्रिया के नाम से जानी जाती है । इस प्रक्रिया मे सामान्य गुणों क आधार पर वस्तुओं को वर्गीकृत किया जाता है तथा विशिष्ठ गुणो को महत्व नही दिया जाता है।

(5) नामकरण (Naming)

उपर्युक्त प्रक्रियाओं का प्रयोग करते हुए बच्चा वस्तुओ को एक नाम दे देता है जिसे नामकरण की सज्ञा दी जाती है। यह सम्प्रत्यय विकास की अतिम प्रक्रिया है। अधिगम के आधार पर वह नामकरण करता है। नामकरण मे भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण मानी गयी है। क्योकि नामकरण करना भाषा के बिना सम्भव नही है।

बालको मे विशिष्ट सम्प्रत्ययो का विकास

(Development of Specific Concepts In Children)

शिशु के सम्प्रत्यय निर्माण में परिपक्वता तथा अधिगम का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शिशु जैसे जैसे उद्दीपको के विषय मे ज्ञान प्राप्त करता जाता है वैसे वैसे वस्तुओ को नाम देने की क्षमता का विकास होता हे। शिशु के विकास की दशा मे अनेक विशेष सम्प्रत्ययो का निर्माण होता है जिनकी चर्चा यहॉ पर की जायेगी।

(1) आकृति का सम्प्रत्यय (Concept of Form) – बच्चों की आयु तथा अनुमान मे वृद्धि के फलस्वरूप उसमे प्रतिमान एव आकृति सम्प्रत्ययो की अधिगम की क्षमता में वृद्धि होती है। **मन एव स्टीनिग** (Munn and Steining 1931) के अनुसार औसतन 15 माह की आयु में बच्चे आकारो एव प्रतिमानो में अन्तर का प्रत्यक्षीकरण कर लेते है। फैटजर (1958) का मत है कि जन्म के बाद दो माह मे ही दृष्टिपरक प्रतिरूपो (visual Patterns) के प्रति सगति वरीयता पाई जाती है। **लिंज** (Linz 1941) ने 6 से 15 माह के 50 शिशुओ को विभिन्न आकार वाले वस्तुओं (वृत्त, त्रिभुज आदि) को दो समूहो को प्रस्तुत किया और 6 माह मे ही विभेदन प्राप्त किया । **टरमन एव मेरिल** (Terman and merril 1947, 1851) ने यह परिणाम प्राप्त किया कि 2 वर्ष के शिशु फार्म बोर्ड मे वृत्त, त्रिभुज आदि आकृतियों को व्यवस्थित कर लेते हैं। Gillermann (गिलरमैन 1933) ने भी यह निष्कर्ष दिया है कि 2 वर्ष के बच्चों में प्रतिमानों मे अन्तर सीख लेने की योग्यता विकसित हो जाती है।

Long (1940) तथा Skeels (1933) ने यह परिणाम प्राप्त किया कि शिशु में तीन आयामो वाली वस्तुओं में अन्तर समझने की योग्यता 42 46 महीने की आयु मे विकसित हो जाती है। **स्कील्स** (Skeels 1933) ने यह निष्कर्ष दिया है कि बच्चों मे आकार विभेदन की योग्यता सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण की योग्यता से पहले विकसित हो जाती है। **हाफ** एव **बिल** (1967) के अनुसार तीन छोटी-छोटी वस्तुओं मे विभेदन बच्चे कर सकते हैं। **मैक्काल** एव **कागन** (1971 ने बारहवें से छब्बीसवे माह के बीच विभिन्न आकार के वस्तुओं का ध्यान केन्द्रण की योग्यता बच्चों मे प्रदर्शित होती है।

क्रुडेन (Crudden 1941) के अनुसार आकार तथा पृष्ठभूमि के प्रत्यक्षीकरण की क्षमता 65-78 माह में बच्चों में प्रदर्शित होती है। आकृति के सम्प्रत्यय विकास पर उद्दीपकों का आकर्षण तथा उनकी स्पष्टता प्राप्त होने वाले पुरस्कार आदि का प्रभाव पडता है। गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों का मत है कि प्रात्यक्षिक सगठन के नियम भी सम्प्रत्यय विकास को प्रभावित करते हैं।

(2) **रग सम्प्रत्यय** (Colour concepts)—रग सम्प्रत्यय का विकास पूरी तरह से आयु अधिगम एव पूर्वानुभव का परिणाम होता है। नवजात शिशु में रगविभेदन की क्षमता का अध्ययन कई मनोवैज्ञानिको द्वारा किया गया। Munn (1938), Chase (1937), और Staples (1932) ने रगविभेदन की योग्यता का अध्ययन किया । चेज (chase 1937) का मत है कि 15 दिन की आयु के शिशु गतिशील रगीन उद्दीपको को विभेदित कर लेते है। उसी प्रकार के निष्कर्ष Staples (1932) ने रगीन एव रगहीन डिस्को का उपयोग करके दिया है कि बच्चे 3 माह की आयु में रगीन तथा रगहीन डिस्को को विभेदित किये । सामान्यतया 3-4 माह मे यह योग्यता प्रदर्शित होने लगती है। रग विभेदन की योग्यता पर आयु पूर्वानुभव एव परिवेश का स्पष्ट प्रभाव पडता है (Synolds & Pronko, 1949)।

कुछ मनोवैज्ञानिको द्वारा रगो की तुलना करने का व्यवहार (Colour Matching Behaviour) का अध्ययन किया गया। कुक (Cook, 1931) ने अपने अध्ययनो के परिणामो के आधार पर यह बतलाया है कि दो वर्ष की आयु मे बच्चों मे वर्ण के आधार पर रग तुलना मे 45% तक शुद्धता पायी जाती है और सतृप्ति (Saturation) के आधार पर सफलता कम प्रदर्शित करते है। टकर (Tucker, 1911) एव स्मिथ (Smith) (1943) का मत है कि नीले रग (Blue colour) को समतुल्य करने मे बच्चे अधिक परेशान होते है तथा पीले रग (Yellow colour) को समतुल्य करने मे कम परेशान होते हैं। 6 वर्ष की आयु में रग तुलना की योग्यता 97% तक प्राप्त हो जाती है। प्राथमिक रगों के प्रत्यक्षीकरण का विकास 10 वर्ष की आयु तक पूर्ण हो जाती है। हरलाक एवम् थाम्पसन (Hurlock & Thompson, 1954) का मत है कि रगो का शुद्ध प्रत्यक्षीकरण की क्षमता 4 8 वर्षो के बाच प्रदर्शित होती है। हारलो तथा कोले (Harlow 1945 and Cole 1953) ने कुछ अध्ययनों मे विभिन्न समस्याओं के समाधान में रग को महत्वपूर्ण सकेत के रूप में प्राप्त किया है। रगो के नामकरण मे आयु एव अधिगम का प्रभाव पडता है। रग वरीयता पर भी आयु का प्रभाव देखा गया है। कुक (Cook, 1931) के अनुसार 2 वर्ष के बच्चे प्राथमिक रगों का नाम 25% शुद्धता से ले लेते हैं एव 6 वर्ष की आयु में यही शुद्धता 62% तक पाई गयी। Staples (1932) का यह निष्कर्ष है कि अन्य रगों की अपेक्षा लाल रग पर 6 24 माह के बच्चों ने दो से पॉच गुना अधिक ध्यान केन्द्रित किया। अक्सर बच्चों को नीला, हरा तथा लाल रग अच्छा लगता है। वे सफेद, पीला और काला तथा नारगी रगों को पसद नही करते है। लडको को लाल तथा लडकियों को नीला एव जमुनियाँ रग अधिक अच्छा लगता है।

(3) **दिक् सम्प्रत्यय** (Concept of space)—जहाँ तक दिक् सम्प्रत्यय का प्रश्न है यह नवजात शिशुओं में नही प्रदर्शित होता है। आयु एव अधिगम में वृद्धि के साथ साथ दिक् सम्प्रत्ययो का विकास होता है। दूसरे वर्ष में बच्चो में दूर एव समीप रखे वस्तुओं मे अन्तर समझने की योग्यता दिखायी देने लगती है। दो वर्ष की आयु में उनमें दिशा (Directon) का भी ज्ञान होने लगता है। ध्वनि किस दिशा से आ रही है उसका पता वे अपना सिर मोडकर करने की कोशिश करते हैं। दूरी प्रत्यक्षीकरण में आँख एव कान दोनों ज्ञानेन्द्रियों का महत्व है। दूरी प्रत्यक्षीकरण जन्मजात योग्यता है या अर्जित उस पर भी काफी विवाद है। एक वर्ग के मनोवैज्ञानिक उसे जन्मजात मानते हैं तो दूसरा उसे अर्जित मानता है। Dennis (1934) ने

ऐसे जन्मान्ध व्यक्तियो का अध्ययन किया जिनको बाद में शल्यक्रिया के परिणामस्वरूप नेत्रज्योति प्रदान की गयी। ऐसे व्यक्ति नेत्र ज्योति पा जाने के बावजूद दूरी पर स्थित वस्तुओ तक पहुँचने मे कठिनाई का प्रदर्शन किये। Carr (1935) ने भी ऐसा ही परिणाम अपने अध्ययन में प्राप्त किया। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि दिक् सम्प्रत्यय अधिगम पर निर्भर करता है।

(4) **काल सम्प्रत्यय** (Concept of Time) – काल सम्प्रत्यय का विकास सबसे देर मे होता है। नवजात शिशु मे एव छोटे बच्चों मे काल का बोध नही रहता है। आयु बुद्धि एव अधिगम मे विवृद्धि के परिणामस्वरूप काल सम्प्रत्यय का विकास होता है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि 3 4 वर्ष की आयु मे बच्चो में समय का अनुमान करने की योग्यता नही दिखायी देती है। सात वर्ष के बच्चे घडी देखकर सही समय बताने मे असमर्थ होते हैं। 9 10 वर्ष की आयु में यह योग्यता पूर्णरूप से विकसित हो जाती है। गोल्डस्टीन, वोर्डमैन तथा लह्मान (1958) का मत है कि आठ वर्ष के बच्चे समय को छोटे अन्तराल मे भी बता सकते हैं। **एम्स** (Ames 1946) ने अपने अध्ययन मे यह प्राप्त किया कि 8 वर्ष की आयु तक के बच्चे से समय के बारे में प्रश्न पूछने पर बच्चों ने 'वर्तमान' (Present) से सम्बन्धित शब्दो को पहले, भविष्य (Future) से सम्बन्धित शब्दो से बाद मे तथा भूत (Past) से सम्बन्धित शब्दो को सबसे बाद में प्रयोग किये। **फ्रीडमेन** (1944) ने भी ऐसा ही परिणाम प्राप्त किया। इस काल सम्प्रत्यय के विकास पर कार्य की जटिलता (smith 1969), कोलाहल (Chatterjee 1960) यौन (Bell 1972), आयु (spingh 1952) एव मानसिक योग्यता (Raj 1972) का भी प्रभाव पडता है।

(5) **आकिक सम्प्रत्यय** (Concept of Numbers) – आक्कि सम्प्रत्यय की योग्यता विलम्ब से प्रदर्शित होती है। आकिक सम्प्रत्यय की योग्यता हेतु मानसिक योग्यता का होना आवश्यक है। इस योग्यता पर प्रशिक्षण एव अधिगम का भी प्रभाव पडता है। इस पर वैयक्तिक भिन्नताओ का भी प्रभाव देखा जाता है। **टरमन एव मेरिल** (Terman & Menill 1960) के अध्ययन मे सख्या सम्प्रत्यय से सम्बन्धित प्रदत्त इस प्रकार पाये गये। **उदाहरणार्थ**—4, 5, तथा 6 वर्ष की आयु के बच्चे क्रमश 2, 4 और 12 वस्तुओं की गणना कर सकते हैं। **इल्ग एव एक्स** (1951) ने पाया है कि एक वर्ष की आयु का बच्चा एक एक करके वस्तुओ को गिन सकता है। $2\frac{1}{2}$ वर्ष का बच्चा, 1, 2, 3 तथा 3 वर्ष का बच्चा दो वस्तुओं की गणना कर सकता है। 5 वर्ष की आयु में बच्चे 30 तक की गणना कर सकते हैं। 6 वर्ष की आयु का बच्चा 100 तक गिन सकता है। 9 वर्ष की आयु में यही गणना 1000 तक पहुँच जाती है। लडको की गणना की योग्यता लडकियों की तुलना में कमजोर होती है। समाजिक आर्थिक स्थिति का भी बच्चे की आकिक योग्यता पर प्रभाव पडता है। **पियाजे** (Piaget 1953) ने पूर्वाबाल्यावस्था में गणित में दिक् ज्यामितिय सम्प्रत्यय का विकास गणितीय परिमाणात्मक सम्प्रत्यय के पूर्व प्राप्त किया। Long and welsh (1944) के अनुसार 2-3 वर्ष की आयु के बच्चे सख्याओं को रटकर याद करते हैं और सुना भी सकते हैं।

(6) जीवन एव मृत्यु का सम्प्रत्यय (Concept of Life and Death)—नवजात शिशु जैसे-जेसे विकास की ओर अग्रसर होता है वैसे वैसे ही उसके उम्र अधिगम मे भी वृद्धि होती है। छोटे बच्चे जीवन एव मृत्यु का सम्प्रत्यय विकसित नही कर पाते हैं। वे सभी वस्तुओं को सजीव नही मानते है। परन्तु पर्यावरण के साथ समायोजन तथा अधिगम के फलस्वरूप सजीव एव निर्जीव में अन्तर करना सीख जाते हैं। प्रश्नो की शृखला की प्रक्रिया से ही जीवन और मृत्यु सम्प्रत्यय का विकास होता है। जिन वस्तुओं को वे गतिमान समझते हैं उसे सजीव तथा जिसे स्थिर समझते हैं उमे निर्जीव मान लेते है। जहॉ तक जीवन और मृत्यु सम्प्रत्यय का प्रश्न है उसका विकास लगभग उत्तरबाल्यावस्था (6 12 वर्ष) मे आ पाता है। फिर आयु मे वृद्धि के साथ साथ जीवन की गति तथा नियति का सम्प्रत्यय समझने लगते है।

प्रात्यक्षिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
(Influencing factors of Perceptual Development)

प्रात्यक्षिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित है—

(1) परिपक्वता (Maturation)

प्रात्यक्षिक विकास पर परिपक्वता का विशेष महत्व है। उपयुक्त मानसिक परिपक्वता के अभाव में प्रात्यक्षिक विकास का होना असभव है। उसका कारण यह है कि वस्तुओं में सामान्यीकरण और विभेदन की क्षमता मानसिक परिपक्वता के परिणामस्वरूप ही होती है। मानसिक परिपक्वता आ जाने पर यदि बच्चों को अभ्यास कराया जाय तो 3 4 वर्ष की आयु में वस्तुओ मे अन्तर करने की क्षमता प्रदर्शित होती है तथा अमूर्त वस्तुओं की बोधगम्यता भी प्रदर्शित होती है।

(2) सामाजिक परिस्थितियॉ (Social Situations)

सामाजिक परिस्थितियॉ प्रात्यक्षिक विकास को प्रभावित करती है। **उदाहरणार्थ**—आस्तिक परिवार के बच्चो मे ईश्वर सम्प्रत्यय नास्तिक परिवार के बच्चों की तुलना मे शीघ्र प्रदर्शित होगा। इसी प्रकार से शहरी एव ग्रामीण वातावरण का भी प्रात्यक्षिक विकास पर प्रभाव पडता है। उस योग्यता पर सास्कृतिक एव सामाजिक कारकों का अधिक प्रभाव पडता है।

(3) आर्थिक स्तर (Status Economic)

पारिवारिक आर्थिक स्थिति का स्पष्ट प्रभाव प्रात्यक्षिक विकास पर परिलक्षित होते हैं। उदाहरणार्थ मुद्रा का सम्प्रत्यय धनी परिवार के बच्चों में गरीब परिवार के बच्चों की तुलना मे शीघ्र प्रदर्शित होता है। उच्च आर्थिक स्तर परिवार के बच्चे विभिन्न आकार तथा मूल्य के सिक्कों का मूल्याकन न्यूनानुमान के रूप में करते हैं जबकि निम्न आर्थिक स्तर परिवार के बच्चे सिक्कों का मूल्याकन अल्पानुमान के रूप मे करते हैं।

(4) मानसिक विकार (Mental Disorders)

मानसिक आघात का विकार प्रात्यक्षिक विकास को प्रभावित करते हैं। मानसिक आघात से त्रस्त बच्चों में यह विकास विलम्ब से होता है या विकास अवरुद्ध हो जाता है। Golstein & Shirer (1941) का मत है कि मस्तिष्क आघात से ग्रस्त बच्चों में प्रात्यक्षिक विकास तथा सम्प्रत्यय विकास विलम्ब से होते हैं। इसलिए परिवार के सदस्यों विशेषरूप से

अभिभावको का यह धर्म एव कर्तव्य होता है कि बचपनावस्था मे बच्चो को मस्तिष्क आघात से बचाना चाहिए। मस्तिष्क आघात का शीघ्र उपचार भी कराना चाहिए जिससे सम्प्रत्यय विकास शीघ्र हो सके।

(5) ज्ञानेन्द्रियो मे दोष (Defects in Sens Organs)

यह सर्वविदित है कि प्रात्यक्षिक विकास मे दृष्टि एव श्रवण ज्ञानेन्द्रियो का विशेष हाथ होता है। यदि इन ज्ञानेन्द्रियो में जन्म के समय कोई दोष आ जाता है तो प्रात्यक्षिक विकास मे कठिनाई होती है। इस तरह से वस्तुओ का सज्ञानात्मक मानचित्र बनाने की योग्यता मे कमी आती है जो प्रात्यक्षिक विकास में बाधक होता है। Von senden (1932) ने यह परिणाम पाया है कि जन्मान्ध लोगो को यदि शल्य क्रिया द्वारा दृष्टि प्रतिस्थापित कर दिया जाये तो ऐसे लोग प्रारम्भ मे वस्तुओ को पहचान नही पाते है परन्तु वस्तुओ तक पहुँचने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं।

(6) अभिप्रेरणा (Motivation)

प्रात्यक्षिक विकास एव सम्प्रत्यय निर्माण मे अभिप्रेरणा का विशेष महत्व होता है। ऐसा कई अध्ययनो से परिमाण प्राप्त किया गया है कि यदि वस्तुओं में विभेदीरकण करते समय बच्चों को पुरस्कार दिया जाये तो यह उनकी योग्यता को अधिक सुदृढ करता है। कार्य करते समय यदि बच्चों को प्रेषित किया जाये तो कार्य का परिणाम अच्छा होता है। **शेफर एव मर्फी** (Schaffer and Murphy 1943) सोमर (Somar, 1957) तथा मैथ्यूज (Matheuz 1968) ने अपने अध्ययनों में अभिप्रेरणा के महत्व को प्राप्त किया है।

(7) अधिगम या प्रशिक्षण के अवसर (Opportunity for learning or training)

उपर्युक्त तत्वा के अतिरिक्त अधिगम या प्रशिक्षण के अवसर का बच्चो के सम्प्रत्यय निर्माण एव प्रात्यक्षिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है । परिपक्वता के अभाव में अधिगम लाभदायक नही होता है परन्तु परिपक्वता पा जाने पर यदि अधिगम या प्रशिक्षण की व्यवस्था बच्चे के लिए नही प्रदान की गयी तो उसका उचित विकास नही हो पाता है। ज्यूवेक एव सालवर्ग (Zubec & Solberg 1954) के अनुसार सम्प्रत्यय विकास मे अधिगम का विशेष महत्व है। Hebb (1949) के अनुसार मानव जीवन मे आयु वृद्धि के साथ साथ सम्प्रत्यय की योग्यता धीरे धीरे बढती है। अत अधिगम एव प्रशिक्षण का अवसर बच्चों को सम्प्रत्यय विकास हेतु प्रदान करना चाहिए ।

(8) अन्य कारक (Other factors)

उपर्युक्त कारको के अतिरिक्त कुछ ऐसे अन्य कारक भी है जिसका प्रभाव प्रात्यक्षिक विकास एव सम्प्रत्यय विकास पर देखा जाता है। इन कारकों में स्मृति, मानसिक योग्यता, चिन्ता एव सूचना प्रतिपूर्ति का विशेष स्थान है। Bourne & Dominowskc (1971) के अनुसार सम्प्रत्यय निर्माण में पूर्व उपलब्ध सूचनाओं का प्रभाव पडता है। डेनी (1966) के अनुसार सम्प्रत्यय विकास तीव्र बुद्धि वाले बच्चों की तुलना में मन्द बुद्धि वाले बच्चों में विलम्ब से होता है। Buss & Buss (1956) ने यह बताया है कि परिणाम का ज्ञान (Knowledge of Results) का प्रात्यक्षिक प्रक्रम पर अनुकूल प्रभाव पडता है।

प्रात्यक्षिक उपलब्धि एव सामाजिक व्यवहार
(Perceptual Achievements and Social Behaviour)

बच्चे मे जन्म के समय से लेकर पूर्व बाल्यावस्था के मध्य क्या क्या प्रात्यक्षिक एव सामाजिक व्यवहार परिलक्षित होते है उनका वर्णन निम्न तालिका में दर्शाया गया है—

	प्रात्यक्षिक उपलब्धि एव सामाजिक व्यवहार	आयु
(i)	प्रकाश का प्रत्यक्षीकरण	3 सप्ताह
(ii)	प्रकाश का पीछा करना तथा ध्वनि पर चौकना	6 सप्ताह
(iii)	प्रकाश का एक दिशा से दूसरी दिशा की तरफ पीछा करना। चमकदार रगीन प्रकार पर ध्यान केन्द्रित करना।	2 माह
(iv)	बातचीत करने पर मुस्कराना	2 माह
(v)	किलकारी मारना चेहरो पर ध्यान केन्द्रित करना	3 माह
(vi)	आमत्रण देना मुस्कराना, अपने क्लाई की तरफ लम्बे समय तक देखना	4 माह
(vii)	माता को पहचानना लेकिन अपरिचित के साथ आराम का अनुभव करना। क्रोध करना विरोध करना तथा बुद्धिमत्ता के साथ चिल्लाना या रोना	6 माह
(viii)	छोटे छोटे शब्दों का उच्चारण	10 माह
(ix)	शब्दों मे बातचीत करना अपरचितो से दूर रहना तथा भयभीत होना	1 वर्ष
(x)	बुद्धिमत्ता से बातचीत करना	$1\frac{1}{2}$ वर्ष
(xi)	कहानी एव घटनाओ का विश्लेषण करना तथा गाना	3 वर्ष

उपर्युक्त तालिका से यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चो में प्रात्यक्षिक उपलब्धि तथा सामाजिक व्यवहार जन्म से लेकर 3 वर्ष की आयु तक दिखायी देने लगते हैं। साथ ही साथ इन उपलब्धियों एव सामाजिक व्यवहारों को प्रशिक्षण एव अभ्यास द्वारा परिभाषित किया जा सकता है।

●

7

संवेगात्मक विकार

(Emotional Developmen

देनिक जीवा मे बच्चो में अनेक प्रकार के सवेग परिलक्षित हात है। इन सवेगो कारण बालक एव बालिकाओं के व्यवहार मे अनेक परिवतन नजर आते है। सवेग भाव अनुभूनि के अति निकट हाने के कारण जन भाव की मात्रा बढती है तो शरीर उद्दीप्त हो ज है। उस उद्दीप्त अवस्था को ही सवेग (भय, क्रोध, चिन्ता प्रेम ईर्ष्या जिज्ञासा आदि) कहते सवेग के कारण कभी-कभी व्यक्ति इतना प्रेरित हो जाता है कि वह बडे स बडे कार्य क चाहता है। इनका मानव विकास मे महत्वपूर्ण योगदान होता है । **वुडवर्थ** (1944) के अनु प्रत्येक सवेग एक अनुभूति है और साथ ही माथ क्रियात्मक रूप भी।

यग (young, 1943, 1961) के अनुसार सवेग सम्पूर्ण व्यक्ति का तीव्र उपद्रव इसकी उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है तथा इसमे व्यवहार चेतन अनुभव त अन्तरावयव क्रियाएँ सम्मिलित हैं। उन्ही के शब्दो में,

' Emotion is an acute disturbance of the individual as a who psychological inorigin, involving behaviour, conscious, experience a visceral functioning

इग्लिस ओर इग्लिस (English and English, 1938) ने सवेग को इस प्रकार परिभाषित किया है "सवेग एक जटिल भावना स्थिति है, इसमे गत्यात्मक तथा ग्रन्थ (Glandular) क्रियाएँ होती है अथवा यह वह जटिल व्यवहार है जिसमें अन्तरावयव क्रिय महत्वपूर्ण हैं ।

आइजैक एव उनके सहयोगियो (Eysenk etal, 1968) के अनुसार सवेग व्यावहा रूप से अनुभव के एक विशेष वर्ग से सम्बन्धित है। अधिकाश विद्वान इस बात से सहमत कि यह वह जटिल अवस्था है जिसमें व्यक्ति किसी वस्तु या परिस्थिति को अधिक बढा हु प्रत्यक्षीकरण करता है। इसमें बडे स्तर पर शारीरिक परिवर्तन होते हैं, उसमें व्यक्ति का व्यव पहुँच (Approach) या पलायन (Withdrawal) की ओर सगठित होता है तथा अनु आकषण या प्रतिकर्षण की सूचना देता है।

Eysenk etal (1968) के ही शब्दो मे

"It is applied to a distinctive category of experience—most write agree that it is a complex state involving heightened perception of object of situation wide spread bodily changes, an appraisal of f attraction or repulsion, and behaviour organised toward approach with drawl '

विभिन्न मनोवैज्ञानिको द्वारा दी गई परिभाषाओ से यह स्पष्ट होता है कि सवेग वह म शारीरिक प्रक्रिया है जिसमे व्यक्ति सवेगात्मक परिवेष मे वर्तमान उद्दीपक को प्रत्यक्षीकृत क चेतन अनुभव करता है जो उसमें शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न कर देते है ।

सवेगात्मक व्यवहार आत्मनिष्ठ होते है तथा इसमें भावात्मक अनुभव पाये जाते है। इस प्रकार से Ruch (1967) ने सवेग को एक प्रकार का चेतन अनुभव माना है और सवेगो के कारण अन्तरावयवी एव दैहिक परिवर्तन होते हैं। हरलॉक (Hurlock 1950) के अनुसार सवेग एक व्यापक शब्द है जिसमें उत्तेजित मनोदशाएँ एव शान्ति, भय मन बहलाव या सतुष्टि दोनों सम्मिलित हैं।

इन परिभाषाओं के आधार पर सवेग की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं—

(1) सवेगो के साथ शारीरिक परिवर्तन होते हैं। जैसे क्रोध का सवेग आने पर व्यक्ति का चेहरा लाल हो जाता है तथा चेहरा फडकने लगता है।

(2) सवेगों मे व्यापकता रहती है। ये मानसिक जीवन के सभी स्तरो पर पाये जाते हैं। बालक, अस्थिर मन वाले तथा अशिक्षित व्यक्तियों में ये प्रबल एव तीव्र रूप के होते हैं और चिन्तनशील व्यक्तियों में कुछ नियत्रित रूप में रहते हैं।

(3) सवेगो का मूल प्रवृत्तियों से गहरा सम्बन्ध है। जैसे—जगल में सिह को देखकर भय का सवेग उत्पन्न होता है और उसी के साथ-साथ भागने का व्यवहार होता है।

(4) ये वैयक्तिक रूप में पाये जाते हैं। ये सदैव व्यक्ति के मनोभावों तथा सवेदनात्मक स्थिति पर निर्भर रहते हैं।

(5) सवेगों में स्थानान्तरण तीव्रगति से होता है।

(6) ये बार बार प्रकट होते हैं। इनमें तीव्रता के क्रम का अभाव पाया जाता है। दूसरे ये अलग अलग परिस्थितियों में प्रकट होते हैं।

(7) सवेग के वश में होकर प्राणी ऐसी बात कह और काम कर जाता है कि बाद में उसे पश्चाताप होता है।

(8) ये समाप्त होकर भी मन में एक भाव (Affective feeling) छोड जाते हैं अर्थात्, उनका कुछ न कुछ प्रभाव रहता है। जैसे भय समाप्त होने पर दिल का धडकन जारी रहना।

(9) ये सभी दशा एव अवस्था में पाये जाते हैं। ये जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त किसी न किसी रूप में प्रदर्शित होते हैं।

(10) सवेगों के अधिक बढ जाने के कारण प्रवृत्तियों का दमन हो जाता है।

सवेगों पर हुए अध्ययनों से यह निष्कर्ष मिलता है कि स्वायत्त तत्रिकातत्र (Autonomus Nervous system) का प्रमुख भाग अनुकम्पी तत्र (Sympathetic system) सवेगात्मक दशाओं में निम्नाकित कार्यों को क्रियान्वित करता है—

(1) रक्तचाप तथा हृदय धडकन की गति में वृद्धि।

(2) श्वसन क्रिया में वृद्धि।

(3) नेत्रस्थ परिततत्रिका (Pupils) में फैलाव या प्रसरण ।

(4) त्वचा के विद्युतीय प्रतिरोध में कमी।

(5) रक्तसर्करा में वृद्धि।

(6) आमाशयी-अतडियों की गतिशीलता में कमी या उसका बन्द होना, रक्त का आमाशय एव ऑतों से मस्तिष्क एव कपालीय पेशियों में पाया जाना।

(7) चोट लगने की दशा में रक्त का शीघ्र जमना।

(8) रोमो का खडा होना रोमाचक की अनुभूति होना।

सवेगो की समाप्ति पर सह अनुकम्पी तत्रिका तत्र अपना कार्य शुरू करता है ओर ऊर्जा की बचत करता है फिर व्यक्ति सामान्य अवस्था मे आ जाता है।

अधिकाश मनोवैज्ञानिक यह स्वीकार करते है कि जन्म के समय बच्चे मे कुछ असक्षिप्त उत्तेजनाएँ (Diffuse excitenents) पायी जाती है। यही असक्षिप्त उत्तेजनाएँ साहचर्य और विभेदीकरण के आधार पर कुछ दशाओ से सम्बन्धित होकर गत्यात्मक अनुक्रिया के रूप मे सवेगो का रूप ग्रहण कर लेती है। कुछ मनावैज्ञानिको ने सवेगो का एक विशेष स्रोत दुख सुख प्रेम ओर चिन्ता इत्यादि तादात्मीकरण (Identification) के आधार पर माना है। मूल प्रवृत्ति के सिद्धान्त के समर्थको के अनुसार तथा आधुनिक Ethology के अनुसार सवेग पूर्वजो से अर्जित तथा भिन्न अस्तित्व है (Emotions are inherited and distiset entities)। इन मनोवैज्ञानिकों ने यह भी स्वीकार किया है कि सवेग मूल प्रवृत्ति सम्बन्धी व्यवहार हेतु चालक शक्ति का कार्य करते है। कुछ मनोवैज्ञानिको ने सवेगो की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण सवेगो की विकासात्मक यत्र रचना (Developmental Mechanism) को महत्व दिया है। **हारलो** (Harlow, 1958) ने नवजात शिशु के प्रारभिक जीवन में इन्द्रियबोध सम्बन्धो के आधार पर सवेगों की उत्पत्ति बतलाइ है। **बोल्बे** (Bowlby, 1969) ने सवेगों की उत्पत्ति में मातृत्व विलगीकरण (Maternal seperation) को अधिक महत्वपूर्ण माना है। व्यवहारवादियो ने सवेगो की उत्पत्ति मे अधिगम प्रक्रियाएँ विशेष रूप से प्राचीन अनुबधन के महत्व का अध्ययन किया है। आइजैक (Eysenk, 1967) ने अधिगम योग्यता और वैयक्तिक भिन्नता को अधिक महत्वपूर्ण माना है।

गोल्डस्टीन (Goldstein 1968) ने सवेगात्मक व्यवहार से अनेक न्यूरोलाजिकल सरचनाएँ तथा परिभ्रमण पथ सम्बन्धित होते हैं ऐसा माना जाता है। **पपेज** (Papez, 1937) के अनुसार सवेग लिम्बिक व्यवस्था से सम्बन्धित होते है। **डफी** (Duffy, 1962) ने यह सुझाव दिया है कि

"Emotion falls on the extreme of a single arousal continuy'

कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिको (Gelhorn & Loufbourrow 1953, Eysenck 1967, Roultenberg 1968) ने सक्रियकरण व्यवस्था (Activating system) तथा लिम्बिक व्यवस्था मे भेद किया है। इन विद्वानो के अनुसार यद्यपि दोनो सम्प्रत्यय दैहिक रूप से सम्बन्धित होते हुए भी सम्प्रत्यात्मक रूप से भिन्न किये जा सकते हैं।

सवेगो का विकास (Devleopment of Emotions)

प्राय देखा गया है कि अपरिपक्व शिशु भी जन्मोपरान्त कुछ सवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ प्रदर्शित करते है। नवजात शिशु की तुलना मे परिपक्व बच्चे भी जन्म के समय कुछ अधिक सवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ प्रदर्शित करते है। Hurlock (हरलाक, 1978) का इस सम्बन्ध में विचार है कि सवेगात्मक व्यवहार के प्रथम लक्षणों में नवजात शिशुओ में केवल सामान्य उत्तेजनाएँ पाई जाती है। ये सामान्य उत्तेजना 'नवजात' शिशु में उस समय ही पाई जाती हैं जब उनके सम्मुख अधिक शक्तिशाली और तीव्र उद्दीपक प्रस्तुत किये जाते हैं। **हरलाक** (1978) का यह भी मानना है कि इन नवजात शिशुओ में विशिष्ट सवेगों से सम्बन्धित स्पष्ट और निश्चित सावेगिक प्रतिमान नही पहचाने जा सकते है। यद्यपि नवजात शिशु में केवल कुछ ही दिनो बाद दो प्रकार के प्रत्युत्तर दिखायी देते है। प्रथम प्रकार का प्रत्युत्तर सुखद होता है तो नवजात शिशु मे स्तनपान कराते समय, उसे सहलाते समय तथा उपर्युक्त तापमान के वातावरण

सवेगात्मक व्यवहार आत्मनिष्ठ होते है तथा इसमें भावात्मक अनुभव पाये जाते हे। इस प्रकार से Ruch (1967) ने सवेग को एक प्रकार का चेतन अनुभव माना है और सवेगों के कारण अन्तरावयवी एव दैहिक परिवर्तन होते हैं। हरलॉक (Hurlock 1950) के अनुसार सवेग एक व्यापक शब्द है जिसमे उत्तेजित मनोदशाएँ एव शान्ति, भय मन बहलाव या सतुष्टि दोनो सम्मिलित हैं।

इन परिभाषाओं के आधार पर सवेग की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं—

(1) सवेगों के साथ शारीरिक परिवर्तन होते हैं। जैसे क्रोध का सवेग आने पर व्यक्ति का चेहरा लाल हो जाता है तथा चेहरा फडकने लगता है।

(2) सवेगों मे व्यापकता रहती है। ये मानसिक जीवन के सभी स्तरो पर पाये जाते हैं। बालक, अस्थिर मन वाले तथा अशिक्षित व्यक्तियों में ये प्रबल एव तीव्र रूप के होते हैं और चिन्तनशील व्यक्तियों में कुछ नियत्रित रूप में रहते हैं।

(3) सवेगो का मूल प्रवृत्तियों से गहरा सम्बन्ध है। जैसे—जगल में सिह को देखकर भय का सवेग उत्पन्न होता है और उसी के साथ-साथ भागने का व्यवहार होता है।

(4) ये वैयक्तिक रूप में पाये जाते हैं। ये सदैव व्यक्ति के मनोभावो तथा सवेदनात्मक स्थिति पर निर्भर रहते हैं।

(5) सवेगो मे स्थानान्तरण तीव्रगति से होता है।

(6) ये बार बार प्रकट होते हैं। इनमें तीव्रता के क्रम का अभाव पाया जाता है। दूसरे ये अलग अलग परिस्थितियों में प्रकट होते हैं।

(7) सवेग के वश में होकर प्राणी ऐसी बात कह और काम कर जाता है कि बाद में उसे पश्चाताप होता है।

(8) ये समाप्त होकर भी मन में एक भाव (Affective feeling) छोड जाते हैं अर्थात् उनका कुछ न कुछ प्रभाव रहता है। जैसे भय समाप्त होने पर दिल का धडकन जारी रहना।

(9) ये सभी दशा एव अवस्था में पाये जाते हैं। ये जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त किसी न किसी रूप में प्रदर्शित होते हैं।

(10) सवेगों के अधिक बढ जाने के कारण प्रवृत्तियों का दमन हो जाता है।

सवेगों पर हुए अध्ययनों से यह निष्कर्ष मिलता है कि स्वायत्त तत्रिकातत्र (Autonomus Nervous system) का प्रमुख भाग अनुकम्पी तत्र (Sympathetic system) सवेगात्मक दशाओ में निम्नाकित कार्यों को क्रियान्वित करता है—

(1) रक्तचाप तथा हृदय धडकन की गति में वृद्धि।

(2) श्वसन क्रिया में वृद्धि।

(3) नेत्रस्थ परितत्रिका (Pupils) में फैलाव या प्रसरण।

(4) त्वचा के विद्युतीय प्रतिरोध में कमी।

(5) रक्तसर्करा में वृद्धि।

(6) आमाशयी-अतडियों की गतिशीलता में कमी या उसका बन्द होना, रक्त का आमाशय एव ऑतों से मस्तिष्क एव कपालीय पेशियों में पाया जाना।

(7) चोट लगने की दशा में रक्त का शीघ्र जमना।

(8) रोमो का खडा होना रोमाचक की अनुभूति होना।

सवेगो की समाप्ति पर सह अनुकम्पी तन्त्रिका तत्र अपना कार्य शुरू करता है और ऊर्जा की बचत करता है फिर व्यक्ति सामान्य अवस्था मे आ जाता है।

अधिकाश मनोवैज्ञानिक यह स्वीकार करने है कि जन्म के समय बच्चे मे कुछ असक्षिप्त उत्तेजनाएँ (Diffuse excitenents) पायी जाती है। यही असक्षिप्त उत्तेजनाएँ साहचर्य और विभेदीकरण के आधार पर कुछ दशाओ से सम्बन्धित होकर गत्यात्मक अनुक्रिया के रूप मे सवेगो का रूप ग्रहण कर लेती है। कुछ मनावैज्ञानिको ने सवेगो का एक विशेष स्रोत दुख सुख प्रेम और चिन्ता इत्यादि तादात्मीकरण (Identification) के आधार पर माना है। मूल प्रवृत्ति के सिद्धान्त के समर्थको के अनुसार तथा आधुनिक Ethology के अनुसार सवेग पूर्वजो से अर्जित तथा भिन्न अस्तित्व है (Emotions are inherited and distiset entities)। इन मनोवैज्ञानिको ने यह भी स्वीकार किया है कि सवेग मूल प्रवृत्ति सम्बन्धी व्यवहार हेतु चालक शक्ति का कार्य करते है। कुछ मनोवैज्ञानिको ने सवेगो की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण सवेगो की विकासात्मक यत्र रचना (Developmental Mechanism) को महत्व दिया है। **हारलो** (Harlow, 1958) ने नवजात शिशु के प्रारभिक जीवन में इन्द्रियबोध सम्बन्धो के आधार पर सवेगो की उत्पत्ति बतलाई है। **बोल्वे** (Bowlby, 1969) ने सवेगो की उत्पत्ति मे मातृत्व विलगीकरण (Maternal seperation) को अधिक महत्वपूर्ण माना है। व्यवहारवादियों ने सवेगो की उत्पत्ति मे अधिगम प्रक्रियाएँ विशेष रूप से प्राचीन अनुबधन के महत्व का अध्ययन किया है। आइजैक (Eysenk, 1967) ने अधिगम योग्यता और वैयक्तिक भिन्नता को अधिक महत्वपूर्ण माना है।

गोल्डस्टीन (Goldstein 1968) ने सवेगात्मक व्यवहार से अनेक न्यूरोलाजिकल सरचनाएँ तथा परिभ्रमण पथ सम्बन्धित होते हैं ऐसा माना जाता है। **पपेज** (Papez, 1937) के अनुसार सवेग लिम्बिक व्यवस्था से सम्बन्धित होते है। **डफी** (Duffy, 1962) ने यह सुझाव दिया है कि

' Emotion falls on the extreme of a single arousal continuy

कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिको (Gelhorn & Loufbourrow 1953, Eysenck 1967, Roultenberg 1968) ने सक्रियकरण व्यवस्था (Activating system) तथा लिम्बिक व्यवस्था में भेद किया है। इन विद्वानों के अनुसार यद्यपि दोनों सम्प्रत्यय दैहिक रूप से सम्बन्धित होते हुए भी सम्प्रत्यात्मक रूप से भिन्न किये जा सकते हैं।

सवेगो का विकास (Devleopment of Emotions)

प्राय देखा गया है कि अपरिपक्व शिशु भी जन्मोपरान्त कुछ सवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ प्रदर्शित करते है। नवजात शिशु की तुलना मे परिपक्व बच्चे भी जन्म के समय कुछ अधिक सवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ प्रदर्शित करते हैं। Hurlock (हरलाक, 1978) का इस सम्बन्ध में विचार है कि सवेगात्मक व्यवहार के प्रथम लक्षणों मे नवजात शिशुओ में केवल सामान्य उत्तेजनाएँ पाई जाती है। ये सामान्य उत्तेजना 'नवजात' शिशु में उस समय ही पाई जाती है जब उनके सम्मुख अधिक शक्तिशाली और तीव्र उद्दीपक प्रस्तुत किये जाते हैं। **हरलाक** (1978) का यह भी मानना है कि इन नवजात शिशुओं में विशिष्ट सवेगों से सम्बन्धित स्पष्ट और निश्चित सावेगिक प्रतिमान नही पहचाने जा सकते हैं। यद्यपि नवजात शिशु में केवल कुछ ही दिनो बाद दो प्रकार के प्रत्युत्तर दिखायी देते है। प्रथम प्रकार का प्रत्युत्तर सुखद होता है तो नवजात शिशु में स्तनपान कराते समय, उसे सहलाते समय तथा उपर्युक्त तापमान के वातावरण

मे दिखायी देना है। आर्बिसन (Orbison, 1952) का विचार है कि "The baby shows his pleasure, by a general relaxation of the entire body, not, as he will later by smiling or laughing'

दूसरे प्रकार का प्रत्युत्तर दुखद होता है। इस समय बन्चे दुखद प्रत्युत्तर प्रदर्शित करते हैं जब उसकी त्वचा से कोई अधिक ठण्डी या गर्म चीज स्पर्श कराई जाये अचानक तेज आवाज की जाये अथवा बच्चे की स्थिति अव्यवस्थित तरीके से बदल जाये तो बच्चे मे मास (Mass) प्रतिक्रियाएँ देखी जाती है तथा बच्चा क्रन्दन का आरम्भ कर देता है। स्पष्ट है कि सवेग जन्मजात नही होते है बल्कि सवेगो का विकास बच्चे मे शनै-शनै जैसे वह वातावरण के सम्पर्क मे आता है नो सवेगो का विकास होता है। सवेगात्मक विकास को वशानुक्रम, स्वाम्थ्य जन्मक्रम पर्यावरण आदि कारक प्रभावित करते हैं। जब बालक लगभग 1 वर्ष का हो जाता है उसकी सावेगिक अभिव्यक्ति प्रौढ जैसी हो जाती है। आयु मे वृद्धि होने के साथ साथ बच्चे में भय, क्रोध प्रेम, प्रसन्नता ईर्ष्या आकुलता, जिज्ञासा आदि सवेगो का विकास होता रहता है।

(1) सवेग एव परिपक्वता (Emotion and Maturation)

गुडएनफ (Goodenough, 1932) ने Photographic Method की सहायता से एक दसवर्षीय अन्धी और बहरी बालिका के सवेगो के अध्ययन मे मुख्यात्मक अभिव्यक्तियों मे फोटोग्राफ्स लेकर इन फोटोग्राफ की तुलना सामान्य बालकों के सवेगो की मुख्यात्मक अभिव्यक्तियो के चित्रो से की। अध्ययन के परिणामस्वरूप यह पाया गया कि क्रोध, भय, प्रेम प्रसन्नता, और घृणा आदि के सवेगो का प्रदर्शन अन्धी बहरी बालिका ने उसी प्रकार किया जिस प्रकार से सामान्य बालक करते हैं। इस तरह से प्रस्तुत अध्ययन परिपक्वता के महल को दर्शाता है। **जोन्स** (Jones, 1928) ने भी अपने अध्ययन में भय सवेग के विकास में परिपक्वता के महत्व को पाया। इसी प्रकार के परिणाम **गेसेल** (Gesell, 1929), **ब्लैज** इत्यादि (Blatz etal 1935) एवम् ब्रिजेज (Bridges, 1932) ने भी अपने अध्ययनों मे पाया।

(2) सवेग एव अधिगम (Emotion and Learning)

सवेगो के विकास मे अधिगम का विशेष महत्व होता है। अनेक प्रयोगात्मक अध्ययनों मे यह पाया गया कि बालक सवेगो का अधिगम अनुकरण, सूत्र तथा अनुबधन आदि के आधार पर सीखते हैं। स्वय **ब्रिजेज** (Bridges, 1932) ने सवेगो का विकासात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत करने के बावजूद भी यह माना है कि सवेगो का विकास तथा विभेदन पर अधिगम का स्पष्ट प्रभाव पडता है। **वाट्सन** (Watson, 1920) ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया कि भय, क्रोध, प्रेम आदि सवेगों को अनुबधन द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। **वाट्सन एव रेनट** (Watson and Raynor, 1920) ने Albert नामक बच्चे मे भय के विकास का अध्ययन अनुबधन द्वारा किया है। अध्ययन के समय अलवर्ट की आयु 7 माह थी।

अलबर्ट को अनेक प्रकार के उद्दीपक कुत्ता, बदर, सफेद चूहा, खरगोश आदि दिखाये गये। परन्तु उसमे भय का प्रदर्शन नही हुआ। इसके पश्चात् उसे प्रशिक्षण अवधि में रखा गया। इस प्रशिक्षण अवधि में सर्वप्रथम उसके सामने खरगोश रखा गया वह खरगोश से खूब खेल रहा था तभी पीछे से एक तेज ध्वनि प्रस्तुत की गयी। इस ध्वनि को सुनते ही बालक चौंक कर मुँह के बल गिर पडा। दूसरी बार भी जब वह खेल रहा था तो पुन पहले जैसे ही ध्वनि उत्पन्न की गई। इस प्रकार बच्चो में क्रन्दन का व्यवहार देखा गया तथा वह सहायता के लिए रोया भी। उस परिस्थिति के पुनरावृत्ति पर यह देखा गया कि जिस खरगोश के साथ

अलवर्ट प्रेम से खेल रहा था अब उसे देखकर ही डरने लगा। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो रहा है कि सवेग अनुबधन के फलस्वरूप विकसित होना हे। **जरसिल्ड एव होम्स** (Iersild and Holmes, 1935) ने सवेगो के सामान्यीकरण के पक्ष मे परिणाम प्राप्त किया है। **स्किनर** (1957) ने भी मवेगो के विकसित होने मे अनुबधन को महत्वपूर्ण माना है। **मिलर** (Miller, 1948) ने भी सवेगो के सामान्यीकरण को अपने परिणामो के आधार पर प्रमाणित किया है। बच्चे अपने परिवार के सदस्यो के सवेगात्मक व्यवहारो का अनुकरण करते देखे जाते है यदि किसी बच्चे को परिवार मे पिता ने डॉट सुना दी तो वह अवसर आने पर अपने से छोटे बच्चो पर पिता की तरह क्रोध करता है। **इस्केलोना** (Escalona, 1945) का मत हे कि माता के सवेगो का प्रभाव बच्चो पर स्पष्ट रूप से पडता है। **उदाहणार्थ**—माता के चिन्तित रहने पर बच्चो का चेहरा उदास हो जाता है और अपना भोजन प्रसन्नतापूर्वक नही ग्रहण करता है।

उपर्युक्त विवेचनो से यह स्पष्ट हो रहा है कि सवेग के विकास पर परिपक्वता अधिगम, अनुबधन तथा अनुकरण का प्रभाव पडता है। अधिगम के परिणामस्वरूप सवेगो मे विभेदीकरण होता हे और अस्पष्ट सवेग स्पष्ट सवेग का रूप ले लेते है। इसलिए परिपक्वता एव अधिगम दोनो एक दूसरे के पूरक के रूप मे सवेगात्मक विकास को बल देते है। आयु वृद्धि तथा अधिगम मे वृद्धि होने के साथ साथ सवेगों की सख्या में भी वृद्धि होती है।

बालको तथा प्रौढो के सवेगो मे अन्तर

(Differences between children's and Adults Emotions)

यदि बालको एव प्रौढो के सवेगों का अवलोकन किया जाय तो ऐसा दिखायी देता है कि दोनो के सवेगो मे पर्याप्त अन्तर एव विभिन्नता प्रदर्शित होती है। बालकों में सवेगों का स्वरूप, अभिव्यक्ति करने का ढग, अवधि तथा सख्या इत्यादि प्रौढ लोगों के सवेगों से अलग होने है । बालको एव प्रौढो के सवेग में एक मौलिक अन्तर यह होता है कि बालक का सवेग स्वाभाविक होता है जबकि प्रौढ का सवेग समयानुसार तथा परिस्थिति के अनुसार होता है। प्रौढो के सवेग दीर्घकालिक होते है जबकि बालकों मे अल्पकालिक सवेग पाये जाते हैं। प्रौढों का सवेग नियन्त्रित होता हे जबकि बालको के सवेग अनियन्त्रित होते हैं। इन विशेषताओं को ध्यान मे रखते हुए निम्नलिखित अन्तर बालक एव प्रौढ के सवेग में किये जा सकते हैं—

(1) बालको के सवेग प्रौढो के सवेग की तुलना मे अल्पकालिक होते है
(Children's Emotion are brief than Adult's emotions)

बालक मे प्रदर्शित होने वाला सवेग प्रौढ की तुलना में कम समय के लिए होता है। यदि बालक के सवेग का अध्ययन अवलोकन विधि द्वारा किया जाये तो ऐसा परिणाम मिलेगा कि बालकों के सवेग क्षणिक होते है। **उदाहरणार्थ**—बालक क्षण मे ही प्रसन्नता का भी प्रदर्शन करता है तथा क्षण भर मे ही रोने लगता है। परन्तु उसके विपरीत प्रौढ के सवेगों की अवधि लघुकालिक न होकर दीर्घकालिक होती है तथा उसका पश्चात् प्रभाव भी कुछ समय तक मस्तिष्क में बना रहता है। बालक सवेग के प्रदर्शन में समय एव परिस्थिति का ख्याल नही रखते हैं जबकि प्रौढ का सवेग समय एव परिस्थिति पर पूर्णरूप से निर्भर करता है।

(2) बालको के सवेग प्रौढो की तुलना मे तीव्र होते है
(Children s emotions are intense than adults Emotions)

बालकों के सवेग की तीव्रता अधिक होती है । उसमें सवेग का प्रदर्शन स्वाभाविक होता है। उसमे नियत्रण करने की क्षमता कम पाई जाती है। इसके विपरीत प्रौढ अपने सवेग

को बुद्धिमत्ता से नियत्रित करने मे सफल होते है। आयु तथा अनुभव मे वृद्धि के परिणामस्वरूप बच्चे भी सवेग नियत्रण मे परिपक्व हो जाते है या उसका सवेगात्मक व्यवहार प्रौढ के जैसा हो जाता है।

(3) बालको के सवेग प्रोढो की तुलना मे सक्रमणकालीन होते है

(Children's emotions are transitory than Adult s emotions)

बच्चो ने सवेगो मे सक्रमणकालीनता शीघ्र प्रदर्शित होती है। **उदाहरणार्थ**—बच्चो मे रोना, हँसना मुस्कराना, ईर्ष्या प्रेम आदि शीघ्र प्रदर्शित भी होते है तथा उनके अदृश्य होने में भी समय कम लगता है। सक्षिप्त अर्थो मे यह कहा जा सकता है कि बच्चो के सवेग परिवर्तनशील होते है जबकि प्रौढो मे परिवर्तनशीलता कम प्रदर्शित होती है। बच्चो मे सवेगो के परिवर्तनशीलता मे अनुभव की कमी तथा ध्यान विस्तार की कमी का विशेष हाथ होता है। प्रौढ में अनुभव तथा ध्यान विस्तार ज्यादा होने के कारण उनमे सवेग परिवर्तनशीलता शीघ्र नही होती है।

(4) बालको के सवेग प्रोढो की तुलना मे शीघ्र प्रदर्शित होते हे

(Children's emotions appear frequently than Adults)

बालको में अनुभव की कमी तथा समायोजन न करने की योग्यता के कारण अपने सवेग को यथावत प्रदर्शित करते है जबकि प्रौढ मे समायोजन की क्षमता ज्यादे होती है तथा अनुभव का विस्तार भी होता है इसके कारण प्रौढ के सवेग का प्रदर्शन यथावत नही होता है बल्कि उसका परिवर्तित रूप ही प्रदर्शित होता है। प्रौढ लोग अपने सवेगात्मक व्यवहार को नियत्रित करने मे सफल पाये जाते है जबकि बच्चों मे नियत्रित करने की क्षमता कम होती है।

(5) बालको की सवेगात्मक अनुक्रियाएँ प्रौढो की तुलना मे भिन्न होती है

(Children's emotional responses are different than Adults)

नवजात शिशु से लेकर विभिन्न अवस्थाओं के बच्चो का सवेगात्मक व्यवहार अलग अलग होता है। उदाहरणार्थ भय के कारण कोई बच्चा रोकर भागने का प्रयास करता है तथा कम आयु का बच्चा भागने के बजाय छिपने का कार्य कर सकता है। **जानसन** (Jonson, 1936) ने नर्सरी स्कूल के बच्चो पर अध्ययन करके ऐसा ही परिणाम प्राप्त किया है।

(6) सवेग एव व्यवहार के लक्षण बालको तथा प्रौढो मे समान नही होते है

(Emotions and symptoms of behaviour are not same in Children and Adults)

प्रौढ व्यक्ति अपने सवेग नियत्रित करने तथा छिपाने मे सफल होता है जबकि बच्चो में ऐसी क्षमता आयु एव अनुभव मे वृद्धि के बाद देखी जा सकती है। बच्चो के सवेग का अनुमान उनके व्यवहार से लगा सकते है जबकि प्रौढों के सवेग का अनुमान सदैव व्यवहार से लगाना मुश्किल होता है। प्रौढ अपने सवेग को समय एव परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित कर लेता है जबकि बालक ऐसा नही कर पाते है।

उपर्युक्त विशेषताओ से यह स्पष्ट हो रहा है कि बच्चों तथा प्रौढों के सवेग अलग-अलग तथा समयानुसार होते है । दोनों के अभिव्यक्त एव प्रदर्शन करने का तरीका भिन्न होता है। आयु तथा अनुभव मे वृद्धि के साथ साथ बच्चे भी सवेगात्मक नियत्रण कर लेते हैं।

मानव शिशुओ मे सवेगो का विकास
(Development of emotions in Human Infants)

मानव शिशुओं में उत्पन्न होने वाले सवेग के विकास को स्पष्ट करने हेतु कई सिद्धान्तों का उद्भव हुआ। **गेलहार्न** (Gelhorn, 1961) के अनुसार 18वी शताब्दी के अन्त मे **जेम्स** (1926) ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसका महत्व आज सवेगात्मक विकास मे देखा जा सकता है। जैसा कि जेम्स ने दैहिक परिवर्तनों का अनुभव ही सवेग के रूप में होता है की व्याख्या की है। जेम्स के अलावा कैनन (1927) एव वार्ड (1928) इत्यादि ने भी सवेगात्मक व्यवहार की व्याख्या हेतु अपने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये। आगे चलकर इन सिद्धान्तो को मिलाकर एक ही रूप से दिया गया जिससे दो सिद्धान्त प्रकाश में आये। प्रथम जेम्स लैन्ज का सिद्धान्त तथा दूसरा कैनन वार्ड का सिद्धान्त। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त मात्र तात्कालिक सवेगात्मक व्यवहार की ही व्याख्या करते हैं। यहाँ पर उन सिद्धान्तों की व्याख्या करना उचित होगा जो सवेगात्मक विकास को दर्शाते हैं।

(1) प्राथमिक सवेगो का सिद्धान्त (Theory of Primary Emotions)

प्राथमिक सवेगों का सिद्धान्त महान व्यवहारवादी वाट्सन (Watson, 1926) द्वारा प्रतिपादित किया गया। वाट्सन ने अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया कि बालक में तीन सवेग भय, क्रोध एव प्रेम जन्म से ही पाये जाते हैं। वाट्सन ने इन तीन सवेगों को प्राथमिक, मौलिक एव जन्मजात माना। इसलिए इसके सिद्धान्त को प्राथमिक सवेगों का सिद्धान्त का नाम दिया गया। इन सवेगों का अध्ययन वाट्सन ने कष्टदायक एव सुखद परिस्थितियों में बच्चे को रुकावट किया तथा पुन सवेगों का प्रदर्शन बच्चों में प्राप्त किया। वाट्सन के मतानुसार इन्हीं प्राथमिक सवेगों के फलस्वरूप बालकों में आगे चलकर अन्य सवेगों का विकास होता है। वाट्सन के इस विचार में परिपक्वता एव अधिगम के प्रभाव का पुट मिलता है। आगे चलकर इस सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई तथा वाट्सन के सिद्धान्त को अस्वीकृत भी कर दिया गया। **इरविन** (Irwin, 1930) ने अपने अध्ययनों में यह परिणाम पाया कि भय या क्रोध किसी भी तीव्र उद्दीपक के कारण बच्चों में उत्पन्न हो सकता है। इसी आधार पर **शेरमैन** (sherman) ने भी वाट्सन के सिद्धान्त की कटु आलोचना की। शेरमैन के अनुसार नवजात शिशु में कोई भी सवेग प्रदर्शित नहीं होता है। वास्तव में शिशुओं में सुखद एव दुखद भाव का ही अनुमान लगाया जा सकता है न कि भाव के वास्तविक कारणों का पता लगा सकते हैं। इस आधार पर वाट्सन का सिद्धान्त विशेष महत्व का नही समझा गया ।

(2) संवेगों का विकासात्मक सिद्धान्त (Genetic theory of Emotions)

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने यह ज्ञात करने का प्रयास किया कि निश्चित आयु में किस प्रकार संवेगात्मक प्रतिमान अनुक्रम बच्चों में प्रदर्शित होते हैं। विभिन्न प्रयोगात्मक अध्ययनों एव शोधों से ऐसा ज्ञात हुआ कि विभिन्न आयु स्तर में बच्चों में समान रूप से सवेगात्मक प्रतिमान प्रदर्शित रहते हैं। आयु तथा अनुभव में वृद्धि होने के फलस्वरूप इन सवेगात्मक प्रतिमानों में परिवर्तन भी होता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि इन मनोवैज्ञानिकों द्वारा (Blatz, Bolt, and Millichamp, 1935) की गयी। ब्रिजेज (Bridges 1921) ने भी सवेगों के विकास पर अपना अध्ययन किया तथा जननात्मक अनुक्रम सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार किया ।

ब्रिजेज ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत की कि जन्म के समय शिशु मे अविभेदित उत्तेजना पाई जाती है परन्तु आयु मे वृद्धि के फलस्वरूप अन्य सवेगों की उत्पत्ति मभव होती है। ब्रिजेज के अनुसार दो वर्ष की आयु तक प्राय सभी सवेगो का विकास बच्चों मे पाया जाता है। आयु एव अधिगम सवेग प्रदर्शन को नियत्रित एव सचालित करते है। ब्रिजेज (Bridges, 1932) ने सवेगो के विकास को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित चार्ट प्रस्तुत किया है—

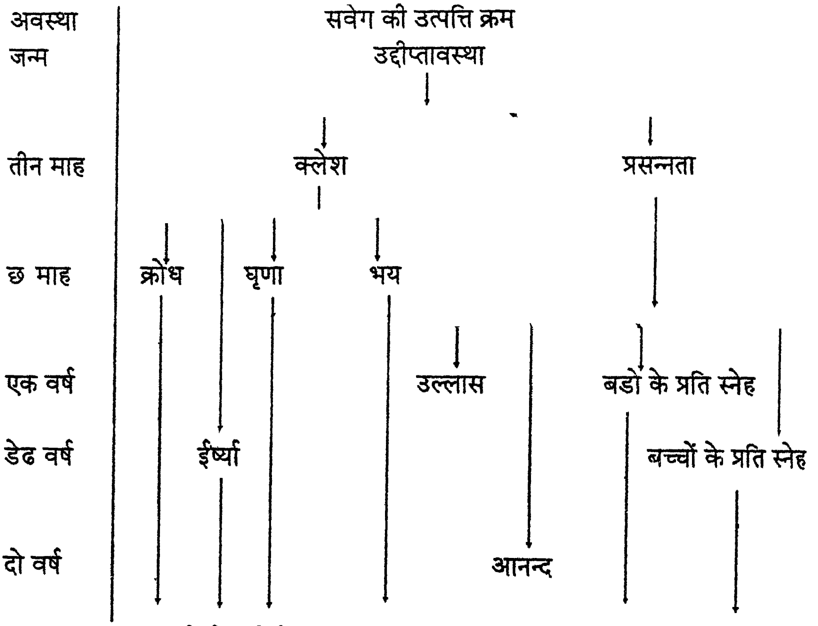

मानव शिशुओ मे सवेगों का विकास । ब्रिजेज के विकासात्मक सिद्धान्त का चित्रण (ब्रिजेज 1932) से परिमार्जित तथा मार्गन (Morgan 1965) से पुनरोत्पादित।

ब्रिजेज के विकासात्मक चित्रण से यह पता चलता है कि सवेग विकास का एक क्रम होता है। जन्म के समय केवल सामान्य प्रकार की उत्तेजना (Excitement) का प्रदर्शन होता है। आगे चलकर यही उत्तेजना क्लेश तथा प्रसन्नता (Distress and Delight) का रूप ले लेती है। यही क्लेश आगे चलकर क्रोध, भय एव घृणा में विभेदित हो जाती है। नवजात शिशु मे क्लेश प्रथम माह के अन्त तक प्रसन्नता दूसरे माह के अन्त तक और स्नेह आठवें माह मे प्रदर्शित हो जाता है। एक वर्ष की आयु मे बच्चों में उल्लास तथा बडों के प्रति स्नेह सवेग का प्रदर्शन होने लगता है। $1\frac{1}{2}$ वर्ष में बालक में ईर्ष्या सवेग का भी प्रदर्शन होने लगता है। दो वर्ष की आयु में बच्चों में आनन्द सवेग का उदय होता है। सवेगों का स्वरूप प्रारम्भ मे सामान्य होता है परन्तु आयु मे वृद्धि तथा अधिगम के कारण उनमें विशिष्टता होती है। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि ब्रिजेज का सिद्धान्त सवेगों की व्याख्या करने में काफी महत्वपूर्ण माना गया है।

गेसेल का सिद्धान्त (Gesell's Theory)

गेसेल के अनुसार सवेगात्मक विकास परिपक्वीकरण एव सीखने की प्रक्रिया पर आधारित रहता है । गेसेल के अनुसार सवेगो को परिपक्वता पूर्णरूप से प्रभावित करती है। जैसा कि मालूम है कि परिपक्वता बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास को जानने हेतु आवश्यक तत्व समझा जाता है, इसलिए सवेगात्मक विकास को जानने के लिए प्रमुख कुजी का काम करता है । वह बालक की ऊँचाई, वजन और गामक सयोजन को भी प्रभावित करता है। आयुवृद्धि के साथ-साथ सवेगात्मक विकास परिपक्वीकरण को प्राप्त करता है।

प्रेरणात्मक सिद्धान्त (Motivational Theory)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मुख्यत लीपर (Leaper, 1948) है। इस सिद्धान्त के अनुसार सवेगात्मक क्रियाएँ उसी प्रकार से उद्देश्यपूर्ण होती हैं जिस प्रकार से प्रेरणात्मक क्रियाएँ। लीपर ने यह माना है कि ANS के सिम्पैथेटिक तत्र के स्राव के कारण प्राणी कठिनतम कार्य भी कर सकता है। जबकि ANS के पैरासिम्पैथेटिक भाग शरीर की शान्ति को सचित करता है। तथा सवेगात्मक अवस्था में बढी हुई शान्ति को सतुलित रखता है। लीपर यह भी मानते है कि सवेगात्मक अवस्था में जीव के शारीरिक परिवतर्न उसकी सवेगात्मक परिस्थिति के साथ सतुलित करने मे मदद पहुँचाते है। लीपर का यह सिद्धान्त सवेगो की तीव्रता जब साधारण होती है तो उस अवस्था मे तो सही मालुम होता है परन्तु सवेग की तीव्रता जब अधिक हो जाती है तब सवेग के कारण उत्पन्न शारीरिक परिवर्तनों से व्यक्ति परिस्थितियों के साथ सन्तुलन बनाये रखने मे कठिनाई का अनुभव करता है।

सूचना सगठन सिद्धान्त (Information Integration theory)

सवेगात्मक विकास की व्याख्या हेतु सूचना सगठन सिद्धान्त का प्रतिपादन हिलगार्ड, एटकिन्सन तथा एटकिन्सन (Hilgard, Atkinson and Atkinson, 1975) द्वारा किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार परिपक्वता का महत्व सवेगों के विकास में दर्शाया गया। बच्चा जब किसी वस्तु या घटना के सम्पर्क में आता है तो वह वस्तु या घटना को समझने हेतु अपने पूर्वानुभवो का उपयोग करता है तथा साथ ही तात्कालिक प्रत्यक्षीकरण के आधार पर उसके विषय मे सोचता है। इस तरह से सवेगात्मक विकास में सज्ञानात्मक कारको का भी महत्व होता है। सवेगात्मक व्यवहार के प्रदर्शन में शारीरिक कारकों से सूचनाएँ मिलती है। इसी आधार पर हिलगार्ड एटकिन्सन तथा एटकिन्सन के सिद्धान्त में तीन तरह से सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं। ये है सज्ञानात्मक, उद्दीपक एव दैहिककारक।

इस सिद्धान्त मे उपर्युक्त तीनों स्रोतो से प्राप्त सूचनाओं के परस्पर सगठन पर बल दिया गया है। उपर्युक्त तीनो स्रोतों से प्राप्त सूचनाओ के सगठित होने की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए Hilgard etal (1975) ने अनुकम्पी तत्रिका (SNS) द्वारा सक्रिय किये जाने के कारण आन्तरिक अगो एव अन्य शारीरिक भागों द्वारा मस्तिष्क में होने वाली प्रतिपूर्ति से अविभेदित उद्वोलन एव भाव की अवस्था का उद्भव होता है। परन्तु सवेगो की अनुभूति इस बात पर आधारित होता है कि व्यक्ति, उदोलित अवस्था की कैसी व्याख्या करता है। इसके अलावा व्यक्ति के स्मृति भण्डार के पूर्वानुभव तथा तात्कालिक प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त सूचनाओं का उपयोग वर्तमान परिस्थिति की व्याख्या में किया जाता है। इस व्याख्या की अन्तर्क्रिया शारीरिक परिवर्तनो से होती है और इस प्रकार सवेगात्मक अवस्था का निर्धारण होता है। सूचना सगठन सिद्धान्त को निम्न चित्र के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

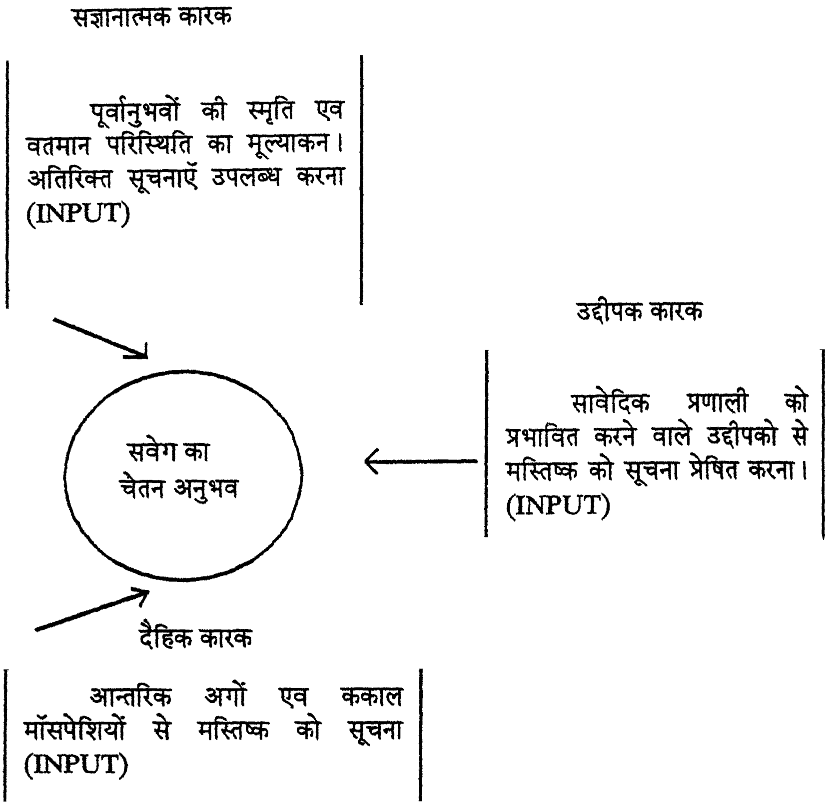

सवेग के सूचना सगठन सिद्धान्त का चित्रण (Hilgard etal 1975) से परिमार्जित एव उद्धरित।

सज्ञानात्मक सिद्धान्त (Cognitive Theory)—सवेग के दो प्रमुख सिद्धान्त क्रमश जेम्स लैग सिद्धान्त तथा कैनल-वार्ड सिद्धान्त हैं। सम्प्रति यह सिद्धान्त अधिक मान्य नही है। आजकल जो सिद्धान्त काफी लोकप्रिय है उसको सज्ञानात्मक सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। सज्ञानात्मक सिद्धान्त मे दो मनोवैज्ञानिकों का महत्वपूर्ण योगदान है जिन्होंने अपने अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। वे निम्नलिखित है

(A) शैचटर का सिद्धान्त— (Schachter's Theory)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्टेनले शैचटर (1970) ने किया इनका मत है हम जिन सवेगों की अनुभूति करते है उन्हें दो कारक सयुक्तरूपेण प्रभावित करते है ये कारक है— (1) व्यक्ति के दैहिक उद्वोलन के साथ उसका प्रत्यक्षीकरण, तथा (2) परिस्थितियों के सम्बन्ध में निर्णय (सथान)। शेचटर का यह भी मानना है कि व्यक्ति की सभी सवेगात्मक अवस्थाओ मे नाडी सस्थान सामान्य परन्तु विस्तृत स्तर पर उद्वोलित रहता है। वातावरण भी किस परिस्थिति से व्यक्ति उद्वोलित होता है वह परिस्थिति व्यक्ति को इस बात के सकेत देती है कि व्यक्ति अपनी सामान्य उद्वोलित अवस्था को क्या नाम दे। अत यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का सज्ञान उसकी विस्तृत भावनाओ

के नाम देने मे सहायक है। यह नाम उसके चारो ओर के वातावरण और उसकी भावनाओ की दृष्टि से उपयुक्त होता है। शैचटर ने अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने प्रायोगिक अध्ययनो (Schachter and Singer, 1962, Schachter, 1970) के आधार पर किया। शैचटर के अनुसार सवेगात्मक भावों की उत्पत्ति का क्रम निम्न प्रकार से रहता है।

(1) व्यक्ति सर्वप्रथम सवेग उत्पन्न करने वाली परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करता है।

(2) परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप शरीर मे एक अस्पष्ट उत्तेजित अवस्था उत्पन्न होती है।

(3) व्यक्ति इस शारीरिक अवस्था का नामकरण ओर व्याख्या ऐसी करता है जो प्रत्यक्षीकरण परिस्थिति से मेले खाती हुई होती है।

(4) नामकरण और व्याख्या के सम्बन्ध मे व्यक्ति का निर्णय उसके सज्ञान से प्रभावित होता है।

शैचटर और सिगर (1962) ने अपने इस सिद्धान्त को एक उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति एक अधेरी गुफा मे जा रहा है। एकाएक उसे गुफा मे एक बन्दूकधारी की भयानक आकृति दिखायी देती है। सर्वप्रथम वह इस बन्दूकधारी की आकृति का प्रत्यक्षीकरण करेगा। इसके बाद परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप शरीर मे ऐसे अस्पष्ट उद्वोलित अवस्था उत्पन्न होती है। तृतीय अवस्था मे व्यक्ति उस उदोलित अवस्था की व्याख्या और नामकरण करेगा और उसमें भय सवेग उत्पन्न होगा। शैचटर और सिगर (1962) ने अपने एक अन्य अध्ययन के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष दिया कि सवेगात्मक अवस्थाओ मे यदि कोई दैहिक अन्तर होता है तो व्यक्ति का सज्ञान (प्रत्यक्षीकरण और प्रत्याशाएँ) उसे बताता है कि वह किस सवेग का अनुभव कर रहा है। शैचटर (1970) का यह भी कहना है कि व्यक्ति के सवेगात्मक अनुभूति में Cereberal Cortex तथा Peripheral Nervous system दोनों सयुक्त रूप से कार्य करते हैं। निम्नचित्र इस सिद्धान्त की व्याख्या स्पष्ट रूप से करता है।

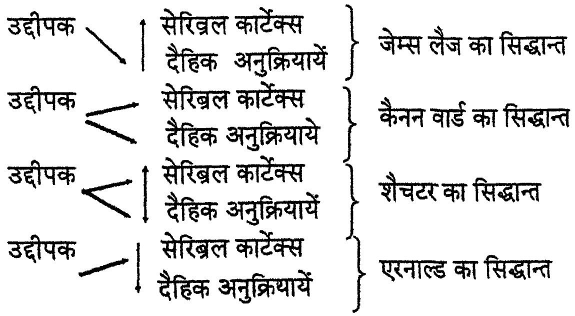

सवेग के प्रमुख सिद्धान्तों का साराश

(2) अरनाल्ड का सिद्धान्त (Arnold's theory of Emotion) – अरनाल्ड (1960) ने अपने सिद्धान्त में यह बताया कि व्यक्ति की ज्ञानात्मक प्रक्रियाये उसकी भावनाओ की व्याख्या का तथा भावनाओं के प्रति उसके व्यवहार का नियत्रण करती है। अरनाल्ड के अनुसार व्यक्ति सर्वप्रथम उद्दीपक का प्रत्यक्षीकरण करता है। व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण तीन आधारो पर करता है अच्छा (Good) बुरा (Bad) एव उदासीन (Indifferent) यदि उद्दीपक अच्छा

दिखायी देता है तो वह उद्दीपक को ग्रहण करना चाहेगा, यदि उद्दीपक बुरा है तो उसका त्याग करेगा तथा यदि उद्दीपक उदासीन है तो वह उसकी उपेक्षा करना चाहेगा। किसी नवीन उद्दीपक का मूल्याकन व्यक्ति की स्मृतियॉ, पूर्वानुभवों से ही केवल नही प्रभावित होता है बल्कि साथ-साथ इस बात से भी प्रभावित होता है कि उद्दीपक कैसा है यानि अच्छा है, बुरा है या उदासीन इस प्रकार का उद्दीपक का मूल्याकन तात्कालिक होता है। यह उद्दीपक का मूल्याकन किसी भी सवेगात्मक उद्दीपक के प्रति दैहिक अनुक्रियाये सवेगात्मक अनुभवो सवेगात्मक अनुक्रियाओ से पूर्व होता है।

सक्षेप मे अरनाल्ड का सिद्धान्त सवेगात्मक परिस्थिति के मूल्याकन पर जोर देती है। साथ ही साथ यह भी विचार व्यक्त करनी है कि कि सवेगात्मक अनुभव और शारीरिक क्रियाओ का निर्धारण सेरिब्रटल कार्टेक्स करता है। लेजारस तथा उनके सहयोगियो (Lazaras et al 1966, 1968 and 1970) ने अपने अध्ययनो से इस सिद्धान्त को आगे बढाया। Lazaras का मत है सवेगात्मक उद्दीपक का मूल्याकन व्यक्ति की सवेगात्मक अनुक्रिया का नियत्रण करता है। इन सभी का यह भी मानना है कि भिन्न भिन्न सवेगो मे यह मूल्याकन अलग अलग तरीके से होता है Lazaras तथा उसके सहयोगियो ने सवेगात्मक प्रत्यीक्षकरण पर व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और सस्कृति के प्रभाव को भी महत्वपूर्ण माना है।

विभिन्न अवस्थाओ मे सवेगात्मक विकास
(Emotional Development in Different Stages)

शेशवावस्था मे सवेगात्मक विकास (Emotional Development in Infancy) – कुछ मनोवैज्ञानिको का यह विचार है कि सवेगो का विकास शिशु के जन्म से ही शुरू हो जाता है। इस सम्बन्ध मे फ्रायड का कथन है कि शिशु जन्म के पूर्व गर्भ में भी सुख दुख का अनुभव करता है। आटोर का मत है कि नवजात शिशु मे चिन्ता और घबडाहट का प्रदर्शन देखा जा सकता है। आइजैक (Eysenck, 1936) का मत है कि प्रारम्भ में नवजात शिशु मे भय, क्रोध, स्नेह और ईर्ष्या द्वेष के सवेग परिलक्षित होते है। वाट्सन (watson, 1926) ने भी नवजात शिशु मे भय, क्रोध एव स्नेह इन सवेगों को अपने सहगमन के फलस्वरूप पाया। शेरमैन (Sherman) ने भी अपने अध्ययन के आधार पर बाटसन एव आइजैक द्वारा **ब्रिजेज** (Bridges, 1932) का मत है कि नवजात शिशु में मात्र उत्तेजना के रूप मे सवेग पाये जाते हैं 6 माह की आयु मे बच्चे मे केवल दो प्रकार के सवेग सुख एव दुख दिखाई देते हैं। Pratt का मत है कि नवजात शिशु मे क्रोध, भय एव स्नेह नही पाये जाते है। शिशु मे जन्म के समय मात्र सामान्य उत्तेजना पाई जाती है। यही उत्तेजना आगे चलकर आयु वृद्धि के फलस्वरूप सवेग का रूप ले लेती हे। इसलिए नवजात शिशु मे सावेगिक अवस्थाएँ इतनी स्पष्ट नही होती है कि उसे पहचाना जा सके बल्कि नवजात शिशु मे प्रिय एव अप्रिय सवेग पूर्णरूप से अविकसित या अविकसित रूपो में देखे जा सकते है। परिपक्वन एव अधिगम की प्रक्रिया द्वारा आयु वृद्धि के साथ मे सवेग विकसित, स्वरूप एव विविक्त रूप धारण करते है। शैशवावस्था मे प्रकट सवेगो की व्यवहार अनुक्रियाये उनके उद्दीपनों से अधिक होती है। यद्यपि ये अल्पकालिक होती है परन्तु उनमें तीव्रता अधिक होती है। यद्यपि ये अल्पकालिक होती हैं परन्तु उनमें तीव्रता अधिक होती है। नीचे मुख्य सवेगों का वर्णन अपेक्षित है जो शैशवावस्था में प्रदर्शित होते हैं।

क्रोध (Anger)बचपनवास्था (Babyhood) में क्रोध एक सामान्य सवेग माना जाता है बच्चा को यह बात शीघ्र ज्ञात हो जाती है कि किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने

हेतु तथा अपनी इच्छाओ की पूर्ति मे क्रोध करना सबसे आसान तरीका है। बेलर के अनुसार अधिक लाड प्यार से भी क्रोध का जन्म होता है और चिढाने से भी। **पिकूनस** (1969) के अनुसर 9 माह की आयु मे शिशु उस दशा मे क्रोध उत्पन्न करता है। जब उसकी इच्छानुसार कोई कार्य नही हो पाता है। गुड एनफ (Goodenough, 1931) ने 19 माह की आयु के शिशुओ मे कपडे पहनने (Dressing) नहलवाने (Bathing) तथा शारीरिक असुविधाएँ होने के कारण क्रोध जागृत होता है। जीनस के अनुसार 16 माह से लेकर 3 वर्ष की आयु तक के बच्चो मे अनेक दशाओ के कारण क्रोध उत्पन्न होता है। जेसे उसका मुँह साफ करने उसका खिलोना या प्रिय वस्तु, छिन जाने कमरे मे अकेले छोड जाने आदि मे क्रोध जागृत होता हे। 2 वर्ष की आयु मे क्रोध शारीरिक आदत डालने तथा बडा के साथ सघर्ष होने खेलकूद के स्थानों का अभाव होने से उत्पन्न होता हे। 3 4 वर्ष की अवस्था मे क्रोध के कारण मित्रो से मेल न खाना सत्ता से सघर्ष मोल लेना इत्यादि है हरलाक (Hurlock, 1950) के अनुसार 3 4 वर्ष की आयु मे शिशुओं का मचलना चरमसीमा पर होता है और बात बात मे वह रूठने लगता है और शरीर को चोट पहुँचाकर बदला लेने का प्रयास करता हे। **ब्रिजेज** (Bridges 1932) के अनुसार 3 वर्ष की आयु मे क्रोध का स्वरूप भिन्न भिन्न तरीके से प्रकट होता है। इस आयु मे शिशु एक दूसरे के बाल खीचकर, दाँत से काटकर अपना क्रोध प्रकट करता है। 4-5 वर्ष की आयु मे बालक क्रोध के प्रदर्शन मे अपनी शक्ति अजमाते है या उपयोग करते हैं तथा सीधा आक्रमण करते है।

भय (Fear) – पलायन की मूल प्रवृत्ति से भय का सवेग जुडा रहता है। वाट्सन (Watson) के अनुसार कुछ दिन या सप्ताह के बच्चे कोई भी अकस्मात और जोरदार ध्वनियाँ से डर जाते हैं डियरवार्न (1910) शर्ली (1933), जर्सिल्ड और होम्स, जोन्स और जोन्स (1928) वेलिन्टाइन (1930) और वुहलर (Buhler, 1930) के अनुसार लगभग 5 माह से लेकर 12 माह की आयु मे अधिकाश शिशु अपरिचित नवीन और अजनवी व्यक्तियों के प्रति अपना भय प्रदर्शित करते है। वाट्सन (1924), फ्रायड (1936), जर्सिल्ड और होम्स (1935) तथा स्टर्न (1930) का मत है कि 1 वर्ष से 5 वर्ष की आयु मे बच्चे एकाकीपन तथा अंधेरे से डरते है। ब्रगेमेन (1932), जर्सिल्ड (1932) तथा जोन्स एव जोन्स (1928) और प्राट (1945) का मत है कि 2-3 वर्ष की आयु के बच्चे जानवरों से डरते हैं। शैशवास्था मे बच्चो की रूग्णता काल्पनिक भयानक दृश्य, चित्र किस्से कहानियाँ आदि भय उत्पन्न करते है। बच्चों मे भय 3 प्रकार से उत्पन्न होते है। प्रथम अनुकरण से दूसरे सम्बद्ध प्रत्यावर्तन से तथा तीसरे असुखादर अनुभूति से। भय की दशा में शिशु रोना या चिल्लाना शुरू करता है साथ ही साथ बचने के लिए छिपते हैं या भागते है।

हर्ष (Delight) – बचपनावस्था में हर्ष सवेग की उत्पत्ति अच्छे स्वास्थ, पोष्टिक आहार और उसकी शरीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति से होती है। Buhler (1930) और Bridges (1952) के अनुसार 3 4 माह की आयु से हर्ष का सवेग प्रकट होने लगता है। 5-6 माह का आयु मे बच्चे मात्र शारीरिक स्पर्श से मुस्कुराने लगते हें। 1 वर्ष की आयु में यही हर्ष उल्लास के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। 1 1/2 2 वर्ष का शिशु अपनी माता-पिता के बाहर आने पर अपना आनन्द, उल्लास तथा प्रसन्न लिपटकर प्रकट करता है। 2 वष की आयु में वह दूसरो को देखकर मुस्कुराता है। 2 3 वर्ष की आयु मे बच्चो में वस्तुओं के तोडन तथा फैकने मे आनन्द आता है। इस आयु में खेल एव खिलोने इस आयु मे प्रसन्नता के वस्तु होते है। वाशवर्न (1929) ने बच्चों मे हर्ष प्रसन्नता तथा सुखकी अनुभूतियो का प्रदर्शन का विस्तृत अध्ययन किया है। वाट्सन (1936) ने 16 सप्ताह से लेकर तीन वर्ष की आयु के बच्चो मे हँसी के

निधारको का अध्ययन किया तथा यह बतलाया कि निम्नलिखित मात मूलकारणो से हॅसने का व्यवहार बालक मे प्राय देखने को मिलता है—

(1) अन्य लोगों द्वारा स्पर्श करने पर या खेलने पर।
(2) अन्य सम आयु के बच्चों के साथ दौडने या पीछा करने पर।
(3) खेलसामग्री के साथ खेलने पर।
(4) दूसरे बच्चो को परेशान करने या चिढाने पर।
(5) दूसरे खेलते बच्चो को देखकर।
(6) खिलौने इत्यादि के पुर्जो को ठीक करने पर।
(7) लयात्मक या सगीतमय आवाज के उत्पन्न होने पर।

विल्सन (Wilson, 1931) ने 2115 बच्चो पर अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया है कि आयु विवृद्धि के साथ हॅसना एव मुस्कराना बढता है।

स्नेह (Affection) – स्टाट के अनुसार स्नेह अन्योन्य त्रियता की एक प्रक्रिया है। स्नेह द्विपक्षीय होता है। बच्चे अपने प्रारम्भिक जीवन मे स्नेह के पात्रो के प्रति कुछ भेद भाव प्रकट करते है। ब्रिजेज के अनुसार नवजात शिशु मे स्नेह का सवेग नही रहता है। उसमें मात्र उद्वोलित अवस्था पाई जाती है। सर्वप्रथम शिशु 5 6 माह की आयु मे परिवार के सदस्यो विशेषतया माता के प्रति अपने स्नेह का प्रकाशन अव्यक्त या अस्पष्ट मे मुस्कराकर या हाथ पैर हिलाकर करता है। 8 माह की आयु मे वह माता की ओर गोद मे जाने के लिए व्याकुल रहता हे तथा गोद से चिपककर स्तनपान करने के लिए कपडे खीचकर या नाक मे उगली डालकर अपना स्नेह प्रदर्शित करता है। 10 माह की आयु मे परिचितो से स्नेह का प्रकाशन करता है। सामाजिक सम्बन्धों में वृद्धि होने के साथ-साथ उसकी स्नेह करने की सीमा में भी वृद्धि होती है। 1 वर्ष की आयु में शिशु की प्रेम प्रतिक्रिया व्यक्ति तथा वस्तुओ मे प्रति अधिक स्पष्ट की जाती है। 1-2 वर्ष की आयु मे वह परिचितों के साथ साथ अपरिचितो, जानवरों, विशेषकर खिलौने और कपडो के प्रति उन्हें चूम चाटकर, थपथपाकर या सहलाकर अपना स्नेह प्रकट करता है। Simpson (1935) ने अपने अध्ययनो के आधार पर यह बतलाया है कि 5 9 माह की आयु में बच्चे अपनी माता के प्रति अधिक झुकाव रखते है। **मर्फी** (Murphy, 1937) अनुसार निम्न आर्थिक स्तर के स्कूली बच्चो मे स्नेह प्रदर्शन ज्यादा होता है। मैकफालेन (Mc farlane, 1938) का मत है कि स्नेह प्रकाशन मे शारीरिक लक्षणो (आलिगन इत्यादि) के प्रदर्शन के अलावा वाचिक प्रदर्शन तथा सहायतता एव सुरक्षा की भावना का भी प्रदर्शन होता है।

बाल्यावस्था मे सवेगात्मक विकास
(Emotional Development in Childhood)

बालावस्था मे सवेग का विकास तीव्रगति से होते हैं। बच्चे का व्यवहार भय एव क्रोध सवेग से प्रभावित होता है। इस अवस्था मे बच्चे सभी से स्नेह की इच्छा रखता है। स्नेह के साथ ही साथ वातावरण के समय मे आने के कारण वातावरण मे उपस्थित सभी वस्तुओं, व्यक्तियो, घटनाओं इत्यादि के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है। इस अवस्था। मे आक्रामकता का व्यवहार भी देखा जाता है। इस अवस्था में बालक हिसात्मक प्रवृत्तियो को भी सीखता है। बालक अपने स्नेह का प्रकाशन शारीरिक, स्पर्श हॅसी एव मुस्कराहट से करता है। बाल्यावस्था में पाये जाने सवेग निम्नलिखित है।

क्रोध (Anger) – पूर्ववाल्यावस्था मे बच्चे मे क्रोध उत्पन्न होने की अनेक परिस्थितियाँ होती है। उदाहरणार्थ—इच्छाओ की पूर्ति में बाधा, प्रिय वस्तु का छिन्न जाना, अन्य बालक द्वारा आक्रमण करने से बालकों में क्रोध प्रदर्शित होता है। बाल्यावस्था में यह भी देखने को

मिलता है कि बच्चे बडे जल्दी एक दूसरे पर नाराज हो जाते है तथा शीघ्र ही क्रोध का प्रदर्शन भी करते है। जोन्स (1925) ने क्रोध प्रदर्शन के 100 कारणो को पता लगाया है उसमे से प्रमुखत नहलाना, कपडे उतारना नाक साफ करना ,वयस्कों के पास से हट जाना, अकेले छोड देना तथा सामान छिन जाना आदि है। क्रोध के उत्पन्न होने पर बच्चों मे अनेक प्रकार के व्यवहार छिन जाना आदि है। क्रोध के उत्पन्न होने पर बच्चों मे अनेक प्रकार के व्यवहारो का प्रदर्शन होता है। लडकियो की तुलना में लडके शीघ्र उत्तेजित एव क्रोधित होते हैं। Zeligs (1941, 1945) ने यह भी देखा है कि यदि बच्चों को बिना गलती की डॉट पडती है तो उनमे क्रोध की मात्रा ज्यादा दिखायी देती है। Goodenough (1931) के अनुसार प्रारम्भ में बच्चों मे क्रोध की मात्रा ज्यादा होती है। परन्तु आयु मे वृद्धि तथा अधिगम में वृद्धि होने के साथ साथ क्रोध करने की आवृत्ति में कमी आती है। 2 वर्ष की आयु में क्रोध का प्रदर्शन सर्वाधिक होता है। गेमिग्स, इनोटी तथा जाहा वैक्सरल (Gemmingss Iannoti and Jaha Waxler,1985) ने अपने अध्ययनों में यह पाया कि खिलौना टूट जाने पर बच्चों मे क्रोध का प्रकाशन शीघ्र होता है। **एलीनर, मैकोबी** तथा **केरोल जेकलिन** (Eleaner Maccoby and carol Jacklin, 1980) के अनुसर पूर्ववाल्यावस्था में लडके लडकियों की अपेक्षा ज्यादा आक्रमक होते हैं। परन्तु **हाईड** (Hyde, 1984) ने आक्रामक व्यवहारों मे लिगभेद नही पाया। इसलिए लिंगभेद को स्पष्ट रूप से स्वीकार करना एक भूल होगी। उत्तर-बाल्यावास्था मे भी क्रोध का प्रदर्शन सर्वाधिक मिलता है। 10 12 वर्ष की आयु में बालक दूसरों की आलोचना करके, हँसी उडाकर के और व्यग करके अपना क्रोध प्रदर्शित करता है। 12 वर्ष तक उसे सामाजिकता, अनुशासन और उत्तरदायित्व की जानकारी कुछ हो जाती है इसलिए वह दूसरों की नजरों मे अच्छा बनना चाहता है। इस प्रकार से सामाजिक दवाब से उसके क्रोध प्रकट करने का तरीका बदल जाता है। Hurlock (1950) के अनुसार उत्तर बाल्यावस्था मे बालक में स्वतन्त्रता की तीव्र इच्छा होती है। यदि उसकी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की बाधा पहुँचती है तो वह क्रोधित हो जाता है। उसकी लगातार आलोचना करके, उसे नीचा ठहराने और झूठा आरोप लगाने से और लम्बा चौडा उपदेश देने से भी क्रोधित हो जाता है। 10 12 वर्ष की आयु में झगडने की प्रवृत्ति चरम सीमा पर पहुँच जाती है। रीकेट्स (Ricketts, 1934) का मत है कि बच्चों में क्रोध उत्पन्न होने पर माता पिता या शिक्षकों को सयम एव धैर्य से कार्य करना चाहिए। क्रोध प्रकाशन की अवधि 1-5 मिनट तक ही होती है। इस अवधि में बच्चों का क्रोध मनोवैज्ञानिक तरीके से नियत्रित करने का प्रयास करना चाहिए।

भय (Fear) भय वह आन्तरिक अनुभूति है जिसमें प्राणी किसी खतरनाक परिस्थिति से दूर भागने का प्रयास करता है। इस सवेग की दशा में रोना, चिल्लाना और काँपना आदि अभिव्यक्तियाँ सामान्य रूप में परिलक्षित होती है। भय की अवस्था में रोगटे खडे हो सकते हैं सॉस की गति व ह्दय की धडकन कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो जाती है। भय की दशा में रक्तचाप में वृद्धि पायी जाती है। भय की उत्पत्ति को अनेक कारक जैसे—आयु लिंग पूर्वानुभव, बौद्धिक विकास, सामाजिक मूल्य, वैयक्तिक सुरक्षा की मात्रा, अधिगम सामाजिक आर्थिक स्तर, प्राणी का शारीरिक और मनोवैज्ञानिक अवस्था तथा व्यक्ति प्रतिमान प्रभावित करते हैं। साधारणत जिन परिस्थितियों या उद्दीपकों से भय उत्पन्न होता है निम्न प्रकार के होते हैं जैसे—अति तीव्र भयानक आवाज विचित्र एव खतरनाक पशु, विचित्र और खतरनाक स्थान, विचित्र और खतरनाक वस्तुएँ और व्यक्ति, अधेरे स्थान तथा बहुत ऊँचे स्थान आदि।

निधारको का अध्ययन किया तथा यह बतलाया कि निम्नलिखित सात मूलकारणो से हॅसने का व्यवहार बालक मे प्राय देखने को मिलता है—

(1) अन्य लोगो द्वारा स्पर्श करने पर या खेलने पर।
(2) अन्य सम आयु के बच्चो के साथ दोडने या पीछा करने पर।
(3) खेलसामग्री के साथ खेलने पर।
(4) दूसरे बच्चों को परेशान करने या चिढाने पर।
(5) दूसरे खेलते बच्चो को देखकर।
(6) खिलौने इत्यादि के पुर्जो को ठीक करने पर।
(7) लयात्मक या सगीतमय आवाज के उत्पन्न होने पर।

विल्सन (Wilson, 1931) ने 2115 बच्चो पर अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया है कि आयु विवृद्धि के साथ हॅसना एव मुस्कराना बढता है।

स्नेह (Affection) – स्टार्ट के अनुसार स्नेह, अन्योन्य क्रियता की एक प्रक्रिया है। स्नेह द्विपक्षीय होता है। बच्चे अपने प्रारम्भिक जीवन मे स्नेह के पात्रों के प्रति कुछ भेद भाव प्रकट करते है। ब्रिजेज के अनुसार नवजात शिशु मे स्नेह का सवेग नही रहता है। उसमें मात्र उद्वोलित अवस्था पाई जाती है। सर्वप्रथम शिशु 5 6 माह की आयु मे परिवार के सदस्यो विशेषतया माता के प्रति अपने स्नेह का प्रकाशन अव्यक्त या अस्पष्ट मे मुस्कराकर या हाथ पैर हिलाकर करता है। 8 माह की आयु मे वह माता की ओर गोद मे जाने के लिए व्याकुल रहता है तथा गोद से चिपककर स्तनपान करने के लिए कपडे खीचकर या नाक मे उगली डालकर अपना स्नेह प्रदर्शित करता है। 10 माह की आयु में परिचितो से स्नेह का प्रकाशन करता है। सामाजिक सम्बन्धों में वृद्धि होने के साथ-साथ उसकी स्नेह करने की सीमा में भी वृद्धि होती है। 1 वर्ष की आयु में शिशु की प्रेम प्रतिक्रिया व्यक्ति तथा वस्तुओ मे प्रति अधिक स्पष्ट की जाती है। 1-2 वर्ष की आयु मे वह परिचितों के साथ साथ अपरिचितो, जानवरों, विशेषकर खिलौने और कपडों के प्रति उन्हे चूम चाटकर, थपथपाकर या सहलाकर अपना स्नेह प्रकट करता है। Simpson (1935) ने अपने अध्ययनो के आधार पर यह बतलाया है कि 5 9 माह की आयु में बच्चे अपनी माता के प्रति अधिक झुकाव रखते है। **मर्फी** (Murphy, 1937) अनुसार निम्न आर्थिक स्तर के स्कूली बच्चो मे स्नेह प्रदर्शन ज्यादा होता है। मैकफालेन (Mc farlane, 1938) का मत है कि स्नेह प्रकाशन मे शारीरिक लक्षणों (आलिगन इत्यादि) के प्रदर्शन के अलावा वाचिक प्रदर्शन तथा सहायता एव सुरक्षा की भावना का भी प्रदर्शन होता है।

बाल्यावस्था मे सवेगात्मक विकास
(Emotional Development in Childhood)

बालावस्था मे सवेग का विकास तीव्रगति से होते है। बच्चे का व्यवहार भय एव क्रोध सवेग से प्रभावित होता है। इस अवस्था मे बच्चे सभी से स्नेह की इच्छा रखता है। स्नेह के साथ ही साथ वातावरण के समय में आने के कारण वातावरण में उपस्थित सभी वस्तुओं, व्यक्तियो घटनाओ इत्यादि के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है। इस अवस्था। में आक्रामकता का व्यवहार भी देखा जाता है। इस अवस्था में बालक हिंसात्मक प्रवृत्तियो को भी सीखता है। बालक अपने स्नेह का प्रकाशन शारीरिक स्पर्श, हॅसी एव मुस्कराहट से करता है। बाल्यावस्था में पाये जाने सवेग निम्नलिखित है।

क्रोध (Anger) – पूर्ववाल्यावस्था में बच्चे मे क्रोध उत्पन्न होने की अनेक परिस्थितियॉ होती है। उदाहरणार्थ—इच्छाओं की पूर्ति में बाधा प्रिय वस्तु का छिन्न जाना, अन्य बालक द्वारा आक्रमण करने से बालकों में क्रोध प्रदर्शित होता है। बाल्यावस्था में यह भी देखने को

मिलता है कि बच्चे बडे जल्दी एक दूसरे पर नाराज हो जाते हैं तथा शीघ्र ही क्रोध का प्रदर्शन भी करते हैं। जोन्स (1925) ने क्रोध प्रदर्शन के 100 कारणो को पता लगाया है उसमे से प्रमुखत नहलाना कपडे उतारना नाक साफ करना ,वयस्कों के पास से हट जाना अकेले छोड देना तथा सामान छिन जाना आदि है। क्रोध के उत्पन्न होने पर बच्चों मे अनेक प्रकार के व्यवहार छिन जाना आदि है। क्रोध के उत्पन्न होने पर बच्चों मे अनेक प्रकार के व्यवहारो का प्रदर्शन होता है। लडकियो की तुलना में लडके शीघ्र उत्तेजित एव क्रोधित होते हैं। Zeligs (1941, 1945) ने यह भी देखा है कि यदि बच्चों को बिना गलती की डॉट पडती है तो उनमें क्रोध की मात्रा ज्यादा दिखायी देती है। Goodenough (1931) के अनुसार प्रारम्भ मे बच्चों में क्रोध की मात्रा ज्यादा होती है। परन्तु आयु मे वृद्धि तथा अधिगम में वृद्धि होने के साथ साथ क्रोध करने की आवृत्ति में कमी आती है। 2 वर्ष की आयु में क्रोध का प्रदर्शन सर्वाधिक होता है। गेमिग्स, इनोटी तथा जाहा वैक्सरल (Gemmingss Iannoti and Jaha Waxler,1985) ने अपने अध्ययनों मे यह पाया कि खिलौना टूट जाने पर बच्चों मे क्रोध का प्रकाशन शीघ्र होता है। **एलीनर, मैकोबी** तथा **केरोल जेकलिन** (Eleaner, Maccoby and carol Jacklin, 1980) के अनुसार पूर्वबाल्यावस्था में लडके लडकियों की अपेक्षा ज्यादा आक्रमक होते हैं। परन्तु **हाईड** (Hyde, 1984) ने आक्रामक व्यवहारों मे लिगभेद नही पाया। इसलिए लिंगभेद को स्पष्ट रूप से स्वीकार करना एक भूल होगी। उत्तर-बाल्यावास्था में भी क्रोध का प्रदर्शन सर्वाधिक मिलता है। 10 12 वर्ष की आयु में बालक दूसरों की आलोचना करके, हँसी उडाकर के और व्यग करके अपना क्रोध प्रदर्शित करता है। 12 वर्ष तक उसे सामाजिकता, अनुशासन और उत्तरदायित्व की जानकारी कुछ हो जाती है इसलिए वह दूसरों की नजरो मे अच्छा बनना चाहता है। इस प्रकार से सामाजिक दवाब से उसके क्रोध प्रकट करने का तरीका बदल जाता है। Hurlock (1950) के अनुसार उत्तर बाल्यावस्था मे बालक में स्वतन्त्रता की तीव्र इच्छा होती है। यदि उसकी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की बाधा पहुँचती है तो वह क्रोधित हो जाता है। उसकी लगातार आलोचना करके, उसे नीचा ठहराने और झूठा आरोप लगाने से और लम्बा चौडा उपदेश देने से भी क्रोधित हो जाता है। 10 12 वर्ष की आयु में झगडने की प्रवृत्ति चरम सीमा पर पहुँच जाती है। रीकेट्स (Ricketts, 1934) का मत है कि बच्चों मे क्रोध उत्पन्न होने पर माता पिता या शिक्षकों को सयम एव धैर्य से कार्य करना चाहिए। क्रोध प्रकाशन की अवधि 1-5 मिनट तक ही होती है। इस अवधि में बच्चों का क्रोध मनोवैज्ञानिक तरीके से नियत्रित करने का प्रयास करना चाहिए।

भय (Fear) भय वह आन्तरिक अनुभूति है जिसमें प्राणी किसी खतरनाक परिस्थिति से दूर भागने का प्रयास करता है। इस सवेग की दशा में रोना चिल्लाना और काँपना आदि अभिव्यक्तियाँ सामान्य रूप में परिलक्षित होती है। भय की अवस्था में रोगटे खडे हो सकते हैं सॉस की गति व हृदय की धडकन कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो जाती है। भय की दशा में रक्तचाप में वृद्धि पायी जाती है। भय की उत्पत्ति को अनेक कारक जैसे—आयु, लिंग पूर्वानुभव, बौद्धिक विकास, सामाजिक मूल्य, वैयक्तिक सुरक्षा की मात्रा, अधिगम सामाजिक आर्थिक स्तर, प्राणी का शारीरिक और मनोवैज्ञानिक अवस्था तथा व्यक्ति प्रतिमान प्रभावित करते हैं। साधारणत जिन परिस्थितियों या उद्दीपकों से भय उत्पन्न होता है निम्न प्रकार के होते हैं जैसे—अति तीव्र भयानक आवाज विचित्र एव खतरनाक पशु, विचित्र और खतरनाक स्थान, विचित्र और खतरनाक वस्तुएँ और व्यक्ति, अधेरे स्थान तथा बहुत ऊँचे स्थान आदि।

बाल्यावास्था मे मानसिक योग्यता मे विकास होने के कारण इस अवस्था की भय की प्रतिक्रियाये विशिष्ट हो जाती है। बालक उपहास से बचने के लिए भय छिपाने की कलाबाजी सीख जाता हैं। यह सब वह सामाजिक दबाव के कारण करता है। वह इस व्यक्ति या वस्तु से भयभीन होने लगता है जिससे उसकी सुरक्षा को खतरा महसूस होने लगता है। उत्तर बाल्यावस्था मे बालक को उसके स्वास्थ्य सामाजिक टीका टिप्पणी तथा परिवार ओर पाठशाला से सम्बन्धित अवस्थाओ से अधिक भय लगता है।

बच्चों मे भय की उत्पत्ति के दृष्टिकोण से उद्दीपको का जितना महत्व होता है उससे कही ज्यादा महत्व इस बात का होता है कि कुछ पर किस तरह से बच्चो के मामने प्रस्तुत किये जाते है। उद्दीपक के अचानक एव अप्रत्याशित ढग की प्रस्तुतीकरण से बच्चो को समायोजन का अवसर प्राप्त नही होता है। और वे घबराकर भयग्रस्त हो जाते है। बच्चे अपरिचित व्यक्तियो से भी भय रखते है। कारण कि वे इन व्यक्तियों से पूरी तरह से परिचित ने होने के कारण समायोजन मे बाधा उत्पन्न हो जाती है।

भय की दशा मे बच्चो का व्यवहार प्रतिमान विशेष प्रकार का हो जाता है। असहाय होने की दशा मे वे रोने से या चिल्लाने से अपना व्यवहार प्रदर्शित करते है। लडको की अपेक्षा लडकियो मे भय प्रत्येक आयुस्तर मे ज्यादा होता है। (Pratt 1945), जरसिल्ड एव होम्स (Jersıld and Holmes (1935) के अध्ययनो से यह परिणाम मिला है कि बच्चे कुछ विशेष तरह की वस्तुओं से अधिक डरते है। बच्चो में पशुओ से सम्बन्धित भय 4 वर्ष की आयु तक बढता है और उसके बाद आयु एव अनुभव मे वृद्धि होने से भय की सख्या तथा तीव्रना मे कमी पाई जाती है। **जरासिल्ड** तथा **होम्स** (Jersıld and Holmes,1935) के अनुसार 3, 4, 5, 6 वर्षो के बच्चों मे भय का मध्यमान क्रमश 5 5, 6 3, 4 3 एव 3 2 पाया गया। इस तरह से यह पता चलता है कि आयु बढने पर भय की सख्या घटती है।

आकुलता (Worry) – चिन्ता तथा आकुलता भाव एक प्रकार का काल्पनिक भय है। आकुलता वह मानसिक स्थिति है जिसमें बालक भावी किन्तु काल्पनिक विपत्तियो की आशका से परेशान रहता है। बालकों मे बुद्धि के विकास के साथ-साथ उनकी परिस्थिति समझने की क्षमता मे भी वृद्धि होती है तभी आकुलता का बोध होता है **माउरर** (Mowrer) के अनुसार बाल्यावस्था मे बालको की चिन्ताएं अधिकतम काल्पनिक होती है। पिन्टनर एव लिव (Pınter and lıv, 1940) के अनुसार बालावस्था मे पारिवारिक मामलो, बीमारी, स्वास्थ्य, माता-पिता की अधिक कार्य व्यस्तता, विद्यालयी मामले, परीक्षाओ मे असफलता, प्रगतिपत्र का खराब होना, माता-पिता की डाट फटकर और अर्थसम्बन्धी समस्याएँ अधिक आकुलता उत्पन्न करती हैं। **जरासिल्ड** (Jersıld, 1941) के मतानुसार बाल्यावस्था में बालकों को लडके चुराने वाले भूत-प्रेत, मृत्यु अपरिचित व्यक्ति, घर और स्कूल सम्बन्धी समस्याओ से अधिक भय लगता है जिससे चिन्ता एव आकुलता मे वृद्धि होती है। जेलिग्स (Zelıgs, 1939) के भी अध्ययन में पारिवारिक आकुलता बच्चों मे सर्वाधिक पाई गयी तत्पश्चात स्कूल सम्बन्धी आकुलना को स्थान मिला।

ईर्ष्या (Jealousy) – बालक में ईर्ष्या सवेग की उत्पत्ति मूलत क्रोध के फलस्वरूप होती है। यह सवेग 1 1/2 वर्ष की उम्र मे ही प्रदर्शित होने लगता है। परन्तु इसकी तीव्रता 5 6 वर्ष की आयु में बढ जाती है। बालक दूसरे बालको की अधिक अच्छी शारीरिक बनावट, अधिक शक्ति व योग्यता, वेशभूषा अच्छी आर्थिक स्थिति, पक्षपात, असमान व्यवहार ऐश्वर्य और परीक्षा में अच्छे अको की प्राप्ति से एक दूसरे से ईर्ष्या करमे लगते है। **कोल** (Cole) के अनुसार प्रेम या प्रतिष्ठा की क्षति से ईर्ष्या का सवेग उत्पन्न होता है। जरासिल्ड एव

जारमाइकेल (Jersild and Carmiacheal 1940) के अनुसार उत्तर बाल्यावस्था मे जब बालक घर से बाहर जाता है तो वह यह समझता है कि माता का सारा प्यार उसके अनुज तथा अनुजा को मिलता है। इसलिए उसे ईर्ष्या होती है। **जुवेक** (Zubec) के अनुसार प्रारम्भिक बाल्यावस्था मे ईर्ष्या दो प्रकार से व्यक्त होती है—एक उस व्यक्ति से जिस पर शारीरिक आक्रमण होता है। जिस व्यक्ति को माता पिता के प्रेम मे वचित करने वाला मानता है उस पर ईर्ष्या प्रकट करता है। बालको मे ईर्ष्या की उत्पत्ति प्राय पारिवारिक परिस्थितियो के कारण होती है। **वाट्सन** (Watson, 1925) के अनुसार छोटे बच्चो मे ईर्ष्या अधिक होती है परन्तु आयु मे वृद्धि होने के फलस्वरूप ईर्ष्या की भावना कम होती जाती है। **सिवाल** (Sewall, 1930) ने ईर्ष्या का अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया कि ईर्ष्या के कारण बच्चो मे निम्नांकित प्रतिक्रियाये प्राय परिलक्षित होती हैं—

1 छोटे बच्चो पर प्रहार या आक्रमण।

2 सहोदरो (अनुजा एव अनुज) की उपस्थिति की अवहेलना या तिरस्कार।

3 छोटे बच्चो के प्रति रुचि मे कमी तथा अस्वीकृति।

4 सहोदरों के प्रति हीनभाव स्नेह का अभाव।

ईर्ष्या मे यह भी देखा जाता है कि बडे बच्चे छोटे बच्चो को परेशान करते हैं उनकी हँसी उडाते है तथा झगडा भी करते है।

ईर्ष्या के प्रकाशन पर वैयक्तिक कारको का स्पष्ट प्रभाव पडता है। फोर्टर (Forter, 1927) ने यह निष्कर्ष दिया है कि प्रत्येक तीन ईर्ष्यालु बच्चो मे दो लडकियाँ होती है। तीन चार वर्ष की आयु मे ईर्ष्या की तीव्रता अधिक होती है। पुन किशोरावस्था मे ईर्ष्या तीव्र होता है। सिवाल (sewall, 1930) ने ईर्ष्या एव आयु में सम्बन्ध स्थापित किया है। यदि बालको की अवस्था मे 18-40 माह का अन्तर होता है तो ईर्ष्या अधिक प्राप्त होगी। निम्न मानसिक योग्यता वाले बच्चो की तुलना मे उच्च मानसिक योग्यता वाले बच्चों में ईर्ष्या अधिक होती है। **रास** (Ross, 1930) ने यह निष्कर्ष दिया है कि यदि परिवार मे बच्चो की सख्या ज्यादा है तो ईर्ष्या का प्रदर्शन वे अधिक करेगे यदि एक ही बच्चा है तो ईर्ष्या का प्रदर्शन कम होगा। इसी प्रकार से प्रथम उत्पन्न बच्चा अन्तिम उत्पन्न बच्चे की तुलना मे अधिक ईर्ष्या का प्रदर्शन करेगा। **लेवी** (Levi, 1936) के अनुसार माता पिता का अधिक लाड प्यार भी ईर्ष्या को जन्म देता है। ऐसा प्राय उस समय पाया जाता है। जब परिवार मे नये बच्चो का जन्म होता है। माता पिता अपना ध्यान इस नवजात शिशु पर केन्द्रित कर लेते है तथा बडे बच्चे अपने को उपेक्षित समझने लगते है। इसी कारण इन बच्चों मे ईर्ष्या होने लगती है ईर्ष्या के कारण बच्चों के व्यवहार में प्रतिरोध, आक्रामकता तथा नकारने की आदत विकसित होती है। ईर्ष्या का रचनात्मक पक्ष भी होता है। ईर्ष्या के ही कारण बच्चो में प्रतियोगिता की भावना का विकास होता है। जिसके फलस्वरूप बच्चे अपने लक्ष्य प्राप्ति की तरफ अग्रसर होते है।

हर्ष, सुख एव प्रसन्नता (Joy, Pleasure and Delight) – पूर्ववाल्यावस्था में बच्चो के प्रसन्नता, हर्ष एव सुख के क्षेत्र मे विस्तार देखने को मिलता है। स्ट्राइकर (1948) के अनुसार बालक को सफलता मिलने पर, ईनाम की प्राप्ति पर, भ्रमण, यात्राओं, पार्टियों, खेल कूद, नई चीजों ओर स्थानो के अनुभवो से प्रसन्नता एव हर्ष होता है। मित्रो से मिलने-जुलने पर उनके साथ जल विहार और वन विहार करने पर उनमे आनन्दानुभूति होती है। **फ्लूगल** (Flugal, 1925), **जर्सिल्ड** (Jersild, 1921), एव **जानसन** (Jonson, 1932) के अनुसार अधिकतर बालक की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से उसे सुख मिलता है। बढिया नाश्ता और सुगन्धित चीजे बच्चों को आनन्द देती हैं। दूसरों को परेशान करने, चिढाने, बडो

से छेडछाड करने जानवरो को तग करने तथा दूसरे बच्चों को परेशानी एव मुश्किलो म डालने पर बच्चो मे प्रसन्नता होती है।

उत्तरबाल्यावस्था मे बालक को नई परिस्थितियॉ, खतरों एव सकटो का सामना करने में आनन्द की अनुभूति होती है। भाषा विकास होने तथा सम्प्रत्यय विकास से यह श्लेषात्मक कथनो और हल्के फुल्के मजाक एव हॅसी से वह प्रसन्न होता है। **वाशवर्न** (Washwarn, 1929) ने बच्चो मे हर्ष प्रसन्नता तथा सुख की अनुभूतियो का विस्तृन अध्ययन किया है। **विल्सन** (Wilson, 1931) ने प्रसन्नता हर्ष एव सुखी व्यवहार में आयु के महत्व को माना है।

स्नेह (Affection) – पूर्व बाल्यावस्था मे बच्चो मे व्यक्ति निर्जीव वस्तु खिलाने तथा जानवरों के प्रति प्रेम करना प्रदर्शित होता है। वह अपने प्रेम का प्रदर्शन सकेतो शारीरिक गतिविधियों तथा वाणी द्वारा करता है। यदि वह परिवार या परिवार के बाहर के सदस्यो से प्यार नही पाता है तो उसमे आत्म केन्द्रियता की भावना का उद्वेग होने की सम्भावना रहती है। इस अवस्था में स्नेह व्यक्त करने का तरीका भौडा, असगत तथा अमर्यादित हुआ करता है। वह अपने से प्रिय वस्तु को या व्यक्ति को चूमकर चाटकर, चिपटकर, लिपटकर, और सहलाकर स्नेह प्रकट करता है। उससे विरत होने पर रोना तथा चिल्लाना शुरूकर देता।

उत्तर बाल्यावस्था मे बच्चे दूसरो के सामने प्रेम के प्रदर्शन में झिझकते है। व्यक्ति की अपेक्षा वे जानवरो से स्नेह करना अच्छा समझते है। वे अपने मित्र को हर सभव सहायता पहुँचाने की कोशिश करता है वाह्य प्रेम की अवस्था 6 वर्ष की आयु तक रहती है। इस अवस्था मे बालक बहिर्मुखी हो जाता है, वह अपना सम्बन्ध वाह्य जगत से स्थापित करना चाहता है। शुद्ध प्रेम की अवस्था लगभग 10-11 वर्ष की आयु तक रहती है। इस अवस्था में बालक के हृदय में प्रेम अथवा काम वृत्ति के बीच अकुरित होने लगते हैं इस अवस्था मे लडके लडकियॉ सहज भाव से खेलती हैं। इस अवस्था मे बालक और बालिका के बीच प्रासगिक रोमास रहता है जिससे बालक के हृदय मे बालिका के प्रति स्नेह एव आदर का भाव रहता है। बालिका के मन मे भी बालक के प्रति विशुद्ध स्नेह एव प्रेम का भाव रहता है।

किशोरावस्था मे सवेगात्मक विकास (Development of Emotion in Adolescence) किशोरावस्था की अवधि 12 13 वर्ष से शुरू होकर 211 वर्ष तक चलती है। इस अवस्था में व्यक्ति का शरीर तथा मन मे विद्युत गति से तीव्र परिवर्तन होते है। इसलिए इसे प्रतिबल एव तूफानी अवस्था भी कहा जाता है। इस अवस्था मे मन बहकने तथा भटकने एव चित्त चहकने बुद्धि दमकते तथा कल्पनाएँ किलकने इच्छाएँ उछलने विचार बहने और भावनाएँ भभकने लगती है। हसरतो एव इच्छाओं के कुज चटकने लगते है। विचारो एव भावों का नया तूफान उठ खडा होता है। इसी अवस्था में किशोर तथा किशोरियों के शरीर एव दिमाग में ऐसे क्रातिकारी परिवर्तन होते हैं जिन्हे देखकर स्वत को आश्चर्य मे पड जाना पडता है। इस अवस्था में निम्नलिखित सवेग किशोर तथा किशोरियो में परिलक्षित होते हैं—

क्रोध (Anger) – पूर्व किशोरावस्था में किशोर तथा किशोरियों के क्रोध का स्वरूप तथा उनको उद्दीप्त करने वाले उद्दीपक उनकी अवधि तथा उनके प्रति अनुक्रियायें एव उनकी अभिव्यक्तियों का तरीका भिन्न होते हैं। किशोरो में क्रोध उद्दीपकों में होने वाली परिस्थितियॉ प्राय शारीरिक एव भौतिक होती हैं। साथ ही साथ सामाजिक परिस्थितियॉ क्रोध के उद्दीपकों मे अपनी भूमिका निभाती है। इस सम्बन्ध मे हिक्स एव **हेमस** (Hicks and Heyes) ने यह निष्कर्ष दिया है कि किशोरों के क्रोध वयस्कों द्वारा प्रतिबध लगाने पर, अपमान करने पर, व्यग्यपूर्ण वाक्य कहने पर, अधिकार का एहसास कराने, चिढाने, उपहास करने तथा माता एव पिता द्वारा पक्षपात करने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। नवकिशोर की तुलना मे नवकिशोरियों

मे क्रोध का प्रदर्शन शीघ्र होता है। नव किशोरो का क्रोध बालकों की तुलना मे दीर्घकालिक होता है। नवकिशोर की क्रोध के प्रति अनुक्रियाये बालको की तुलना मे अलग तरीके का होता है। उदाहरणार्थ—नव किशोर क्रोध आने पर अपने को समायोजित करते हुए अनबोला हो जाते है या परिस्थिति से मुँह मोड लेते है जबकि बालक क्रोधित होने पर रो सकता है हल्ला कर सकता है। एव भाग सकता है। किशोरियाँ क्रोधित होने पर अपना गुस्सा बर्तनो और चीजो को पटककर या रो धोकर उतारती है। निम्न वर्ग की किशोरियाँ एव किशोरो की अनुक्रियाये प्राय भौडी या असगत होती है।

क्रोध की अवधि उत्तर किशोरावस्था मे देर तक रहती है। किशोरो की क्रोध की अभिव्यक्ति तथा अनुक्रियाओ मे सयतता नजर आती है।

भय आकुलता व चिन्ता (Fear, worry or Anxiety)—किशोरावस्था के दौरान भयों की सख्या तथा मात्रा में अवाध गति से वृद्धि देखा जाती है। 12 16 वर्ष के मध्य भयो की सख्या सवाधिक होती है। **वेश** (1950) के अनुसार सर्प या भयकर जानवरो का भय, कोई भी घटना मे टकराने का भय, मृत्यु का भय तथा भयानक रोग होने का भय, स्कूल में प्रगति न करने का भय, भूतप्रेत आदि का भय इत्यादि किशोरावस्था से सम्बन्धित होते हैं। **जुवेक** (Zubec, 1936) के अनुसार किशोरावस्था मे अपर्याप्यता (Insuffiency) का भय बहुत सताता है। नव किशोर की आकुलता सामाजिक परिस्थिति और स्कूल के कार्यों से सम्बन्धित होती है। **हरलाक** (Hurlock, 1950) के अनुसार नवकिशोरियो को अपनी मान मर्यादा आबरू इज्जत प्रतिष्ठा और लोकप्रियता की आकुलता अधिक होती है। निम्न वर्ग की किशोरियो को अपनी पोशाक तथा आकृति सम्बन्धी आकुलता या चिन्ता अधिक सताती है।

उत्तर किशोरावस्था में भय की सख्या में कमी आती है। अधिगम एव आयु मे वृद्धि के कारण उनमे सवेगो को छिपाने की क्षमता प्रदर्शित होने लगती है। जिसके कारण वे अपने भय आकुलता एव चिन्ता के भाव स्पष्ट नही होने देते है। किशोर किशोरियो में ये आकुलताएँ अधिक रहती है कि उनकी शक्ल सूरत और विवाह प्रस्ताव पसद किया जायेगा या नही। प्रणय युद्ध मे विजय मिलेगी या नही। उसके साथ ही साथ पारिवारिक आर्थिक, सामाजिक स्थिति भी उनके चिन्ता का विषय होती है। उत्तराकिशोरावस्था में चिन्ता, भय एव आकुलता के सवेग काफी परिपक्व हो जाते हैं इन सवेगों की अभिव्यक्ति परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। सावेगिक परिपक्वता इसी अवस्था मे देखी जा सकती है।

ईर्ष्या-द्वेष (Jealousy)—पूर्व किशोरावस्था में नव किशोर प्रेम में रोडा बनने वालों पर शारीरिक आक्रमण के स्थान पर शाब्दिक आक्रमण अधिक करते हैं। शाब्दिक आक्रमण मे किशोर उपहास एव टीका टिप्पणी करते है। जब विषमलिगीय अवज्ञा या उपेक्षा करते हैं तो। ईर्ष्या का सवेग उद्दीप्त होता है। अपने से अधिक अकपाने वाले किशोरों से ईर्ष्या रखते हैं। जब नवकिशोर की कोई प्रेमिका दूसरे से प्रेम करने लगता है तो ईर्ष्या भाव प्रकट होता है। उत्तरकिशोरावस्था मे किशोर एव किशोरियों मे विपरीतलिगी के प्रति प्रेम जागृत होता है इससे भी सवेग प्रमाणिक होता है। प्रेमी या प्रेमिका के प्रेम में रुचि मे कमी आने पर या सन्देह करने पर भी ईर्ष्या का भाव उद्दीप्त हो जाता है। ईर्ष्या से स्पर्धा भी जागृत होती है। ईर्ष्या के कारण किशोर में प्रतिस्पर्धा जन्म लेती है। तथा किशोर अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल हो जाते हैं अत इस प्रकार यह स्पष्ट हो रहा है कि ईर्ष्या का केवल निषेधात्मक पक्ष ही नही है बल्कि इसका विधेयात्मक पक्ष भी होता है।

हर्ष प्रसन्नता एव सुख (Joy Delight and Pleasure) – किशोरावस्था मे किशोर एव किशोरियो मे हर्ष प्रसन्नता एव सुख का सवेग प्रदर्शित होता है। **ज्यूवेक** (Zubec, 1936) के अनुसार किशोर अक्सर सामाजिक कार्यो मे भाग लेते है जिससे उनमे हर्ष की प्राप्ति होता है। जब किशोर सामाजिक परिस्थितियो से समायोजन करने मे सक्षम हो जाते है तो उनमें सुख तथा प्रसन्नता के भाव जागृत होते है परन्तु समायोजन के अभाव मे व दुखी एव व्याकुल हो जाते हैं हर्ष एव प्रसन्नता की अभिव्यक्ति वह जोरदार हँसी मे या मुस्करा करके करता है **हरलाक** (Harlock, 1975) के अनुसार उत्तरकिशोरावस्था मे किसी भी परिस्थिति के हास्यास्पद पहलू देखने से किशोरो को प्रसन्नता होती है। दूसरो का उपहास करने मे उसे आनन्द होता है। परन्तु स्वय मजाक का शिकार होने पर दुखी होता है। जब जिन सवेगो से उन्मुक्त होने का अवसर मिलता है तब वह हर्ष का अनुभव करता है।

स्नेह (Affections) – पूर्वकिशोर अवस्था मे प्रेम या स्नेह परिवार मे हटकर के लोगों का मित्रमडली का विषम लिगीय व्यक्तियो मे हो जाता है। अक्सर नवकिशोर उमसे स्नेह या प्रेम रखता है जिससे उसको सुरक्षा एव सुख की अनुभूति होती है। इस अवस्था मे कुछ किशोर अपने माता पिता से अधिक स्नेह दर्शाते है तथा कुछ किशोर अपने मित्र मडली से तो अन्य विपरीत लिगीय व्यक्तियो से। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस अवस्था मे किशोर विपरीत लिग के प्रति आकर्षण अधिक रखता है किशोर किशोरी के प्रति तथा किशोरी किशोर के प्रति अपना प्रेम प्रदर्षित करने लगते है। थार्पे (Thorpe) के अनुसार किशोरावस्था मे यौन आकर्षक अधिक बढ जाने से परवर्ग के व्यक्तियो के साथ यानि किशोर किशोरियो के प्रति अपना आकर्षण प्रदर्षित करते है। इस अवस्था मे किशोर अपनी प्रेमिका के जन्म दिन आदि पर उपहार देकर प्रेम का इजहार करते है। किशोर एव किशोरियो के स्नेह एव प्रेम की अभिव्यक्ति भिन्न भिन्न होती है। इस अवस्था मे बौद्धिक एव तार्किक योग्यता भी विकसित हो जाती है जिसके कारण किशोर सामाजिक नियमो मर्यादाओ विज्ञप्तियों के प्रति चिन्तित रहता है तथा अपना स्नेह प्रदर्शन सामाजिक सीमाओ मे बधकर करता है।

सवेगात्मक व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Affecting Emotional Behaviour)

सवेगात्मक व्यवहार पर बालक के अधिगम तथा पर्यावरण मे उपस्थित उद्दीपको का जबरदस्त प्रभाव पडता है। सामान्यतया यह परिलक्षित होता है कि कुछ बालक अधिक क्रोध का प्रदर्शन करते हैं तथा कुछ क्रोध का नियत्रित करने मे सफल हो जाते है। जैसा कि उसी अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि अधिगम और परिपक्वन दोनो सवेगात्मक विकास में अपनी अहम् भूमिका का निर्वाह करते है। परन्तु इन दोनों कारकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी परिवेशीय कारक हैं जो सवेगात्मक व्यवहार को एक दिशा प्रदान करते है उनका वर्णन यहा अपेक्षित है

(1) **शारीरिक स्वास्थ्य** (Physical Health) – बच्चों का शारीरिक स्वास्थ्य उनके सवेगात्मक विकास में अहम् भूमिका अदा करता है। जो बच्चे प्रारम्भिक अवस्था में रोगग्रस्त होते हैं। उनमें सवेगात्मक विकास उन बच्चो की तुलना में विलम्ब से होता है जो बच्चे प्रारम्भिक अवस्था में रोगग्रस्त नहा होते है। Hurlock (1975) के अनुसार शैशवास्था एव बाल्यावस्था की बीमारी बच्चो के सवेगात्मक व्यवहार को अवरुद्ध करती है। इसलिए यह आवश्यक है कि बच्चो के स्वास्थ्य पर प्रारम्भिक अवस्था में विशेष ध्यान देना चाहिए। उदाहरणार्थ बच्चो के स्वास्थ्य हेतु उनको समय से पौष्टिक आहार देना चाहिए तथा यह

सावधानी रखनी चाहिए कि बचपन मे बच्चे बीमार न होने पावें। ऐसा देखा जाता है कि रोगग्रस्त बच्चो मे चिडाचिडापन ज्यादा होता है। बात बात म क्रोधित होना उनकी आदत बन जाती है जिसके कारण उनका समायोजन प्रभावित होता है। अत उचित सवेगात्मक विकास हेतु बच्चो का स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिए।

(2) **लिग** (Sex)–प्रायोगिक अध्ययनो से यह निष्कर्ष मिलता है कि स्वेगात्मक विकास मे लिग का प्रभाव पडता है। उदाहरणाथ बालक एव बालिकाओ के सवेगात्मक विकास क्रम मे अन्तर का होना बालकों मे आक्रामकता क्रोध बालिकाओ की तुलना मे अधिक होता है जबकि बालिकाओ मे भय ईर्ष्या इत्यादि सवेग अधिक देखे जाते हैं।

(3) **जन्म क्रम** (Birth order)–प्राय यह दृष्टव्य है कि प्रथम पैदा हुई सताने अधिक चिडचिडे स्वभाव की होती हैं तथा उनमे क्रोध की मात्रा भी ज्यादा होती है। ऐसे बच्चों मे प्राय यह देखा जाता है कि वे अपनी इच्छाओ एव आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए सवेगात्मक तरीके का इस्तेमाल करते है। इस सम्बन्ध में एरन्टर एव आग्स्ट (Ernrt & Angst, 1983) का मत है कि यदि परिवार के छोटे बच्चो को समयानुसार उचित रूप से निर्देशित नही किया गया तो उनमे सवेगात्मक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

(4) **पर्यावरण** (Environment)–सामाजिक पर्यावरण का सवेगात्मक विकास पर प्रभाव पडता है। बालक यदि ऐसे सामाजिक वातावरण में रहता है जहाँ पर झगडे झझट गाली-गलोज हमेशा होते रहते है तो यह पर्यावरण इन बच्चो मे आक्रामकता क्रोध आदि सवेगो को जन्म देगा। बच्चो के सवेगात्मक सतुलन पर कक्षा का एव आयु का भी प्रभाव पड़ता है। यदि कक्षा का वातावरण बच्चे को हँसी या उपहास का पात्र बनाते है तो ऐसे बालक का सवेगात्मक व्यवहार सतुलित नही होगा तथा वह आक्रामकता एव क्रोध का सवेग उद्दीप्त कर सकता है। एव अध्ययन मे ली (Lee, 1932) ने यह पाया कि बच्चे खेल के मैदान में ज्यादा खुश तथा स्थिर व्यवहार का प्रदर्शन करते है जबकि यदि स्कूल में उसके माता पिता भी हो तो उनमें सवेगात्मक अस्थिरता का प्रदर्शन अधिक दिखायी देता है।

(5) **सामाजिक स्तर** (Social status)–सामाजिक स्तर की सवेगात्मक विकास को प्रभावित करते है। Springer (1938) ने बच्चों के एक प्रतिदर्श का अध्ययन ब्राउन व्यक्तित्व प्रश्नावली द्वारा किया। अध्ययन के परिणामस्वरूप यह मिला है बच्चों के सामाजिक स्तर का भी सवेगात्मक स्थिरता पर प्रभाव पडता है। निम्न सामाजिक स्तर वाली बच्चों में उच्च सामाजिक स्तर वाले बच्चो की तुलना मे सवेगात्मक स्थिरता कम पाई जाती है। मध्य सामाजिक स्तर वाले बच्चो मे सवेगात्मक स्थिरता एव समायोजन अधिक होता है।

(6) **माता पिता की अभिवृत्तियाँ** (Parental Attitudes)–बालक के माता पिता की अभिवृत्तियाँ भी बालक के सवेगात्मक विकास को प्रभावित करती हैं। **क्यूमिंग्स** (Cummings, 1944) के अध्ययन से इस बात का पता चला है कि यदि माता-पिता बच्चों के प्रति उदासीन है या अधिकाश समय घर से बाहर व्यतीत करते है। बच्चों की अत्यधिक चिन्ता करते हैं या उन्हे अपने घर को बातचीत का केन्द्र बना लेते हैं उनमें सवेगात्मक विकास ठीक से नही हो पाता है। इस तरह से यह स्पष्ट हो रहा है कि बच्चों को आत्मनिर्भर होने का उचित अवसर प्रदान करना चाहिए जिससे उनके सवेगात्मक व्यवहार का विकास समुचित रूप से हो सके। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बच्चो को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए तथा उनके ऊपर अधिक सरक्षण नहीं होना चाहिए।

●

8 क्रियात्मक योग्यताओ का विकार
(Development of Motor Abilities

बालक सर्वप्रथम अपने शरीर पर नियन्त्रण करना सीखता है। जीवन की सामा क्रियाओ को क्रियान्वित करने के लिए बालक का अपनी विभिन्न मासपेशियों पर नियन् आवश्यक है। भोजन तथा जल की आवश्यकताओ की सतुष्टि हेतु मलमूत्र त्याग करने क्रियाओ तथा हानिकारक परिस्थितियो से रक्षा हेतु किसी विशेष कुशलता की आवश्यक नही होती है। मॉसपेशियों पर साधारण नियन्त्रण इन क्रियाओं को सम्भव बनाता है। इ सम्बन्धित सभी गतियॉ जीवन सरक्षण से सम्बन्धित हैं। बालक के मानसिक विकास के लि भी क्रियात्मक योग्यताओ का विकास अत्यन्त आवश्यक है। अत यह स्पष्ट है कि सत जीवन के लिए शैशवावस्था से ही क्रियात्मक नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

मासपेशियो तथा नाडियो के विकास के साथ-साथ बालक निरर्थक मासपेशीय गति को नियन्त्रित करने लगता है। इस प्रकार उसमे किसी कार्य विशेष को क्रियान्वित करने के लि निश्चित अगो के उपयोग की क्षमता बढ जाती है इन योग्यताओ के विकास को ही क्रियात् योग्यताओ का विकास कहते हैं। हरलॉक (Hurlock) के अनुसार,

'स्नायुकेन्द्रो, स्नायुओं एव मासपेशियों की समन्वित क्रियाओं के माध्यम से शारीरि गतियो पर नियन्त्रण विकसित करना ही क्रियात्मक विकास है।" ("Motor developme means the development of control over body movements through tl coordinated activity of the nerve centres, the nerves, and the muscles"

स्पष्ट है कि क्रियात्मक विकास के द्वारा ही पेशीय प्रक्रियाओं (Muscul mechanisms) पर नियन्त्रण एव शारीरिक अगों तथा पेशीयो में समन् (Co-ordination) सम्भव है।

क्रियात्मक विकास की सामान्य विशेषताये
(General Characteristics of Motor Development)

1 **विशेष क्रम**—क्रियात्मक विकास एक निश्चित क्रम का अनुसरण करता ह सर्वप्रथम बालक सिर पर नियन्त्रण प्राप्त करता है तत्पश्चात् वह भुजाओं, हाथो, धड से ऊपर अगो पर नियन्त्रण प्राप्त करता है। इसे मस्तकाधोमुखी विकास क्रम (Cephalocaud sequences) कहते है। गर्भाशय में भी विकास का यही क्रम होता है-इसी कारण जन्म समय सिर सभी अगो से अधिक विकसित होता है।

क्रियात्मक विकास शरीर के केन्द्रीय भागों से प्रारम्भ होकर अन्य भागा की ओर हो है। इसे निकट दूर विकास क्रम (Proximodistal sequence) कहते हैं। इस सिद्धान्त अनुसार, भुजाओ पर नियन्त्रण के पश्चात् बालक अपनी अगुलियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर

है। जन्म के समय शिशु का सिर उस व्यक्ति के कन्धो या शरीर पर टिका रहता है जो उसे लिये रहता है। उस समय शिशु अपने सिर पर स्वय नियन्त्रण नही रख पाता है। कुछ दिनों पश्चात् गर्दन तथा सिर की मॉसपेशियो पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त करने पर उसके सिर को हाथ द्वारा कुछ सहारे की आवश्यकता होती है।

2 **सामान्य से विशिष्ट क्रियाओ की ओर**—(From general to specific)—सर्वप्रथम शिशु किसी उत्तेजना की प्रतिक्रिया को प्रस्तुत करने के लिए अपने सम्पूर्ण शरीर को हिला देता है किन्तु पेशियो के परिपक्व होने के साथ साथ उसकी क्रियाये नियन्त्रित हो जाती हैं। इस प्रकार बालक मे सर्वप्रथम सामान्य क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। तत्पश्चात् विशिष्ट क्रियाये विकसित होती है।

3 **वयक्तिक भिन्नताएँ** (Individual differences)—क्रियात्मक विकास का एक निश्चित क्रम होता है परन्तु इसमे वेयक्तिक भिन्नता भी पायी जाती है। एक बालक अन्य बालको से हस्त नियन्त्रण या चलना सीखने में पीछे रह जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वास्थ्य व पर्यावरण भिन्न होने के कारण क्रियात्मक विकास भिन्न होता है तथा क्रियात्मक योग्यताओ के प्रदर्शन के समय मे भिन्नता पायी जाती है।

4 **अधिगम तथा परिपक्वता का परिणाम**—मॉसपेशियो पर नियन्त्रण अधिगम व परिपक्वता के द्वारा प्राप्त होता है। क्रियात्मक विकास स्नायविक रचना (Nerves composition) अस्थियो तथा विभिन्न माँस पेशियों की परिपक्वता पर निर्भर होता है। एक बालक को अपनी विभिन्न मॉसपेशियो को प्रयोग करने का अवसर प्राप्त होता है। उतना ही अधिक इसका प्रभाव उसके क्रियात्मक विकास पर पडता है। गतियों के एकीकरण (Consolidation of movements) के लिए बालक के मॉसपेशियों का परिपक्व होना आवश्यक है। इसलिए यदि बालक को परिपक्वता से पूर्व कुछ सिखाना समय तथा ऊर्जा नष्ट करना है तथा इससे बालक की रुचि भी समाप्त हो जाती है। शारीरिक परिपक्वता भिन्न भिन्न अगों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में आती है अत आयु के अनुसार भिन्न-भिन्न क्रियाएँ प्रदर्शित होती हैं।

विभिन्न अगो मे क्रियात्मक विकास का क्रम
(Sequence of Motor Development in Different Organs)

गर्भावस्था मे क्रियात्मक विकास से सम्बन्धित विभिन्न प्रयोगात्मक अध्ययनो से ज्ञात होता है कि गर्भस्थ शिशु में छठे महीने से क्रियाएँ होना प्रारम्भ होती है। इन क्रियाओं में सिर व धड का घूमना, हाथ फेंकना, सिर से धक्का देना व पैर झटकाना मुख्य है। किन्तु इन क्रियाओ में व्यक्तिगत भिन्नताएँ पाई जाती है। गर्भावस्था मे अधिक क्रियाशील शिशु जन्म के पश्चात् भी अधिक क्रियाशीलता प्रदर्शित करता है।

हरलॉक (Hurlock, 1950) ने बाल्यावस्था के क्रियात्मक विकास को चार वर्गों में विभाजित किया है। सिर क्षेत्र का क्रियात्मक विकास भुजा, धड व पैरों का क्रियात्मक विकास।

1 **सिर क्षेत्र मे क्रियात्मक विकास** (Motor Development in the head region)

नेत्र क्रियाएँ, 'मुस्कराने, हँसना तथा सिर उठाना शीघ्रता से सीखी जाने वाली क्रियाएँ हैं।

नेत्र (Eyes)—जन्म के पश्चात कुछ घटों तक बालक का अपने नेत्रो पर कोई नियत्रण नही होता है, लेकिन चार महीने के पश्चात् एक सामान्य बालक नेत्र की जटिल गतियों को

प्रदर्शित करने म सक्षम होता है। **क्षैतिजीय** (Horizontal), **ऊर्ध्वाधर** (vertical) तथा वृत्ताकर (circular) नेत्र समन्वय (Eye co ordination) मे क्षैतिजीय समन्वय सर्वप्रथम बालक प्राप्त करता हे। **जान्स** (Jones, 1926) ने अपने प्रयोग में निष्कर्ष निकाला कि 33 दिने मे नवजात शिशु क्षैतिजीय प्रकाश के प्रति ऑखे लम्बे समय तक गतिशील कर लेता है। ऊर्ध्वाधर तथा वृत्ताकार समन्वय 21वे दिन प्रथम बार दिखायी देता है। **जान्स** (Jones, 1926)ने इस समन्वय की प्राप्ति के समय मे भी कुछ अन्तर पाया। उन्होने पाया कि एक बालक क्षैतिजीय समन्वय मे 90 दिन, ऊर्ध्वाधर समन्वय में 110 दिन तथा वृत्ताकार समन्वय में 130 दिन लेता हे। बालक जन्म से ही पलक झपकता है। पलक झपकने की प्रतिक्रिया तब प्रदर्शित होती है। जब नेत्र के पास स्पर्श किया जाये। कुछ दिनों पश्चात् यह प्रतिक्रिया अनैच्छिक हो जाती है तथा किसी वस्तु के नेत्र निकट पहुँचने पर नेत्र स्वत प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है। अपने प्रयोग मे **जान्स** ने पाया कि कुछ शिशु यह स्वत प्रतिक्रिया 46 दिन मे प्रदर्शित करते हे और कुछ यह योग्यता 124 दिन मे प्रदर्शित करते हैं। नेत्र स्थिरण (Eye fixation) की प्रक्रिया शिशु मे 10वे दिन देखी जा सकती है।

मुस्कुराना (Emiling)—शिशु जन्म के पश्चात् एक सप्ताह में ही मुस्कराने की सहज क्रिया (Reflexaction) प्रदर्शित करता है। प्रारम्भ मे यह सहज क्रिया स्पर्श या क्रियात्मक उद्दीपक (Stimulus) के कारण हो सकती है। **जोन्स** (Jones, 1926) ने अपने प्रयोग मे पाया कि प्रथम मुस्कराहट शिशु द्वारा 39 दिन की आयु मे प्रदर्शित की जाती हे। शिशु किसी को देखकर या बात सुनकर तीन या चार माह की अवस्था मे मुस्कराता है। इसे सामाजिक मुस्कराहट कहा जाता हे। यही सामाजिक मुस्कराहट सामाजिक व्यवहार का प्रथम बिन्दु मानी जाती है।

सिर को गति (The movement of head)—शिशु में सिर उठाने की क्षमता बहुत शीघ्र दिखाई देने लगा है। ब्रयान (Bryan, 1930) ने अपने प्रयोग मे निरीक्षण किया कि शिशु अपने जन्म के 20 मिनट पश्चात अपना सिर थोडा सा उठाने मे सक्षम होता है। यदि एक शिशु जिसकी आयु एक माह है पट के बल सुला दिया जाता है यहॉ क्षेतिज अवस्था (horizontal position) में सिर को सीधा रख सकता है। तथा दो माह की आयु मे अपनी पूर्व अवस्था मे 30° ऊपर अपना सिर उठा सकता है। प्रारम्भ में शिशु को सिर उठाने मे कठिनाई होती हे यदि उसे पीठ के बल लिटा दिया जाता है। शीर्ले (Shirele, 1931) कि इस तरीके से सिर उठाने में करीब 20 सप्ताह लगते हैं **गेसल** (Gesell, 1928) ने अपने प्रयोग में देखा कि चार माह की आयु में 75 प्रतिशत शिशु गोद में होने पर सिर उठाने में समर्थ थे। छह माह की अवस्था में सभी शिशु अपना सिर उठाने में समर्थ थे।

2 भुजाओ तथा हाथो मे क्रियात्मक विकास—अक्सर देखा जाता है कि शिशु की भुजाएँ तथा हाथ जन्म से ही क्रियाशील होते हैं। सर्वप्रथम ये यादृच्छिक ढग से आगे तथा पीछे को गति करते है। प्रारम्भ में हाथों की गति सिर की ओर ही होती है। कभी कभी शिशु इस प्रकार की क्रियायें निद्रा में भी करता है।

जन्म के समय शिश अपनी सुरक्षा के लिये अपनी गतियों का समन्वय करने में असमर्थ होता है लेकिन एक दिन पश्चात् वह इस सम्बन्ध में कुछ क्षमता अर्जित कर लेता है। **शरमैन**

(Sherman, 1929) ने अपने अध्ययन मे देखा कि जन्म के 20 से 40 घटे पश्चात् शिशु अपनी बॉहो की हिलाकर अपनी सुरक्षा के कुछ समन्वय करने मे समर्थ था। आयु के साथ साथ समन्वय क्षमता बढ जाती हे।

जन्म के समय मुट्ठी बन्द करने की सहज क्रिया मे अँगूठे तथा अगुलियॉ पुस्तक के समान कार्य करते है अर्थात् अँगूठा व अगुलियॉ मिलकर कार्य करते है। अगूठे अगुलियो से विपरीत दिशा मे कार्य करना हाथ को अधिक उपयोगी बना देता है। यह योग्यता शिशु में चार पॉच माह मे आ जाती है। **गेसेल** तथा **हेलवरसन** (Gesself Halverson, 1936) ने निष्कर्ष निकाला कि पूर्ण अगूठा विमुखता की क्षमता शिशु के जन्म से 32 से 52 सप्ताह मे आ जाती है।

हाथो तथा ऑखो को समन्वय ऑखो द्वारा हाथो से कोइ गति कराने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार का हाथो तथा ऑखो का समन्वय 8वें माह मे सम्भव होता है। **वाट्सन** (Watson, 1921) ने अपने अध्ययन मे पाया कि जन्म के 122 वे दिन पर पकडने की क्षमता हाथ से पकडना सीख लिया छ या सात माह की अवस्था मे बालक विभिन्न चीजों को उठा सकता है।

शिशु अपने मुँह में वस्तुऍ रखना सीख जाता है। **जोन्स** (Jones, 1926) ने पाया कि कम से कम 116 दिन का शिशु ऐसा करने मे समर्थ होना है तथा सभी शिशु 269 दिन मे ऐसा कर पाते हैं।

किसी वस्तु को देखकर शिशु उसकी तरफ बढता है तथा इसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। चार माह पश्चात् वह कुछ सीमा तक वस्तुओ के पकडने में सक्षम हो जाता है। **हैलवरसन** (Halverson, 1931) तथा **हैलवरसन** व **गेसेल** (Halverson & Gesel, 1936) ने पाया कि शिशु त्रिकोणीय चित्रो को प्रथम प्रयास मे पकडने मे समर्थ था जबकि उसकी अवस्था 24 सप्ताह थी। प्रथम 32 सप्ताह मे उसकी त्रिकोणो तक पहुँचाने की गति में वृद्धि दिखायी दी लेकिन उसके पश्चात यह गति धीमी हो गयी। त्रिकोण तक पहुँचने के लिए शिशु ने अपना हाथ प्रथम 28 सप्ताह मे उठाया लेकिन 52वे सप्ताह मे हाथ उठाने की ऊँचाई कम हो गयी 28 सप्ताह की आयु मे शिशु दोनो हाथो से पकडने का प्रयास करता था। परन्तु इसके बाद वह केवल एक हाथ से पकडने का प्रयास करता था। दो माह की अवस्था मे वह एक परिपक्व व्यक्तियों की तरह वस्तुओ को उठाने व पकडने म समर्थ था। **लिपमैन** (Lıppman, 1927) के अनुसार एक शिशु पॉच माह की अवस्था में एक वस्तु को पकड सकता है। सात माह की अवस्था दो तथा दस वर्ष की अवस्था मे वह तीन वस्तुऍ पकडने में समर्थ होता है। परन्तु वस्तु का आकार शिशु के लिए उपयुक्त होना चाहिए।

हाथ की मॉसपेशियो मे नियन्त्रण प्राप्त करने के पश्चात् बालक खाने पीने मे टाथ का प्रयोग करना सीख जाता है। आठ माह की अवस्था मे वह दूध की बोतल को स्वय अपने मुँह में रख सकता है तथा निकाल सकता है। एक वर्ष की आयु मे यह कप मे स्वय दूध पी सकता है तथा अपने हाथ या चम्मचे से कुछ खा सकता है। ऐसा करने मे वह दूध गिरा सकता है। या भोजन फैला सकता है। तीन वर्ष की अवस्था में शिशु स्वय ठीक से भोजन कर सकता है।

बालक वस्त्र पहनने से पहले उतारना सीखता है क्योंकि वस्त्र उतारना ज्यादा आसान है। **की** (Kev 1938) के अनुसार 1 1/2 से 3 1/2 वर्ष की आयु मे वस्त्र पहनने की योग्यता बहुत

तेजी से विकसित होती है। साधारण बालिकाओ बालको से जल्दी वस्त्र पहनना सीखती है। **बैगनर, तथा आर्मस्ट्रॉग** (Wagoner and Armastrong, 1928) ने एक विशेष प्रकार की जैकेट बनवाई जिससे आगे, पीछे व किनारे बटन थे। ये बटन विभिन्न आकार के थे। इस प्रयोग मे ये देखा गया कि शिशु बटन आसानी से खोल लेते थे। तीन से पॉच वर्ष की उम्र के बीच शिशु आगे या किनारे के बटन बन्द कर सकते थे। और पहले से कम समय लेते थे। वस्त्र पहनने मे हाथो व नेत्रो के समन्वय की आवश्यकता होती जब तक कि वह स्पर्श के अनुभव द्वारा उन्हे पहनना नही सीख लेता है।

गटरिज (Gutterıdge, 1939) के अनुसार दो या तान वर्ष की अवस्था म कोई भी बालक किसी निश्चित दिशा मे गेद फेकने मे समर्थ नही होता है। छह वर्ष की अवस्था मे 94 प्रतिशत बालक ऐसा करना सीख लेते है। **हिल्डेथ** (Hıldreth, 1936) ने पाया कि तीन वर्ष की उम्र तक बालक कागज पर उल्टी सीधी रेखाये खीचता है। 2 से 3 1/2 वर्ष की आयु तक वह क्षैतिज लिखना सीखता है इसके साथ साथ वह ऊर्ध्वाधर रेखाये भी खीचने लगता है। 3 1/2 से 4 वर्ष की आयु मे बालक कुछ अक्षर बनाने का प्रयास करता हे। साधारणतया वह 4 1/2 वर्ष की आयु मे कुछ अक्षर लिखने लगता है। पॉच या साढे पॉच वर्ष की आयु मे वह ठीक से लिखने लगता है

गेसेल (Gesel, 1928) 5 वर्ष की अवस्था मे बालक साधारण वस्तुओ को ढूंढ सकते है। वे खिलौनो को सही ढग से रखे सकते हैं, अपने हाथ, पैर तथा चेहरा, बिना अपने वस्त्र गीले किये धो सकते है।

प्रारम्भ मे बालक अपने दोनों हाथों का प्रयोग बराबर करता है। लेकिन नवे महीने से स्पष्ट होने लगता है। कि बालक दायें हाथ का प्रयोग करेगा या बायें हाथ का।

3 धड मे क्रियात्मक विकास (Motor development ın the trunk)

नवजात शिशु में अपने शरीर को घुमाने की क्षमता नही होती। दूसरे माह मे वह अपने शरीर को घुमाने मे समर्थ हो जाता है।

बैठने की क्रिया पीठ मॉसपेशियों के विकास पर निर्भर करती है। बैठने से पूर्व धड पर नियन्त्रण होना आवश्यक है। गैसेल (Gassel, 1940) के अनुसार बालक 20 सप्ताह की अवस्था मे सहारे से बैठने लगता है। नवे व दसवें माह में व बिना सहारे के बैठना सीख जाता है। वह स्वय खडा नही हो पाता है। धीरे धीरे चौथे या पॉचवे साल मे बालक एक परिपक्व व्यक्ति की भॉति बैठ व चल सकता है।

4 पैरो मे क्रियात्मक विकास (Motor development ın Legs)

चलने की क्रिया को सीखने में बालक को अधिक कठिनाई का सामना करना पडता है। वास्तव मे चलने का अभ्यास तभी से प्रारम्भ हो जाता है जब शिशु अपनी टॉगों को आगे व पीछे घुमाता है। इस प्रकार वह अपने धड तथा टॉगों में समन्वय करना सीखता है। सर्वप्रथम शिशु रेगना सीखता है। सातवे महीने मे सिर व कन्धे ऊपर उठ सकते हैं तथा शरीर के ऊपरी भाग का भार उसकी कोहनियों पर रहता है।

नवे माह मे एक सामान्य शिशु अपने घुटनों पर घूमने मे समर्थ होता है। इस प्रकार की गति मे धड ऊपर रहता है तथा शिशु अपने हाथों तथा घुटनों की सहायता से आगे की तरफ

बढना है। जब कुछ शक्ति आ जाती है शिशु अपने घुटने उठा लेता हे तथा पैरो व हाथो के सहारे जानवरो की तरह चलने लगता है ।

चलना सीखने के लिए खडे होना आवश्यक है। साधारणतया ऐसा देखा गया है कि शिशु अपने घुटनो के बल घूमना व सहारे से खडा होना दोनों साथ-साथ सीख लेता हे। आठ या नौ मार की अवस्था मे वह बिना सहारे के खडा होना सीख लेता हे। शिशु जिस अवस्था मे स्वय बैठना सीखता उसकी दुगनी आयु मे वह स्वय चलना सीख जाना हे। सहारे से चलने की औसत आयु एक वर्ष है तथा 64 प्रतिशत बालक 14 माह की अवस्था मे स्वतत्र रूप से चलना सीख जाते हे। प्रारम्भ मे सन्तुलन की कमी होती है। सन्तुलन के लिए शिशु अपने दोनो हाथ उठाये रखता है।

चलने की क्रिया मे वह कई बार गिरता है। प्रारम्भ मे वह बहुत छोटे छोटे कदम उठाता है। चलने मे कुशलता प्राप्त होने पर वह बडे कदम उठाने लगता है। प्रारम्भ मे चलने की क्रिया मे उसका पूरा शरीर गति करता प्रतीत होता है। धीरे धीरे शरीर की गति रुक जाती है तथा केवल टागो की गति होती है। अभ्यास टागो की गति को बढाता है। $1\frac{1}{2}$ से 6 वर्ष की अवस्था मे बालक के चलने का कौशल विकसित होता जाता है।

दो वर्ष की अवस्था मे बालक कूदना नही जानता। चार वर्ष की अवस्था मे वह ठीक से कूदना सीख लेता है। **गटरिज** (Gutteridge, 1939) ने अपने अध्ययन मे पाया कि 81 प्रतिशत बालक तीन वर्ष की अवस्था मे कूदना सीख लेते हैं। गटरिज ने पाया कि दो, तीन तथा छ वर्ष के बालक चलने मे बालिकाओं से ज्यादा कुशल होते है। परन्तु चार तथा पॉच वर्ष की अवस्था मे दोनो मे चलने की बराबर योग्यता होती है।

तैरने का कौशल प्रशिक्षण तथा अवसर पर निर्भर करता है। इसमे मॉसपेशियो मे समन्वय की अधिक आवश्यकता होती है।

ढाई वर्ष की अवस्था मे साधारणतया बालक तीन पहिये की साइकिल चलाना सीख लेते है। **गटरिज** (1939) ने अपने अध्ययन मे पाया कि सभी बालक चार वर्ष की अवस्था मे तीन पहिये वाली साइकिल चलाने मे सक्षम हो जाते है। पॉच वर्ष की अवस्था मे वे दो पहिये वाली साईकिल चलाने की इच्छा प्रकट करने लगते हैं। तीन से चार वर्ष की अवस्था मे बालक नृत्य करने का कौशल प्रदर्शित करने लगते है।

क्रियात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Effecting Motor Development)

जेसा कि उपरोक्त वर्णित है कि क्रियात्मक विकास में व्यक्तिगत भिन्नता पायी जाती है अर्थात् सभी बालकों का क्रियात्मक विकास समान गति से नही होता है। कुशल बालक इन योग्यताओ को शीघ्र अर्जित कर लेते है जबकि अन्य कुछ देर में कर पाते है। अनेक कारक क्रियात्मक विकास को प्रभावित करते है जिस कारण सभी बालको में क्रियात्मक योग्यताओं का विकास समान गति से नही होता। क्रियात्मक विकास देर से होना बालक के लिए अच्छा नही होता क्योकि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है। इससे उसका सामाजिक विकास भी प्रभावित होता है क्योकि इससे बालक सकोची स्वभाव का हो जाता है तथा वह अपनी आयु के अन्य बालकों से मिलने से कतराता है। एक हीन भावना उसके अन्दर

समा जाती है जब वह अन्य बालको की तरह स्वय अपने कार्य नही कर पाता है। क्रियात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित है—

(1) **शारीरिक स्वास्थ्य** (Physical Health)—शारीरिक स्वास्थ्य का प्रभाव शारीरिक विकास पर पडता है। जो बालक अपने जीवन के प्रारम्भ मे ही रोगग्रस्त रहते है उनका क्रियात्मक विकास स्वस्थ बालको की तुलना मे धीमे होता है। बाल्यावस्था मे गम्भीर बीमारियों जेसे—पोलियो से बालक के अग के प्रभावित होने से उसके क्रियात्मक विकास की गति धीमी हो जाती है। एक स्वस्थ बालक 10 या 12 माह की अवस्था मे चलना सीख लेता है जबकि एक अस्वस्थ बालक को अधिक समय लग सकता है। पोषक तत्वो की कमी से भी क्रियात्मक विकास प्रभावित होता है।

(2) **शारीरिक आकार** (Size of the Body) – शर्ले (Shirley, 1931) के अनुसार मोटे बालकों मे बैठने खडे होने व चलने की क्रियाएँ सामान्य बालको से देर मे प्रारम्भ होती हैं। इस प्रकार शरीर का आकार कुछ क्रियात्मक कौशलो जैसे—बैठना, चलना व खडे होना आदि को प्रभावित करना है। शारीरिक आकार पर शारीरिक सन्तुलन निभर करता है।

शारीरिक सन्तुलन के लिए धड तथा टॉगों की लम्बाई सही अनुपात मे होनी चाहिए तथा साथ ही शारीरिक भार व लम्बाई मे भी अनुपात उपयुक्त होना चाहिए। छोटी अस्थियाँ तथा अच्छी मासपेशियो की सहायता से बालक शीघ्र चलना सीखने मे सक्षम होता है।

(3) **वस्त्रो का प्रभाव** (Effect of Dress) – ढीले वस्त्र पहनकर बालक आसानी से चलने मे समर्थ होता है। चुस्त वस्त्र स्वतन्त्र गति मे बाधक होते हैं। जितने कम वस्त्र बालक के शरीर पर होगे उतनी आसानी से बालक अपने अगो मे गति करने में समर्थ होगा। इसी कारण गर्म देशो मे बच्चे ठडे देशो की अपेक्षा जल्दी चलना सीखते है। यदि जूते कठोर व हल्के होगे बालक के चलने मे बाधक होगे इसलिए बालक के जूते व वस्त्रों के चुनाव पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

(4) **बुद्धि** (Intelligence) – मीड (Mead 1913) ने अपने प्रयोग मे पाया कि एक सामान्य बालक 13 88 माह की अवस्था मे चलने में समर्थ होता है जबकि मन्दबुद्धि बालक 25 88 माह की आयु मे भी चलने में असमर्थ होता है। टरमैन (Terman, 1925) के अनुसार प्रतिभाशाली बालक एक वर्ष की आयु मे चलना सीख जाते है। इस प्रकार क्रियात्मक विकास बौद्धिक स्तर द्वारा प्रभावित होता है। प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध होता है कि जो बालक देर मे चलना, बैठना आदि क्रियात्मक योग्यताये देर से सीखते है, मन्दबुद्धि होते है।

(5) **अभिप्रेरणा** (Motivation) – अभिप्रेरणा के अभाव मे बालक मे क्रियात्मक विकास नही होता है। बालक आलसी हो जाते है। इसलिए उन्हें प्रलोभनो (Incentives) के द्वारा प्रेरित किया जाना आवश्यक है अन्यथा क्रियात्मक विकास की गति धीमी हो जाती है।

(6) **उपर्युक्त वातावरण** (Proper Environment) – वे बालक जिन्हे मॉसपेशीय गति करने के पर्याप्त अवसर व स्थान नही मिल पाते है उनके क्रियात्मक विकास देर मे होते है। जो बालक अपना अधिकाँश समय गोद मे व्यतीत करते हैं देर मे चलना सीखते हैं इसलिए बालक को घूमने की पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए।

(7) **व्यक्तित्व** (Personality)—व्यक्तित्व के गुणो का क्रियात्मक योग्यताओ पर बहुत प्रभाव पडता है। शर्मीलापन व कायरता बालक को दब्बू बनाता है जिससे वह क्रियात्मक कोशलो को अन्य व्यक्तियो के समक्ष प्रदर्शित करने से कतराता है। इसी प्रकार जो बालक निर्भरता की प्रवृत्ति रखते है वह कोई भी कार्य स्वय करना शीघ्र नही सीख पाते है।

(8) **अवसर** (Opportunitiy)—बालको को खेलने कूदने, दौडने तथा अन्य क्रियात्मक कोशलों को दिखाने का अवसर प्रदान किया जाना आवश्यक है। इस प्रकार के अवसर कियात्मक योग्यताओ के विकास में सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त अभ्यास का पर्याप्त अवमर भी अत्यन्त आवश्यक है ताकि पेशीय विकास की गति तेज हो सके। बालको को अपने छोटे छोटे कार्य स्वय करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए ।

हाथ के प्रयोग की समस्या
(Problem of Handedness)

बच्चा अपने जीवन मे बाये या दायें हाथ मे से किसी एक हाथ का प्रयोग अधिक करता है। किसी एक हाथ विशेष के उपयोग को हाथ के प्रयोग की समस्या (Handedness) कहते हैं। प्राय ऐसा देखा जाता है कि हमारे समाज में दाहिने हाथ का उपयोग ज्यादा होता है जिससे बच्चे इसी हाथ का अनुकरण करते है तथा दाये हाथ का प्रयोग करना सीखते हैं। बालक अपनी अधिकाश क्रियाओं में एक ही हाथ का प्रयोग क्यो करता है यह एक विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में हिल्ड्रेथ (Hildreth, 1936) ने सामाजिक अधिगम सिद्धान्त और वाट्सन (Watson, 1921) ने सामाजिक अनुबधन के आधार पर Right Handedness की व्याख्या करने का प्रयास किया है । इन दोनों ने इस बात पर अधिक बल दिया है कि बच्चे दाहिने हाथ का प्रयोग इसलिए करते हैं क्योकि समाज के अधिकाश सदस्य दाहिने हाथ का प्रयोग इसलिए करते हैं। वाट्सन ने यह सिद्ध किया हे कि किसी विशेष हाथ का प्रयोग कोई जन्मजात गुण नही है। बल्कि हाथ का प्रयोग अनुकरण एव समाजिक अधिगम का परिणाम होता है।अध्ययनो से यह ज्ञात हुआ है कि शिशुओं मे किसी एक हाथ के प्रयोग की प्रवृत्ति नही प्रदर्शित होती है। 6वे महीने में हस्त वरीयता की प्रकृति दिखायी पडने लगती है। लेडरर (Lederer, 1939) का कहना है कि जीवन के प्रथम वर्ष मे बच्चे बॉये हाथ का प्रयोग प्रदर्शित करते है। गेसेल एव एम्स (Gesell and Ames 1947) ने आयु एव हाथ के प्रयोग करने के मध्य सम्बन्ध प्रदर्शित किया है जो निम्नवत हैं—

आयु (Age)	हाथ के प्रयोग की वरीयता
16-20 सप्ताह	बायें हाथ का प्रयोग
,8 सप्ताह	दॉये हाथ का प्रयोग
35 सप्ताह	पुन बॉये हाथ का प्रयोग
2 वर्ष	दॉये हाथ का प्रयोग
$2\frac{1}{2} - 3\frac{1}{2}$ वर्ष	दोनों हाथ का प्रयोग
4 6 वर्ष	दॉये हाथ का प्रयोग
7 वर्ष	बॉये या दोनों हाथ का प्रयोग
8 वर्ष	दॉये हाथ का प्रयोग

बॉये हाथ के प्रयोग से व्यक्तिगत एव सामाजिक समायोजन मे समस्या उत्पन्न होती है। दो परिस्थितियों में यह हानिकारक हो सकता है। पहली यदि बच्चा बॉये हाथ के प्रयोग से स्वय को अन्य लोगो से भिन्न समझता है और वे इस कारण हीनभाव से ग्रस्त हो जाते है तथा उनकी स्वय के प्रति अभिवृत्ति एव व्यवहार पर प्रभाव पड सकता है। दूसरी परिस्थिति जब बॉये हाथ का प्रयोग बच्चे के सीखने के कौशल में हस्तक्षेप करता है। इस तरह से हस्त वरीयता में हिल्ड्रेथ (Hıldreth 1948) ने सामाजिक अधिगम को ही महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार जीवन के प्रारम्भिक वर्षो में बच्चो को जिस हाथ के प्रयोग का प्रशिक्षण मिलता है उसी हाथ की वरीयता उसमे बाद मे परिलक्षित होती है। इस तरह से यह स्पष्ट हो रहा हैं कि हाथ के प्रयोग की समस्या पूर्णत सामाजिक अधिगम का ही परिणाम है।

●

(7) **व्यक्तित्व** (Personality)—व्यक्तित्व के गुणो का क्रियात्मक योग्यताओं पर बहुत प्रभाव पडता है। शर्मीलापन व कायरता बालक को दब्बू बनाता है जिससे वह क्रियात्मक कौशलों को अन्य व्यक्तियो के समक्ष प्रदर्शित करने से कतराता है। इसी प्रकार जो बालक निर्भरता की प्रवृत्ति रखते है वह कोई भी कार्य स्वय करना शीघ्र नही सीख पाते है।

(8) **अवसर** (Opportunitiy)—बालको को खेलने कूदने, दौडने तथा अन्य क्रियात्मक कौशलों को दिखाने का अवसर प्रदान किया जाना आवश्यक है। इस प्रकार के अवसर क्रियात्मक योग्यताओ के विकास मे सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त अभ्यास का पर्याप्त अवमर भी अत्यन्त आवश्यक है ताकि पेशीय विकास की गति तेज हो सके। बालकों को अपने छोटे छोटे कार्य स्वय करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए ।

हाथ के प्रयोग की समस्या
(Problem of Handedness)

बच्चा अपने जीवन मे बाये या दाये हाथ मे से किसी एक हाथ का प्रयोग अधिक करता है। किसी एक हाथ विशेष के उपयोग को हाथ के प्रयोग की समस्या (Handedness) कहते हैं। प्राय ऐसा देखा जाता है कि हमारे समाज में दाहिने हाथ का उपयोग ज्यादा होता है जिससे बच्चे इसी हाथ का अनुकरण करते है तथा दाये हाथ का प्रयोग करना सीखते हैं। बालक अपनी अधिकाश क्रियाओं में एक ही हाथ का प्रयोग क्यो करता है यह एक विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में हिल्ड्रेथ (Hildreth, 1936) ने सामाजिक अधिगम सिद्धान्त और वाट्सन (Watson, 1921) ने सामाजिक अनुबधन के आधार पर Right Handedness की व्याख्या करने का प्रयास किया है । इन दोनों ने इस बात पर अधिक बल दिया हे कि बच्चे दाहिने हाथ का प्रयोग इसलिए करते हैं क्योंकि समाज के अधिकाश सदस्य दाहिने हाथ का प्रयोग इसलिए करते हैं। वाट्सन ने यह सिद्ध किया हे कि किसी विशेष हाथ का प्रयोग कोई जन्मजात गुण नही है। बल्कि हाथ का प्रयोग अनुकरण एव समाजिक अधिगम का परिणाम होता है।अध्ययनो से यह ज्ञात हुआ है कि शिशुओ मे किसी एक हाथ के प्रयोग की प्रवृत्ति नही प्रदर्शित होती है। 6वें महीने मे हस्त वरीयता की प्रकृति दिखायी पडने लगती है। लेडरर (Lederer, 1939) का कहना है कि जीवन के प्रथम वर्ष मे बच्चे बॉये हाथ का प्रयोग प्रदर्शित करते है। गेसेल एव एम्स (Gesell and Ames 1947) ने आयु एव हाथ के प्रयोग करने के मध्य सम्बन्ध प्रदर्शित किया है जो निम्नवत है—

आयु (Age)	हाथ के प्रयोग की वरीयता
16 20 सप्ताह	बाये हाथ का प्रयोग
,8 सप्ताह	दाँये हाथ का प्रयोग
35 सप्ताह	पुन बॉये हाथ का प्रयोग
2 वर्ष	दॉये हाथ का प्रयोग
$2\frac{1}{2} - 3\frac{1}{2}$ वर्ष	दोनों हाथ का प्रयोग
4-6 वर्ष	दॉये हाथ का प्रयोग
7 वर्ष	बॉये या दोनो हाथ का प्रयोग
8 वर्ष	दॉये हाथ का प्रयोग

बॉये हाथ के प्रयोग से व्यक्तिगत एव सामाजिक समायोजन में समस्या उत्पन्न होती है। दो परिस्थितियों में यह हानिकारक हो सकता है। पहली यदि बच्चा बॉये हाथ के प्रयोग से स्वय को अन्य लोगो से भिन्न समझता है और वे इस कारण हीनभाव से ग्रस्त हो जाते है तथा उनकी स्वय के प्रति अभिवृत्ति एव व्यवहार पर प्रभाव पड सकता है। दूसरी परिस्थिति जब बॉये हाथ का प्रयोग बच्चे के सीखने के कौशल में हस्तक्षेप करता है। इस तरह से हस्त वरीयता मे हिल्ड्रेथ (Hıldreth 1948) ने सामाजिक अधिगम को ही महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार जीवन के प्रारम्भिक वर्षों मे बच्चों को जिस हाथ के प्रयोग का प्रशिक्षण मिलता है उसी हाथ की वरीयता उसमें बाद में परिलक्षित होती है। इस तरह से यह स्पष्ट हो रहा है कि हाथ के प्रयोग की समस्या पूर्णत सामाजिक अधिगम का ही परिणाम है।

9 बौद्धिक विकास

(Intellectual Development)

मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक व बौद्धिक विकास मे सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए अनेक अध्ययन किये है। शटलवर्थ (Shuttleworth, 1938, ने निष्कर्ष निकाला कि प्रतिभाशाली व सामान्य किशोरो का विकास मन्द बुद्धि किशोरों से शीघ्र होता है। मन्द बुद्धि किशोरों मे शारीरिक कमियाँ होती है तथा उनका जीवन काल भी छोटा होता है। फलोरी (Flory, 1936 के अनुसार मानसिक रूप से दुर्बल बालक लम्बे समय तक अपरिपक्व रहते है।

उपर्युक्त अध्ययनो से यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि शारीरिक कमियाँ मानसिक विकास को प्राकृतिक रूप से प्रभावित करती है। जन्म के समय चोट व मानसिक विकास मे कुछ सहसम्बन्ध पाया गया है। काटज (Katz, 1939) ने अपने अध्ययन में निष्कर्ष निकाला कि जन्म के समय की चोट ना केवल मानसिक विकास मे बाधक होता है बल्कि इससे कुछ बीमारियाँ भी हो सकता है।

विकास के विभिन्न पहलू प्रथक प्रथक नही होत है, एक प्रकार का विकास दूसरे को बहुत अधिक प्रभावित करता है। भिन्नता के बावजूद उनमे एक एकता है और वे इसलिए एक दूसरे को प्रभावित करते है।

बुद्धि की प्रकृति एव स्वरूप

(Nature of Intelligence)

बुद्धि एक मानसिक शक्ति या प्रक्रिया है। बुद्धि का स्वरूप इतना जटिल है कि विभिन्न परिभाषाए उसके कुछ पहलुओ को ही छू पाती है। वे पूर्ण नही मानी जा सकती। फ्रीमैन (Freeman, 1962) ने बुद्धि की परिभाषाओ को निम्न तीन बडे समूहो मे बाँटा है—

(1) बुद्धि को वातवरण मे समायोजन करने की योग्यता मानने वाली परिभाषाएँ।

(2) बुद्धि को सीखने की योग्यता मानने वाली परिभाषाए।

(3) बुद्धि को अमूर्त चिन्तन करने की योग्यता मानने वाली परिभाषाये।

स्टर्न के अनुसार "बुद्धि जीवन की नवीन समस्याओ तथा दशाओ के समायोजन की योग्यता है।" ('Intelligence is the general adoptability to new problems and conditions of life" —William Stern, 1914)

वैल्स के अनुसार 'शुद्ध रूप से बुद्धि का अर्थ है अपने व्यवहार के रूपों के मिलाने का गुण जिससे नई परिस्थितियों में बेहतर कार्य कर सके।" ("Intelligence means precisely the property of so combining our behaviour patterns as to act better innovel situations" —Wells)

बुद्धि को परिभाषित करते हुए बकिंघम ने कहा है "बुद्धि सीखने की योग्यता है।' (Intelligence is the ability to learn" —Buckingham)

एबिंगहॉस के अनुसार "बुद्धि मिश्रण या सगठन की योग्यता है।' (Intelligence is the capacity to combine or integrate" —Ebbinghaus)

बुडरो के अनुसार 'बुद्धि वह क्षमता है जिसमे क्षमता अर्जित की जाती है।" (Intelligence is the ability to acquire capacity —Woodrow)

बिने ने बुद्धि को परिभाषित करते हुए बताया ठीक से निर्णय करना, ठीक से समझना अच्छी तरह तर्क करना ये ही बुद्धि के तीन प्रधान स्रोत है । ('To judge well, to understand properly to reason well, these are the essential springs of intelligence —Binet, quoted by Sinha and Bose)

टमन के अनुसार, 'एक व्यक्ति उतना बुद्धिमान है जितनी मात्रा मे वह अमूर्त रूप से सोच सकता है।" (An individual is intelligent in proportion as he is able to carry on abstract thinking ' —Terman)

बर्ट क अनुसार, 'बुद्धि एक जन्मजात सामान्य ज्ञानात्मक कुशलता है।" (Intelligence is some innate general cognitive efficiency)

थॉमसन ने बुद्धि को वश परम्परागत प्राप्त विभिन्न गुणो का योग माना है। (Intelligience is the essence of enherited abilities" —Thomson)

स्टाडार्ड (Stoddard) के अनुसार कठिनता जटिलता अमूर्तता आर्थिकता, उद्देश्य प्रात्यता सामाजिक मूल्य एव मौलिकता से सम्बन्धित समस्याओ को समझने की योग्यता को ही बुद्धि कहते है। (Intelligence is the ability to understand problems that are characterized by (a) difficulty (b) complexity (c) abstractness (d) economy (e) adoption to a goal (f) social value and (g) emergence of originals under such conditions that demand a concentration of energy and a resistance to emotional forces)

वेश्लर (Wechsler) की दृष्टि मे बुद्धि व्यक्ति की क्षमताओं का वह समुच्चय है जिसके द्वारा वह उद्देश्यपूर्ण कार्य कर सकता है, तर्कपूण ढग से सोच सकता है और अपने वातावरण से प्रभावशाली ढग से प्रतिक्रिया कर सकता है। (Intelligence is the aggregate or global capacity of an individual to act purposefully, to think rationally and to deal effectively with his environment")

इन परिभाषाओ के सूक्ष्म विवेचन के बाद निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धि एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें कम से कम तीन विभिन्न प्रक्रियाएँ निहित है सीखने की, समयोजन की तथा अमूर्त चिन्तन की। साख्यिकीय प्राविधियों के विकास के कारण बुद्धि परीक्षण के परिणामों का विशद रूप से तत्व विश्लेषण (Factor analysis) सम्भव हुआ है। जो निम्न प्रकार है—

बुद्धि के सिद्धान्त (Theories of Intelligence)

1 **एक-तत्व सिद्धान्त** (Unifactor Theory)—इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक बिने, टर्मन व स्टर्न हैं । इनके अनुसार बुद्धि एक अखण्ड है तथा किसी भी कार्य को क्रियान्वित करने में यह अपने समग्र रूप में सक्रिय रहती है। किन्तु अधिकाश विद्वान इस मत को उपयुक्त नही मानते। उनके अनुसार बुद्धि में अनेक मानसिक योग्यतायें निहित हैं।

2 **द्वि-तत्व सिद्धान्त** (Two Factor Theory)—बुद्धि के द्वि तत्व सिद्धान्त के प्रवर्तक स्पियरमैन (Spearman, 1904) कहे जाते हैं। इनके अनुसार बुद्धि में दो प्रकार की शक्तिया निहित है।

(क) सामान्य तत्व (General or G Factor)

(ख) विशिष्ट तत्व (Specific or S Factor)

सामान्य तत्व सभी कार्यों मे प्रकट होता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ सीमा तक प्रत्येक कार्य कर सकता है क्योंकि सामान्य तत्व किसी मात्रा में सभी मे पाया जाता है किन्तु विशिष्ट कार्यों

को करने के लिए विशिष्ट योग्यताओ की आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति मे जो विशेष योग्यता होगी वह उसी प्रकार का कार्य करने म निपुण होगा। सामान्य योग्यता भी सभी मे एक सी नही पाई जाती और विशिष्ट योग्यताओ मे अनेक व्यक्तिगत भेद पाए जाते है। स्पियरमैन के अनुसार बुद्धि परीक्षण सामान्य योग्यता का मापन करते है। सामान्य कारक जन्मजात होते हैं जबकि विशिष्ट कारक अर्जित होते है।

3 **बहु तत्व सिद्धान्त** (Multi Factor Theory) – यह सिद्धान्त प्रसिद्ध विद्वान थॉर्नडाइक (Thorndike) ने प्रतिपादित किया। उन्होने बताया कि किसी कार्य को क्रियान्वित करने म केवल सामान्य तथा विशिष्ट योग्यताये ही निहित नही होती बल्कि इसमें अन्य योग्यताये जैसे—स्मृति ध्यान अवधारणा तर्क शक्ति अधिगम क्षमता आदि भी निहित होती है। ये सभी बुद्धि के आवश्यक पहलू ह। इनके अनुसार बुद्धि तीन प्रकार की होती है—यात्रिक (Machanical), अमूर्त (Abstract) तथा सामाजिक (Social)।

4 **समूह-कारक बुद्धि सिद्धान्त** (Group factor theory of Intelligence) – यह सिद्धान्त प्रसिद्ध विद्वान थर्स्टन (Thurstone, 1938) ने दिया। इनके अनुसार विभिन्न बोद्धिक योग्यताओ का समन्वय ही बुद्धि है। ये विभिन्न योग्यताएँ परस्पर स्वतन्त्र नही होती।

जिन योग्यताओ को मिलाकर सम्पूर्ण बुद्धि बनती हे उन्हे मौलिक या प्राथमिक मानसिक योग्यता (Primary mental abilities) कहा जाता हे। थर्स्टन के अनुसार कुल सात प्राथमिक योग्यताये है जो निम्नलिखित हैं—

(1) प्रत्यक्ष की योग्यता (Perceptual ability) P- Factor
(2) सख्या सम्बन्धी योग्यता (Numerical ability) N Factor
(3) वाचिक योग्यता (Verbal ability) V Factor
(4) स्मरण योग्यता (Memory ability) M-Factor
(5) स्थान सम्बन्धी योग्यता (Spatial ability) S Factor
(6) शब्द प्रवाह योग्यता (Word Fluency) W Factor
(7) तार्किक योग्यता (Reasoning factor) R Factor

तार्किक योग्यता में निगमन योग्यता (Deductive ability) दो पक्षों के रूप मे वर्तमान रहती है।

इन प्राथमिक मानसिक योग्यताओ को प्रथक करने के लिए थर्स्टन ने जिस साख्यिकीय प्रविधि का उपयोग किया था उसे तत्व विश्लेषण विधि (Factor analysis) नाम से जाना जाता है।

इन तीन प्रमुख सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य भी कई सिद्धान्त व दृष्टिकोण हैं। इनमें से प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(क) सोपानिक सामूहिक तत्व सिद्धान्त (Hierarchical Group Factor Theory) – यह बर्ट और वर्नन (Burt and Vernan) ने मिलकर दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार सामान्य योग्यता तथा विशिष्ट योग्यता के अतिरिक्त एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता होती है जिसे बर्ट ने सामूहिक योग्यता का नाम दिया। इनके मत के अनुसार सामूहिक योग्यताये सामान्य बन सकती है।

(ख) सूचना प्रक्रिया सिद्धान्त (Information Processing Theory) – यह सिद्धान्त बुद्धि की विवेचना सूचना प्रक्रिया के रूप मे करता है। इसमें आगत होता है, निर्गत होता है और केन्द्र में प्रक्रिया होती है जो कि बुद्धि है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक पियाजे (Piaget) तथा ब्रूनर (Bruner) हैं।

(ग) गिलफोर्ड का सिद्धान्त (Guilford's Theory of Structure of Intellect) – गिलफोर्ड (1966) ने बुद्धि की रचना के आधार के रूप में 120 बौद्धिक

योग्यताये मानी। गिलफोर्ड के अनुसार इनमे से कुछ योग्यताएँ केन्द्रोन्मुख (Convergent) होती है और कुछ बहिरोन्मुख (Divergent) योग्यताए है। उन्होने कारक विश्लेषण (Factor analysis) के आधार पर इस सिद्धान्त को विकसित किया। इनका मानना है कि मानसिक योग्यता (Mental ability) को तीन भागो मे वर्गीकृत किया जा सकता है—

(i) सक्रिया (Operations)—इसके आधार पर मानसिक योग्यताये पाँच समूहों में विभक्त है—

मूल्याकन (Evaluation), अभिसारी चिन्तन (Convergent thinking), अपसारी चिन्तन (Divergent thinking), स्मृति (Memory) एव सज्ञान (congnition)

(ii) विषय वस्तु (Content)—बुद्धि मे चार प्रकार की विषय वस्तु होती है—आकृतिक (Figural), साकेतिक (Symbolic), शाब्दिक (Semantic) एव व्यावहारिक (Behavioural)

(iii) उत्पादन (Product)—जब किसी विशेष प्रकार की विषय वस्तु में निश्चित सक्रिया का प्रयोग किया जाता है तो छह प्रकार के उत्पादन होते हैं—इकाइयाँ (Units), वर्ग (Classes), सम्बन्ध (Relations) पद्धति (Systems) स्थानान्तरण (Transformations) एव आपादान (Implications)

गिल्फोड ने सक्रिया से पाँच विषय-वस्तु से चार तथा उत्पादन से छह तत्वो के आधार पर त्रिआयामी व्याख्या प्रस्तुत की। इस प्रकार के आयाम मे 120 प्रकार के विशिष्ट तत्व उपलब्ध होते हैं।

मानसिक विकास की प्रक्रिया
(Process of Intellectual Development)

एक विकसित होता बालक अपने प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण के समायोजन के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ प्रकट करता है। हम बालक के मानसिक विकास के विषय मे उसकी विभिन्न क्रियाओ, शब्द प्रवाह, निर्णय लेने की योग्यता और सामाजिक समायोजन से जान सकते हैं। बालको के मानसिक विकास की गति मे वैयक्तिक भिन्नता होती है लेकिन ये विकास आसानी से ज्ञात हो जाता है तथा कुछ सीमा तक इसका मापन भी हो सकता है। लेकिन मानसिक विकास की प्रकृति के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिको मे मतभेद है। फिर भी इस विकास की प्रकृति का वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

बौद्धिक विका. की प्रक्रिया की प्रकृति
(Nature of Intellectual development)

असमान गति—बेली (Bayley, 1933) ने 3 वर्ष के 31 बालक व 31 बालिकाओ का अध्ययन किया। ग्राफ के आधार पर बेली ने पाया कि प्रथम नौ व दस माह तक उन शिशुओ के मानसिक विकास की गति काफी तेज थी। उसके बाद गति धीमी हो गयी तथा लगातार ये गति तीन वर्षों तक धीमी होती गयी। बेले के अनुसार शिशुओ में प्रारम्भ के कुछ महीनो का विकास से उनके विकास का सही अनुमान नही लग सकता है। वक्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मानसिक विकास की गति सदा एक समान नही होती है। मानसिक विकास की गति व प्रकार मे व्यक्तिगत भिन्नता होती है। लेकिन ये कहा जा सकता है मानसिक विकास बाल्यकाल मे ज्यादा तेज होता है। पूर्व किशोरावस्था अर्थात् 12 13 या 14 वर्ष की आयु में विकास की गति बाल्यावस्था से तेज हो जाती है।

विकास का अन्त—मानसिक विकास के अन्त के विषय मे मनोवैज्ञानिको के विभिन्न मत है। कुछ मनोवैज्ञानिको के अनुसार यह विकास 14 से 16 वर्ष की आयु तक चलता रहता है। इस विचार के आधार पर कहा जा सकता है कि एक किशोर अनुभव मे प्रौढ व्यक्ति के समान नही होता है परन्तु उसकी बुद्धि प्रौढ व्यक्ति के बराबर हो जाती है।

टरमन (Terman) के अनुसार 15 वर्ष की आयु मे पूर्ण बौद्धिक विकास हो जाता है जबकि स्पीयरमैन (Spearman) के अनुसार 14 या 16 वर्ष तक बौद्धिक विकास पूर्ण होता है। जोन्स (Jones) व कोनार्ड (Conard) को विचार है कि मानसिक विकाम 16 वर्ष की आय मे समाप्त हो जाता है। फ्रीमैन (Freeman) का मत हे कि 8 से 16 वर्ष की आयु तक मानसिक विकास जारी रहता है तथा 20 वर्ष और उसके पश्चात् भी बुद्धि मे वृद्धि होती रहती है। माइल्स (Myles) के अनुसार 18 वर्ष की आयु तक बुद्धि विकसित होती है।

थॉर्नडाइक (Thorndike) का मत है कि बुद्धि का विकास 18 वर्ष की आयु तक होता हे और उसके बाद यह 29 वर्ष की अवस्था तक भी कुछ सीमा तक बढती है।

मेधावी बालको का मानसिक विकास औसत बालक की अपेक्षा पूर्व किशोरावस्था मे ज्यादा तेज गति स होता है।

बौद्धिक विकास की व्याख्या—बुद्धि को अनुवाशिक मानने वाले बुद्धि के विकास को स्नायु तन्त्र के विकास स सम्बन्धित मानते है।

कोर्टिस (Courtis) तथा गैसेल (Gesell) इस विचार के समर्थक है। आनुवाशिकी विचार रखने वाले मनोवैज्ञानिको के अनुसार बौद्धिक विकास शिक्षा व अन्य अनुभवो से प्रभावित नही होता है। लेकिन यह कहना गलत होगा कि वातावरण बुद्धि को बिल्कुल प्रभावित नही करता है। ये सम्भव है कि उपयुक्त परिस्थितियाँ व वातावरण मानसिक विकास में योगदान दे। यदि स्नायविक तत्र ग्रन्थियो और शारीरिक रचना में कोई कमी न हो तो मानसिक विकास उपलब्ध सामाजिक व शैक्षिक अवसरो के अनुसार होगा।

शैशवावस्था मे बौद्धिक विकास

(Intellectual Development During Infancy)

बालक के मानसिक विकास का कुछ सीमा तक मापन किया जा सकता है। प्रथम दो माह मे नवजात शिशु का विकास इतना होता है कि वह एक फुट की दूरी पर चमकती वस्तु को पहचानने मे समर्थ होता है। चौथे माह मे यह और अधिक सक्रिय हो जाता है। वह खिलौना हाथ मे पकड सकता है, इसे ध्यान से देखता है। छठे माह में किसी दोहराये गये उद्दीपक (Stimulus) के प्रति प्रतिक्रिया देता प्रतीत होता है। साधारणतया अब वह मुस्कराने भी लगता है।

आठवे माह मे अगर उसका खिलौना छीन लिया जाता है तो उसे प्राप्त करने के लिए वह रोने लगता है। इस अवस्था तक शिशु अपनी पसन्द का खिलौना भी चुनने लगता है। दसवे महीने तक वह किसी ढकी चीज को उघाड सकता है। अनुकरण की प्रवृत्ति इसमे सहायक होती है।

बाल्यकाल मे बौद्धिक विकास

(Intellectual Development during Childhood)

बालकों के लिए बनाई गई प्रश्नावलियाँ ज्यादा वैध है। साधारणतया देखा गया है कि तीन या चार वर्ष की अवस्था के पश्चात् बालकों के क्रियाकलाप में बुद्धि तथा भाषात्मक योग्यता ज्यादा निहित होती है। बालक तीन वर्ष की अवस्था मे अपना नाम बताने मे समर्थ होते है। चार वर्ष की अवस्था मे वे किसी व्यक्ति द्वारा बनाये गये चित्र के अपूर्ण भाग के विषय मे बता सकते है। वे 12 छोटे शब्दों को दोहरा सकते हैं । वे 'दो' या 'तीन' सख्याओ में वे गेद', 'टोपी आदि साधारण शब्दों की व्याख्या कर सकते है। वे चार चीजों तक आसानी से क्रमबद्ध रूप से गिन सकते है।

सात वर्ष की अवस्था में वे आयताकार आकृतियों को देखकर बना सकते हैं। आठ वर्ष की आयु मे वे हवाई जहाज तथा पतग, गाय व भैस, कुत्ता व बिल्ली आदि में समानता व असमानता बता सकते है। वे सोलह शब्दो तक के वाक्य को दोहरा सकते हैं। वे बस तक

रेलगाडी के रुकने के अन्तर को समझ सक्ते है। नौ वर्ष की अवस्था तक वे चार अको की सख्याओ को उल्टे क्रम में दोहरा सकते है।

दस वर्ष की आयु मे वे किसी चित्र के गलत भाग को बता सकते है छ अको की सख्याओ को दोहरा सकते है, छोटी कहानियाँ सुना सकते है । ग्यारह वर्ष की अवस्था तक आते आते वे बारह शब्दो के वाक्यो को दोहरा सकते है सम्बन्ध' तुलना बदला आदि जैसे शब्दो की व्याख्या कर सकते है। बारह वष की अवस्था तक वे वाक्यो मे की गई त्रुटियो को समझने लगते है पॉच अको की सख्याओ को उल्टा दोहरा सकते है। इस आयु तक बालक शतरज खेलना सीख सकते है।

किशोरावस्था मे बौद्धिक विकास

(Intellectual Development durıng Adolescence)

किशोरावस्था का विस्तार 14 21 साल तक रहती है। इस अवस्था मे किशोर अपने कार्यो एव व्यवहारो मे स्थायित्व लाने का प्रयास करता है। इस अवस्था मे किशोर एकाग्रचित्त होकर चिन्तन करने का प्रयास करता है। इसके साथ ही किशोर अपनी सामर्थ्य के अनुसार तक व निर्णय भी करता है। जैसे जैसे उसकी शिक्षा एव अनुभव मे विवृद्धि होती है वैसे वैसे उसके तर्क व निर्णय का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। जो किशोर पहले साधारण परिस्थितियो मे ही तर्क एव निर्णय करता था अब वह शिक्षा एव अनुभव की वृद्धि के फलस्वरूप पहले की तुलना में अधिक जटिल परिस्थितियो मे तर्क व निर्णय करने मे कठिनाई का अनुभव नही करता है। किशोरावस्था मे किशोर के विचार तथा कठिन परिस्थितियो के विवेचन और निर्णय करने का तरीका परिवर्तित हो जाता है। इसका कारण अनुभव एव अधिगम मे वृद्धि होती है। उचित निर्णय एव तर्क करने की क्षमता मे वैयक्तिक विभेद देखने को मिलता है। यह ज्यादातर किशोर मे बुद्धि पर निर्भर करती है। अपने वातावरण के व्यक्तियो तथा वस्तुओ, परिस्थितियों एव दशाओ का विवेचन किशोर अपने दृष्टिकोण से करता है। अत किशोर की तार्कित क्षमता तथा निर्णय करने की क्षमता मे वैयक्तिक भिन्नता पाई जाती है।

किशोरावस्था मे बालक का बौद्धिक विकास अपनी चरम सीमा पर होता है। विभिन्न अध्ययनो से यह निष्कर्ष मिलता है कि मन्द बुद्धि वाले बालको मे 14 वर्ष की आयु तक बौद्धिक विकास चलता रहता है जबकि तीव्र बुद्धि वाले बालको का 18 वर्ष की आयु तक बौद्धिक विकास चलता रहता है। इस तरह से हम कह सकते है कि किशोरावस्था मे अन्त तक बौद्धिक विकास की प्राय समस्त विशेषताएँ व्यक्ति मे विकसित हो जाती है। टर्मन (Terman 1968) ने स्टेनफर्ड बिने परीक्षण की सहायता से सकलित प्रदत्तो की व्याख्या करके यह निष्कर्ष दिया है कि व्यक्ति की मानसिक आयु मे 18 वर्ष की आयु के पश्चात् कोई वृद्धि नही होती है। यद्यपि अनुभव एव अभ्यास के परिणामस्वरूप उसमे कुछ परिवर्तन अवश्य प्रदर्शित होते है। प्रतिभाशाली बच्चो की मानसिक आयु सामान्य बच्चों से अधिक होती है तथा उनकी धारण एव पुनर्स्मरण क्षमता भी अधिक होती है। ऐसे बालको की सज्ञानात्मक योग्यता भी अधिक होती है। स्वार्ड (Sward, 1945) का निष्कर्ष है कि आयु मे वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रतिभाशाली बच्चों मे मानसिक ह्रास होता है परन्तु वे अपने पूर्वानुभवों का ज्ञानार्जनो द्वारा अपेक्षाकृत अधिक लाभान्वित होते है । जोन्स एव कोनार्ड (Jones and Conard 1933) का निष्कर्ष है कि प्रतिशाली व्यक्तियो मे शब्द भण्डार की क्षमता 60 वर्ष तक स्थिर पायी जाती है। वर्कविट्ज (Berkowıtz, 1953) का मत है कि ऐसे व्यक्तियो मे शब्द भण्डार की क्षमता 70 वर्ष तक स्थिर रहता है। इसमें ह्रास नही होता है। सोरेन्सेन्स (Sorensen, 1933) क्रिश्चियन एव पैटरसन (Chrıstıan and Patterson, 1936) तथा रॉबिन (Rabın 1947) ने यह निष्कर्ष दिया है कि उम्र बढने के साथ-साथ शब्द भण्डार भी बढता है। इस तरह से यह देखा जा सकता है कि किशोरावस्था में बौद्धिक विकास चरम सीमा पर होता है।

पियाजे का बुद्धि का विकासात्मक सिद्धान्त
(Piaget's Developmental theory of Intelligence)

पियाजे ने बौद्धिक विकास की व्याख्या सघानात्मक सरचना में होने वाले प्रगामी परिवर्तनो के आधार पर किया है। पियाजे ने बौद्धिक विकास की चार अवस्थाओ मे वर्णन किया है। पियाजे का सिद्धान्त अति महत्वपूर्ण एव रोचक है। यहाँ पर इन चार अवस्थाओं का सक्षिप्त वर्णन अपेक्षित है। (Dasen 1977, Wilkenning & Bicker 1980) । समकालीन विकासात्मक मनोविज्ञान मे पियाजे का योगदान सर्वाधिक व्यापक रूप धारण कर चुका है। (Hethrinton and Parke, 1975) । पियाजे के सिद्धान्त का वृहन वर्णन उसकी पुस्तक (The origins of Intelligence in Children 1952") मे अकित है जिसका अवलोकन इच्छुक पाठक कर सकते है। पियाजे का बुद्धि का विकासात्मक सिद्धान्त का सक्षिप्त विवरण निम्नाकिन है—

बौद्धिक विकास की अवस्थाएँ
(Stages of Intellictual Development)

अवस्थाएँ	अनुमानित आयु वर्षो मे	मुख्य विशेषताएँ एव उपलब्धियाँ
सवेदीपेशीय अवस्था (Sensory Motor Stage)	0 2 वर्ष	स्वय तथा अन्यों मे अन्तर समझना, समय, स्थान तथा लक्ष्य की समझ, कल्पनात्मक खेल एक प्रतीकात्मक विचार सामाजिक परिस्थितियो के प्रति व्यवहार, अनुकरण आदि योग्यताएँ विकसित होना।
पूर्व सक्रियात्मक अवस्था (Pre-operational stage)	2 6 वर्ष	प्रतीकात्मक प्रकार्यों का विकास भाषा का प्रयोग, समस्या का आत्मदर्शी समाधान, आत्म केन्द्रन, सख्या, वर्ग एव सम्बन्धों का ज्ञान आदि।
मूर्त सक्रियाओ की अवस्था (Stage of Concrete operations)	6 7 वर्ष	मात्रा, लम्बाई, आयतन, विकेन्द्रन, मूर्त तार्किक चिन्तन, वर्गीकरण, वस्तुओं की क्रमिक व्यवस्था।
औपचारिक सक्रियाओं की अवस्था (Stage of formal operations)	11 12 वर्ष से आगे के वर्षों तक	व्यवहार मे नम्रता, अमूर्तीकरण, पृथक्करण, प्रावकल्पनाओं की जाँच, जटिल चिन्तन एव समस्या समाधान की अवधि में वैकल्पिक समाधानो का चयन।

बौद्धिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Effecting Intellectual Development)

टरमैन (Terman) के अनुसार मानसिक आयु व शारीरिक आय के समानान्तर बुद्धि का सम्बन्ध होना है। इनके अनुसार मन्द बुद्धि बालक में कोई क्षमता कम विकसित होती है। वही योग्यता प्रखर बुद्धि के बालक में अधिक होती है अर्थात् दोनों की बुद्धि में परिमाणात्मक अन्तर होता है।

थर्सटन् (Thurston) का मत है कि प्रत्येक मानसिक योग्यता का विकास समान गति से हो सकता है परन्तु ये अलग अलग आयु मे पूर्ण परिपक्व अवस्था को प्राप्त होती है। इनके विचार से बुद्धि 9, 10 वर्ष की अवस्था तक तीव्र गति से विकसित होती है तथा 11 वर्ष की आयु के पश्चात् इसकी गति धीमी हो जाती है।

जीन पियाजे (Jean Piaget) का विचार है कि दो मानसिक आयु स्तरो (Mental age level) पर पायी जाने वाली बौद्धिक क्रियाओ मे मात्रा के साथ गुणो मे भी अन्तर होता है। बुद्धि विकास की प्रत्येक अवस्था मे एक विशिष्ट सरचना का विकास होता है।

वैश्लर (Wechsler) ने बताया कि बुद्धि के विकास की गति असमान होती है। जिस कारण शारीरिक विकास व मानसिक विकास समानान्तर नही हो पाता है। बीस वर्ष की अवस्था तक बौद्धिक विकास होता है तत्पश्चात् इसमे मन्द गति से ह्रास होना आरम्भ हो जाता है।

इस प्रकार विभिन्न मनोवैज्ञानिको के बुद्धि विकास को प्रभावित करने वाले कुछ कारक निम्नलिखित है—

1 **आनुवाशिकता व वातावरण**—गाल्टन (Galton) कैटेल (Cattel), गोडार्ड (Godard) आनुवाशिकता को बुद्धि का एकमात्र निर्धारक मानते हैं। गाल्टन न अपने अध्ययन मे पाया कि उच्चस्तरीय बुद्धि के व्यक्ति के पूर्वज भी उच्चस्तरीय बुद्धि के थे। इसी प्रकार जुडवॉ बच्चो पर अध्ययन किये गये। जुड्वा बालकों की बुद्धि मे भिन्न वातावरण होने पर समानता पायी गयी। जेन्सन (1913) ने अपने अध्ययन मे पाया कि आनुवशिक प्रभाव के कारण अश्वेत प्रयोज्यों ने श्वेत प्रयोज्यो से कम अक प्राप्त किये।

आनुवशिकता का प्रभाव जानने के लिए कई प्रकार के यमज जुडवा बच्चो का अध्ययन किया गया । इनमें एक पिण्डीय यमज या समरूप (Monozigotic-twins) जिनका जन्म एक ही पिण्ड से होता है वशानुक्रम मे सबसे निकट होते है उसके बाद द्वि पिण्डीय यमज (Dizgotic twins) आते हैं फिर सगे भाई बहन। ये अध्ययन सह सम्बन्ध के आधार पर हुए। एक ही परिवार के सदस्यो की बुद्धि में + 50 सह सम्बन्ध (Correlation) पाया गया। इस प्रकार के अध्ययनो से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(i) अच्छे परिवारो मे सामान्य रूप से उच्च बुद्धि लब्धि अक प्राप्त किये। अच्छे पालक परिवारो और निर्धन पालक परिवारो में पले बालकों मे सामान्य रूप से 5 या 6 बुद्धि लब्धि अकों का अन्तर पाये गये। समरूप यमज जब अच्छे व निम्न परिवारो मे पाले गये तो उनमे अच्छे परिवार वाले बच्चे की बुद्धि लब्धि 6 अक अधिक पाई गई।

(ii) वातावरण का अन्तर जितना अधिक होगा बुद्धिलब्धि अक का अन्तर उतना ही अधिक पाया जायेगा। न्यूमैन फ्रीमैन तथा होल्जिन्गार (Newman, Freeman and Holzinger, 1937) ने अलग-अलग वातावरण मे पले समरूप यमजो के अध्ययन के आधार पर पाया कि सबसे अधिक अन्तर 24 अक था—ये दो जुडवॉ लडकियॉ थी जिनमे से एक गरीब गॉव मे पली और केवल दो साल शिक्षा पा सकी, दूसरी एक समृद्ध परिवार मे पली और कॉलिज तक शिक्षा पा सकी। कम आयु में अलग-अलग पलने और भिन्न वातावरण के कारण यह अन्तर पाया गया।

(iii) स्कोडक एव स्कील्स (Skodak and Skeels, 1949) ने गरीब घरों के छ बालको को छ माह या उससे भी छोटी अवस्था में पालक घरो मे रख दिया । उनकी जन्मदात्री माता बुद्धि मापी गयी । बालको का 13 वर्ष की आयु पर परीक्षण किया गया। उनका बौद्धिक स्तर अपनी जन्मदात्री माता से काफी ऊँचा था। दूसरा तथ्य इसी अध्ययन मे यह सामने आया कि उन बालकों का बौद्धिक स्तर अपने पालक परिवारो की शिक्षा व व्यवसाय से मेल नही खाता था। इस अध्ययन से स्पष्ट है कि वातावरण जन्य प्रोत्साहन के कारण बुद्धि लब्धि के स्तर

मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है तथा जन्मजात कारणोवश पालक परिवारो में भी उसका भेद बना रहता है।

व्यक्ति के बौद्धिक विकास की गति वातावरण द्वारा नियत्रित होती है । स्कील्स लेलमैन एव अन्य सहयोगियो (1938) ने अनाथालय के निर्धन वातावरण मे पल रहे बालको का अध्ययन किया । कुछ बालको के लिए अच्छे विद्यालय की व्यवस्था करने पर उनकी बौद्धिक क्षमता मे अन्य बालको की तुलना मे अधिक वृद्धि हुई। गार्डन (1924) ने नाविको के बालको की बुद्धि लब्धि मे ह्रास पाया जिनका कारण उन्होने सामाजिक आर्थिक व सास्कृतिक वातावरण को माना। पाउल (1938) के अनुसार उच्च स्तर का आहार करने वाले बालक शिक्षद स्तर का आहार करने वाले बालको से अधिक बुद्धिमान होते हैं।

इससे पूर्व शताब्दी के प्रारम्भ तक वशानुक्रम व वातावरण को एक दूसरे के विपरीत माना करते था किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान इस विपर्यय सम्बन्ध को नही मानता, इसका अर्थ यह है कि वशानुक्रम अथवा वातावरण बुद्धि के निर्धारक तत्व नही हैं। ये दोनो एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया करते है। यह सम्बन्ध अत्यन्त जटिल है। यदि किसी व्यक्ति में उच्च बौद्धिक योग्यता वशानुक्रम से आई है तो उसके प्रस्फुटन व विकास के लिए उद्दीपनशील समृद्ध वातावरण की आवश्यकता होती है । यदि कोई समृद्ध वातावरण मे रह रहा है किन्तु उसमे जन्मजात योग्यता ही नही है तो विकास किसका होगा। हमारी आज की सभ्यता शिक्षा विज्ञान व तकनीकी विकास, बुद्धि के उच्चतम विकास का वातावरण प्रदान करते है किन्तु मन्दबुद्धि बालक इनमे विकास नही कर सकता है।

2 **शारीरिक विकास**—नॉट (1942) ने अपने अध्ययन द्वारा प्रमाणित किया कि मस्तिष्कीय तरगो का बुद्धि विकास से गहरा सम्बन्ध है । पैटर्सन (1930) व एवरनिथी (1936) ने अपने अध्ययनो में पाया कि शारीरिक विकास से बौद्धिक विकास का बहुत कम सम्बन्ध है। जब तक शारीरिक बीमारी, दुर्बलता या आघात केन्द्रीय नाडी को कोई नुकसान नही पहुँचाता तब तक बौद्धिक विकास पर कोई हानिकारक प्रभाव नही पडता है।

3 **व्यक्तित्व**—केगन सोन्टग, वेकर व नेल्सन (1958) ने निष्कर्ष निकाला कि व्यक्तित्व तथा बौद्धिक विकास एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। व्यक्तित्व शारीरिक व मानसिक गुणो का सगठन है। अत व्यक्ति विकास मानसिक विकास पर निर्भर है। वातावरण मे समायोजन व्यक्तित्व विकास पर निर्भर करता है तथा समायोजन को बुद्धि प्रभावित करती है ।

विद्यालयीय उपलब्धि को प्रभावित करने वाले कारक

(Factors Influencing School Achievement)

बच्चा जब स्कूल में प्रवेश लेकर अध्ययनरत होता है तो उसकी उपलब्धि को कई कारक प्रभावित करते है। जिसका उल्लेख यहाँ पर अपेक्षित है। यदि हम छात्रों के प्रगति पत्र का अवलोकन करे तो ऐसा लगता है कि कक्षा के प्रत्येक छात्र का प्रगति पत्र अलग-अलग होता है तथा उनके प्राप्ताकों में भी अन्तर देखने को मिलता है। यदि हम इसे मात्र वैयक्तिक भिन्नता के कारण मान भी ले तो और भी कारक होते है जो प्रभाव डालते है। अत स्कूल उपलब्धि को कौन कौन से कारक प्रभावित करते है उनका विवरण निम्नलिखित है—

(1) बुद्धि (Intelligence) – स्कूल उपलब्धि पर बुद्धि का प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ—उच्च मानसिक योग्यता वाले छात्रो का प्राप्ताक एव निष्पादन निम्न मानसिक योग्यता वाले छात्रो की तुलना मे अच्छा एव उत्तम होता है। एक तरह से यह कहा जाये कि बुद्धि एव स्कूल उपलब्धि मे धनात्मक सहसम्बन्ध होता है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि बुद्धि एक महत्वपूर्ण कारक है जो विद्यालय के निष्पादन एव उपलब्धि को प्रभावित करता है।

(2) शैक्षणिक चिन्ता (Academic Anxiety) – जिन बच्चो मे शैक्षणिक चिन्ता की मात्रा उच्च होती है उनकी स्कूल उपलब्धि भी उच्च होती है। इसके विपरीत जिन बच्चो मे

शैक्षणिक चिन्ता की मात्रा निम्न होती है उनकी स्कूल उपलब्धि तथा शैक्षणिक निष्पादन निम्न स्तर का होता है। गोविल (1991) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह पाया कि शैक्षणिक निष्पादन पर शैक्षणिक चिन्ता का प्रभाव पडता है। त्रिपाठी (Tripathi 1997) ने भी अपने अध्ययन के परिणामो के आधार पर इस बात की पुष्टि की है कि शैक्षणिक चिन्ता शैक्षिक निष्पादन एव स्कूल उपलब्धि को प्रभावित करती है।

(3) **अध्ययन की आदत** (Study Habits)—जिन बच्चो मे अध्ययन करने की आदत प्रारम्भ से ही डाल दी जात है वे बच्चे बराबर अपने शैक्षाणिक जीवन मे प्रगति पर पाये जाते हे। अध्ययन की आदत डालने का कार्य शिक्षक तथा माता पिता का होता है। अगर बच्चे पूर्व बाल्यावस्था मे ही ऐसी आदतो को विकसित नही किया गया तो ऐसे बालक आगे चु लापरवाह एव सुस्त हो जाते है जिसके कारण उनकी स्कूल उपलब्धि प्रभावित हो प्राचीनकाल मे ब्राम्ह मूहर्त मे उठकर पढने की आदत डाली जाती थी जिसके कारण बच ब्राह्म मुहुर्त मे पढने की आदत पड जाती थी तथा वे बराबर प्रातकाल उठकर अपना अध्य करते थे परन्तु आजकल प्रात काल उठकर पढने की आदत डालने का काम लगभग समाप्त हो चुका है जिसके कारण बच्चो मे यह आदत जन्म नही ले पाती है। अध्ययनो एव शोधो के परिणाम इस बात की पुष्टि करते है। कि अध्ययन की आदत हमेशा स्कूल उपलब्धि को प्रभावित करती है।

(4) **शिक्षण अभिक्षमता** (Learning Aptitude)—परिपक्व बच्चो की तुलना मे अपरिपक्व बच्चो की शैक्षणिक उपलब्धि अच्छी नही होती हैं। अपरिपक्व बच्चो की शैक्षणिक उपलब्धि अच्छी न होने के कारण हो सकते है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि अपरिपक्व बच्चा प्रारम्भ मे कार्यसम्पादन करने की त्रुटिपूर्ण आदतो का सहारा लेता है तथा सीखने का प्रयास भी करता हैं। धीरे धीरे उसे उन आदतो से मुक्त होना पडता है। इन आदतो की मुक्ति मे उसे काफी परेशानी होती है। उदाहरणार्थ—यदि बच्चे मे लेखन की अभिक्षमता का अभाव है तो उसके सामने लेखन सामग्री प्रस्तुत करने पर स्वभावत उसका लेखन निष्पादन प्रभावित होगा। अत यह आवश्यक है कि उचित निष्पादन हेतु परिपक्वता के साथ साथ बच्चे मे उस कार्य हेतु अभिक्षमता का होना भी जरूरी है। कम बुद्धि वाले बच्चे के सन्दर्भ में यह कहना कि वह सभी प्रकार के शिक्षण के लिए अनुपयुक्त है तो भ्रान्तिपूर्ण होगा क्योकि कम बुद्धि वाले अमूर्त शिक्षण मे कमजोर होते हे। शिक्षण सामग्री मे यदि परिवर्तन कर दिया जाये तो उनमे प्रगति के आसार दिखायी देने लगते है। इस तरह से शिक्षण अभिक्षमता का परीक्षण करके यदि बच्चे को उसके अनुरूप सामग्री प्रस्तुत की जाये तो वह अच्छा निष्पादन कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि बालको को स्कूल उपलब्धि को शिक्षक अभिक्षमता भी प्रभावित करती है।

(5) **प्रेरणा** (Motivation)—प्रेरणा भी स्कूल उपलब्धि को प्रभावित करता है। बच्चे जितने ज्यादा प्रेरित होंगे उनका निष्पादन उतना ही अच्छा होगा। बच्चा पहले स्कूल जाने पर रोता है चिल्लाता है तथा अपनी माँ की साडी पकडकर नही जाने के लिए प्रयास्म सकता है। परन्तु धीरे धीरे जब वह स्कूल जाने लगता है तो वहाँ के वातावरण से प्रभावित होकर वह धीरे धीरे विद्यालय जाने के लिए तत्पर होने लगता है। फिर उसका रोना चिल्लाना, मना करना, सभी बन्द हो जाता है तथा बच्चे में स्कूल जाने के लिए प्रेरणा जग जाती है। यही बच्चा आगे चलकर शैक्षणिक उपलब्धि में आगे आता है। यहाँ प्रेरणा से अर्थ बच्चे की तल्लीनता तथा शैक्षणिक प्रेरणा (Academic Motivation) से है जो बच्चे बचपन से ही शैक्षणिक रूप से प्रेरित होते है। उनका निष्पादन उन बच्चों की तुलना मे बेहतर होता हे जो बच्चे प्रेरित नही होते है। बच्चो को पुरस्कार एव दण्ड के माध्यम से भी शैक्षणिक प्रेरणा प्रदान का जाती है। यदि शिक्षक प्रारभ में ही बच्चो के शैक्षणिक क्रियाओं हेतु प्रोत्साहित या प्रेरित करते रहे तथा उसकी क्रियाओ की प्रशसा करते रहे तो बच्चा अपने निष्पादन हेतु उद्दीप्त होगा। यथा यथा बच्चे की

उम्र मे वृद्धि होगी कुछ अन्य प्रेरक भी उसके शिक्षण को क्रियाशील बनाते है। प्रौढावस्था तक वाह्य पुरस्कार शिक्षार्थी हेतु प्रेरणा का काम करता है तथा उसके निष्पादन को प्रभावित करता है। प्रेरणा शिक्षण मे अभिरुचि की जागरूकता से सम्बन्धित है। शिक्षक हमेशा उन उद्दीपको के खोज के प्रति जागरुक रहता है जो शिक्षार्थी के अभिरुचि को किसी विषय विशेष के प्रति चिरस्थायी रख सके। शिक्षको का यह पुनीत कर्तव्य होता है कि वे शिक्षार्थी की समझे तथा विषय के प्रति उनकी अभिरुचि जागृत करे। अत प्रेरणा के द्वारा शैक्षिक निष्पादन एव उपलब्धि को प्रभावी बनाने मे मदद मिलती है।

(6) **प्रतिस्पर्धा** (Competition)—प्रतिस्पर्धा भी भावना बच्चों मे जागृत करना शिक्षक का कर्तव्य होता है। प्रतिस्पर्धा से बच्चो मे आगे बढने की होड लग जाती है तथा इससे अध्ययन करने की आदत जन्म लेती है जो शेक्षिक निष्पादन एव उपलब्धि को प्रभावित करती है। परन्तु यह प्रतिस्पर्धा जब स्वस्थ न होकर विद्रोह का रूप ले लेती है तब उसका बुरा प्रभाव बच्चे के शैक्षिक निष्पादन पर पडता है। अत बच्चो मे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का भाव (feeling of Healthy Competetion) विकसित करना चाहिए। प्रतिस्पर्धा दो प्रकार की होती है। (i) दूसरे व्यक्ति से प्रतिस्पर्धा (ii) स्वय अपने पूर्व अभिलेखो से प्रतिस्पर्धा। यदि शिक्षार्थी समान मानसिक योग्यता ओर निष्पादन शक्ति वाले होते है तो उनके बीच प्रतिस्पर्धा अधिक उद्दीपनशील होती है। लूज (1930) ने एक प्रयोग प्रतिस्पर्धा पर बच्चों पर किया। परिणाम मे लूज ने यह पाया कि 47% विद्यार्थियो ने प्रतिस्पर्धा की भावना के कारण अपने शैक्षिक निष्पादन मे प्रगति प्रदर्शित किया। हरलाक (Hurlock 1927) ने अपने प्रयोग मे यही परिणाम पाया कि उन बच्चो का निष्पादन अच्छा था जिनमें प्रतिस्पर्धा की भावना थी। प्रतिस्पर्धा के साथ ही साथ सहयोग का भी प्रभाव शैक्षिक निष्पादन पर अच्छा पडता है। सहयोग भी एक प्रकार की प्रेरणा है जो बच्चो के शैक्षिक निष्पादन को उन्नत करने मे सहायता करती है।

(7) **प्रशसा तथा आरोप** (Praise and Blame)—प्रशसा तथा आरोप भी शैक्षिक निष्पादन को प्रभावित करते है। जब शिक्षक प्रशसा तथा आरोप का उद्दीपन बच्चे के लिए प्रस्तुत करते है तो इसका अत्यन्त प्रभावी परिणाम प्राप्त होता है। प्रशसा औसत एव कमजोर बालकों को उद्दीप्त करती है। बालिकाओं पर प्रशसा का प्रभाव अधिक पडता है। चेज (Chase) द्वारा किये गये अध्ययन इस बात की पुष्टि करते है कि आरोप प्रशसा से अधिक शक्तिशाली प्रेरक होता है। किन्तु हरलाक (Hurlock 1975) ने यह पाया कि प्रशसा सर्वाधिक शक्तिशाली प्रेरक है। प्रशसा एव आरोप मे कौन सा सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रेरक है यह पूरी तरह से शिक्षक की कुशलता पर निर्भर होता है। परन्तु इन दोनो का उपयोग परिस्थितियो के अनुसार करने पर प्रभावी परिणाम मिलते है। पुरस्कार एव दण्ड भी शैक्षणिक निष्पादन पर प्रभाव डालते है। प्राथमिक विद्यालयों में बच्चों से आर्थिक प्रलोभन एव सामग्रिक पुरस्कार प्रदान करने पर अच्छे शैक्षिक निष्पादन का परिणाम कई अध्ययनो में मिला है (ल्यूबा 1933, मायर 1935, थार्नडाइक, 1933)। ब्रास (1941) एव अन्य मनोवैज्ञानिकों ने 'चिन्ह पुरस्कार' को अधिक प्रभावशाली प्रेरक के रूप मे मान्यता प्रदान की है।

(8) **परिणामो का ज्ञान** (Knowledge of Result)—यदि विद्यार्थियों को उनके प्रगति का समय-समय पर बोध कराया जाये तो उससे भी उसके निष्पादन पर अच्छा प्रभाव पडता है। परिणाम का ज्ञान एक तरह से विद्यार्थियों की अच्छे निष्पादन के लिए प्रेरित करता है। साइमण्ड एव चेज (Simonds and Chase, 1929) ने अपने अध्ययन मे यह पाया कि जिस समूह के बच्चे को उसके निष्पादन से अवगत कराया गया उसका निष्पादन अन्य समूहो की तुलना मे अच्छा मिला।

(9) **सफलता एव असफलता** (Success and Failiere)—सफलता और असफलता भी एक अभिप्रेरक के रूप में जाने जाते है तथा ये शैक्षणिक उपलब्धि को प्रभावित भी करते है। शिक्षण की सफलता पर बच्चे काफी प्रसन्न होते है तथा इस प्रसन्न से वे प्रेरित होते है।

शैक्षणिक चिन्ता की मात्रा निम्न होती है उनकी स्कूल उपलब्धि तथा शैक्षणिक निष्पादन निम्न स्तर का होता है। गोविल (1991) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह पाया कि शैक्षणिक निष्पादन पर शैक्षणिक चिन्ता का प्रभाव पडता है। त्रिपाठी (Tripathi 1997) ने भी अपने अध्ययन के परिणामो के आधार पर इस बात की पुष्टि की है कि शैक्षणिक चिन्ता शैक्षिक निष्पादन एव स्कूल उपलब्धि को प्रभावित करती है।

(3) **अध्ययन की आदत** (Study Habits)—जिन बच्चो मे अध्ययन करने की आदत प्रारम्भ से ही डाल दी जात है वे बच्चे बराबर अपने शैक्षाणिक जीवन मे प्रगति पर पाये जाते हैं। अध्ययन की आदत डालने का कार्य शिक्षक तथा माता पिता का होता है। अगर बच्चे पूर्व बाल्यावस्था मे ही ऐसी आदतो को विकसित नही किया गया तो ऐसे बालक आगे लापरवाह एव सुस्त हो जाते है जिसके कारण उनकी स्कूल उपलब्धि प्रभावित हो प्राचीनकाल मे ब्राम्ह मूहर्त मे उठकर पढने की आदत डाली जाती थी जिसके कारण बच ब्राह्म मुहुर्त मे पढने की आदत पड जाती थी तथा वे बराबर प्रातःकाल उठकर अपना अध्य करते थे परन्तु आजकल प्रात काल उठकर पढने की आदत डालने का काम लगभग समाप्त हो चुका हे जिसके कारण बच्चो मे यह आदत जन्म नही ले पाती है। अध्ययनो एव शोधो के परिणाम इस बात की पुष्टि करते है। कि अध्ययन की आदत हमेशा स्कूल उपलब्धि को प्रभावित करती है।

(4) **शिक्षण अभिक्षमता** (Learning Aptitude)—परिपक्व बच्चो की तुलना मे अपरिपक्व बच्चो की शैक्षणिक उपलब्धि अच्छी नही होती है। अपरिपक्व बच्चो की शैक्षणिक उपलब्धि अच्छी न होने के कारण हो सकते हे। प्राय ऐसा देखा जाता है कि अपरिपक्व बच्चा प्रारम्भ मे कार्यसम्पादन करने की त्रुटिपूर्ण आदतो का सहारा लेता है तथा सीखने का प्रयास भी करता है। धीरे धीरे उसे उन आदतों से मुक्त होना पडता है। इन आदतो की मुक्ति मे उसे काफी परेशानी होती है। उदाहरणार्थ—यदि बच्चे मे लेखन की अभिक्षमता का अभाव है तो उसके सामने लेखन सामग्री प्रस्तुत करने पर स्वभावत उसका लेखन निष्पादन प्रभावित होगा। अत यह आवश्यक है कि उचित निष्पादन हेतु परिपक्वता के साथ साथ बच्चे मे उस कार्य हेतु अभिक्षमता का होना भी जरूरी है। कम बुद्धि वाले बच्चे के सन्दर्भ में यह कहना कि वह सभी प्रकार के शिक्षण के लिए अनुपयुक्त है तो भ्रान्तिपूर्ण होगा क्योकि कम बुद्धि वाल अमूर्त शिक्षण मे कमजोर होते है। शिक्षण सामग्री मे यदि परिवर्तन कर दिया जाये तो उनमे प्रगति के आसार दिखायी देने लगते है। इस तरह से शिक्षण अभिक्षमता का परीक्षण करके यदि बच्चे को उसके अनुरूप सामग्री प्रस्तुत की जाये तो वह अच्छा निष्पादन कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि बालको को स्कूल उपलब्धि को शिक्षक अभिक्षमता भी प्रभावित करती है।

(5) **प्रेरणा** (Motivation)—प्रेरणा भी स्कूल उपलब्धि को प्रभावित करता है। बच्चे जितने ज्यादा प्रेरित होगे उनका निष्पादन उतना ही अच्छा होगा। बच्चा पहले स्कूल जाने पर रोता है चिल्लाता है तथा अपनी माँ की साडी पकडकर नही जाने के लिए प्रयास सकता है। परन्तु धीरे धीरे जब वह स्कूल जाने लगता है तो वहाँ के वातावरण से प्रभावित होकर वह धीरे-धीरे विद्यालय जाने के लिए तत्पर होने लगता है। फिर उसका रोना चिल्लाना, मना करना, सभी बन्द हो जाता है तथा बच्चे मे स्कूल जाने के लिए प्रेरणा जग जाती है। यही बच्चा आगे चलकर शैक्षणिक उपलब्धि मे आगे आता है। यहाँ प्रेरणा से अर्थ बच्चे की तल्लीनता तथा शैक्षणिक प्रेरणा (Academic Motivation) से है जो बच्चे बचपन से ही शैक्षणिक रूप से प्रेरित होते है। उनका निष्पादन उन बच्चो की तुलना मे बेहतर होता हे जो बच्चे पेरित नही होते हैं। बच्चों को पुरस्कार एव दण्ड के माध्यम से भी शैक्षणिक प्रेरणा प्रदान की जाती है। यदि शिक्षक प्रारभ में ही बच्चो के शैक्षणिक क्रियाओं हेतु प्रोत्साहित या प्रेरित करते रहे तथा उसकी क्रियाओ की प्रशसा करते रहे तो बच्चा अपने निष्पादन हेतु उद्दीप्त होगा। यथा यथा बच्चे की

उम्र मे वृद्धि होगी कुछ अन्य प्रेरक भी उसके शिक्षण को क्रियाशील बनाते है। प्रौढावस्था तक वाह्य पुरस्कार शिक्षार्थी हेतु प्रेरणा का काम करता है तथा उसके निष्पादन को प्रभावित करता है। प्रेरणा शिक्षण मे अभिरुचि की जागरूकता से सम्बन्धित है। शिक्षक हमेशा उन उद्दीपको के खोज के प्रति जागरुक रहता है जो शिक्षार्थी के अभिरुचि को किसी विषय विशेष के प्रति चिरस्थायी रख सके। शिक्षको का यह पुनीत कर्तव्य होता है कि वे शिक्षार्थी की समझे तथा विषय के प्रति उनकी अभिरुचि जागृत करे। अत प्रेरणा के द्वारा शैक्षिक निष्पादन एव उपलब्धि को प्रभावी बनाने मे मदद मिलती है।

(6) **प्रतिस्पर्धा** (Competition)–प्रतिस्पर्धा भी भावना बच्चों मे जागृत करना शिक्षक का कर्तव्य होता है। प्रतिस्पर्धा से बच्चो मे आगे बढने की होड लग जाती है तथा इससे अध्ययन करने की आदत जन्म लेता है जो शैक्षिक निष्पादन एव उपलब्धि को प्रभावित करती है। परन्तु यह प्रतिस्पर्धा जब स्वस्थ न होकर विद्रोह का रूप ले लेती है तब उसका बुरा प्रभाव बच्चे के शैक्षिक निष्पादन पर पडता है। अत बच्चो मे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का भाव (feeling of Healthy Competetion) विकसित करना चाहिए। प्रतिस्पर्धा दो प्रकार की होती है। (i) दूसरे व्यक्ति से प्रतिस्पर्धा (ii) स्वय अपने पूर्व अभिलेखो से प्रतिस्पर्धा। यदि शिक्षार्थी समान मानसिक योग्यता और निष्पादन शक्ति वाले होते है तो उनके बीच प्रतिस्पर्धा अधिक उद्दीपनशील होती है। लूज (1930) ने एक प्रयोग प्रतिस्पर्धा पर बच्चो पर किया। परिणाम मे लूज ने यह पाया कि 47% विद्यार्थियो ने प्रतिस्पर्धा की भावना के कारण अपने शैक्षिक निष्पादन मे प्रगति प्रदर्शित किया। हरलाक (Hurlock 1927) ने अपने प्रयोग मे यही परिणाम पाया कि उन बच्चो का निष्पादन अच्छा था जिनमें प्रतिस्पर्धा की भावना थी। प्रतिस्पर्धा के साथ ही साथ सहयोग का भी प्रभाव शैक्षिक निष्पादन पर अच्छा पडता है। सहयोग भी एक प्रकार की प्रेरणा है जो बच्चो के शैक्षिक निष्पादन को उन्नत करने मे सहायता करती है।

(7) **प्रशसा तथा आरोप** (Praise and Blame)–प्रशसा तथा आरोप भी शैक्षिक निष्पादन को प्रभावित करते है। जब शिक्षक प्रशसा तथा आरोप का उद्दीपन बच्चे के लिए प्रस्तुत करते है तो इसका अत्यन्त प्रभावी परिणाम प्राप्त होता है। प्रशसा औसत एव कमजोर बालकों को उद्दीप्त करती है। बालिकाओं पर प्रशसा का प्रभाव अधिक पडता है। चेज (Chase) द्वारा किये गये अध्ययन इस बात की पुष्टि करते है कि आरोप प्रशसा से अधिक शक्तिशाली प्रेरक होता है। किन्तु हरलाक (Hurlock 1975) ने यह पाया कि प्रशसा सर्वाधिक शक्तिशाली प्रेरक है। प्रशसा एव आरोप मे कौन सा सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रेरक है यह पूरी तरह से शिक्षक की कुशलता पर निर्भर होता है। परन्तु इन दोनो का उपयोग परिस्थितियो के अनुसार करने पर प्रभावी परिणाम मिलते है। पुरस्कार एव दण्ड भी शैक्षणिक निष्पादन पर प्रभाव डालते है। प्राथमिक विद्यालयों में बच्चों से आर्थिक प्रलोभन एव सामग्रिक पुरस्कार प्रदान करने पर अच्छे शैक्षिक निष्पादन का परिणाम कई अध्ययनो में मिला है (ल्यूबा 1933, मायर 1935, थार्नडाइक 1933)। ब्रास (1941) एव अन्य मनोवैज्ञानिकों ने 'चिन्ह पुरस्कार' को अधिक प्रभावशाली प्रेरक के रूप में मान्यता प्रदान की है।

(8) **परिणामो का ज्ञान** (Knowledge of Result)–यदि विद्यार्थियों को उनके प्रगति का समय-समय पर बोध कराया जाये तो उससे भी उसके निष्पादन पर अच्छा प्रभाव पडता है। परिणाम का ज्ञान एक तरह से विद्यार्थियों की अच्छे निष्पादन के लिए प्रेरित करता है। साइमण्ड एव चेज (Simonds and Chase, 1929) ने अपने अध्ययन मे यह पाया कि जिस समूह के बच्चे को उसके निष्पादन से अवगत कराया गया उसका निष्पादन अन्य समूहो की तुलना मे अच्छा मिला।

(9) **सफलता एव असफलता** (Success and Failiere)–सफलता और असफलता भी एक अभिप्रेरक के रूप में जाने जाते है तथा ये शैक्षणिक उपलब्धि को प्रभावित भी करते है। शिक्षण की सफलता पर बच्चे काफी प्रसन्न होते है तथा इस प्रसन्न से वे प्रेरित होते है।

अन्य व्यक्तियो के द्वारा भी इस सफलता पर उन्हे शाबासी आदि मिलती है जिससे वे उद्दीप्त होते है तथा अच्छा निष्पादन भविष्य मे भी करते है। इसके विपरीत कभी कभी असफलता भी विद्यार्थियो का मन बदल देती है। तथा वे कुछ कर सकने की मन मे ठान लेते है एव प्रगति की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते है। हरलॉक (Hurlock 1975) ने चार समूह के बच्चो का अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया कि उस समूह का निष्पादन ज्यादे अच्छा रहा जिसे सफलता पर प्रशषित किया गया तथा उस समूह का निष्पादन सर्वाधिक खराब था जिस समूह की न तो प्रशसा गयी न तो आरोप ही लगाया गया।

(10) **आकाक्षा स्तर** (Level of Aspıratıon) – आकाक्षा स्तर भी शैक्षिक निष्पादन को प्रभावित करती है। उच्च आकाक्षास्तर वाले बच्चो का निष्पादन निम्न आकाक्षा स्तर वाले बच्चो की तुलना मे अच्छा होता है। उच्च आकाक्षा स्तर वाले बच्चो मे अध्ययन करने की आदत उच्चावस्था मे पायी जाती है तथा वे उसी प्रकार से निष्पादन की प्रगति हेतु तत्पर रहते है। इस तरह से यह कई अध्ययनो का परिणाम मिला है कि आकाक्षास्तर एव निष्पादन मे उच्च सह-सम्बन्ध होता है।

(11) **अध्ययन की विधि** (Method of Study) – अध्ययन विधि से आशय उस विधि से है जिसका उपयोग विद्यार्थी विषय सामग्री का अध्ययन करने के लिए करता है। सीखने का अध्ययन करने की विधि मे समग्र और खण्ड विधि, सान्तर और निरन्तर विधि एव सस्वर पाठ विधि आदि प्रमुख विधियॉ है। हर विधि की महत्ता विषय सामग्री पर निर्भर करती है। सभी विधियॉ एक विशेष विषय के अध्ययन मे उपयोगी होती है। कौन सी विधि अच्छे निष्पादन हेतु उपयोगी होगी यह पूरी तरह से विद्यार्थी की विशेषताएँ, विषयवस्तु इत्यादि पर निर्भर करती है। यदि विद्यार्थी उचित विधि का उपयोग शिक्षण कार्य मे करता है तो प्रभावी होगी तथा उसकी शैक्षणिक उपलब्धि अधिक बेहतर हो सकती है।

(12) **सवेग** (Emotıon) – सवेग भी शैक्षणिक निष्पादन को प्रभावित करते है। परन्तु मध्यम स्तर की सावेगिक अवस्था प्रेरणा का भी कार्य करती है। उसके विपरीत तीव्र सावेगिक अवस्था हमेशा शैक्षणिक निष्पादन को कमजोर करती है। कार्टर (Carter 1936) ने 6वे या 7वे स्तर के विद्यार्थियो पर एक प्रयोग किया जिसमे कुछ चित्रो के साथ प्रसन्नात्मक अप्रसन्नात्मक तथा मिले जुले शब्दो का साहचर्य स्थापित करना था। परिणाम में यह पाया गया कि प्रसन्नतादायक शब्दो के साथ चित्रों का साहचर्य स्थापित करने मे 2200 गल्तियॉ, अप्रसन्नतादायक शब्दों के साथ साहचर्य स्थापन मे 27 24 गल्तियॉ एव अन्य मिले जुले शब्दों के साथ साहचर्य स्थापन मे 3106 गल्तियॉ हुई। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो रहा है कि सवेग को दोनो आयाम निष्पादन को प्रभावित किये। पैट्रिक (Pattrıc 1934) ने भी प्रौढों पर किये गए अध्ययन मे भी सवेग के प्रभाव को निष्पादन पर पाया।

(13) **व्यक्तित्व** (Personalıty) – विद्यार्थी के व्यक्तित्व का भी प्रभाव निष्पादन पर देखा जा सकता है। उस सम्बन्ध मे बैरेट, गौह, मेंलिगर मिशेल तथा स्टिजर (Barrett, Gaugh, Mellınger, Mıtchell, and Steınzor 1937) ने यह स्पष्ट किया है कि आत्मसमर्थ, चैतन्यता, धैर्यता अच्छे सामाजिक सम्बन्ध विकसित करने की योग्यता शैक्षाणिक रुचि का विस्तार, सावेगिक परिपक्वता, आत्मविश्वास मूल्य का ज्ञान, उच्च आकाक्षास्तर और सामर्थ्य तथा प्रौढो को स्वीकार करने की योग्यता जैसे प्रमुख व्यक्तित्व शीलगुण विद्यार्थियो के निष्पादन में अहम् भूमिका अदा करते हैं।

(14) **शैक्षणिक आत्म प्रत्यय** (Academıc self concept) – शैक्षणिक आत्म प्रत्यय को कई मनोवैज्ञानिको ने सामान्य आत्मप्रत्यय का ही एक तत्व माना है। (Paterson and Thomas 1962, Shavelson, Hubnu and Stanton 1976)। ऐसा कई अध्ययनों में पाया गया कि बच्चा का आत्म प्रत्यय शैक्षिक दृष्टिकोण से ज्यादा अच्छा होता है। विद्यालय में बच्चा का निष्पादन शैक्षणिक आत्म प्रत्यय से प्रभावित होता है (Mıntz & Muller 1977) क्यूलर चैम्प्लेस तथा मार्थ वुड (Muller, Champles and marthwood 1977) इस बात

की पुष्टि करते है कि आत्म प्रत्यय् का महत्व शेक्षिण निष्पादन हेतु ज्यादा प्रभावी होता हें। एक तरह से यदि कहा जाये कि शेक्षणिक आत्मप्रत्यय एव शैक्षिक उपलब्धि मे सह-सम्बन्ध धनात्मक है।

बुकोवर (Brookover 1959) ने शेक्षणिक आत्म प्रत्यय का आत्म प्रत्यय का एक सार्थक पद बताया हें। यह एक प्रकार की वैयक्तिक प्रत्यय अपनी याग्यताआ के प्रति होता हे जो शैक्षणिक व्यवहार को प्रभावित करती हें। यह क्रियात्मक रुप मे शैक्षणिक निष्पादन का सुगमीकरण करती हे। क्लाइन फील्ड (Klein feld 1972) ने भी यह बतलाने का प्रयास किया हे कि शैक्षणिक आत्म प्रत्यय एक तरह से विद्यार्थियो का अपनी शैक्षणिक सामर्थ्य का प्रत्यय होता है। उसमे उसके प्रयास तथा उसका योग्यता मुख्य रूप से सन्निहित होती है। सीयर्स (Sears, 1962)ने शैक्षणिक आत्म प्रत्यय के अन्तर्गत कार्य आदतो विद्यालयीय विषय मानसिक योग्यता को सम्मिलित क्रिया है।

मिशेल एव स्मिथ (Michael and Smith 1978) ने शैक्षणिक आत्म प्रत्यय के पॉच कारक या तत्व बताये हे। वे क्रमश आकाक्षा स्तर चिन्ता, शैक्षणिक रुचि एव आत्मतोष नेतृत्व तथा तर्कक्षमता एव एकाकीपन् तथा सामान्यीकरण। ये पॉचो तत्व शेक्षणिक निष्पादन पर अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डालते है।

(15) **सामर्थ्य** (Competence) – समर्थ बच्चे से तात्पर्य यह है कि जो बच्चा संस्कृति द्वारा निर्धारित कार्यां को सपादित करने की योग्यता रखता है। सामर्थ्य एक विशद सम्प्रत्यय है। उसके अन्तर्गत व्यवहार मे प्रभावशीलता सगठन की योग्यता तथा वातावरण से समायोजन की योग्यता निहित होती है। व्हाइट (Whyte) ने अपने शब्दो में उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है तथा उसे इस प्रकार मे परिभाषित किया है।

सामर्थ्य का मतलब सगठन की योग्यता तथा वातावरण स प्रभावकारी ढग से अन्तक्रिया करने को कहा जा सकता है।

'Competence will refer foan organisers capacity to interact effectively with its environment"

जैसा कि हम जानते है कि प्रतिदिन कई करोड बच्चे ससार मे जन्म लेते है। परन्तु उनमे से कुछ ही भाग्यशाली होते हैं जो ठीक तरह से विकसित होते हैं तथा सामथ्ययुक्त बच्चे कहलाने के हकदार होते हे। समर्थ बच्चे वे होते है जो कुशलतापूर्वक वातावरण के साथ समायोजन स्थापित कर लेते है जबकि इसके विपरीत असमर्थ बच्चे इस समायोजन को स्थापित करने में सक्षम नही होते है। इसके पीछे क्या कारण हो सकता हैं ? जबकि सारे बच्चे जैविकीय एक ही जैसे होते हैं। इस समस्या का समाधान खोजने के लिए कई प्रकार के शोध सपादित किये गये। इस प्रकार के शोध दो मुख्य प्रश्नो पर आधारित थे।

1 क्या बच्चो का लालन पालन (Child rearing practices) विधि बच्चे के सामर्थ्य को प्रभावित करती है ?

2 क्या उचित लालन पालन विधि बच्चे को समर्थ बनाने में प्रभावी होती है ?

लालन पालन विधि (Child rearing Practices) पर अनेक शोध सपादित किये गये तथा परिणामो से ऐसा पता चलता ह कि लालन पालन की विधि का बच्चे के सामर्थ्य पर अच्छा प्रभाव पडता है। उचित लालन पालन के अभाव में बच्चे मे वातावरण के प्रति समायोजन के सामथ्य मे बाधा उत्पन्न होती है। अत इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि लालन पालन विधि के द्वारा बच्चे में सामर्थ्य को बढाया जा सकता है तथा यही सामर्थ्य उसके शैक्षिक उपलब्धि एव निष्पादन को भी बढाती है।

अत सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बच्चों के शैक्षणिक निष्पादन में वृद्धि लाने के लिए उपरोक्त कारको पर ध्यान देने चाहिए जो शैक्षणिक निष्पादन को प्रभावित करते हैं।

अन्य व्यक्तियो के द्वारा भी इस सफलता पर उन्हे शाबासी आदि मिलती है जिससे वे उद्दीप्त होते है तथा अच्छा निष्पादन भविष्य मे भी करते है। इसके विपरीत कभी कभी असफलता भी विद्यार्थियो का मन बदल देती है। तथा वे कुछ कर सकने की मन मे ठान लेते है एव प्रगति की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते है। हरलॉक (Hurlock 1975) ने चार समूह के बच्चों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया कि उस समूह का निष्पादन ज्यादे अच्छा रहा जिसे सफलता पर प्रशषित किया गया तथा उस समूह का निष्पादन सर्वाधिक खराब था जिस समूह की न तो प्रशसा गयी न तो आरोप ही लगाया गया।

(10) आकाक्षा स्तर (Level of Aspiration) – आकाक्षा स्तर भी शैक्षिक निष्पादन को प्रभावित करती है। उच्च आकाक्षास्तर वाले बच्चो का निष्पादन निम्न आकाक्षा स्तर वाले बच्चो की तुलना में अच्छा होता है। उच्च आकाक्षा स्तर वाले बच्चो में अध्ययन करने की आदत उच्चावस्था में पायी जाती है तथा वे उसी प्रकार से निष्पादन की प्रगति हेतु तत्पर रहते हैं। इस तरह से यह कई अध्ययनो का परिणाम मिला है कि आकाक्षास्तर एव निष्पादन में उच्च सह-सम्बन्ध होता है।

(11) अध्ययन की विधि (Method of Study) – अध्ययन विधि से आशय उस विधि से है जिसका उपयोग विद्यार्थी विषय सामग्री का अध्ययन करने के लिए करता है। सीखने का अध्ययन करने की विधि मे समग्र और खण्ड विधि, सान्तर और निरन्तर विधि एव सस्वर पाठ विधि आदि प्रमुख विधियॉ है। हर विधि की महत्ता विषय सामग्री पर निर्भर करती है। सभी विधियॉ एक विशेष विषय के अध्ययन मे उपयोगी होती है। कौन सी विधि अच्छे निष्पादन हेतु उपयोगी होगी यह पूरी तरह मे विद्यार्थी की विशेषताएँ, विषयवस्तु इत्यादि पर निर्भर करती है। यदि विद्यार्थी उचित विधि का उपयोग शिक्षण कार्य मे करता है तो प्रभावी होगी तथा उसकी शैक्षणिक उपलब्धि अधिक बेहतर हो सकती है।

(12) सवेग (Emotion) – सवेग भी शैक्षणिक निष्पादन को प्रभावित करते है। परन्तु मध्यम स्तर की सावेगिक अवस्था प्रेरणा का भी कार्य करती है। उसके विपरीत तीव्र सावेगिक अवस्था हमेशा शैक्षणिक निष्पादन को कमजोर करती है। कार्टर (Carter 1936) ने 6वे या 7वे स्तर के विद्यार्थियो पर एक प्रयोग किया जिसमे कुछ चित्रो के साथ प्रसन्नात्मक अप्रसन्नात्मक तथा मिले जुले शब्दो का साहचर्य स्थापित करना था। परिणाम में यह पाया गया कि प्रसन्नतादायक शब्दो के साथ चित्रो का साहचर्य स्थापित करने में 2200 गल्तियॉ, अप्रसन्नतादायक शब्दो के साथ साहचर्य स्थापन मे 27 24 गल्तियॉ एव अन्य मिले जुले शब्दो के साथ साहचर्य स्थापन मे 3106 गल्तियॉ हुई। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो रहा है कि सवेग को दोनो आयाम निष्पादन को प्रभावित किये। पैट्रिक (Pattric 1934) ने भी प्रौढो पर किये गए अध्ययन मे भी सवेग के प्रभाव को निष्पादन पर पाया।

(13) व्यक्तित्व (Personality) – विद्यार्थी के व्यक्तित्व का भी प्रभाव निष्पादन पर देखा जा सकता है। उस सम्बन्ध में बैरेट, गौह, मेंलिगर मिशेल तथा स्टिजर (Barrett, Gaugh, Mellinger, Mitchell, and Steinzor 1937) ने यह स्पष्ट किया है कि आत्मसमर्थ, चैतन्यता, धैर्यता अच्छे सामाजिक सम्बन्ध विकसित करने की योग्यता शैक्षाणिक रुचि का विस्तार, सावेगिक परिपक्वता, आत्मविश्वास मूल्य का ज्ञान, उच्च आकाक्षास्तर और सामर्थ्य तथा प्रौढो को स्वीकार करने की योग्यता जैसे प्रमुख व्यक्तित्व शीलगुण विद्यार्थियो के निष्पादन मे अहम् भूमिका अदा करते है।

(14) शैक्षणिक आत्म प्रत्यय (Academic self concept) – शैक्षणिक आत्म प्रत्यय को कई मनोवैज्ञानिको ने सामान्य आत्मप्रत्यय का ही एक तत्व माना है। (Paterson and Thomas 1962, Shavelson, Hubnu and Stanton 1976) । ऐसा कई अध्ययनों में पाया गया कि बच्चा का आत्म प्रत्यय शैक्षिक दृष्टिकोण से ज्यादा अच्छा होता है। विद्यालय में बच्चा का निष्पादन शैक्षणिक आत्म प्रत्यय से प्रभावित होता है (Mintz & Muller 1977) क्यूलर चैम्प्लेस तथा मार्थ वुड (Muller, Champles and marthwood 1977) इस बात

की पुष्टि करते है कि आत्म प्रत्यय का महत्व शैक्षिण निष्पादन हेतु ज्यादा प्रभावी होता है। एक तरह से यदि कहा जाये कि शैक्षणिक आत्मप्रत्यय एव शैक्षिक उपलब्धि मे सह-सम्बन्ध धनात्मक है।

बुकोवर (Brookover 1959) ने शैक्षणिक आत्म प्रत्यय का आत्म प्रत्यय का एक सार्थक पद बताया है। यह एक प्रकार की वैयक्तिक प्रत्यय अपनी योग्यताओ के प्रति होता है जो शैक्षणिक व्यवहार को प्रभावित करती है। यह क्रियात्मक रुप मे शैक्षणिक निष्पादन का सुगमीकरण करती है। क्लाइन फील्ड (Klein feld 1972) ने भी यह बतलाने का प्रयास किया है कि शैक्षणिक आत्म प्रत्यय एक तरह से विद्यार्थियों का अपनी शैक्षणिक सामर्थ्य का प्रत्यय होता है। उसमे उसके प्रयास तथा उसकी योग्यता मुख्य रूप से सन्निहित होती है। सीयर्स (Sears, 1962)ने शैक्षणिक आत्म प्रत्यय के अन्तर्गत कार्य, आदतो, विद्यालयीय विषय मानसिक योग्यता को सम्मिलित क्रिया है।

मिशेल एव स्मिथ (Michael and Smith, 1978) ने शैक्षणिक आत्म प्रत्यय के पॉच कारक या तत्व बताये हैं। वे क्रमश आकाक्षा स्तर,चिन्ता शैक्षणिक रुचि एव आत्मतोष नेतृत्व तथा तर्कक्षमता एव एकाकीपन तथा सामान्यीकरण। ये पॉचो तत्व शक्षणिक निष्पादन पर अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं।

(15) सामर्थ्य (Competence) – समर्थ बच्चे से तात्पर्य यह है कि जो बच्चा सस्कृति द्वारा निर्धारित कार्यों को सपादित करने की योग्यता रखता है। सामर्थ्य एक विशद सम्प्रत्यय है। उसके अन्तर्गत व्यवहार मे प्रभावशीलता सगठन की योग्यता तथा वातावरण से समायोजन की योग्यता निहित होती है। व्हाइट (Whyte) ने अपने शब्दो में उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है तथा उसे इस प्रकार मे परिभाषित किया है।

सामर्थ्य का मतलब सगठन की योग्यता तथा वातावरण से प्रभावकारी ढग से अन्तक्रिया करने को कहा जा सकता है।

"Competence will refer foan organisers capacity to interact effectively with its environment"

जैसा कि हम जानते है कि प्रतिदिन कई करोड बच्चे ससार मे जन्म लेते है। परन्तु उनमे से कुछ ही भाग्यशाली होते हैं जो ठीक तरह से विकसित होते है तथा सामर्थ्ययुक्त बच्चे कहलाने के हकदार होते है। समर्थ बच्चे वे होते है जो कुशलतापूर्वक वातावरण के साथ समायोजन स्थापित कर लेते है जबकि इसके विपरीत असमर्थ बच्चे इस समायोजन को स्थापित करने मे सक्षम नही होते हैं। इसके पीछे क्या कारण हो सकता है ? जबकि सारे बच्चे जैविकीय एक ही जैसे होते हैं। इस समस्या का समाधान खोजने के लिए कई प्रकार के शोध सपादित किये गये। इस प्रकार के शोध दो मुख्य प्रश्नो पर आधारित थे।

1 क्या बच्चो का लालन पालन (Child rearing practices) विधि बच्चे के सामर्थ्य को प्रभावित करती है ?

2 क्या उचित लालन पालन विधि बच्चे को समर्थ बनाने में प्रभावी होती है ?

लालन पालन विधि (Child rearing Practices) पर अनेक शोध सपादित किये गये तथा परिणामो से ऐसा पता चलता हैं कि लालन पालन की विधि का बच्चे के सामर्थ्य पर अच्छा प्रभाव पडता है। उचित लालन पालन के अभाव में बच्चे मे वातावरण के प्रति समायोजन के सामथ्य मे बाधा उत्पन्न होती है। अत इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि लालन-पालन विधि के द्वारा बच्चे मे सामर्थ्य को बढाया जा सकता है तथा यही सामर्थ्य उसके शैक्षिक उपलब्धि एव निष्पादन को भी बढाती है।

अत सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि बच्चो के शैक्षणिक निष्पादन में वृद्धि लाने के लिए उपरोक्त कारको पर ध्यान देने चाहिए जो शैक्षणिक निष्पादन को प्रभावित करते हैं।

10

भाषा विकास
(Language Development)

मानव विकास मे भाषा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। मानव भाषा के माध्यम से बह् कुछ सीखता है। भाषा बुद्धि के प्रयोग का माध्यम है, वह तर्क का माध्यम है। हम अप अनुभव तथा विचारो को बिना भाषा के अभिव्यक्त नही कर सकते। भाषा बालक व्यक्तित्व विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती ह । भाषा का विकास व्यक्ति के शारीरि मानसिक व सामाजिक विकास से सम्बन्धित है। इसी कारण व्यक्ति एक निश्चित शारीरिक मानम्कि परिपक्वता के पश्चात ही भाषा सीख पाता है।

भाषा विकास की प्रक्रिया
(Process of Language Development)

कुछ लोगों का विचार है कि भाषा का विकास दुःख खुशी व अन्य अनुभवो का प्रव करने के लिए हुआ। मनोवैज्ञानिको का उद्देश्य भाषा विकास के स्रोतो का अध्ययन करना न है। उनका उद्देश्य केवल यह जानना है कि बालक कैसे भाषा सीखते हैं और भाषा अधिगम व कौन से कारक प्रभावित करते हैं। मनोवैज्ञानिको ने भाषा को एक प्रकार का व्यवहार माना और उनके अनुसार जब एक बालक अनुभव व परिपक्वता की विशेष अवस्था प्राप्त कर ले हें उसके लिए भाषा एक सामान्य वस्तु हो जाती है।

पहले यह विश्वास किया जाता था कि भाषा से सम्बन्धित बालक का व्यवहार जन्मजा होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में आधुनिक विचार यह है कि भाषात्मक कौशल अर्जित किये जा है और तब उनका सचय बालक के व्यवहार मे आवश्यक सुधार लाने की योग्यता पर नि करता है। दूसरो की भाषा सम्बन्धी आदत भी उसके भाषा विकास को प्रभावित करती है।

हम देखते हैं कि भाषा बोलने से पहले बालक कुछ शब्दो के मतलब को समझ लेता और अपने अनुभवों व इच्छाओं कुछ सकेतो व आवाजों के द्वारा अभिव्यक्त करने लगता है उदाहरणार्थ जब बालक अपनी माँ को देखता है तो विशेष आवाज के द्वारा उसे बुलाता है।

बालक द्वारा निकाली गयी प्रथम आवाज प्राकृतिक होती है और इसका पहचान असम्भव है। लेकिन कुछ दिनो बाद भूख गर्मी ठड आदि से सम्बन्धित अनुभव बालक द्वा निकाली गयी विशेष आवाज से सम्बन्धित हो जाते हैं। बालक स्वर ध्वनियाँ पहले उत्प करता है। इसके पश्चात् वह स्वर व व्यजन द्वारा उत्पन्न ध्वनियॉ वह स्वर व व्यजन द्वा उत्पन्न ध्वनियॉ निकालने मे समर्थ होता है। पहले वह निरर्थक ध्वनियॉ निकालता है तत्पश्चा धीरे धीरे वह भाषात्मक कौशल अर्जित करता है।

यह सत्य है कि बालक का भाषा विकास परिवार के सदस्यों के अनुकरण द्वारा सीख है लेकिन बालक प्रौढ व्यक्तियो के द्वारा बोली गयी भाषा का अनुकरण तभी करता है जब व

अपने स्वर अगा पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। बालक के लिए एक वर्ष की अवस्था से पूर्व कोई भी सार्थक शब्द बोलना असम्भव है।

बालक का विकास भाषा विकास के सामान्य नियमो के आधार पर होता है। जैसे क्रियात्मक विकास मे बालक निरर्थक क्रियाओ से सार्थक क्रियाओ की ओर बढता है। उसी प्रकार भाषा विकास से बालक निरर्थक ध्वनियो से सार्थक तथा विशेष आवाजो व उच्चारण की तरफ बढता है। कुछ अनुभव व विकास के बाद बालक शब्दो का सही उच्चारण करना सीख जाता है। शब्दो का सही उच्चारण सीखने के बावजूद वह व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियॉ करता है तथा जब वह लिखता तो त्रुटियॉ करता है। वस्तुओ के नाम जानने के पश्चात वह शब्द समूहो के अर्थ समझता ह। $2\frac{1}{2}$ वर्ष की अवस्था मे वह छोटे छोटे प्रश्नो का अर्थ समझन लगना है।

भाषात्मक विकास का महत्व
(Importance of Language Development)

बालक केवल दूसर व्यक्तियो से बात करने के लिए ही भाषा नही सीखता है। उसकी भाषा सम्बन्धित क्रियाये आत्म केन्द्रित भी होती है। वह स्वय से भी बातें करता है। एक बडे व्यक्ति को ऐसा करते नही दखा जाता है। छोटे बालक खेलते समय स्वय से बाने करत पाये जाने है।

मनावैज्ञानिको का विचार है कि बालक भाषा का प्रयोग अपने अपने 'अह की तुष्टि के लिए भी करता है। वह भाषा के द्वारा दूसरो का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित करता है। छोटे बालक सामाजिक सहयोग के लिए पारस्परिक सहयोग निर्भरता के महत्व को नही समझते है।

पियाजे (Piaget, 1926) का विचार है कि बालक मे सात या आठ वर्ष की अवस्था तक सामाजिक परिपक्वता का अभाव होता है। इसलिए इस अवस्था तक उनकी भाषा आत्म केन्द्रित होती है। उनके अनुसार बालक सात या आठ वर्ष की अवस्था तक एक समूह मे गुडियो से खेलते है परन्तु उनमे से कोई भी एक दूसरे की तरफ ध्यान नही देता है।

भाषा सामाजीकरण का साधन है। सामाजिक चेतना के आरम्भ होने के साथ बालक की भाषा भी परिपक्व हो जाती है। सात या आठ वर्ष की अवस्था तक भाषा का विकास ऐसी अवस्था मे पहुँच जाता है कि दूसरो को ऐसा प्रतीत होता है जैसे बालक का ठीक प्रकार से समाजीकरण हो गया है। अर्थात् सात या आठ वर्ष की अवस्था तक बालक सामाजिक चेतना इतनी विकसित हो जाती है कि वह कुछ सामाजिक सम्बन्धो तथा क्रियाओ को समझने लगता है। बालक सहयोग प्रथम पाठ वार्तालाप के आधार पर सीखता है तथा यह सोचना प्रारम्भ कर देता है कि समाज के विभिन्न व्यक्तियो से उसका कुछ सामाजिक सम्बन्ध है। इस प्रकार की समझ बालक के व्यक्तिगत व सामाजिक समायोजन के लिए आवश्यक है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि बालक की भाषा आरम्भ के वर्षों मे आत्म केन्द्रित रहती है। लेकिन जब वह प्रश्न पूछने व उत्तर देने मे समर्थ होता है दूसरे से किसी कार्य को करने के सम्बन्ध मे सहमत होता है दूसरे द्वारा प्रस्तुत सुझावो पर विचार करता है तथा दूसरो को सुझाव प्रस्तुत करता है तब यह प्रतीत होना है कि वह भाषात्मक व्यवहारिक परिपक्वता की ओर अग्रसर है पियाजे (Piaget) के अनुसार समाजीकरण से सम्बन्धित भाषात्मक विकास के निम्नलिखित सात चरण होते है—

(i) अवसर के अनुसार श्रोता के लिए उपयुक्त बात कहने में सक्षम होना।

(ii) दूसरा के व्यवहार की आलोचना करना।

(iii) प्रार्थना करना, डराना तथा आदेश देना।

(iv) सूचना प्राप्त करने के लिए प्रश्न पूछना

(v) दूसरे द्वारा पूछे गये प्रश्नो का उत्तर देना

(vi) धन्यवाद देना, स्वागत करना, अभिनन्दन करना और 'कृपया क्षमा कीजिए आदि कहना तथा

(vii) कुत्तों, बिल्लियों, गाय की आवाज और रेलगाडी तथा मोटर कार द्वारा उत्पन्न की गयी ध्वनियो का प्रौढ व्यक्तियो के समान अनुकरण करना।

दूसरो से बाते करना व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है तथा यह तभी सम्भव है जब पारिवारिक वातावरण अच्छा हो। सहयोगी पारिवारिक वातावरण के अभाव मे बालक का भाषात्मक विकास दोषपूर्ण हो जाता है। भाषात्मक दोषो में हकलाना प्रमुख है। ऐसा देखा गया है कि जो बालक हकलाता है वह स्वय को असुरक्षित महसूस करता है। परिणामस्वरूप बालक का समाजीकरण तथा भाषात्मक विकास दोनों धीमे हो जाते हैं।

भाषात्मक प्रतिक्रियाओ की प्रकृति
(Nature of Language Responses)

निश्चित क्रम—यद्यपि बालको के भाषात्मक विकास मे व्यक्तिगत भिन्नता पाई जाती है फिर भी उसका एक निश्चित क्रम होता है और कुछ निश्चित पहलू सभी बालको के भाषा विकास में दृष्टिगोचर होते हैं। उसका निश्चित क्रम नीचे दिया गया है—

(i) असगत ध्वनियों के उच्चारण की स्थिति

(ii) कुछ मुख्य शब्दों के प्रयोग की अवस्था

(iii) शब्दों के अर्थ को समझने की शक्ति के विकास की अवस्था

(iv) विचारों को अभिव्यक्त करने की शक्ति के विकास की अवस्था

(v) परिपक्व भाषा पर नियन्त्रण प्राप्त करने की अवस्था।

शिशु की असगत आवाजे—जन्म के समय शिशु का रुदन यात्रिक होता है और अभी तक उसकी सावगिक या बौद्धिक व्याख्या नही की गयी है। लेकिन बालक का यह रुदन उसकी प्रथम आवाज होती है। शिशु अपने प्रथम आठ या नौ माह में भूख प्यास दर्द आदि अनुभवो को कुछ आवाजों द्वारा अभिव्यक्त है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार शिशु विभिन्न अनुभवो के लिए एक ही तीव्रता व प्रकृति की ध्वनियाँ उत्पन्न नही करता है। दूसरे शब्दों में किसी विशेष अनुभव के लिए वह एक विशेष तीव्रता की विशेष आवाज उत्पन्न करता है।

पहले बालक सभी स्वरों का उच्चारण नही कर पाता है। इसलिए प्रारम्भ में यह भविष्यवाणी करना कठिन होता कि उसके विकास का क्रम क्या होगा। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि बालक ए तथा ओ स्वरों का उच्चारण नही कर पाता है वह पहले व्यजन 'ह तथा 'ड' का पहले उच्चारण करना सीखता है। तीन या चार वर्ष की आयु में बालक इन सभी अक्षरों को उचित तरीके से उच्चारण करना सीख लेता है। ऐसा अक्सर देखा गया है कि कुछ बालक 6 वर्ष की अवस्था में भी 'र' ल' का स्पष्ट उच्चारण नही कर पाते हैं।

शब्द उच्चारण—बालक 15 और 18 वर्ष की आयु के बीच कम से कम एक या दो शब्द बोलता है। धीरे धीरे वह यह जान जाता है कि प्रत्येक वस्तु का एक नाम होता है और वह उनको याद करन का प्रयास करता है। साथ साथ वह इन वस्तुओ के प्रति अपन व्यवहार को समयोजित करता है। अब वह एक शब्द के ऐसे वाक्य बोलने लगता है जिनका पूरा अर्थ निकलने लगता है। जैसे वह कहता है 'दूध' जिसका अर्थ होता है कि 'मुझे दूध दो ।

जैसे जेमे बालक का शब्द कोष बढता है, वह उतना ज्यादा स्वय को अपने वातावरण में समायोजित करने मे समर्थ हो जाता है। **वेरिंग** (Waring, 1927) ने बताया कि बालक का भाषा विकास किस प्रकार वातावरण मे समायोजन स्थापित करने मे उसकी सहायता करता है। उनके अनुसार

(i) बालक भाषा की सहायता से अपने पुराने अनुभवो को याद कर सकता है।

(ii) बालक भाषा की सहायता से भूतकाल के अनुभवों को दुहरा सकता है।

(iii) भाषा का विकास एक बालक को उसके भाषा ज्ञान से सम्बन्धित उसी प्रकार के अनुभवो को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

(iv) भाषात्मक ज्ञान को केन्द्रीय बिन्दु मानकर बालक अपने अनुभवों को उस केन्द्रीय बिन्दु के चारो तरफ पुष्ट करता है।

शब्दकोष बालक के समायोजन मे बहुत उपयोगी है। वह व्यवहार जो कि बालक को सिखाया जाना चाहिए उपयुक्त शब्द ज्ञात से सम्बन्धित होना चाहिए।

शब्दो का अर्थ समझना—जब बालक अपने शब्दों का कुछ वस्तुओं से साहचर्य बनाता है तब वे अर्थपूर्ण बन जाते हैं। एक शब्द वाले वाक्यों से वह धीरे धीरे दो शब्दों वाले वाक्य सीखता है जैसे 'खा लिया गिर गयी आदि। बालक इस प्रकार के दो शब्दों वाले वाक्यों को बोलना $1\frac{1}{2}$ या 2 वर्ष की आयु मे बालक सीख जाता है।

जैसे-जैसे बालक की आयु बढती है। वह उपयुक्त तथा ज्यादा अच्छे शब्दों का प्रयोग करना सीख जाता है। धीरे धीरे वह घटनाओं, वस्तुओ तथा लोगो कुछ व्यवहारों का अर्थ समझना सीख जाता है। प्रारम्भ में बालक के लिए सूँघ या चखकर चीज को पहचानना कठिन होता है परन्तु बाद में वह चीज को सूघकर या चखकर पहचान लेता है। बालक बहुत सी वस्तुओ के प्रयोग को धीरे धीरे समझने लगता है। साढे तीन वर्ष की अवस्था में वह कुर्सी मेज आदि वस्तुओं के विभिन्न उपयोगो के विषय में बता सकता है। एक पाँच वर्ष का बालक पैन, चम्मच आदि का उद्देश्य बताने मे समर्थ होता है। सात वर्ष की अवस्था में वह दूध व पानी में समानता व भिन्नताये बता सकता है। बालक धीरे-धीरे शब्दों में समानता व भेद को समझ जाता है। जैसे जैसे इसकी आयु व अनुभव मे वृद्धि होती है।

लिंग भेद—जैसे लडकियों का शारीरिक विकास लडकों की अपेक्षा तीव्र गति से होता है। उसी प्रकार उनका भाषा विकास भी ज्यादा तेज होता है। बालिकाये दो या तीन माह की अवस्था में ज्यादा आवाजे निकालती है बालिकायें बालकों से ज्यादा लम्बे वाक्यो का प्रयोग करने में समर्थ होती है।

बालक के शब्द-कोष का विकास
(Development of child's vocabulary)

स्मिथ (Smith, 1926) ने बाल शब्दकोष के विकास के सम्बन्ध मे अनक प्रयोग किये। उनका निष्कर्ष यह था कि जब बालक की भाषात्मक क्रियाये एक बार आरम्भ हो जाती हे यह बहुत तेजी से विकास करता है। स्मिथ का विचार ह कि एक बालक एक वर्ष की आयु मे केवल तीन शब्द तक बोल पाता हे जबकि तीन वष की अवस्था मे 896 शब्द तथा छ वर्ष की अवस्था मे 2,562 शब्द बोल लेता हैं। छ वप की आयु के पश्चात उसका शब्द कोष घर के वातावरण तथा शैक्षिक अवमरो के अनुसार बढता जाता ह तथा हाईस्कूल पास करने के बाद उसका शब्द भण्डार साधारण तथा 15,000 शब्द तक पहुँच जाता हे।

मूल स्टेनफोर्ड बिने मानसिक मापनी द्वारा निर्धारित मानकों के अनुसार बालकों के शब्द भण्डार विस्तार उनकी बौद्धिक परिपक्वता के विकास के साथ बढता जाता है। क्रम नीचे दिया गया हैं—

3,600 शब्द आठ वर्ष की आयु मे
5 400 शब्द दस वर्ष की आयु मे
7,200 शब्द बारह वर्ष की आयु मे
8,000 शब्द चौदह वर्ष की आयु मे
11,700 शब्द सोलह वर्ष की आयु मे (औसत व्यक्ति)
तथा 13,500 शब्द अठारह वर्ष की आयु मे (मेघावी व्यक्ति)

अनुसधानो से ज्ञात हुआ है कि पारिवारिक वातावरण शब्द कोष के विकास को बहुत अधिक प्रभावित करता है। निम्न स्तर के पारिवारिक वातावरण में रहने वाले बालको का शब्द भण्डार निम्न स्तर का होता है क्योकि उस वातावरण में उनको आवश्यक उद्दीपक तथा प्रेरणा प्राप्त नही होती है।

उपयुक्त शिक्षा भी शब्द कोष के विकास को प्रभावित करती है। स्ट्रेयर (Strayer, 1930) ने एक अध्ययन मे देखा कि लगातार उद्दीपक बुद्धि को उद्दीपक प्रदान करने से बालक के शब्द कोष के विकास मे बहुत सहायता मिलती है। जिस बालक को आत्म-अभिव्यक्ति का अवसर अधिक मिलता है, उसके भाषा तथा विचार दोनों विकसित हो जाते हैं। पारस्परिक वार्तालाप कहानी सुनना व सुनाना, सामाजिक क्रियाओं में भाग लेना बालक के शब्द कोष के विकास में सहायक होते है।

बालक का वाक्य विकास
(Sentence Development of children)

सभी बालक सबसे पहले अपने विचारो को सज्ञाओं द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। अगर वह अन्य शब्दो का प्रयोग करता भी है तो उनका प्रयोग वह सज्ञा की ही तरह करता है। 50 से 60 प्रतिशत बालक द्वारा प्रयोग किये गये शब्द सज्ञा की श्रेणी मे आते हैं। अगर बालक कहता है 'दूध'। इसका अर्थ होता है 'मुझे दूध दे दो।' इस अवस्था में यह कहना कठिन है कि बालक प्रथम दो वर्ष की आयु तक सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण या क्रिया में से कौन से शब्दों का प्रयोग अधिक करता है क्योकि वह एक शब्द का प्रयोग इन सभी के लिए करता है। नाइस

(Nice, 1922) ने अपनी चार वर्षीय पुत्री के पूरे दिन के वार्तालाप का अध्ययन करके निम्न तालिका प्रस्तुत की—

शब्द का प्रकार	सख्या	प्रतिशत	पूर्ण शब्द कोष का प्रतिशत
सज्ञा	302	41 4	52 2
क्रिया	192	27 6	23 2
विशेषण	90	12 4	11 2
क्रिया विशेषण	69	9 5	7 6
विभक्ति	18	2 5	1 6
विस्मयादिबोधक शब्द	14	1 9	0 4
समुच्चय सूचक अत्यय	3	0 4	0 9
सर्वनाम	32	2 5	1 6
योग	720	100	100

शब्द कोष के कुछ विकास के पश्चात् तथा कुछ शब्दों के अर्थ समझने के बाद बालक जटिल वाक्यों का भी प्रयाग करना सीख जाते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिको ने बालको द्वारा बोले जाने वाले तथा लिखे जाने वाले वाक्यों की जटिलता का विश्लेषण करने का प्रयास किया। ला ब्रान्ट (La Brant, 1933) ने कक्षा चार से कक्षा बारह तक के 986 विद्यालयो के बालकों द्वारा लिखे गये कार्य का अध्ययन किया और पाया कि वाक्या के विभिन्न भागो की लम्बाई व जटिलता बालको मे भाषात्मक परिपक्वता की सूचक है। ला ब्रान्ट के अनुसार जटिल वाक्यों का प्रयोग करने की योग्यता मानसिक आयु की अपेक्षा शारीरिक आयु पर अधिक निर्भर करती है। नाइस (Nice 1925) ने बताया कि बालक दो वर्ष की अवस्था में एक शब्द बोलना शुरू करता है तथा यह अवस्था 4 से 6 माह तक रहती है। चार वर्ष की अवस्था में वह 6 से 8 शब्दो के वाक्यो को बोलना सीख जाता है।

भाषात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक

(Factors influencing language development)

कुछ शारीरिक व मानसिक कारक बालक के भाषात्मक विकास को प्रभावित कर सकते हैं। जिनमें से मुख्य कारको का नीचे वर्णन किया जा रहा है।

(1) बुद्धि (Intelligence)— अक्सर यह देखा गया है कि बुद्धिमान बालक जल्दी बोलना सीखते है तथा उनकी भाषा ज्यादा अच्छी होती है। एक बुद्धिमान बालक ग्यारह माह की अवस्था मे बोलना आरम्भ करता है तथा एक औसत बुद्धि का बालक पन्द्रह माह की आयु में बोलना सीखता है जबकि एक मन्द बुद्धि का बालक साधारणतया 38 माह की आयु में बोलना सीखता है। इन तीना प्रकार के बालको मे वैयक्तिक भिन्नता पायी जा सकती है। लेकिन जो बालक देर में बोलना सीखता है। जरूरी नही कि वह क्रम बुद्धि का हो। **गिरिशन** तथा **मेकार्शी** के अनुसार भाषा विकास से बुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अधिक बुद्धि वाला बालक शब्दो के साथ अर्थ का साहचर्य शीघ्र स्थापित कर लेता है।

(ii) **पुनर्बलन** (Reinforcement) – प्रारम्भ मे बालक सकेतो के माध्यम से अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त कर लेता है। बच्चे के बोलने पर प्रसन्न होना लोरी सुनाना चुटकी बजाना आदि माता पिता की क्रियाएँ बालक के लिए पुनर्वलन का काम करती है। वह बोलने के लिए प्रेरित होता है। इन प्रतिक्रियाओं के अभाव मे बालक का भाषा विकास प्रभावित हो सकता है।

(iii) **सामाजिक-आर्थिक स्थिति** (Socio-economic status) – विभिन्न अनुसधानो द्वारा मनोवेज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि उच्च सामाजिक आर्थिक स्थिति वाले परिवारों के बालको का भाषा विकास शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है। उनका शब्द भण्डार उच्चारण शब्द चयन व वाक्य निर्माण निम्न सामाजिक स्तर वाले परिवारो के बालकों से अच्छा होता है क्योंकि उच्च सामाजिक आर्थिक स्थिति वाले परिवारो मे भाषा की शुद्धता व उसके उचित प्रयोग पर अधिक ध्यान दिया जाता है ।

(iv) **पारिवारिक वातावरण** (Family Environment) – घर के वातावरण से बालक का भाषात्मक विकास बहुत प्रभावित होता है जो बालक ऐसे वातावरण मे रहते हैं। जहाँ दो भाषायें बोली जाती हो तो वे एक से ज्यादा भाषायें आसानी से सीख सकते हैं। आरसेनियन (Arsenian) 1937) ने अपने अध्ययनो द्वारा यह सिद्ध किया है जबकि लियोपोल्ड (Leopold, 1939) ने अपने अध्ययनो में देखा कि अभिभावको द्वारा एक से अधिक भाषाये बोलने पर बालक का भाषा विकास अवरुद्ध हो जाता है। दोनों भाषाओ के शब्द उच्चारण, वाक्य निर्माण आदि में भिन्नता होती है। दोनो के लिए प्रथक प्रयास करने पडते हैं जिस कारण बालक में अनिश्चितता की भावना विकसित हो जाती है। इस अनिश्चितता की भावना से भाषात्मक विकास प्रभावित होता है।

(v) **शारीरिक दोष** (Physical defects) – कुछ बालकों की ज्ञानेन्द्रियों में कुछ दोष पाया जाता है। ये दोष श्रवण अथात् स्वर अगो से अधिकाशत सम्बन्धित होते हैं। वे बालक जिनमे श्रवण सम्बन्धी दोष होता है उनका भाषात्मक विकास निम्न स्तर का हो जाता है। ऐसा सम्भव है कि यह दोष शैशवावस्था मे ज्ञात ना हो पाये। जिव्हा, गले, दाँत व जबडे दोषयुक्त होने पर बालक भाषा में दक्षता प्राप्त करने मे असमर्थ रह जाता है।

वाणी दोष
(Speech Defects)

भाषा विकास सदैव एक गति से नही होता है स्वर यत्र की अपरिपक्वता तथा सावेगिक उद्दीपन के अभाव के कारण बालक में अनेक वाणी दोष उत्पन्न हो सकते हैं।

1 **दोषपूर्ण उच्चारण**—जब बालक के माता-पिता गलत उच्चारण करते हैं तो वह दोषपूर्ण उच्चारण करना सीख जाते हैं। इसके अलावा श्रवण, स्मरण तथा मानसिक विकास में कमियों से ऐसे दोष उत्पन्न हो सकते हैं। स्वर यन्त्रों, दाँतों आदि में दोष भी इस प्रकार का वाणी दोष उत्पन्न कर सकते हैं।

(i) **हकलाना** (Stammering) – हकलाना शैशवावस्था में आरम्भ हो जाता है। यह दोष 9 से 10 वर्ष की आयु में पाया जा सकता है। साधारणतया यह कुछ मूलभृत इच्छाओं की पूर्ति न होने से सम्बन्धित होता है।

(Nice, 1922) ने अपनी चार वर्षीय पुत्री के पूरे दिन के वार्तालाप का अध्ययन करके निम्न तालिका प्रस्तुत की—

शब्द का प्रकार	संख्या	प्रतिशत	पूर्ण शब्द कोष का प्रतिशत
संज्ञा	302	41 4	52 2
क्रिया	192	27 6	23 2
विशेषण	90	12 4	11 2
क्रिया विशेषण	69	9 5	7 6
विभक्ति	18	2 5	1 6
विस्मयादिबोधक शब्द	14	1 9	0 4
समुच्चय सूचक अत्यय	3	0 4	0 9
सर्वनाम	32	2 5	1 6
योग	720	100	100

शब्द कोष के कुछ विकास के पश्चात् तथा कुछ शब्दो के अर्थ समझने के बाद बालक जटिल वाक्यों का भी प्रयाग करना सीख जाते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिको ने बालको द्वारा बोले जाने वाले तथा लिखे जाने वाले वाक्यों की जटिलता का विश्लेषण करने का प्रयास किया। ला ब्रान्ट (La Brant, 1933) ने कक्षा चार से कक्षा बारह तक के 986 विद्यालयो के बालकों द्वारा लिखे गये कार्य का अध्ययन किया और पाया कि वाक्यो के विभिन्न भागो की लम्बाई व जटिलता बालको मे भाषात्मक परिपक्वता की सूचक है। ला ब्रान्ट के अनुसार जटिल वाक्यों का प्रयोग करने की योग्यता मानसिक आयु की अपेक्षा शारीरिक आयु पर अधिक निर्भर करती है। नाइस (Nice 1925) ने बताया कि बालक दो वर्ष की अवस्था मे एक शब्द बोलना शुरू करता है तथा यह अवस्था 4 से 6 माह तक रहती है। चार वर्ष की अवस्था में वह 6 से 8 शब्दो के वाक्यो को बोलना सीख जाता है।

भाषात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors influencing language development)

कुछ शारीरिक व मानसिक कारक बालक के भाषात्मक विकास को प्रभावित कर सकते हैं। जिनमें से मुख्य कारकों का नीचे वर्णन किया जा रहा है।

(i) बुद्धि (Intelligence) – अक्सर यह देखा गया है कि बुद्धिमान बालक जल्दी बोलना सीखते है तथा उनकी भाषा ज्यादा अच्छी होती है। एक बुद्धिमान बालक ग्यारह माह की अवस्था मे बोलना आरम्भ करता है तथा एक औसत बुद्धि का बालक पन्द्रह माह की आयु में बोलना सीखता है जबकि एक मन्द बुद्धि का बालक साधारणतया 38 माह की आयु में बोलना सीखता है। इन तीनो प्रकार के बालको मे वैयक्तिक भिन्नता पायी जा सकती है। लेकिन जो बालक देर में बोलना सीखता है। जरूरी नही कि वह क्रम बुद्धि का हो। **गिरिशन** तथा **मैकार्शी** के अनुसार भाषा विकास से बुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अधिक बुद्धि वाला बालक शब्दो के साथ अर्थ का साहचर्य शीघ्र स्थापित कर लेता है।

(ii) **पुनर्बलन** (Reinforcement)– प्रारम्भ मे बालक सकेतो के माध्यम से अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त कर लेता है। बच्चे के बोलने पर प्रसन्न होना लोरी सुनाना चुटकी बजाना आदि माता पिता की क्रियाएँ बालक के लिए पुनर्वलन का काम करती है। वह बोलने के लिए प्रेरित होता है। इन प्रतिक्रियाओं के अभाव मे बालक का भाषा विकास प्रभावित हो सकता है।

(iii) **सामाजिक-आर्थिक स्थिति** (Socio-economic status)– विभिन्न अनुसधानो द्वारा मनोवैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि उच्च सामाजिक आर्थिक स्थिति वाले परिवारो के बालको का भाषा विकास शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है। उनका शब्द भण्डार उच्चारण शब्द चयन व वाक्य निर्माण निम्न सामाजिक स्तर वाले परिवारो के बालको से अच्छा होता है क्योंकि उच्च सामाजिक आर्थिक स्थिति वाले परिवारों मे भाषा की शुद्धता व उसके उचित प्रयोग पर अधिक ध्यान दिया जाता है ।

(iv) **पारिवारिक वातावरण** (Family Environment)– घर के वातावरण से बालक का भाषात्मक विकास बहुत प्रभावित होता है जो बालक ऐसे वातावरण मे रहते हैं। जहाँ दो भाषाये बोली जाती हो, तो वे एक से ज्यादा भाषायें आसानी से सीख सकते हैं। आरसेनियन (Arsenian) 1937) ने अपने अध्ययनो द्वारा यह सिद्ध किया है जबकि लियोपोल्ड (Leopold, 1939) ने अपने अध्ययनो मे देखा कि अभिभावको द्वारा एक से अधिक भाषाये बोलने पर बालक का भाषा विकास अवरुद्ध हो जाता है। दोनों भाषाओ के शब्द उच्चारण, वाक्य निर्माण आदि मे भिन्नता होती है। दोनो के लिए प्रथक प्रयास करने पडते हैं जिस कारण बालक में अनिश्चितता की भावना विकसित हो जाती है। इस अनिश्चितता की भावना से भाषात्मक विकास प्रभावित होता है।

(v) **शारीरिक दोष** (Physical defects)– कुछ बालको की ज्ञानेन्द्रियों में कुछ दोष पाया जाता है। ये दोष श्रवण अथात् स्वर अगों से अधिकाशत सम्बन्धित होते हैं। वे बालक जिनमें श्रवण सम्बन्धी दोष होता है उनका भाषात्मक विकास निम्न स्तर का हो जाता है। ऐसा सम्भव है कि यह दोष शैशवावस्था मे ज्ञात ना हो पाये। जिव्हा गले, दाँत व जबडे दोषयुक्त होने पर बालक भाषा मे दक्षता प्राप्त करने मे असमर्थ रह जाता है।

वाणी दोष
(Speech Defects)

भाषा विकास सदैव एक गति से नही होता है स्वर यत्र की अपरिपक्वता तथा सावेगिक उद्दीपन के अभाव के कारण बालक में अनेक वाणी दोष उत्पन्न हो सकते हैं।

1 **दोषपूर्ण उच्चारण**—जब बालक के माता पिता गलत उच्चारण करते हैं तो वह दोषपूर्ण उच्चारण करना सीख जाते हैं। इसके अलावा श्रवण, स्मरण तथा मानसिक विकास में कमियों से ऐसे दोष उत्पन्न हो सकते हैं। स्वर यन्त्रों, दाँतों आदि में दोष भी इस प्रकार का वाणी दोष उत्पन्न कर सकते हैं।

(i) **हकलाना** (Stammering)– हकलाना शैशवावस्था में आरम्भ हो जाता है। यह दोष 9 से 10 वर्ष की आयु मे पाया जा सकता है। साधारणतया यह कुछ मूलभूत इच्छाओ की पूर्ति न होने से सम्बन्धित होता है।

ध्वनि के अवरुद्ध हो जाने पर बालक उसे निकालने का काफी प्रयास करता है परन्तु उसे ध्वनि निकालने मे शीघ्र सफलता नही मिलती हे। चेहरे की मासपेशियॉ खिच जाती है। परन्तु थोडी देर बाद तनाव कम होने लगता हे तथा शेष शब्दो को वह एक झटके मे बोल जाता हे। **थार्पे** (1946) के विचार से हकलाने का मुख्य कारण पूर्ण शरीर का असतुलित होना हे। **डेविस** (1956) के अनुसार हकलाने का कारण श्रवण व वाक केन्द्रो की विकृति हे। **ब्रक्स** (Brooks, 1937) के अनुसार 85 प्रतिशत हक्लाने का विकास हकलाने वालो मे 8 वर्ष की आयु से पूर्व होता है। उनका विचार है कि जो बालक हकलाते है वे विद्यालय के कार्य मे प्रारम्भिक काल मे पीछे रह जाते है।

मनोवैज्ञानिक हकलाने के कारणो के विषय मे सहमत नही है। परन्तु अधिकाश इसे सावेगिक असमायोजन तथा भग्नाशा का परिणाम मानते है। हकलाना बालक के पूर्ण विकास को प्रभावित करता है।

इन सभी कारको को बता देना चाहिए जो कि व्यक्ति मे भग्नाशा उत्पन्न करते है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति को तनाव मुक्त कर दिया जाना चाहिए। गहरी सास लेना मस्तिष्क को शान्त रखना दुखदायक परिस्थितियो को दूर करना आदि बालक की हकलाहट को दूर करने के अच्छे उपचार हैं।

(iii) **तुतलाना** (Stuttering)– बच्चो तथा वयस्को मे भी इस भाषा विकृति का प्रदर्शन दिखायी देता है । **हरलॉक** (Hurlock, 1950) के अनुसार 6 7 वर्ष की आयु के बच्चो मे एक प्रतिशत बच्चे इस दोष के शिकार होते है। तुतलाने का मुख्य कारण सावेगिक तनाव एव घबराहट माना जाता है। **ब्लेन्टन** (Blanton 1942) ने 400 बच्चो का अध्ययन करके यह परिणाम प्राप्त किया कि $2\frac{1}{2}$ वर्ष की आयु मे तुतलाने की समस्या सर्वाधिक होती है परन्तु उसके पश्चात् स्कूल मे प्रवेश करने की आयु मे भी उस दोष का प्रदर्शन मिलता है। **ब्लेन्टन** (Blanton 1942) का यह भी मानना है कि तलाने की समस्या से मुक्ति पाना कठिन कार्य है परन्तु ऐसी अवस्था मे जब तुतलाना प्रदर्शित हो तो धैर्य एव सयम से काम लेना चाहिए। ऐसा देखा गया है कि आयु मे वृद्धि तथा आत्मविश्वास मे वृद्धि के परिणामस्वरूप तुतलाने की आवृत्ति मे कमी पायी जाती है। **डेविस** (Davis, 1939) के अनुसार 2 5 वर्ष की आयु मे प्राय सभी समूहों ने अक्षरों शब्दो एव वाक्याशों की पुनरावृत्ति किया। डेविस (1939) अपने अध्ययनो के आधार पर उस निष्कर्ष पर पहुँची कि भाषा की परिपक्वता व तुतलाने से कोई सम्बन्ध नही हे। तुतलाने की पहचान प्रारम्भ के अक्षरो की पुनरावृत्ति से होती है । तुतलाने का प्रभाव अलग-अलग व्यक्तियों मे भिन्न-भिन्न पाया जाता है। कुछ बालक विशेष स्थान व विशेष व्यक्ति के समक्ष तुतलाने का व्यवहार प्रदर्शित करते है। उसके पीछे प्रमुख कारण बालक का शात या अशात भय और घबराहट हो सकता है।

वाणी त्रुटियॉ (Speech Errors)

बचपनावस्था मे वाणी त्रुटियॉ प्राय उत्पन्न होती है। परन्तु वे स्वत आयु मे वृद्धि के फलस्वरूप अदृश्य भी हो जाती हैं। प्राय अशुद्ध उच्चारण के कारण ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार की विकृतियो को दूर करने में माता पिता को ध्यान देना चाहिए तथा शुद्ध

उच्चारण करने के लिए प्रोत्साहित एव प्रेरित करना चाहिए। कुछ वाणी त्रुटियो के उदाहरण निम्नलिखित है—

(1) **अप्रत्यक्षण या अकर्म** (Dmission)—इस त्रुटि वाणी त्रुटि मे ऐसा देखा जाता ह कि जटिल या क्लिष्ट शब्दों के उच्चारण करते समय कुछ अक्षरो का प्रत्यक्षीकरण ठीक से न कर पाने के कारण उन्हें बच्चे छोड देते हैं। उसे अकर्म दोष कहते हैं । उदाहरणार्थ— सुधनन्दन के लिए सुधनन पुस्तक के लिए पुतक तथा विस्कुट के लिए विकुट कहना इत्यादि।

(2) **अन्तर परिवर्तन** (Interchange)—इस वाणी त्रुटि मे बच्चे कठिन शब्दो के उच्चारण मे अक्षरों का स्थान बदल देते है। ऐसे उच्चारणों को प्राय लोग सुनकर आनन्द उठाते है तथा बच्चो को प्रोत्साहित करते हैं कि वह इस शब्द का उच्चारण फिर से करे जोकि बहुत ही गलत हे। इस प्रोत्साहन के कारण वे शब्दो का उच्चारण करना सही रूप मे नही सीख पाते हैं। अत बच्चो को सही उच्चारण हेतु प्रेरित करना चाहिए न कि गलत उच्चारण के लिए । उदाहरणार्थ—अनिल के स्थान पर 'अलिन का उच्चारण स्कूल के स्थान पर इस्कूल का उच्चारण करना तथा राजस्थान के स्थान पर जारस्थान का उच्चारण करना एव चेकोस्लोवाकिया के स्थान पर कोचस्लोवाकिया का उच्चारण करना आदि।

(3) **स्थापन** (Substitution)—इस तरह की वाणी त्रुटि में प्राय बच्चे अक्षरों के स्थान पर एक नवीन अक्षर जोड देते हैं। उदाहरण के लिए चादर के स्थान पर आदर कहना, बेवी के स्थान पर वेव तथा ट्रेन के स्थान न टेन कहना आदि ।

इस प्रकार से स्पष्ट हो रहा है कि वाणी दोष भी भाषा विकास को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। अत इस बात का प्रयास करना चाहिए कि ये वाणी त्रुटियॉ समय से दूर की जाये जिससे भाषा का समुचित विकास हो सके।

11 सज्ञानात्मक विकास
(Cognitive Developmen

नवजात शिशु में सज्ञानात्मक क्षमता का अभाव पाया जाता है। परन्तु आयु मे
होने के साथ साथ उसकी शारीरिक, मानसिक एद सामाजिक जगत के साथ परचिय होत
जिसके आधार पर वह अपनी सज्ञानात्मक योग्यता मे वृद्धि करता है। बच्चों मे समानत
असमानता के आधार पर वस्तुओं को वर्गीकृत करने की क्षमता पर्यावरण से तादत्मीकरण
के फलस्वरूप होता है। पर्यावरण के साथ समायोजन स्थापित करने मे सज्ञान का विशेष म
होता है। सज्ञान मानसिक क्रियाओं में निहित प्रक्रियाओं उदाहरणार्थ—प्रत्यक्षीकरण, स्म
समस्या समाधान, चिनतन आदि का एक जटिल स्वरूप है। इसी के आधार पर ब
वातावरण से सम्बन्ध स्थापित करता है। सही अर्थों में यदि सज्ञान को वाह्य जगत से ज्ञान
करना कहा जाये तो कोई त्रुटि न होगा। सम्प्रति सज्ञान का अध्ययन सूचना ससाधन प्रक्रिय
रूप मे किया जा रहा है।

जन्म के समय शिशु में सज्ञान का अभाव रहता है। परन्तु आयु एव अधिगम में
होने के साथ-साथ शिशु में सज्ञानात्मक ढॉचा बनता है जिसके कारण उसका व्यव
परिमार्जित होता है। वाह्य पर्यावरण उपस्थित विभिन्न उद्दीपकों के स्वरूपो का ज्ञानात्मक
कराने वाली सम्पूर्ण मानसिक प्रक्रिया या प्रतिक्रियायें को सज्ञान कहा जा सकता है।

एनसाइक्लापीडिया व्रिटेनिका के अनुसार, "सज्ञान के अन्तर्गत उन समस्त प्रक्रिय
की गणना की जाती हे जिनका सम्बन्ध किसी सज्ञानात्मक अनुभव से होता है। सक्षेप में उ
अन्तर्गत चेतना की प्राप्ति से सम्बन्धित समस्त क्रियाये निहित होती हैं। अपने अधिक प्रच
एव विकसित रूप मे, यह किसी विशेष वस्तु को अन्य वस्तुओ से अलग करने के निर्णय
रूप में जाना जाता है।

cognition includes, every mental process that can be described
an experience of knowing it includes in short, all process
consciousness by which knowledge is built up In its most familier
developed from it is known as judgement in which a certain objec
determinted from other object

जेम्स ड्रेवर (1968) के शब्दों में, "सज्ञान एक सामान्य पद है जिसके द्वारा ज्ञान
ज्ञानात्मक अनुभव से समस्त रूपों, प्रत्यक्ष, कल्पना, चिन्तन, निर्णय एव तर्क का बोध होता है

"Cognition is a general term concerning all the various modes
knowing, perceiving, remembering, imagining, judging and reasoni
(James Drever 1968)

सज्ञान का क्षेत्र काफी व्यापक है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि व्यक्ति अपने
अपने परिवेश के विषय में किस प्रकार का मानसिक चित्र निर्माण करता है। यह मानसिक

बच्चे मे जितना गहन, स्पष्ट एव सगति होगा उसका सज्ञानात्मक व्यवहार पर्यावरण के प्रति उतना ही उपयुक्त होगा। हिलगार्ड एव उनके सहयोगियो (1975) ने लिखा है कि, "किसी व्यक्ति का स्वय अपने विषय मे तथा अपने पर्यावरण के विषय मे जो विचार ज्ञान व्याख्या, समय या धारणा का भाव अकित किया है वही सज्ञान है।"

"Cognition is an individuals thought, knowledge, interpretation understanding, or ideas about himself and his environment' (Hilgard et al 1975)

सज्ञानात्मक योग्यता एक अर्जित योग्यता है। बालक के सामाजीकरण के विकास के साथ-साथ सज्ञानात्मक योग्यता का भी विकास होता है। इस सदर्भ मे स्टाट (Stott 1975) का विचार है "समाज एव प्रभाविकता के साथ कार्य करने एव बाह्य पर्यावरण से सुविधाजनक ढग से व्यवहार करने की योग्यता ही सज्ञान है।

'Cognition is the capacity to function with understanding, effectiveness and facility in relation to the external environment"

अत स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विशिष्ट सज्ञानो के आधार पर ही बाह्य जगत की वस्तुओ के प्रति चित्र निर्मित करता है। ये चित्र प्राय एक दूसरे से भिन्न होता है। सज्ञानात्मक शैली की विशेषताओ के ही कारण कोई वस्तु या विचार किसी व्यक्ति को दुखद प्रतीत होता है तो दूसरे को सुखद। अतएव यह कहना उचित होगा कि जाति की वस्तुओ के प्रति व्यक्ति की प्रक्रिया कुछ कारको पर निर्भर करती है। ये निम्नलिखित चार कारक क्रच क्रचफोल्ड एव वैलेची (1962) द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं—

(1) एक प्रणाली के रूप मे सज्ञानो का विकास उद्दीपक, सगठन और अधिगम सिद्धान्तों से प्रभावित होती है।

(2) सज्ञान चयनात्मक रूप से सगठित ही नही होता है बल्कि वह व्यक्तित्व और उद्दीपरक कारणो से प्रभावित भी होता है।

(3) सज्ञानात्मक परिवर्तन उस समय प्रारम्भ होता है जब व्यक्ति की आवश्यकताओं और सूचनाओं मे परिवर्तन होता है।

(4) पूर्व उपस्थिति सज्ञानात्मक प्रणाली तथा व्यक्तित्वकारण कारक सज्ञानात्मक परिवर्तनो को प्रभावित करती है।

सज्ञानात्मक प्रक्रिया के निर्धारक तत्व (Determinants of cognitive process)

बालक के सज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष मिलता है कि पर्यावरण के विषय मे जो मानचित्र बनाता है वह निम्नाकित निर्धारको पर आधारित होती है—

(1) भौतिक एव सामाजिक पर्यावरण (Physical and Social Environment)—प्रत्येक व्यक्ति की सज्ञानात्मक क्रिया पर उसके भौतिक एव सामाजिक पर्यावरण की अहम् भूमिका होती है। विभिन्न भौतिक एव सामाजिक पर्यावरण के कारण व्यक्तियों की सज्ञानात्मक रचनाओ मे अन्तर प्राप्त होता है। अपने भिन्न भिन्न प्रकार के पर्यावरण के ही कारण अलग-अलग व्यक्ति अलग अलग प्रकार से वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करते है। उसी प्रकार एक सामान्य भौतिक पर्यावरण के होते हुए भी विभिन्न जाति, सस्कृति, धर्म, वर्ग, सामाजिक स्थित व पद आदि के अनुसार विभिन्न उद्दीपको के प्रति विभिन्न व्यक्तियो का सज्ञान अलग अलग प्रकार से होता है।

(2) **आवश्यकता एव लक्ष्य** (Needs and Goal)—व्यक्ति के सज्ञान को प्रभावित करने वाला दूसरा प्रमुख कारक उसकी आवश्यकताएँ एव लक्ष्य होते है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी कुछ न कुछ आवश्यकताएँ होती है जिसकी पूर्ति हेतु वह विभिन्न लक्ष्यो का निर्धारण करता है। इन लक्ष्यो एव आवश्यकताओं मे भी वैयक्तिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं तथा प्राय लक्ष्य के समान होने पर भी विभिन्न व्यक्तियो के उस लक्ष्यपूर्ति के साधनों मे भी ये व्यक्तिगत भिन्नताएँ दिखलायी देती है। उदाहरणार्थ—आवश्यकता—भूख—लक्ष्य— भोजन—, साधन—नौकरी व्यापार या कृषि कार्य आदि अतएव आवश्यकताएँ एव लक्ष्य के वैयक्तिक भिन्नताओ के कारण भी व्यक्ति पर्यावरण की वस्तुओ को अपने विभिन्न ढगो से प्रत्यक्ष करते है।

(3) **शारीरिक सरचना** (Physical Structure)—व्यक्ति के सज्ञान को शारीरिक सरचना भी प्रभावित करते है। प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक सरचना विभिन्न प्रकार की तथा अन्य व्यक्तियो से अलग होती है। शारीरिक बनावट के अनुसार उनकी शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओ मे भी भिन्नता होती है। यही कारण है कि मन्द बुद्धि की अपेक्षाकृत तीव्र बुद्धि के बालको मे सज्ञान अधिक जटिल एव अच्छी प्रकार का होता है।

(4) **पूर्व अनुभव** (Past Experience)—व्यक्ति की सज्ञान रचना को प्रभावित करने मे उसके पूर्वानुभवों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। अपने जीवन मे मानव विभिन्न उद्दीपको के सम्पर्क मे आता है तथा निरन्तर उसे नये नये अनुभव होते रहते है। इसी अनुभव के अनुसार ही सज्ञान का निर्माण उद्दीपको के प्रति होता है। सज्ञान रचना को प्रभावित करने वाले विभिन्न प्रभावी तत्वो के कारण विभिन्न भौतिक एव सामाजिक उद्दीपको के प्रति व्यक्ति के सज्ञानो मे भी अन्तर होता है। जब व्यक्ति किसी उद्दीपक के सम्पर्क मे आता है नो वह अपने पूर्वानुभवो के आधार पर निर्मित विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है। उसकी व्याख्या करता है तथा उसके प्रति अनुक्रिया करता है। अपने पर्यावरण के बारे मे वह जो तस्वीर बनाता है वह उसे पूर्वानुभवो द्वारा सवारा जाता है। (Krech, corutchfield and Ballachey, 1962, Kohen Raj 1977, Endler, 1977)

मानव प्राणी मे पायी जाने वाली मानसिक प्रक्रियाये वातावरणीय उद्दीपको एव प्राणी के व्यवहार के मध्य मध्यस्थता का कार्य करती है। उस प्रक्रिया मे प्राणी सर्वप्रथम वाह्य पर्यावरण से अपने ज्ञानेन्द्रियो के माध्यम से उत्तेजनाओं को धारण करता है। फिर वह उनके बारे मे साहचर्यो, प्रतीको के माध्यम से चिन्तन करके उन्हें समझने का प्रयास करता है। इस तरह से वह एक सज्ञानात्मक मानचित्र का निर्माण करता है। तत्पश्चात् उद्दीपकों के प्रति अनुक्रिया करता है। इस प्रकार प्राणी उद्दीपकों के प्रति सीधे अनुक्रिया नही करता है वरन् मध्यस्थकारी अनुक्रियायों के आधार पर व्यवहार प्रकट करता है। निम्नलिखित चित्र से मध्यस्थताकारी प्रक्रिया को अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

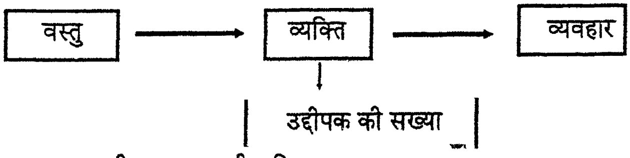

सज्ञान की मध्यस्थाकारी भूमिका

सज्ञानात्मक प्रक्रियाओं से सम्बन्धित उपरोक्त तथ्यों का अवलोकन करने यह निष्कर्ष मिलता है।

बच्चे मे जितना गहन स्पष्ट एव सगति होगा उसका सज्ञानात्मक व्यवहार पर्यावरण के प्रति उतना ही उपयुक्त होगा। हिलगार्ड एव उनके सहयोगियो (1975) ने लिखा है कि, 'किसी व्यक्ति का स्वय अपने विषय मे तथा अपने पर्यावरण के विषय मे जो विचार ज्ञान, व्याख्या समय या धारणा का भाव अकित किया है वही सज्ञान है।"

'Cognition is an individuals thought, knowledge, interpretation understanding, or ideas about himself and his environment' (Hilgard et al 1975)

सज्ञानात्मक योग्यता एक अर्जित योग्यता है। बालक के सामाजीकरण के विकास के साथ-साथ सज्ञानात्मक योग्यता का भी विकास होता है। इस सदर्भ मे स्टाट (Stott 1975) का विचार है "समाज एव प्रभाविकता के साथ कार्य करने एव बाह्य पर्यावरण से सुविधाजनक ढग से व्यवहार करने की योग्यता ही सज्ञान है।

'Cognition is the capacity to function with understanding, effectiveness and facility in relation to the external environment"

अत स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विशिष्ट सज्ञानो के आधार पर ही बाह्य जगत की वस्तुओ के प्रति चित्र निर्मित करता है। ये चित्र प्राय एक दूसरे से भिन्न होता है। सज्ञानात्मक शैली की विशेषताओ के ही कारण कोई वस्तु या विचार किसी व्यक्ति को दुखद प्रतीत होता है तो दूसरे को सुखद। अतएव यह कहना उचित होगा कि जाति की वस्तुओ के प्रति व्यक्ति की प्रक्रिया कुछ कारको पर निर्भर करती है। ये निम्नलिखित चार कारक क्रच, क्रचफोल्ड एव वैलेची (1962) द्वारा प्रस्तुत किये गये है—

(1) एक प्रणाली के रूप मे सज्ञानो का विकास उद्दीपक, सगठन और अधिगम सिद्धान्तों से प्रभावित होती है।

(2) सज्ञान चयनात्मक रूप से सगठित ही नही होता है बल्कि वह व्यक्तित्व और उद्दीपरक कारणो से प्रभावित भी होता है।

(3) सज्ञानात्मक परिवर्तन उस समय प्रारम्भ होता है जब व्यक्ति की आवश्यकताओं और सूचनाओं मे परिवर्तन होता है।

(4) पूर्व उपस्थिति सज्ञानात्मक प्रणाली तथा व्यक्तित्वकारण कारक सज्ञानात्मक परिवर्तनो को प्रभावित करती है।

सज्ञानात्मक प्रक्रिया के निर्धारक तत्व (Determinants of cognitive process)

बालक के सज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष मिलता है कि पर्यावरण के विषय मे जो मानचित्र बनाता है वह निम्नाकित निर्धारको पर आधारित होती है—

(1) भौतिक एव सामाजिक पर्यावरण (Physical and Social Environment)– प्रत्येक व्यक्ति की सज्ञानात्मक क्रिया पर उसके भौतिक एव सामाजिक पर्यावरण की अहम् भूमिका होती है। विभिन्न भौतिक एव सामाजिक पर्यावरण के कारण व्यक्तियों की सज्ञानात्मक रचनाओ मे अन्तर प्राप्त होता है। अपने भिन्न भिन्न प्रकार के पर्यावरण के ही कारण अलग-अलग व्यक्ति अलग अलग प्रकार से वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करते है। उसी प्रकार एक सामान्य भौतिक पर्यावरण के होते हुए भी विभिन्न जाति, सस्कृति, धर्म वर्ग, सामाजिक स्थित व पद आदि के अनुसार विभिन्न उद्दीपकों के प्रति विभिन्न व्यक्तियो का सज्ञान अलग-अलग प्रकार से होता है।

(2) **आवश्यकता एव लक्ष्य** (Needs and Goal)—व्यक्ति के सज्ञान को प्रभावित करने वाला दूसरा प्रमुख कारक उसकी आवश्यकताएँ एव लक्ष्य होते है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी कुछ न कुछ आवश्यकताएं होती है जिसकी पूर्ति हेतु वह विभिन्न लक्ष्यो का निर्धारण करता है। इन लक्ष्यो एव आवश्यकताओ मे भी वैयक्तिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं तथा प्राय लक्ष्य के समान होने पर भी विभिन्न व्यक्तियो के उस लक्ष्यपूर्ति के साधनो मे भी ये व्यक्तिगत भिन्नताएँ दिखलायी देती है। उदाहरणार्थ—आवश्यकता—भूख—लक्ष्य— भोजन—, साधन—नौकरी व्यापार या कृषि कार्य आदि अतएव आवश्यकताएँ एव लक्ष्य के वैयक्तिक भिन्नताओ के कारण भी व्यक्ति पर्यावरण की वस्तुओ को अपने विभिन्न ढगो से प्रत्यक्ष करते है।

(3) **शारीरिक सरचना** (Physical Structure)—व्यक्ति के सज्ञान को शारीरिक सरचना भी प्रभावित करते है। प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक सरचना विभिन्न प्रकार की तथा अन्य व्यक्तियो से अलग होती हे। शारीरिक बनावट के अनुसार उनकी शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओ मे भी भिन्नता होती है। यही कारण है कि मन्द बुद्धि की अपेक्षाकृत तीव्र बुद्धि के बालको मे सज्ञान अधिक जटिल एव अच्छी प्रकार का होता है।

(4) **पूर्व अनुभव** (Past Experience)—व्यक्ति की सज्ञान रचना को प्रभावित करने मे उसके पूर्वानुभवो का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। अपने जीवन मे मानव विभिन्न उद्दीपको के सम्पर्क मे आता है तथा निरन्तर उसे नये नये अनुभव होते रहते है। इसी अनुभव के अनुसार ही सज्ञान का निर्माण उद्दीपको के प्रति होता है। सज्ञान रचना को प्रभावित करने वाले विभिन्न प्रभावी तत्वो के कारण विभिन्न भौतिक एव सामाजिक उद्दीपको के प्रति व्यक्ति के सज्ञानो मे भी अन्तर होता है। जब व्यक्ति किसी उद्दीपक के सम्पर्क मे आता है नो वह अपने पूर्वानुभवो के आधार पर निर्मित विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है। उसकी व्याख्या करता है तथा उसके प्रति अनुक्रिया करता है। अपने पर्यावरण के बारे मे वह जो तस्वीर बनाता है वह उसे पूर्वानुभवो द्वारा सवारा जाता है। (Krech, corutchfield and Ballachey, 1962, Kohen Raj 1977, Endler, 1977)

मानव प्राणी मे पायी जाने वाली मानसिक प्रक्रियायें वातावरणीय उद्दीपको एव प्राणी के व्यवहार के मध्य मध्यस्थता का कार्य करती है। उस प्रक्रिया मे प्राणी सर्वप्रथम वाह्य पर्यावरण से अपने ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उत्तेजनाओं को धारण करता है। फिर वह उनके बारे मे साहचर्यो, प्रतीको के माध्यम से चिन्तन करके उन्हें समझने का प्रयास करता है। इस तरह से वह एक सज्ञानात्मक मानचित्र का निर्माण करता है। तत्पश्चात् उद्दीपकों के प्रति अनुक्रिया करता है। इस प्रकार प्राणी उद्दीपको के प्रति सीधे अनुक्रिया नही करता है वरन् मध्यस्थकारी अनुक्रियायों के आधार पर व्यवहार प्रकट करता है। निम्नलिखित चित्र से मध्यस्थताकारी प्रक्रिया को अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

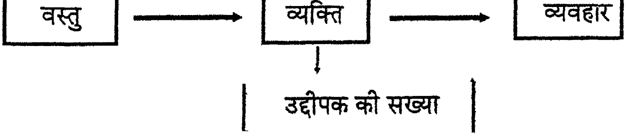

सज्ञान की मध्यस्थाकारी भूमिका

सज्ञानात्मक प्रक्रियाओ से सम्बन्धित उपरोक्त तथ्यो का अवलोकन करने यह निष्कर्ष मिलता है।

(1) सज्ञान एक जटिल मानसिक विकासात्मक प्रक्रिया है।

(2) यह एक अर्जित योग्यता है जो जीवन भर चलती रहती है।

(3) इसमे प्रतीको एव सकेतों का उपयोग होता है।

(4) इसमे अन्तरण गोचर मिलता है।

(5) इसमे प्रत्यक्षीकरण प्रक्रम घटित होता है।

(6) सज्ञानात्मक विकास में तार्किक चिन्तन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसी योग्यता मे वृद्धि के कारण सज्ञानात्मक योग्यता का विकास होता है।

(7) व्हाट (White, 1969) के अनुसार व्यक्ति की सक्षमता भी सज्ञानात्मक योग्यता पर प्रभाव डालती है। चूँकि सक्षमता समायोजन स्थापित करने में सहायक होती है अत सक्षमता सज्ञान का एक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है ।

(8) बच्चे की आयु शिक्षा और पूर्वानुमान मे वृद्धि के साथ साथ सज्ञानात्मक क्षमता में वृद्धि होती है।

(9) यह वातावरण के विषय मे ज्ञान प्राप्त करने तथा उसी के अनुसार व्यवहार करने की प्रक्रिया है।

(10) समान में अमूर्तीकरण (Abstraction) पाया जाता है।

सज्ञानात्मक योग्यता का विकास
(Development of Cognitive Abilities)

बच्चों मे प्रदर्शित होने वाले सज्ञानात्मक योग्यता पर यदि किये गये शोध अध्ययनों का अवलोकन करे तो यह पता चलता है कि इस विषय पर 1960 के पूर्व मनोवैज्ञानिकों का कार्य महत्वपूर्ण नही रहा। परन्तु इस सम्बन्ध मे महान मनोवैज्ञानिक **जीन पियाजे** (Jene Piaget) ने 1920 में सरचनात्मक योग्यता पर अपना कार्य शुरू कर दिया था। यद्यपि इनका भी कार्य 1960 के दशक मे ही प्रकाश में आया। 1940 के तर्क इस पक्ष को मनोवैज्ञानिक लोग महत्वपूर्ण मानने लगे थे तथा अपना ध्यान भी अकर्षित किये। 1950 1960 के मध्य इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये गये तथा लोगो ने सज्ञान के विषय मे अपना ध्यान केन्द्रित किया। परन्तु इस समय तक कोई महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रकाश मे नही आया जिससे सज्ञान के विषय में विशेष जानकारी हासिल किया जा सके। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी समय जीन पियाजे के कार्यों पर काफी बल दिया गया तथा पियाजे के कार्यों को एक सूची में बद्ध करने हेतु जान फ्लावेल (John flavell, 1983) ने पियाजे का विकासात्मक मनोविज्ञान प्रकाशित किया। पियाजे का सम्पूर्ण कार्य प्रेक्षण पर आधारित था। ज्यादातर निष्कर्ष पियाजे ने अपने ही तीन बच्चों (Taurent, Lucience and Jacqueline) पर समय समय पर घटित सज्ञानात्मक विकासों पर आधारित करके दिया । आगे चलकर जीन पियाजे (Jene Piaget, 1952) ने एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जो सुज्ञानात्मक विकास को स्पष्ट करता है। इस सिद्धान्त का नाम सरचना एव प्रकार्यात्मक सिद्धान्त रखा गया। जिसका वर्णन निम्नवत है—

सरचना एव प्रकार्यात्मक सिद्धान्त
(Structure and Functional Principle)

इस सिद्धान्त में जीन पियाजे ने व्यक्ति को जन्मजात सरचना एव प्रक्रियाओं के साथ अनुभवों की अन्तर्क्रिया पर ज्यादा जोर दिया है। इसके अनुसार व्यक्ति का सज्ञान उसकी

जन्मजात सरचना एव अनुभवो की अन्तर्क्रिया का परिणाम है। पियाजे ने इस सिद्धान्त को आनुवाशिक ज्ञान मीमासा (Genetic Epistemology) के आधार पर सरचित किया। इस उपागम के आधार पर ज्ञान का विकास एक प्रकार का अनुकूलन है जिसमे दो प्रकार की प्रक्रियाये निहित होती है जो क्रमश आत्मसातीकरण (Assimilation) और समजन (Accomodation) के नाम से जाना जाता है। पियाजे ने सज्ञानात्मक सरचना के लिए 'रूपरेखा' या ढॉचा (Schemeta) शब्द का उपयोग किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ सज्ञानात्मक सरचनाएँ जन्मजात बच्चा मे पाई जाती है। परन्तु ये सरचनाएँ अधिक महत्वपूर्ण होती हैं तथा इसी पर अनुक्रियायें एव अनुभवो का सयुक्त रूप मे प्रभाव पाया जाता है।

पियाजे के विचार से सरचनात्मक क्षमता के कुछ ऐसे प्रकार्यात्मक सिद्धान्त हैं जो बच्चे के व्यवहार को सगठित करते हैं। इन प्रकार्यात्मक सिद्धान्तो मे प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित है—

(1) सगठन (Organization)

(2) अनुकूलन (Adaptation)

वाह्य जगत या परिवेश मे एक ही समय मे व्यक्ति के समक्ष अनेक उद्दीपक विद्यमान होते है। परन्तु व्यक्ति उन समस्त उद्दीपको के प्रति प्रतिक्रिया नही करता है वह तो उपस्थित विभिन्न उद्दीपको मे से (विभिन्न प्रभावशाली तत्वो के अनुसार) केवल कुछ उद्दीपको का चयन करने की ओर तत्पर होता है। उसके द्वारा प्राप्त विभिन्न तत्व (सवेदनाओ) को सज्ञान के रूप मे (ईकाई के रूप मे) सगठित कर वह उनका प्रत्यक्षीकरण करता है । इस अनुक्रम को सज्ञानों का चयनात्मक सगठन (Selective organization of cognitions) कहा जाता है। यह सज्ञानात्मक सगठन या प्रत्यक्षीकरण विभिन्न प्रभावकारी तत्वों के कारण अलग अलग प्रभावों के कारण अधिकतर वैयक्तिक प्रकार का होता है। इस प्रकार सगठन मे व्यक्ति का उद्दीपक या परिस्थिति सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण विधि या ज्ञान। वस्तु या स्थिति के वास्तविक रूप के अनुसार न होकर स्वय व्यक्ति के बोध के अनुसार होता है। विभिन्न व्यक्तियो में एक ही वस्तु उद्दीपक स्थिति आदि अच्छी या बुरी लाभकर या हानिकर, दुखद या सुखद हो सकती है।

पियाजे द्वारा प्रस्तावित दूसरा महत्वपूर्ण प्रकार्यात्मक सिद्धान्त अनुकूलन के नाम से जाना जाता है। इसी सिद्धान्त मे ये प्रक्रियाये अपनी भूमिका निभाती हैं। ये प्रक्रियायें समायोजन की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती है। ये प्रक्रियाये क्रमश आत्मसातीकरण (Assimilation) एव समजन (Accomodation) के नाम से जानी जाती है।

(1) आत्मसातीकरण (Assimilation)—उसका तात्पर्य अपने वातावरण को इस प्रकार परिमार्जित करने से है कि वह व्यक्ति के पूर्व विपरीत चिन्तन एव व्यवहार के अनुकूल हो जाये। अत यह और स्पष्ट रूप से इस प्रकार से समझा जा सकता है कि नवीन अनुभवो को वर्तमान सज्ञानात्मक ढॉचे मे सम्मिलित करना ही आत्मसातीकरण है।

"Assimilation is the process through which individuals take in and incorporate their environment in terms of their current understanding of the world

उदाहरणार्थ—जब बच्चा अपनी मॉ के सानिध्य मे जन्म के बाद आता है तो वह अपनी मॉ को आत्मसात कर लेता है। धीरे धीरे वह अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क मे आता है तथा अपने अनुभव के आधार पर उन व्यक्तियों में विभिन्नता होते हुए भी वह उन्हे स्वीकार करता है।

आत्मसातीकरण मे उद्दीपक की विशेषताए कुछ हद तक विकृत हो जाता है अर्थात् नए अनुभव के कारण पुराने अनुभवो को हमे परिमार्जित करना पडता है। इस तरह से नवीन एव प्राचीन अनुभव एक साथ सन्निहित होकर एक नए मरचना (structure) का निर्माण करते हैं। आत्मसातीकरण मे हमारा पूर्व अनुनव अपरिवर्तित होते है जिसमे पुराने अनुभवो को आत्मसात किया जा सके। एक दूसरे उदाहरण से यह और स्पष्ट होगा कि छोटा बच्चा किस व्यक्ति को आया और किसी अपरिचित महिला को मम्मी कहकर पुकार सकता है। यही पुकारने का कार्य उसके अनुभवों से उत्पन्न व्यक्तियों की आत्मसात करने की प्रक्रिया है।

(2) **समजन** (Accomodation) – जीन पियाजे ने इस प्रक्रिया की आत्मसातीकरण के पूरक रूप मे माना है। इस प्रक्रिया के कारण बच्चा पर्यावरण परिस्थितियो के साथ समायोजन स्थापित करने का प्रयास करता है। समजन का तात्पर्य अपने को परिभाषित करने की विशेषताओ के अनुकरण बनाने से है।

'Accomodation is the process through which understandings of the world are modified by new information from the environment)'

व्यक्ति परिवेश के सम्पक में आने पर अपने सज्ञानात्मक ढॉचा को परिभाषित एव सशोधित करता है। इस प्रक्रिया मे वातावरणीय उद्दीपक अपरिवर्तित रहते हैं तथा व्यक्ति को अपने अनुभव में परिवर्तन करना पडता है। समजन मे इस प्रकार से नये अनुभवों से पुराने अनुभवों को परिमार्जित करके समायोजित करते है। बच्चे दूसरी महिला को देखकर माँ का सम्बोधन प्रकट करते हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि बच्चा दूसरी महिला के रूप रग एव आकार सम्बन्धी समानता के आधार पर ऐसा सम्बोधन करता है। इन दोनो प्रक्रियाओ मे मुख्य अन्तर यह है कि जब नए अनुभव के स्वरूप को बदलकर उसे समझने का प्रयास करना आत्मसाती रूप कहलाता है तथा नये अनुभव के साथ समायोजन करना तथा पुराने अनुभवों में परिवर्तन और परिमार्जन करना समजन कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचना को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि नवीन अनुभवों को सगठित करने एवम् समजन स्थापित करने की अवधि मे बौद्धिक ढॉचे मे उत्पन्न होने वाले परिवर्तनो पर सज्ञानात्मक विकास निर्भर करता है।

Cognitive development therefore is based on alterations in intellectual structures resulting from innate predisporitions to organize and to adapt to experience in certain ways" (Hethrington and Parke, 1975)

सज्ञानात्मक विकास की अवस्थाएँ
(Stages of cognitive Development)

पियाजे ने अपने अध्ययनों के आधारो पर यह कहा है कि यह आवश्यक नही है कि सभी बच्चों मे विकासात्मक अवस्थाए एक ही समय पर परिलक्षित हो परन्तु यह सत्य है कि सभी बच्चों को विकास की सभी अवस्थाओ से गुजरना पडता है। पियाजे ने सज्ञानात्मक विकास की चार अवस्थाओ को बताया है जो निम्नलिखित हैं—

(1) **सवेदी पेशीय अवधि** (Sensory Motor Period) – यह अवस्था जन्म से लेकर 2 वर्ष तक की मानी जानी है। इस अवधि में शिशु मे जन्म्जात सवेदीय पेशीय क्षमताओं का विकास होता है। उसमें अनुकरण करने का व्यवहार आने लगता है। इस अवधि में बडों के

प्रनि उचित व्यवहार प्रदर्शित होने लगता हे। प्रत्यक्षीकरण के आधार पर दूरी ऊँचाई समय एव दिन सम्प्रत्यय का भी ज्ञान आरम्भ होने लगता है। हेसेट (1984) के अनुसार इस अवस्था में बच्चे मे तादात्मीकरण का आद्यसान विकसित कर लेता है। शेष जगत से अपना अलग विभेदन कर सकता है तथा कार्य प्रभाव को समझने में सक्षम हो जाता है। जन्मोपरान्त शिशु में मात्र सहज क्रियाये (Reflexes) ही पाई जाती है। उदाहरणार्थ—ऑखो का बन्द कर लेना। मुँह में दूध की बोतल डालने पर चूमने को क्रिया करना आदि । पियाजे के शब्दो में यह नैसर्गिक आकृति कल्प (innate schema) होता हे। वाह्य ससार के विषय मे ज्ञानार्जन हेतु बच्चा इन्ही सहजक्रियाओं से मदद लेता है। तथा ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा अनुक्रियाये करने में सक्षम होता है। जन्मोपरान्त आयु मे वृद्धि होने के साथ साथ वह अपनी आवश्यकनानुसार व्यवहार को प्रदर्शित करता है। आयु मे बढने के साथ साथ वह सहजक्रियाओ को सही व्यवहार में परिमार्जित करता है। इसके लिए वह कल्पना, चिन्तन आदि को विकसित करता है। वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रण 5-6 माह में परिलक्षित होने लगता है। परिणामस्वरूप उसे अपने अनुभवो का आत्मसातीकरण एव समजन करना पडता है। इसी मे प्रतीकात्मक चितन कल्पना आदि विशेषताए परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार से बच्चे का नैसर्गिक आकृति कला अर्जित आकृति कला का रूप ले लेता है । पियाजे ने इस अवस्था में अहम्‌वाद (Ego centrism) को भी एक लक्षण के रूप में प्राप्त किया है। बच्चा सर्वप्रथम अपने अहम् पर अधिक केन्द्रण करता हें और उस पर ध्यान केन्द्रित नही करता है कि अन्य व्यक्ति अमुक घटना की व्याख्या किसी और प्रकार से करेंगे लेकिन जैसे जैसे बौद्धिक विकास होता है उसके अहम् भाव मे कमी आती है। प्राय यह भी देखा जाता है कि 10 12 माह की आयु मे बच्चे में अनुकरण व्यवहार प्रदर्शित होता है। 12 18 माह की उम्र में बच्चे प्रयत्न और मूल विधि के माध्यम से नवीन घटनाओं एव वस्तुओं को समझने का प्रयास करने लगता है। तत्पश्चात् ही प्रतीकात्मक चिन्तन, कल्पना आदि का विकास सम्भव होता है।

(2) **पूर्व सक्रियात्मक अवधि** (Pre operational Period)—इस अवस्था का विस्तार 2 वर्ष से शुरू होकर 7 वर्ष तक चलता है। उसे ही पूर्ववाल्यावस्था भी कहते हैं। इस अवधि को दो उपअवधियो में बॉटा जा सकता है। जैसे क्रमश पूर्व साम्प्रत्यायिक (Pre-conceptual) और आत्मज्ञान (Intutive) की अवधि कहते हैं। इन दोनों अवधियो का विस्तार क्रमश 2-4 वर्ष तथा 4-7 वर्ष का होता है। पूर्वसक्रियात्मक अवस्था मे बच्चो में भाषा विकास हो चुका रहता है तथा बच्चे बोलना खेलना, हावभाव मानसिक प्रतिमाओं आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। उस अवस्था मे वस्तुओं मे पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों की योग्यता मे भी विकास होता है। फर्थ (1971) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि इस अवधि में बच्चों में तार्किक क्षमता का भी विकास होता है तथा बहरे बच्चे भी समस्या समाधान में तार्किक क्षमता के फलस्वरूप सक्षम पाये जाते हैं। यह अवस्था पूर्व सक्रियात्मक इसलिए कही जाती है क्योकि वे मानसिक रूपान्तरण (Mental transformation) की योग्यता नही पाई जाती है जिसे पियाजे ने सक्रियायें का नाम दिया है। पियाजे के अनुसार सक्रियायें वह मानसिक क्रियाये होती है जो ससार के प्रति बच्चे के दृष्टिकोण को पुर्नसगठित करता है। इस अवस्था में बच्चे भी अहमवादी होते है। पियाजे (1928) के अनुसार इस अवस्था में बच्चे एकालाप करते है भले ही कोई श्रवण करने वाला न हो। पियाजे ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह भी निष्कर्ष दिया है कि कभी-कभी बच्चे अपने प्रकृति वैशीष्ट्य वार्तालापो में इतने मस्त हो जाते हैं कि उन्हें अपने मित्रों के छिद्रान्वेषण

का भी ध्यान नही रहता है। दूसरी अवधि जो आत्मज्ञान (Intutive) की अवधि कही जाती है उसमे बच्चो मे वर्गीकरण तथा सम्बन्ध स्थापन की योग्यता आ जाती है। फिलिप्स (Phillips, 1969) के अनुसार बच्चे यह नही समझ पाते है कि सभी तार्किक सक्रियाये प्रतिलोम है। उदाहरणार्थ—एक 4 वर्षीय बालक से यह पूछा गया कि तुम्हारे कोई भाई है ? उसने उत्तर दिया हाँ। उसका क्या नाम है ? उसका उत्तर था 'जिम्मी । क्या जिम्मी का भी कोई भाई है ? उसका उत्तर था नही। परन्तु यह एक प्रकार की त्रुटि है। जो आगे चलकर बौद्धिक विकास के साथ समाप्त हो जाती है।

इस अवधि के बच्चो मे मूल तादात्म्य प्रत्यय तथा प्रतिनिध्यात्मक विचार का विकास पाया जाता है। मूल तादात्म्य प्रत्यय के फलस्वरूप बच्चे वस्तु की भौतिक विशेषता के विषय मे परिवर्तनीय गुणो को सीख जाते हैं जबकि प्रतिनिध्यात्मक विचारो के माध्यम से भौतिक रूप से किसी वस्तु के सामने न होने पर उनमे मानसिक प्रतीक की रचना करना सीख जाते हैं। इन सभी योग्यताओ के अतिरिक्त उनमे पारेषक चिन्तन (Transductive reasoning) की योग्यता का भी विकास इसी अवधि में हो जाता है। इसी योग्यता के कारण बच्चे किसी अतिविशेष उत्तेजना के विषय में इच्छानुसार चिन्तन करते है।

(3) **मूर्त सक्रियात्मक की अवधि** (Concrete Operational Period)–इस अवस्था का विस्तार 7 12 वर्ष तक का होता है। इस अवधि मे बालकों मे कल्पनाशक्ति तथा चिन्तन शक्ति मे वृद्धि होती है। तार्किकता तथा वस्तुनिष्ठता मे भी वृद्धि होती है। बच्चों में तार्किक क्षमता मे भी वृद्धि पायी जाती है। इस अवधि में बच्चे मूर्त एव निरीक्षण योग्य वस्तुओ के बारे मे तार्किक चिन्तन करने की क्षमता रखते हैं। पियाजे (1926) के अनुसार बच्चो में सक्रियाये को निष्पादित करने मानसिक कार्य करने तथा जगत को पुनर्सगठित करने की योग्यता इस अवधि मे आ जाती है। पूर्व सक्रियात्मक अवधि तथा मूर्त सक्रियात्मक अवधि मे मात्र यह अन्तर है कि इस अवधि मे वार्तालाप (Conversations) मे प्रवीणता आ जाती है तथा बच्चे मे तर्क शक्ति की योग्यता प्रदर्शित होने लगती है। साथ ही साथ बच्चे मे इस प्रत्यभिज्ञाका विकास होता है कि वस्तुओ के मूलभूत गुण अपरिवर्तनशील रहते है भले ही उनके रूप मे परिवर्तन होता रहे। बच्चो मे प्रतिलोमशीलता के मानसिक सक्रिमकी योग्यता का विकास भी इसी अवधि में पाया जाता है। इसी अवधि मे रूपान्तरण (Transformation) करने की योग्यता का भी विकास होता है। जीन पियाजे के अनुसार इसी अवधि मे बच्चों में कई प्रकार की क्षमताओं का विकास देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ—सरक्षण (Conservation), अकीकरण (Numeration), पक्तिबद्धता (Seriation), वर्गीकरण (Classification) एव सम्बन्ध (Relationship) की योग्यताएँ । इन उपर्युक्त क्षमताओं में आयु वृद्धि एव बौद्धिक क्षमता का विशेष स्थान होता है। **ब्रायन्ट एव ट्रावेसो** (Bryant and Trabasso, 1971) के अनुसार इस अवधि मे अनुमानपरक तर्क की योग्यता का विकास हो जाता है ।

(4) **औपचारिक सक्रियात्मक अवधि** (Formal operational Period)–इस अवधि का आरम्भ 12 वर्ष से शुरू होता है तथा उत्तर किशोरावस्था यानि 17 वर्ष तक चलती रहती है। किशोरावस्था की अवधि में बालको का चिन्ता एव तार्किक क्षमता में वृद्धि होती है और वे अमूर्त चिन्तन की तरफ अग्रसर होते हैं। औपचारिक सक्रियात्मक की मुख्य विशेषता अमूर्त सम्प्रत्ययो के रूप मे चिन्तन करने की योग्यता है जो मूर्त वस्तुओं या क्रियायों को एक

साथ जोड़ती हैं। इसी अवधि मे किशोर एव किशोरियाँ औपचारिक सक्रियायो के साथ वास्तविक ससार से काल्पनिक ससार की ओर गतिशील होता है। इस अवधि मे वे कार्यकारण सम्बन्धो को समझने लगते है व उपकल्पनात्मक परिस्थिति मे भी चिन्तन करते हैं तथा यह भी कोशिश करते है कि अमुक परिवर्तन के फलस्वरूप वैसा परिणाम मिलेगा। उपकल्पनात्मक एव अमूर्त चिन्तन द्वारा उनकी निगमनात्मक एव आगमनात्मक चिन्तन मे परिमार्जन होता है। मूर्त वस्तुओ के अभाव मे भी चिन्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। इस अवधि मे सामाजिक परिवेश तथा शिक्षा का सज्ञानात्मक विकास पर काफी प्रभाव पडता है। इनहेल्डर (Inhelder 1966) जक्सन (Jackson 1965) स्टीफेन्स तथा उसके सहयोगी (Stephens etal 1971) के अनुसार यदि कोई बालक बोद्धिक योग्यता परीक्षा मे औसत से नीचे रहता है तो उसमे औपचारिक सक्रियात्मक चिन्तन का प्रदर्शन नही हो पाता है। लविस (Lewis, 1967) ने अपने अध्ययनो मे यह पाया कि श्रेष्ठ बच्चे सामान्य बच्चो की अपेक्षा यह योग्यता अधिक प्रदर्शित करते है। कीटस (Keats 1978) के अनुसार इस अवधि मे बच्चो मे इतनी योग्यता विकसित हो जाती है कि वे वास्तविक एव अवास्तविक मे अन्तर स्थापित कर लेते है। औपचारिक सक्रियात्मक अवधि की यह प्रमुख विशेषता है कि इस अवधि में बच्चो मे तर्कवाक्यो के विषय मे यह निर्णय करने की क्षमता का विकास हो जाता है कि तर्कवाक्य एक दूसरे से परस्पर सबधित है या नही। चाहे तर्क वाक्य सही है या गलत। यह अन्तर्साध्यपरक तर्क (Inter propositional logic) कहा जाता है। इसी अवधि मे विचारशील चिन्तन (Reflexive Thinking) भी विकसित हो जाती है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने तर्क का परीक्षण एव मूल्याकन करता है। विचारशील चिन्तन में औपचारिक सक्रियात्मक व्यक्ति स्वयालोचक होता है। विचारशील चिन्तन से व्यक्ति का दृष्टिकोण प्रभावशाली तथा शक्तिशाली हो जाता है।

पियाजे द्वारा प्रस्तुत सज्ञानात्मक विकास का सिद्धान्त एक विस्तृत एव प्रभावशाली सिद्धान्त है। कुछ मनोवैज्ञानिक इस सिद्धान्त की आलोचना इस तरह से करते हैं कि उपर्युक्त अवधियाँ पियाजे द्वारा निर्धारित समय के अनुसार नही दिखायी पडती है तथा इन पर अनेक कारको का महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। यदि यह सही है तो भी यह स्वीकार करना पडेगा कि पियाजे का कार्य अत्यधिक प्रशसक योग्य तथा महत्वपूर्ण है (Winner etal 1982 , Lamb & Sherrad, 1982, and Dash, 1982) ।

सज्ञानात्मक विकास के निर्धारक तत्व
(Determinants of Cognitive Development)

सज्ञानात्मक विकास को प्रभावित करने वाले तत्व निम्नलिखित हैं—

(1) आनुवाशिक एव सरचनात्मक कारक (Genetic and constitutional factors) – सज्ञानात्मक विकास को आनुवशिक एव सरचनात्मक कारक महत्वपूर्ण ढग से प्रभावित करते है। जैसा कि हम सभी लोग जानते हैं कि बौद्धिक विकास मे आनुवाशिकता एव सरचनात्मक कारक का विशेष हाथ होता है इसलिए चूँकि सज्ञानात्मक विकास बौद्धिक क्षमता पर निर्भर करती है इससे इस कारक का महत्व और बढ जाता है। समरूप यमजो पर किये गये अध्ययनो से यह निष्कर्ष मिलता है कि आनुवाशिक कारक एव सरचनात्मक कारक दोनो सज्ञानात्मक विकास को प्रभावित करते है। इरलेनमेयर किमलिग और जारविक,1963) । बेली (Baylay, 1970) ने अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष दिया कि परिवेशीय परिस्थितियो का बालिकाओ की अपेक्षा बालको के सज्ञान पर काफी प्रभाव देखा जा सकता

हें। इन सभी कारको के अतिरिक्त गर्भावस्था एव जन्म के ममय की परिस्थिति, पोषण (आहार) दवाएँ, बीमारियॉ तथा शारीरिक चोट एव मस्तिष्क आघात भी सज्ञानात्मक विकास मे अपना प्रभाव डालते है।

(2) **सामाजिक वचन** (Social Deprivation) – सामाजिक वचन का भी सज्ञानात्मक योग्यता मे प्रभाव देखा गया है। गार्डन (Gordon, 1923) के अध्ययनो से यह निष्कर्ष मिलता ह कि मामाजिक अधिगम के अवसर के अभाव में सज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया में बाधा पहुँचती है। प्राय यह देखा गया है कि जन्मोपरान्त सामाजिक वचन होने के कारण जगली वातावरण मे पाले गये मानव प्राणियो मे उचित सज्ञान का विकास काफी प्रयासोपरान्त भी परिलक्षिन नही हो पाया। इसलिए सामाजिक वचन विकास को बुरी तरह प्रभावित करती है। शेरमैन एव की (Sherman and key 1932) तथा कैनेडी (Kennedy, 1969) ने अपने अध्ययनो के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि ग्रामीण बच्चो का सज्ञान शहरी बच्चो की तुलना मे कम पाया जाता है। इसका कारण उचित सामाजिक अधिगम का अवसर न प्रदान करने से हे । इसलिए यह आवश्यक है कि बच्चो को सामाजिक अधिगम का यथासभव अवमर प्रदान करना चाहिए।

(3) **सामाजिक वर्ग एव प्रजातियॉ** (Social class and Races) – सामाजिक वर्ग एव प्रजातियॉ भी सज्ञानात्मकविकास पर प्रभाव डालते है। **ड्रेगर एव मिलर** (Dreger and Miller, 1960, 1968) **जेन्सेन** (Jensen 1969) आदि मनोवैज्ञानिको ने अपने अध्ययनों द्वारा सामाजिक वर्ग एव प्रजातियो के प्रभावों को सज्ञानात्मक विकास पर प्राप्त किया। इनके अनुसार काले अमेरिकी बच्चो मे श्वेत अमेरिकी बच्चो की तुलना मे सज्ञानात्मक योग्यता कम होती है एव निम्न आर्थिक स्वर के बच्चे मध्यवर्गीय बच्चों की तुलना मे सज्ञानात्मक योग्यता कम रखते है।

(4) **यौन भिन्नता** (Sex Differences) – लैंगिक भिन्नताओ का भी प्रभाव सज्ञानात्मक विकास पर प्राप्त किया गया है। उदाहणार्थ—बालको की अपेक्षा बालिकाए भाषा विकास एव शब्द प्रवाह (Word fluency) में प्राय अधिक अक प्राप्त करती हैं। उसके विपरीत वाचिक तर्क (Verbal reasoning) मे बालक बालिकाओ से श्रेष्ठ पाये गए। विस्तार प्रत्यक्षीकरण लिपिकाये योग्यता हस्तकौशल एव रटकर याद करने मे बालिकाए बालकों से अधिक अक प्राप्त करती है जबकि दैशिक विन्यास (Spatial orientation), प्रत्यक्षीकरण, गणितीय तर्क एव सामान्य ज्ञान मे बालक अधिक अक प्राप्त करते है। ऐसे ही परिणाम Carter, 1952, Coleman, 1961, Hanron 1959 ने भी अपने अध्ययनो में प्राप्त किये। Torance (1962) के अनुसार रचनात्मक विचारो की योग्यता मे बालक बालिकाओं की तुलना मे आगे रहते हैं।

(5) **सरक्षकीय प्रभाव** (Parental Influence) – ऐसे बच्चे जिनको अतिसरक्षण माता पिता द्वारा मिलता है तथा उन्हे अच्छे उच्चलक्ष्य निर्धारित करने हेतु प्रेरित किया जात' है तो उनमें सज्ञानात्मक योग्यता का विकास शीघ्र होता है। इस प्रकार का परिणाम अपने अध्ययन में कैण्डल एव उनके सहयोगी (Crandalt, el al 1960), रोजेन एव डी अनड्रेड (Rosen and D'Andrade, 1959) ने प्राप्त किये। ऐसा भी देखा गया है कि बच्चों के सज्ञानात्मक विकास को माता ज्यादा प्रभावित करती है ऐसा इसलिए होता है कि बच्चे ज्यादातार अपना समय पिता की तुलना में माता के साथ व्यतीत करते है। माता का स्नेह एव प्यार भी बच्चा के सरचनात्मक योग्यता को विकसित करने में मदद पहुँचाते हैं।

(6) **उम्र एव शिक्षा** (Age and Education) – यह सर्वविदित है कि आयु मे वृद्धि होने के साथ साथ बच्चो मे सज्ञानात्मक योग्यता भी बढती है। इसके अतिरिक्त शिक्षा का स्तर भी सज्ञानात्मक विकास को प्रभावित करता है। शिक्षित बच्चो की तुलना मे अशिक्षित बच्चों का सज्ञानात्मक विस्तार कम पाया जाता है। ऐसे परिणाम दास एव दास (D is and Das, 1984) ने अपने अध्ययन में प्राप्त किये। **गारगियुलो** (Gargiulo, 1984) ने भी यह निष्कर्ष दिया है कि विकलागता भी सज्ञानात्मक विकास मे बाधक होती है। अत इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बच्चो मे शिक्षा का उचित अवसर प्रदान करना चाहिए जिससे इनमे उचित समय पर उचित सज्ञानात्मक योग्यता का विकास हो सके।

(7) **स्वास्थ्य** (Health) – ऐसे बालक जिनका स्वास्थ्य प्रारभ से ही अच्छा रहता है तथा विकारियो आदि के प्रभाव से मुक्त रहते है। उनमे मानसिक विकास की गति रोगग्रस्त बच्चो की तुलना मे तीव्र रहती है। Terman (1925) के अनुसार स्वास्थ्य एव बुद्धि मे सम्बन्ध है। यदि मानसिक विकास की गति तीव्र है तो सज्ञानात्मक विकास की भी गति तीव्र ही रहेगी। ऐसे ही परिणाम Ruch (1970), Harrell, Wood gard and Gates (1955) ने भी प्राप्त किये है।

(8) **परिवार का आकार** (Size of the family) – कुछ अध्ययनो मे यह पाया गया है कि निम्न आर्थिक पर्यावरण के परिवारो मे यदि बच्चे अधिक है तो उसकी सज्ञानात्मक क्षमता में कमी पाई जायेगी। Gille 1954, and Heuyler, 1950) ने भी ऐसे ही परिणाम पाये है। इसका भौतिक कारण यह हो सकता है कि निम्न आर्थिक स्तर होने के कारण उनका पालन पोषण, शिक्षा तथा खेलकूद की पर्याप्त व्यवस्था नही हो पाती है जिससे उसका सज्ञानात्मक जगत प्रभावित होता है। साथ ही साथ उचित मनोवैज्ञानिक पर्यावरण के अभाव मे भी ऐसा ही पाया जाता है कि सज्ञानात्मक विकास अवरुद्ध होता है।

●

12 नैतिक विकास
(Moral Development)

समाज व्यक्ति से एक निश्चित व्यवहार की आशा रखता है। समाज की आशाओ के अनुसार व्यवहार न करने पर व्यक्ति को समाज मे निन्दा या उपहास का पात्र बनना पडता है। प्रारम्भ मे बालक को उचित अनुचित तथा नैतिक अनैतिक का ज्ञान नही होता है। सामाजिक अधिगम के द्वारा उसमे नैतिकता का विकास होता है।

नैतिकता (Morality) की उत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द **मोर्स** (Mores) से हुई है, जिसका तात्पर्य आचरण प्रथाओ या लोकरीतिया से है। **जोन्स** (Jones, 1954) ने नैतिकता को परिभाषित करते हुए कहा है कि निश्चित समय या स्थान के आदर्शों के प्रति अनुरूपता का प्रदर्शन ही नैतिकता है। (Morality concerns itself with conformity to existing standards of a given time or place)

कालबर्ग (Kohlberg, 1967) के अनुसार बालक नैतिक दार्शनिक होता है। वह स्वय अपना नैतिक आदर्श विकसित करता है। सामाजिक पर्यावरण के साथ होने वाली अन्तःक्रिया से उसमे नैतिकता का विकास होता है। सज्ञानो (Cognitions) का आन्तरिक पुनर्सगठन (Internal organization) होता है और उसमे नैतिकता का विकास होता है। नैतिकता एक अर्जित विशेषता है। बालक मे सही गलत की अवधारणा विकसित करके गलत कार्य को त्याग देने की आदत विकसित करके नैतिकता विकसित की जा सकती है। इस प्रकार नैतिक विकास मे बौद्धिक पक्ष (Intellectual aspect) एव प्रवाह पक्ष (Impulsive aspect) निहित होते है। पियाजे (Piaget, 1962) के अनुसार 'परिपक्व नैतिकता मे बालक द्वारा सामाजिक नियमो की जानकारी एव स्वीकृति और मानवीय सम्बन्धो में समानता तथा पारस्परिकता जो कि न्याय के आधार है, मे दिलचस्पी ये दोनो बाते सन्निहित होती है। ("Mature morality includes both the child's understanding and acceptance of social rules, and his concern for equality and reciprocity in human relation ships which is the basis of justice")

नैतिकता के विकास का सक्षिप्त इतिहास
(Brief History of Moral Development)

पृथ्वी पर मानव जीवन के उद्भव के समय से नैतिकता का अस्तित्व मानव मे नही था। विभिन्न समय पर विभिन्न अवस्थाओ का विकास हुआ था। जिसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है आदिम जाति के लोग इस बात पर विश्वास करते थे कि उनके व्यवहार प्राकृतिक ससार मे उत्पन्न स्वेच्छ दण्ड नीति द्वारा प्रभावित होते थे। वर्जन या निषेध ही नैतिकता का स्वरूप था यह वर्जन अवस्था (Resisting stage) थी।

इस वर्जन अवस्था मे वर्जित आचरण कायो वजन के कारण घटित हो जाते थे फिर भी कोई दण्ड नही मिलता है। हम्मूरबी मोमेज तथा सोलन ने परम्पराओ व रीति रिवाजो को नतिक नियमो मे बॉधा। अब नेतिकता नतिक नियमा द्वारा ऑकी जाने लगी। समाज द्वारा बनाये हुए नियम भग नही किये जा सक्ते थे। इसे वध अवस्था (Legal stage) कहा जाता है।

वेध अवस्था के नतिकता बन्धन से मानव की जन्म सिद्ध स्वायत्तता छिन जाती था। इसलिए मानव ने यह महमूस किया कि नैतिकता नियमो का पालन करने के बजाय दूसरो की भावनाओ या भलाई करना चाहिए। इसे व्युत्क्रम अव्यवस्था (Reciprocal stage) कहा गया हे।

मानवीय व्यक्ति समाज को इगित करता है। अर्थात् उसका व्यवहार भी समाज द्वारा नियन्त्रित हाता है। इम अवस्था को सामाजिक अवस्था (Social stage) कहते हैं। राइसमेन के अनुमार मध्यकाल मे मनुष्य परम्पराओ के नियन्त्रण मे था और नियन्त्रण सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति द्वारा आरोपित था। इस प्रकार नैतिकता परम्पराओ के सामाजिक नियन्त्रणो से अभिभूत थी। राइसमेन के विचार से वर्तमान मनुष्य की नैतिकता लोकमत द्वारा नियन्त्रित होती है। यह सामाजिक अवस्था (Social stasge) कहलाती है।

नैतिकता विकास की अवस्थाएँ
(Aspects of Moral Development)

नैतिक विकास मे दो मुख्य प्रक्रियाये निहित है। नैतिक व्यवहार का विकास एव नैतिक सप्रत्ययो का विकास।

(1) **नेतिक व्यवहार का विकास** (Development of moral Behaviour)— बालक का नैतिक विकास सामाजिक अधिगम से प्रारम्भ होता है। परिणामस्वरूप सामाजिक अन्त क्रिया के द्वारा बालक यह सीखता-है कि क्या गलत है। तथा क्या सही है ? नियमित प्रशिक्षण तथा अनुशासन के द्वारा बालक मे नैतिक विकास किया जा सकता है। सही नैतिक विकास के लिए पुरुस्कार की अच्छी भूमिका होती है। अनैतिक व्यवहार को दूर करने के लिए दण्ड की व्यवस्था भी लाभदायक पायी गयी है नैतिक विकास के लिए विचारों को विशेष वातावरण मे प्रयोग करना आवश्यक है। **हार्टसहार्न** एव मे (Hartshone and May, 1927, 1920) के अनुसार बालक अर्जित सप्रत्ययो को समान परिस्थितियों में प्रयोग करते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि नैतिक विकास के लिए ज्ञान स्थानान्तरण बहुत आवश्यक पाया गया हे। प्रारम्भिक बाल्यावस्था मे यह योग्यता बहुत कम होती है। लेकिन सामाजिक व बौद्धिक विकास के साथ यह योग्यता बढ जाती है।

नैतिक व्यवहार का सीखने के लिए यह आवश्यक है कि बालक सर्वप्रथम सामान्यीकरण व विभेदीकरण की योग्यता विकसित करे। उदाहरण—बालक को पॉच या छ वर्ष की अवस्था मे यह सिखाना चाहिए कि दूसरो की वस्तुओं को नही लेना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बालक के नैतिक विकास में माता पिता मित्रों तथा पडोसियो की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। **हरलॉक** (Hurlock, 1950) के अनुसार नैतिक विकास के चार सिद्धान्त है सामाजिक मानकों के आधार पर सलाह देना, सही तथा गलत के विषय मे सीधे निर्देश देना, समझदारी विकसित होते ही बालक को यह बता देना चाहिए कि यह क्यो सही

है ? और यह क्यो गलत है ? तथा बालक को यह निर्देश दिया जाना चाहिए कि वह सुखद प्रतिक्रियाओ को सही तथा दुखद प्रतिक्रियाओ को गलत कार्य से सम्बन्धित करे। अत नैतिक विकास के लिए सक्रिय प्रयास अति आवश्यक हे।

नैतिक सम्प्रत्ययो को विकास
(Development of moral Concepts)

नैतिक विकास का दूसरा पहलू नैतिक सम्प्रत्ययो का अधिगम है बालक सही व गलत का सिद्धान्त सीखता है। इन सिद्धान्तो को बालक तभी सीख पाता है जब वह विभिन्न चीजों का विश्लेषण करने की मानसिक शक्ति प्राप्त कर लेता है तब वह एक स्थिति मे सीखे गये सामाजिक नियमो को दूसरी स्थिति मे प्रयोग करने मे समर्थ हो जाता है। भाषा के विकास के साथ वह अमूर्त सिद्धान्तो तथा वास्तविक परिस्थितियो मे सम्बन्ध आसानी से सीख लेता है। इस प्रकार उसमे नैतिक सम्प्रत्ययो को सीखने की योग्यता आ जाती है।

आयु मे वृद्धि के साथ बालक को इस बात का ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि इसके व्यवहार का सामाजिक परिणाम क्या होगा उसको यह भी विचार करना चाहिए कि उसके समूह के अन्य सदस्य उसके व्यवहार के विषय मे क्या सोचेगे ?

मानसिक सम्प्रत्यय बुद्धि तथा परिपक्तवा से सम्बन्धित है। मैकाले तथा वाटकिन्स (Macaly & watkins, 1926) ने 2500 बालको पर किये गये अपने अध्ययन मे निष्कर्ष निकाला कि नौ वर्ष तक बच्चों के नैतिक सप्रत्यय प्राय निश्चित व मूर्त होते है। और उसके बाद सामान्यीकृत हो जाते हैं। इस अवस्था मे अमूर्त चीजो को समझना कठिन होता है। इन बालको की दृष्टि में सबसे गलत कार्य जन्तुओ को चोट पहुँचाना व माता की आज्ञा का उल्लघन करना था। बालक अधिकाश बाते अपनी माताओ से सीखते है।

नैतिक विकास मे अवस्थाएँ
(Stages in Moral Development)

बालक नैतिक विकास के एक चरण से दूसरे चरण की ओर अग्रसर होता है। एक चरण महीनों तक चलता रहता है। नैतिकता विकास प्रमुख तीन अवस्थाओ मे निम्नलिखित है—

1 **बचपनावस्था मे नैतिक विकास** (Moral Development during Babyhood) – प्रारम्भ मे शिशु को यह ज्ञान नही होता कि क्या नैतिक है व क्या अनैतिक ? समाज द्वारा बनाये गये नियमो का उसके लिए कोई अर्थ नही होता है। मूल प्रवृत्तियो के द्वारा उसका आचरण व व्यवहार नियत्रित होता है। वीटिस स्वैनसन के अनुसार जन्म से लेकर 5 वर्षों तक नैतिकता की भावना व्यक्तिगत बालक की आवश्यकता रहती है जो कि उसके स्वभाव के अनुकूल रहती है। **जीन पियाजे** के अनुसार इस अवस्था मे नैतिकता निर्णय मे अहम् केन्द्रिता का समावेश रहता है। इसमे बालक अपने से बडो का प्रतिवाद नही करता है। बालक में सहयोग करने की योग्यता विद्यमान नही रहती। लगभग दो वर्ष की आयु मे शिशु मे अच्छे बुरे की भावना का विकास होता है। अच्छे तथा बुरे का निर्णय वह सुख तथा दुःख के आधार पर करता है। अन्य वर्ष की आयु में अच्छे तथा बुरे मे भेद सुख तथा दुःख के आधार पर करता है उसकी नैतिकता पुरस्कार व दण्ड से प्रभावित होने लगती है। वे अपने से बडो के नैतिकता व्यवहार का अनुकरण करते है। पॉच वर्ष की आयु मे वह माता पिता द्वारा दिये गये

निर्देशो के अनुसार कार्य करना आरम्भ कर देता है। परन्तु इस अवस्था मे वह यह कार्य अपनी स्वार्थ सिद्धि या अधिक लाभ प्राप्ति के लालच से करता हे।

बाल्यावस्था मे नैतिक विकास
(Moral Development in Childhood)

इस अवस्था में बालक को दूसरो के सामने अपनी इच्छाओ को छोडना पडता है। उमे ज्ञान हो जाता है कि समाज द्वारा बनाये गये नैतिक नियमो का पालन न करने पर उसे बुरा समझा जायेगा। अब तक वह विभिन्न परिस्थितियो मे नैतिक व अनैतिक व्यवहारो को कुछ सीमा तक समझने लगता हे। इस अवस्था तक वह कई सामाजिक समूहा क सदस्य बन जात है। इनमे स्कूल तथा खेल के समूह प्रमुख है। वह अपने समूहो के नियमो व आदर्शो का पालन छ वर्ष की अवस्था से करना प्रारम्भ कर देता है। उसके नैतिक व्यवहारो में वास्तविक नैतिकता कम होती है। जो कुछ सीखा जाता है उसी के अनुसार उनके कार्य होते हैं। उनमे न्याय तथा दूसरो को सम्मान देने की भावना का विकास हो जाता है। वह झूठ बोलना तथा किसी की बुराई करना गलत समझते है। पिकूनस के अनुसार 9 से 10 वर्ष की अवस्था मे बालक दूसरो की आवश्यकताओ को समझने लगता है। खेल के नियमों का पालन करने के महत्व को समझने लगता है। गलत कार्य करने पर यह दण्ड को स्वीकार कर लेता है। अन्य व्यक्तियो द्वारा की गयी आलोचना के प्रति वह सवेदनशील हो जाता है। उसमे अहम् की भावना विकसित हो जाता है। **ब्रेकन रिज** व **विन्सेण्ट** के विचार से इस अवस्था में बालक मे दूसरो की भलाइ की कामना तथा समाज के प्रति प्रेम विकसित हो जाता है। परन्तु फिर भी उसका नैतिक व्यवहार दूसरों के निर्णय पर निर्भर करता है। **लर्नर** तथा **मरफी** (Learner and Murphy, 1941) के अनुसार आठ वर्ष से 10 वर्ष के बालक की दोहरी नैतिकता होती है। जैसे बालक अपने पिता से इतना डरता है कि वह उसकी आज्ञा का उल्लघन करने के विषय में विचार भी नही कर सकता हे। परन्तु वह अपनी माता से कम डरता है। क्योंकि माता उनको ज्यादा प्यार करती है और वह उनकी कमियो की तरफ ज्यादा ध्यान नही देगी। इस भावना के कारण वह माता को आसानी से धोखा देने मे समर्थ होता हैं। **इबरहार्ट** (Eberhart, 1942) के अनुसार, बालक छ वर्ष की आयु में धन पर अधिकार प्रदर्शित करने लगते हैं वे चोरी करने को बुरा मानते है। **पियाजे** (Piaget, 1932) ने लिखा है कि छोटे बालको मे सामाजिक नियमों में रुचि कम होती है परन्तु आगे चलकर इन नियमों में उनकी रुचि बढने लगती है।

किशोरावस्था मे नैतिक विकास
(Moral Development in Adolescence)

स्वेनसन के अनुसार 13 वर्ष से 19 वर्ष की अवस्था मे किशोर के मन मे सघर्ष व तनाव होता है। समाज द्वारा निर्मित नैतिक नियमों का उल्लघन करने में उसे आनन्द की अनुभूति होती है। गैसेल के अनुसार बालक 12 से 16 वर्ष की अवस्था तक बालक मे आन्तरिक वेग जागता है उसी के आधार पर वह नैतिक निर्णय लेता है।

इस अवस्था में अधिकाशत किशोर उच्च मानक बना लेता है। ये उसकी पहुँच से दूर होते है जब उसका व्यवहार मानको के अनुसार नही होता है तो उसमें दोष की भावना विकसित

हा जाती है। उसमे निष्पक्षता विकसित हा जाती है अत जिनका व्यवहार मानको क नीचे गिरा होता है उनके व्यवहार को वह सहन नही कर पाता है। वह स्वय की नतिक शब्दावली विकसित कर लेता है इस नेतिक शब्दावली का विकास बाल्यावस्था की समूह के मूल्यो व विश्वासो के समान होतो है। वह दूसरो के लिए झूठ बोलना बुरा नही समझता है। स्वेनसन क अनुमार किशोरावस्था मे नव किशोर के जीवन मे बडो के आदेशो के पालन न करन की प्रबल भावना तथा सघर्ष व तनाव की स्थिति होने के कारण उसमे नैतिक नियमो का उल्लघन करन की इच्छा उसमे तीव्र हाती है। नव किशोर स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के लिए प्रयासरत रहता है। वह अपने खेल के समूह द्वारा बनाये गये नियमो का पालन ज्यादा निष्ठा से करता है। पिकूनस के अनुसार उत्तर किशोरवस्था मे स्वायत्ता व आत्म नियन्त्रण नैतिक विकास के प्रमुख तत्व माने जाते है किशोर अवस्था मे वह अपने व्यवहार, आचरण, योग्यताओ व कमजोरियो पर ध्यान देने के मजबूर हो जाता है। वह यह निर्णय कर लेता है कि उसे किस प्रकार का व्यक्ति बनना है। वह दूसरो के विचारो को ध्यान मे रखकर अपना मूल्याकन करता है। व्यक्तित्व व नैतिकता उसके अहम् को प्रकट करती है।

हरलॉक (Hurlock) के विचार से उत्तर किशोरावस्था मे अच्छे व बुरे के सप्रत्ययों मे परिवर्तन होते है। परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ में वह अपने नैतिक नियम लागू करन का प्रयास करता है। इसे अवस्था मे नैतिक नियमो मे लिगगत भेद पाये जाते है वे नैतिक नियमो के उल्लघन को गलत कार्य समझने लगते है। उनकी नैतिक विकास उनके मानसिक तथा सामाजिक विकास को प्रभावित करता है।

नैतिक विकास मे अनुशासन का महत्व
(Importance of Discipline in Moral Development)

व्यवहार के स्वीकृत आदर्शो के अनुसार कार्य करना ही अनुशासित व्यवहार हे। एक बालक को अनुशासित जीवन जीने के लिए कुछ आदतो को विकसित करना आवश्यक है।

बालक को समाज मे वह व्यवहार करना चाहिए जिसकी आशा समाज उससे करता है। उसे वाछित कार्य से सुख तथा आवाछित कार्य से दु ख की अनुभूति होनी चाहिए आवाछित कार्यों के स्थान पर वछित कार्यें को महत्व दिया जाना चाहिए।

पुरस्कार या प्रशसा के द्वारा बालक में अनुशासन की भावना विकसित की जा सकती है। परन्तु कभी कभी निन्दा या दण्ड का भी प्रयोग अनुशासन विकसिन करने में सहायक हो सकता है। है प्रशसा या पुरुस्कार निन्दा या दण्ड की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी होता है। **लॉग** (Long, 1914) के अनुसार अनुशासन की भावना के स्थान पर पुरुस्कार, प्रशसा तथा समझाने पर अधिक बल दिया जाना चाहिए।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है। कि अनुशासन की भावना बालक मे विकसित करते समय उसमे नकारात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न न हो। इससे अनुशासनहीनता बढ सकती है तथा नैतिक विकास में बाधा उत्पन्न हो सकती है। **वॉटसन** (Watson, 1934) ने अत्याधक नियन्त्रण तथा कठोर अनुशासन का बालको के ऊपर प्रभाव को वर्णित करते हुए कहा कि बालक पिता के प्रति अरुचि तथा असम्मान अपने मूक उत्तरो द्वारा प्रदर्शित करता है, अध्यापक के प्रति उसमें निरादर की भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, दूसरो के ऊपर निर्भर रहते है स्वय निर्णय लेने की

क्षमता नही रहती है, समाज मे समायोजित नही हो पाते हैं। कठोर अनुशासन के कारण कुसमायोजन बाल अपराध तनाव विकसित होते है। **डोल्गर** तथा **गिनेड्स** (Dolger and Ginnades, 1946) के अनुसार निम्न सामाजिक आर्थिक स्तर के परिवारों के बालक अपने बड़ो की अनुशासन सम्बन्धी सलाह पर अधिक ध्यान देते हैं।

अयर तथा **बर्नरूटर** (Ayer & Bernrouter, 1937) ने निष्कर्ष निकाला कि शारीरिक दण्ड देने से बालक सच्चाई का सामना नही कर पाते है तथा प्रौढो पर स्नेह प्राप्त करने के लिए अधिक निर्भर रहते है। इसके अतिरिक्त डॉटने फटकारने से उनमे पराश्रितता बढती है तथा प्राकृतिक परिणामो से आगे निर्भरता घटती है।

नैतिक विकास मे पुरुस्कार व दण्ड की भूमिका
(The Role of Reward and Punishment in moral Development)

पुरूस्कार (Reward)—पुरुस्कार बालक मे वाछित व्यवहार विकसित करता है। पुरुस्कार प्रशसा के रूप मे भी प्रदान किया जा सकता है। पुरुस्कार व प्रशसा के द्वारा बालक के वाछित व्यवहार का उसके सुख के अनुभव से साहचर्य स्थापित किया जाता है परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि ऐसा न हो कि बालक पुरुस्कार पाने पर ही उचित कार्य करे। प्रशसा के रूप मे सामाजिक सम्मान सबसे आधिक प्रभावशाली पुरुस्कार के रूप मे कार्य करता है।

पुरुस्कार द्वारा बालक गलत व सही कार्यों मे भेद करना सीख जाता है वह उन्ही कार्यों की पुनरावृत्ति करता है जो वाछित होते है। पुरुस्कार के द्वारा प्रतिरोधी व्यवहार बालक मे उत्पन्न नही हो पाता है।

दण्ड (Punishment)—अनुशासित व्यवहार विकसित करने के लिए दण्ड का भी प्रयोग किया जा सकता है। दण्ड द्वारा समूह द्वारा अस्वीकृति कार्यों की बालक द्वारा पुनरावृत्ति को रोका जा सकता है। इसके अतिरिक्त दण्ड द्वारा बालक को यह ज्ञान कराया जाता है कि समूह किस कार्य को गलत तथा किस कार्य को सही मानता है।

बालक को कभी भी गुस्से मे दण्ड नही देना चाहिए। बच्चे को दण्ड व गलत कार्य मे साहचर्य स्थापित करले इसलिए सही समय पर दण्ड दिया जाना आवश्यक है। दण्ड देने से पहले बालक की भावना को समझने का प्रयास करना चाहिए। शायद उसकी गलत भावना को समझने का प्रयास करना चाहिए। शायद उसकी गलत भावना कही जा रही हो सम्भव है कि गलती से उससे कोई आवाछित व्यवहार हो गया हो।

दण्ड देने के पश्चात् बालक को दण्ड देने का कारण बता देना चाहिए। उससे बालक यह महसूस नही करेगा कि वह केवल क्रोध के कारण दण्डित किया गया है।

सामान्य विचार यह है कि शारीरिक दण्ड असामाजिक व्यवहार को रोकने का एक प्रभावशाली तरीका है परन्तु मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि शारीरिक दण्ड दण्ड देने का सतोषजनक तरीका नही है क्योंकि बालक दण्ड की उपयुक्तता को महसूस नही कर पाता है। साधारणतया शारीरिक दण्ड क्रोध मे दिया जाता है। परिणामस्वरूप बालक उस व्यक्ति से

घृणा करने लगता है जो शारीरिक दण्ड देता है। वह केवल दण्ड से सम्बन्धित क्रोध की तरफ ही ध्यान दे पाता है। वह अपने दु खद अनुभव का कारण क्रोध को समझता है।

नैतिक विकास के निर्धारक तत्व

(Determinants of Moral Development)

बालक का वातावरण उसके नैतिक विकास को बहुत प्रभावित करता है। वातावरण के प्रमुख कारक जो नैतिक विकास को प्रभावित करते है निम्नलिखित है—

(1) **परिवार** (Family) – नैतिक विकास मे परिवार का सबसे अधिक योगदान है। **हरलॉक** (Hurlock, 1950) के अनुसार परिवार का व्यवहार बालक के लिए आदर्श होता है। परिवार ही बालक को अनुमोदन या अनानुमोदन तथा पुरस्कार या दण्ड के द्वारा वाछित तथा आवाछित व्यवहार का ज्ञान कराता है। परिवार बालक को उसके गलत कार्यो का परिणाम बताता है। तथा अच्छा व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित करता है। **फाइट** (Fite, 1940) के अनुसार परिवार के स्तर तथा परिस्थितियो का नैतिक विकास पर स्पष्ट प्रभाव पडता है।

मित्र (Friends) – पैक व हैवीघर्स्ट के अनुसार बाल्यावस्था मे बालक अपनी मित्र मण्डली के नैतिक व्यवहारो के अनुरूप कार्य करता है। नैतिक नियमो के विरुद्ध कार्य करने पर उसे बेचैनी का अनुरूप होने लगता है। इस प्रकार आवाछित मित्रो के कारण बालकों मे गलत आदते विकसित हो सकती है। **हीली** तथा **ब्रानर** (Healy and Bronner, 1926) ने 62% बाल अपराधो का कारण गलत सगति बताया है।

(3) **विद्यालय** (Schools) – विद्यालय के नियमो व आदर्शों का बालक के नैतिक विकास पर प्रभाव स्पष्ट देखा गया है। बालक आत्म नियन्त्रण का प्रथम पाठ विद्यालय में सीखता है। बालक प्राय शिक्षको के व्यवहार का अनुसरण शीघ्र करते है। इसलिए अध्यापकों का बालक के नैतिक विकास मे विशेष योगदान है।

(4) **बुद्धि** (Intelligence) – वाछित व अवाछित व्यवहार का निर्णय लेने के लिए बुद्धि की आवश्यकता पडती है फिर भी वृद्धि व नैतिकता मे बहुत घनिष्ठ सह सम्बन्ध नही मिलता है। ईमानदारी तथा बुद्धि मे 50 का सहसम्बन्ध **हार्टशोर्न** ने अपने अध्ययन मे पाया **बर्ट** (Burt, 1925) ने पाया कि 200 अपराधी बालकों मे से केवल 8% की बुद्धि लब्धि 70 से कम थी। स्पष्ट है कि नैतिकता के विकास मे बुद्धि का योगदान होता है। परन्तु यह सम्बन्ध उच्च नही है। यह सत्य है कि उच्च बुद्धि वाले बालक बडों के नैतिक व्यवहार का अनुसरण शीघ्र कर लेते है।

चलचित्र व पुस्तके (Movies and books)—जिस प्रकार चलचित्र वस्त्रो, वार्तालाप के तरीकों को प्रभावित करता है। उसी प्रकार नैतिक व्यवहार भी इससे प्रभावित होता है। किताबे भी बालक के नैतिक व्यवहार को प्रभावित करती है परन्तु यह अभी तक ज्ञात नही हुआ है कि किस सीमा तक किताबे नेतिकता को प्रभावित करती हैं। परन्तु आज चलचित्र का प्रभाव प्रौढों व बालको में स्पष्ट परिलक्षित होता है। वे आधुनिक पोशाकों को पहनना पसन्द करते है। **हीले एव ब्रानर** (Healy and Braner, 1926, 1940) के अनुसार फिल्मो के प्रभाव के फलस्वरूप अपराधी प्रवृत्ति का विकास बहुत कम होता है। परन्तु यह बात भी सत्य है कि बुरे चलचित्र अपराधिक प्रवृत्तियो का विकास करते है।

(6) आयु तथा लिग (Age and sex)—जीवन के आरम्भ से बालकों मे नैतिक भावना परिलक्षित नही होती है। वाछित तथा आवाछित व्यवहार का ज्ञान उन्हे आयु के साथ-साथ होने लगता है। प्रारम्भ मे आवाछित आदत जैसे—किसी दूसरे, बालक का खिलौने बिना पूछे ले लेना उसे तोड देना आदि आदते अधिक होती है परन्तु नैतिक भावना के विकास के साथ वाछित व्यवहार आवाछित व्यवहार का स्थान ले लेता है। प्राय 3 से 4 वर्ष के बालको मे अवाछित व्यवहार अधिक होता है।

लॉग के अनुसार 3 4 वर्ष की आयु में बालिकाओ की अपेक्षा बालक अधिक आक्रामक व शकालु होते है तथा बालिकाये अपनी इच्छा की पूर्ति मे बालकों से अधिक रुचि लेती है। बालक 7 से 10 वर्ष की आयु मे अधिक क्रोधी व्यवहार प्रदर्शित करते है।

●

13 सामाजिक विकास
(Social Development)

हरलॉक (Hurlock,1950) न सामाजिक विकास को परिभाषित करने हुए कहा है सामाजिक विकास का तात्पर्य मामाजिक सम्बन्धो परिपक्वता के प्राप्त करने से है। इसमें नवीन व्यवहारो का विकास रुचियो मे परिवर्तन एव नवीन प्रकार के मित्रो का चयन भी सम्मिलित है। सामाजिक व्यक्ति वह है जो केवल अन्य लोगो क साथ होना ही नही चाहना हे। बल्कि उनके लिए कुछ करना भा चाहता है। उनके अपने शब्दा मे—

" Social development means the attaining of maturity of social relationships This involves the development of new types of behaviour, a change in interests and the choice of new types of friends The social individual is one who has not only wants to be with others but who warts to do things with them "

सोरेन्सन (1936) ने अपनी तथा दूसरो के माथ भली प्रकार चलने की बढती हुई योग्यता दूसरो के साथ अच्छा व्यवहार करने तथा अपने पेरों पर खडें होने की योग्यता को सामाजिक विकास कहा है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जिस प्रकार एक प्रौढ अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरो पर निर्भर रहता है। उसी प्रकार एक बालक भी दूसरो पर आश्रित होता है। जैस जैसे वह बडा होता हे उसकी निर्भरता कम होती जाती है। फिर भी वह दूसरों से अलग नही रह पाता है। इसलिए उसका अन्य लोगो से सम्पर्क बढ जाता है।

बालक का पूण विकास उसके इन सामाजिक सम्पर्को से प्रभावित होता है। बालक परिवार मे होता है। इसलिए उसकी आदते व अभिवृत्तियाँ इसके विकास मे महत्वपूर्ण स्थान रखती है क्योकि इनके आधार पर ही वह विभिन्न सामाजिक उद्दीपको के प्रति प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करता है।

सामाजिक विकास की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Development)

सामाजिक विकास की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हे जो बच्चो द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं।

1 प्रारम्भिक सामाजिक अनुक्रियाएँ (Early Social Responses) — जन्म के समय बच्चा असामाजिक होता है परन्तु जैसे जैसे उसकी उम्र मे वृद्धि होती है वह वातावरण के सम्पर्क मे आता है तथा उसके प्रति अपनी अनुक्रियाएँ प्रदर्शित करता है। सर्वप्रथम बच्चा माँ के सम्पर्क मे जन्मोपरान्त आता है। माँ को देखकर मुस्कारना ही उसका सर्वप्रथम सामाजिक

सम्पर्क कहा जा सकता है। (cook 1934) । धीरे धीरे उसका सम्पर्क बढता है वह उनके प्रति अपनी अनुक्रियाएँ प्रदर्शित करता है। वह अपना तथा पराये मे अन्तर करने लगता है यह अन्तर करना ही सामाजिक विकास का प्रथम चरण कहा जा सकता है।

2 **अन्य बालकों के साथ अनुक्रिया** (Responses to other Children) बालक में आयु एव अनुभव मे वृद्धि के फलस्वरूप वह समाज के अन्य बालको के सम्पर्क मे आता है। तथा उनके प्रति प्रतिक्रिया करता है। इस प्रतिक्रिया के माध्यम से बच्चो मे सुखद एव दुखद अनुभूतियाँ जन्म लेती ह। **भावतरी** तथा **नेकुला** के अध्ययन के परिणामों से यह पता चलता है कि नौ मास तक की आयु के बच्चों में अनुक्रिया के प्रति प्रतिक्रिया का प्रदर्शन नही मिलता है। 14 मास के बच्चे परस्पर लेनदेन (Exchange) की अनुक्रिया करते हैं

3 **सामूहिक क्रियाये** (Group activities) – तीन वर्ष की आयु के पश्चात् बालक का सामाजिक विकास अवाधगनि से बढता है। वह सामूहिक क्रियाकलापो में भाग लेता है। खेलना आरम्भ करता है। टोली के बच्चो के साथ खेलना ज्यादा पसन्द करता है। 6 वर्ष की आयु में बालक की सामूहिक क्रियाओ की मात्रा मे तथा उनको सक्रिय रूप से सहभागी बनने की क्रिया मे वृद्धि होती है।

4 **प्रतिरोधी व्यवहार** (Resistant Behaviour) – सामाजिक व्यवहार के साथ साथ बच्चो में प्रतिरोधी व्यवहार भी परिलक्षित होते है। कभी कभी समूह मे खेलते समय बच्चा अपनी खेल सामग्री आनन्द लेकर क्रीडास्थान छोड देता है तथा यह प्रदर्शित करता है कि मुझे अब नही खेलना है। इस प्रकार एक व्यवहार कभी तर्क का रूप धारण कर लेता है। और वे किसी व्यवहार को प्रदर्शित करने से पूर्व तर्क करने लग जाते हे।

5 **सामाजिक प्रतिबोध** (Social understanding) बालक मे सामाजिक समझ या प्रतिबोध का प्रदर्शन होना उसके सामाजिक विकास की महत्वपूर्ण प्रक्रिया कही जा सकती है। बालक की सामाजिक परिपक्वता सामाजिक समझ के ही कारण होती है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत बालक स्वाभाविक एव अर्जित व्यवहारों को सीखता है तथा किसी नवीन परिस्थिति के आने पर उसके अनुरूप व्यवहार करता है। उसमे प्रतिरोध स्पर्धा, सहयोग आदि भाव विकसित होते है।

6 **सहानुभूति** (Sympathy) – आयु एव परिपक्वता तथा अनुभव में वृद्धि के फलस्वरूप सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने की इच्छा प्रबल हो जाती है। वह सहानुभूति व्यवहार अक्सर प्रदर्शित करता है तथा अपने प्रति भी सहानुभूति चाहता है।

7 **सहयोग** (cooperation) – सहयोग प्रदर्शन भी सामाजिक विकास की विशेषता है। बच्चे खेलते समय सहयोग प्रदर्शन करते हैं सहयोग सामाजिक विकास तथा सामाजिक समायोजन का एक आमन्त्रित अग है। सहयोग की भावना के विकास से बालक मे मित्रता एव शत्रुता जन्म लेती है। मित्रता से सह अस्तित्व तथा शत्रुता से सुरक्षा दोनो ही बालक के सामाजिक पक्ष को विकसित करने में सहायक होते है।

8 **प्रतिस्पर्धा** (Competition) – सामाजिक विकास मे प्रतिस्पर्धा का व्यवहार भी प्रदर्शित होता है। विद्यालयी वातावरण में सर्वोच्च अक पाने तथा सामाजिक क्रियाकलापों में बढचढकर भाग लेने में प्रतिद्वन्द्वो से प्रतिस्पर्धा का प्रदर्शन होता है।

विभिन्न अवस्थाओ मे सामाजिक विकास
(Social Development in Different Stages)

सामाजिक विकास मे शशवावस्था (Social Development in infancy)—जन्म के समय शिशु असामाजिक प्रतीत होता है उसे अन्य व्यक्तियों मे कोई रुचि नही होती है वह सजीव व निर्जीव मे अन्तर नही समझता है।

दो माह की आयु मे बालक केवल तीव्र उद्दीपको के प्रति प्रतिक्रिया प्रकट करता है जैसे— तेज ध्वनि, तेज प्रकाश। वह मानव की आवाज तथा अन्य ध्वनियों में अन्तर नही कर पाता है। तीन माह की आयु के पश्चात् बालक का सामाजिक विकास स्पष्ट होता है। अब यदि वह अकेला छोड दिया जाये तो रोने लगता है तथा दूसरे लोगों के साथ मे सन्तुष्टि का अनुभव करता है। आवाज तथा अन्य ध्वनियों मे अन्तर नही कर सकता है। तीन माह की आयु के पश्चात् बालक, का सामाजिक विकाम स्पष्ट होता है। अब यदि वह अकेला छोड दिया जाय तो रोने लगता है तथा दूसरे लोगो के साथ मे सन्तुष्टि का अनुभव करता है।

दो माह की अवस्था म वह रोना बन्द कर देता है। यदि उसे गोद में ले लिया जाये। तीन माह की आयु के पश्चात् वह समझने लगता है कि यदि वह रोयेगा तो उसके पास कोई आ जायेगा। इस आयु मे बालक अपनी माता अथवा परिचायिका को पहचानता प्रारम्भ कर देना है।

चार माह की अवस्था मे वह कमरे से बाहर जाने वाले व्यक्ति को देखने का प्रयास करने लगता है। किसी को मुस्कराते देखकर वह मुस्कराने लगता है तथा किसी के चेहरे को ध्यान से देख सकता है। (Walff, 1963)।

पॉच या छ माह की आयु में बालक क्रोध तथा प्रेम को समझना प्रारम्भ कर देता है। गुस्से की आवाज सुनकर वह रोना शुरू कर सकता है। इस अवस्था मे वह विभिन्न प्रकार की गतियॉ दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कर सकता है। (Bell & Ainsworth 1972, stewort, 1973, Belsky, Rovine & Taylor (1984)।

सात माह की अवस्था में परिवार के करीबी लोगो को पहचानने लगता है तथा अजनबियों से डरता है। आठ या नौ माह की अवस्था मे वह दूसरे लोगों की आवाज का अनुकरण करने लगता है। एक वर्ष की आयु में यदि उसे कोई कार्य न करने दिया जाये तो वह उससे पीछे हट जाता है।

आठ या नौ माह की अवस्था मे दूसरे बालक के हाथ से कोई वस्तु खीच सकता है। नौ से 10 वर्ष की अवस्था मे बालक दूसरे बालक के बाल खीच लेता है।

दो वर्ष की अवस्था मे बालक दूसरो के साथ सहयोग करने लगता है। इस प्रकार उसका सामाजिक विकास तेजी से शुरू ही जाता है। तेरह से अठारह माह की अवस्था में खिलौनों के अतिरिक्त अपने खेल के साथियो में भी रुचि लेना आरम्भ कर देता है दो वर्ष की अवस्था मे उसमें दूसरे बालकों के साथ खेलने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। दूसरो के साथ खेलने के लिए वह अपने व्यवहार मे भी आवश्यक परिवर्तन लाना शुरू कर देता है। इस अवस्था मे खाना, कपडे पहनना तथा खिलौनो से खेलना आरम्भ कर देता है।

पूर्व बाल्यावस्था मे सामाजिक विकास (Social Development in Early Childhood)—शैशवावस्था की अपेक्षा इस अवस्था मे बालक का सामाजिक विकास तीव्र

गति मे होता है 2 वर्ष से 6 वर्ष की आयु तक सामाजिक समायोजन काफी सीमा तक पूर्ण हो जाता ह । जब बालक पॉच या छ वर्ष का होता है वह प्रौढो के साथ रहना उतना पसन्द नही करता हे जितना कि व शेशवावस्था मे करता है । जैसे-जैसे वह बडा होता उसकी रुचि अपनी आयु के बालको मे बढने लगती है । बॉट (Bott, 1928) के अनुसार पॉच या छ वर्ष का अवस्था मे बालक का प्रौढो से सम्बन्ध केवल वार्तालाप तक सीमित रहता हे । इस अवस्था में वह दूसरो के साथ खेलना व कार्य करना प्रारम्भ कर देता है । अत वह दूसरो से केवल प्रशसा प्राप्त करना चाहता है । वह यह कदापि नही चाहता कि बडे लोग उसके कार्य की निन्दा करें। इस प्रकार इस अवस्था मे बालक के ऊपर नियन्त्रण करना कठिन हो जाता है ।

दो वर्ष का बालक प्राय अकेले ही अपने खेल मे व्यस्त रहता है । तीन से चार वर्ष की आयु मे बालक सामाजिक खेलो मे अधिक हिस्सा लेने लगता है । अब वे अपनी रुचि से अपने खेल के साथियो को चुनना आरम्भ कर देता है । अन्य बालका के साथ खेलने के कारण बालक दूसरे बालको के साथ व्यवहार करना तथा उनके साथ अपनी वस्तुओ को बॉटना सीख जाता है । दूसरो के शब्दो तथा क्रियाओ का अनुकरण करके बालक स्वय को दूसरो के जैसा बनाना चाहता है । जिससे समूह के सदस्य उसे स्वीकार कर ले । सामाजिक प्रशसा तथा सम्मान प्राप्त करने के लिए वह केवल वही कार्य करता है । जो समाज द्वारा स्वीकृत हो ।

इस अवस्था मे बालक अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी बात को स्वीकार नही करता है। चार वर्ष की अवस्था मे उसके इस व्यवहार मे कमी आ जाती है । अब वह यह समझने लगता है । कि बडो की आज्ञा का पालन करने मे उसकी भलाई है । उसके अन्दर ईर्ष्या तथा प्रतियोगिता की भावना भी दृष्टिगत होती है । इस कारण वह प्रशसा प्राप्त करने के लिए अन्य बालकों से प्रत्येक काय मे आगे निकलना चाहता है । (Dunn, Plomin & Daniels, 1986) ।

इस अवस्था मे बालक साथ साथ खेलते भी है । तथा झगडा भी करते है क्योकि तब तक उनमे खेल मे सहयोग की प्रवृत्ति विकसित नही होती है । परन्तु बालको मे झगडा केवल सक्षिप्त समय के लिए होता है । ओर बाद मे फिर वे मित्र बन जाते है **ऐपल** (Appel, 1942) के अनुसार चार वर्ष का बालक दो वर्ष के बालक की अपेक्षा अधिक लडता हे तथा बडे बालक झगडे में अधिक भय प्रदर्शित करते हैं । जैसे जैसे वे बडे होते है उनके झगड कम होते जाते हैं (Seegal & lowen, 1984)

दूसरों पर अपना प्रभाव प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति बालको मे इस अवस्था मे स्पष्ट परिलक्षित होती है । दूसरो को बुलाने, आदेश देने तथा दूसरे बालकों के खिलौने छीन लेने में बालक का प्रभुत्व पूर्ण व्यवहार प्रदर्शित होता है । बालिकाओ मे यह प्रवृत्ति बालकों की अपेक्षा अधिक देखी गयी है । (Seigal & Barelay, 1985) ।

प्रारम्भ मे बालक स्वार्थी होता है परन्तु सामाजिक विकास के साथ उसकी स्वार्थ की प्रवृत्ति कम होने लगती है । उसमे दूसरो के दु ख को देखकर सहानुभूति की भावना तीन वर्ष की अवस्था के पश्चात् विकसित होती है। बालिकाये बालकों की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिपूर्ण होती है ।

उत्तर बाल्यावस्था मे सामाजिक विकास (Social Development in Late Childhood)—इस अवस्था मे बालक विद्यालय जाना आरम्भ कर देता है । इसलिए उसके

सामाजिक व्यवहार मे बहुत परिवर्तन होता है। वह अन्य बालकों के सम्पर्क मे आता है। वह उनके माथ खेलना पसन्द करता है। वह अपनी आयु से बडे लागों के साथ समय बिताना पसन्द नही करना है। समूह मे खेलना उसे अच्छा लगता है। अत वह अपने समूह स सामाजिक व्यवहार अपने समूह से सीखता है। (Hatlip, 1983, Picher and schultz 1984) छ से बारह वर्ष की आयु बाल्यावस्था की अन्तिम अवस्था होती है। इस अवस्था मे बालक अपने लिग के बालकों के साथ रहने मे आनन्द प्राप्त करते हैं। समूह का उनके जीवन पर गहरा प्रभव होता है। वह समूह के अनुसार वस्त्र पहनता है, उसी के अनुसार उसके अच्छे तया बुरे के प्रति विचार हाते हैं। समूह का प्रभाव बालिकाओ की अपेक्षा बालको पर अधिक होता है। क्योकि बालिकाओ को समूह मे घूमने की कम स्वतन्त्रता होती है। यद्यपि वे भी समूह का निमाण करती है। परन्तु केवल अपने आस पडोस मे रहने वाली बालिकाओ के साथ समूह का निर्माण करती है। समूह का प्रत्येक सदस्य समूह के आदर्शों के लिए कुछ बलिदान करने के लिए तैयार रहता है। वह समूह का सदस्य बने रहने मे आनन्द का अनुभव करता है। वह दूसरो से अपने समूह के क्रिया कलापो को गुप्त रखना चाहते है। (Walelrop & Halverson, 1975)

इस अवस्था मे बालक सकेतों से निर्देशित होता हे। वह समूह के नायक के आदेशो तथा निर्देशो को मानने का पूर्ण प्रयास करता है तथा बडो की बात को नही मानता है।

उनमे प्रतिद्विन्द्विता की भावना तीव्र होती हें। इस कारण बालको में अक्सर झगडे होते है। **गैरीसन** के अनुसार इस अवस्था में बालक एक दूसरे को पछाडने का प्रयास करते है। (Aymen & Nolley, 1985, Brady, Nawcods & Hartup, 1983) इस अवस्था मे बालक मित्रो की अपेक्षा अपरिचितो के साथ अधिक सहानुभूति प्रदर्शित करते है। हर सम्भव सहायता वह करने के लिए तैयार रहता है।

इस अवस्था मे नेतृत्व विकास भी बालकों मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। क्रेच क्रचफील्ड तथा बैलकी (Krech, Crutchfield & Ballachey, 1962) के अनुसार "किसी समूह या सगठन का नेता वह सदस्य होता है जो समूह के सदस्यो के व्यवहारों को अत्यधिक प्रभावित करता है तथा समूह के लक्ष्यो की परिभाषित करने और समूह की विचारधारा को निर्धारित करने मे मुख्य भूमिका निभाता है।" समूह में जो बालक अधिक शक्तिशाली होता है वह नेता बन जाता है। यह प्रवृत्ति उत्तर बाल्यावस्था में स्पष्ट दिखायी देती है। इस अवस्था मे नेतृत्व की उत्पत्ति तथा विकास पर व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक तथा अभिप्रेरणा आदि कारकों का स्पष्ट प्रभाव पडता है। नेता समूह के अन्य सदस्यो से अधिक गुणवान होता है। (Vauyghn & Longlois, 1983)

किशोरावस्था मे सामाजिक विकास (Social Development in adolescence)—बालिकाओं 13 वर्ष के आस पास तथा बालकों में करीब चौदह वर्ष की आयु मे कुछ असामाजिक व्यवहार प्रदर्शित होते हैं। परन्तु यह प्रवृत्ति ज्यादा लम्बे समय तक नही चलती। यह प्रवृत्ति बालिकाओं में केवल तीन चार माह तक तथा बालकों में कुछ थोडे लम्बे समय तक चलती है।

किशोर विभिन्न रुचियों तथा दृष्टिकोण वाले अनेक समूहों से सम्बन्ध रखते हैं। वह व्यस्कों से व्यवहार करना सीख जाता है। उनके सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है।

इस अवस्था मे सामाजिक क्रिया कलाप विपरीत लिग के व्यक्तियो से करना उन्हे अच्छा लगता है। मित्रता के बन्धन गहरे हो जाते है तथा यह मित्रता अपने समान गुणा वाले व्यक्तियों से होती है। (Caier and whitc, 1965)।

किशोर व किशोरियो मे सामाजिक स्वीकरण प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होती है। यह सामाजिक स्वीकरण लोकप्रियता की मात्रा के अनुसार मिलता है अपने समूह या लोगो के समूह द्वारा न अपनाये जाने पर अधिकाशत किशोर निराश हो जाते हैं। जो सामाजिक व्यवहार में कुशल होते है। तथा सामाजिक कार्य में रुचि लेते हैं वे बहिर्मुखी (Extrovert) होते हैं (Crikszentmishalzi & Larson 1984, Dumphy, 1963)।

उत्तर किशोरावस्था मे मित्रो की सख्या घटने लगती है **हरलॉक** (Hurlock 1950) के अनुसार इस अवस्था मे नई प्रवृत्तियो के विकास के परिणामस्वरूप विषमलिगियो के बीच की दूरी कम हो जाती है। इस अवस्था में वे तभी समायोजित हो पाते है जब उन्ह सामाजिक स्वीकृति उपलब्ध हो जाती है। वह अपने विषय मे धारणा दूसरे व्यक्तियो के व्यवहार के आधार पर बनाता है। (Johnson, 1983)

इस अवस्था मे किशोर-किशारियाँ अध्ययन या हवाई किले बनाने मे अपना समय व्यतीत करते हैं अकेले मे वे यह सोचते हैं कि कोई उन्हे प्रेम नही करता और उनके जीवन में कोई खुशी नही है। इस प्रकार की भावना उनकी विशेष शारीरिक दशा के कारण होती है।

सामाजिक विकास के निर्धारक

(Determinants of Social Development)

1 **सामाजिक प्रसिद्धि** (Social Popularity) – वातावरण में उपयुक्त समायोजन के लिए सामाजिक प्रसिद्धि बालक के लिए बहुत आवश्यक है। सामाजिक प्रसिद्धि का अर्थ है। बालक को अपने समूह मे प्रशसा प्राप्त होना। बालक जितनी अधिक अपनी पहचान बना लेता है उतना ही अधिक वह अपने वातावरण में समायोजित हो जाता है। तथा बालक के व्यक्तित्व का विकास उसके वातावरण मे उपयुक्त समायोजन पर निर्भर करता है।

प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए आवश्यक गुण विकास की विभिन्न अवस्थाओ के अनुसार अलग-अलग होते हैं बालक की अपने समूह मे प्रसिद्धि उसके कार्य पर निर्भर करती है। यँदि बालक समूह-समूह के आदर्शों के अनुसार कोई कार्य करने में सफल हो जाता है। समूह द्वारा उसे सम्मान प्राप्त होता है। कोच (Koch, 1933) ने अपने अध्ययन में पाया कि मेधावी बालक औसत बुद्धि वाले बालकों से अधिक प्रसिद्ध होते हैं स्वस्थ बालक समायोजन आसानी से कर लेते हैं अत वे समूह मे प्रसिद्ध हो जाते हैं।

2 **शारीरिक सरचना** (Physical Structure)शारीरिक दोषों से युक्त बालक का सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। वे अवसरो का उचित लाभ नही उठा पाते हैं। समूह के अन्य बालक उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। इससे उनमे हीनता ग्रन्थि (Inferiority complex) विकसित हो जाती है। वे अन्तर्मुखी (Introvert) हो जाते हैं। **हार्डी** (Hardy, 1937) ने भी पाया कि शारीरिक स्वास्थ्य का सामाजिक विकास से गहरा सम्बन्ध है। स्वस्थ बालक समाज द्वारा प्रदान अवसरो का उचित लाभ उठाते है। इस प्रकार उनका सामाजिक विकास शीघ्र होता है।

(2) **परिवार** (Family) — छोटे परिवारा म ग्रालका पर ग्रडा का पूरा ध्यान रहता ह बालको को व्यवहारिक निर्देश अधिक दिये जात ह। जबकि बड परिवारो मे इसके विपरीत होता है। इस कारण वे समाज मे समायोजित नही हा पाते है। उनक सामाजिक व्यवहार मे परिपक्वता नही हो पाती है। इसके अतिरिक्त विघटित परिवारो क बालको का व्यक्तित्व सगठित नही होता है। इस कारण उनमे सामाजिक परिपक्वता नही आ पाती है।

(3) **बुद्धि** (Intelligence) — बुद्धि सामाजिक विकास को प्रभावित करता है। **कॉच** (Koch, 1933) के अनुसार प्रतिभासम्पन्न बालक के अनुसार प्रतिभासम्पन्न बालक सामान्य या मन्द बालको की तुलना मे सामाजिक विकास मे सफल होते है। उच्च बुद्धि होने के कारण वे आसानी से समायोजन स्थापित कर लेते है। एमे बालक विद्यालय मे भी अधिक सफलता प्राप्त कर लेते है।

(4) **व्यक्तित्व** (Personality) — उपयुक्तशील गुणो के अभाव मे बालक समाज मे ठीक से समायोजित नही हो पाते है। **बानी** (Bani, 1942) ने निष्कर्ष दिया कि आकर्षक प्रसन्न मुद्रा वाले, दयालु तथा सहयोगी प्रवृत्ति वाले समाज, मे अधिक समायोजित हो जाते है।

(5) **अध्यापक व मित्र** (Teachers and friends) — घर के बाद बालक विद्यालय मे अपना अधिकाश समय व्यतीत करता है। यदि वहाँ उन्हे मित्र व अध्यापक मिल जाये तो उसका सामाजिक विकास ठीक प्रकार से होता है। अध्यापक मित्रवत हो तो वह अन्तर्मुखी नही हो पाता है बालक शिक्षक के व्यवहार का अनुसरण करता है उनके निर्देशन मे वह अच्छी आदते विकसित करता है। मित्र की आदतों तथा व्यवहार का भी बालक के ऊपर गहरा प्रभाव पडता है।

(6) **मनोरजन** (Recreation) — सामाजिक विकास के लिए सामूहिक खेल कूद या अन्य प्रकार के उत्सव खेल कूद या अन्य प्रकार के उत्सव क्रियाओ औरा कार्यक्रमो का समय समय पर आयोजन होना चाहिए। इससे उन्हे अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। इन सुविधाओ से वचित बालकों मे सामाजिक विकास की प्रक्रिया मन्द हो जाती है। मनोरजन के दोषपूर्ण साधनों का प्रयोग करने से बालक में गलत आदत विकसित हो जाती है।

सामाजिक विकास के मापदण्ड

(Criteria of Social Development)

यह ज्ञात करने के लिए कि उपयुक्त स्तर का सामाजिक विकास बालको मे भी हो पाया है कि नही इसके लिए कुछ मापदण्डो का उपयोग आवश्यक होता है। इन मापदण्डो को उपयोग सामाजिक विकास के मापनो के रूप में किया जा सकता है ये मापदण्ड निम्नलिखित है—

1 **सामाजिक अन्तरक्रिया** (Social Interaction) — जैसा कि यह सर्वविदित है कि व्यक्ति का सामाजिक विकास पूर्णत सामाजिक अन्तरक्रिया पर निर्भर करता है। इस अन्तरक्रिया के समय एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार से परिचित होता है। इसी परिचय के समय व्यक्ति उस व्यवहार को माडल के रूप मे आत्मसात करने का प्रयास करता है। अत यह भी देखा जाता है कि यदि जन्मोपरान्त व्यक्ति को समाज से दूर कर दिया जाय तो उसका सामाजिक विकास सामाजिक वचन के कारण नही हो पाता है। इसलिए सामाजिक अन्तक्रिया से सामाजिक विस्तार बढता है और इस सामाजिक विस्तार के फलस्वरूप व्यक्ति एक निश्चित

प्रतिमान प्रदर्शित करता है जिसमे उसका व्यवहार निर्धारित एव निर्दशित होता है। जन्मोपरान्त यह सामाजिक अन्तक्रिया आरम्भ होती है और जीवन पर्यन्त प्रत्येक अवस्थाओ से होकर चलती रहती है। यह प्रक्रिया कभी समाप्त नही होती है। अत इस सम्बन्ध मे यह कहना ज्यादा उचित होगा कि बच्चो को समाजिक अन्तक्रिया का सुअवसर प्रदान करना चाहिए जिमस वे अपने सामाजिक विकाम की नीव डाल सके।

2 **सामाजिक सहभागिता** (Social Participation)—सामाजिक सहभागिता को सामाजिक विकास के मापदण्ड के रूप मे उपयोग किया जाता है। सामाजिक सहभागिता तन्त्र का शाब्दिक अर्थ यह होता है कि व्यक्तियो को समाज के क्रिया कलापो मे भागीदारी प्रदर्शित करना। जिन व्यक्तियों को जितना अधिक सामाजिक क्रियाकलापो मे सहभागी होने का अवसर मिलता है उन व्यक्तियो का सामाजिक विकास शीघ्र होता है। इस तरह से माता पिता तथा अभिभावको को यह चाहिए कि बच्चो को समाज के क्रियाकलापो उत्सवो जलसों आदि मे भाग लेने का पूर्ण अवसर देना चाहिए जिससे उनका सामाजिक विकास समुचित ढग से हो सके।

3 **सामाजिक समायोजन** (Social Adjustment)—प्राय ऐसा देखा जाता है कि बच्चे सामाजिक परिस्थितियो मे शीघ्र समायोजन करने मे असमर्थ होते है अत सामाजिक समायोजन सामाजिक विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सामाजिक समायोजन को सामाजिक विकास के मापक के रूप मे उपयोग किया जाता है। नवीन परिस्थितियों के साथ समायोजन प्रदर्शित करना सामाजिक विकास का प्रदर्शित करना है। अत यह कहना उचित होगा कि बच्चों को सामाजिक समायोजन के लिए प्रेरित करना चाहिए। सामाजिक समायोजन के दृष्टिकोण से जो बच्चे असफल होते है उनका सामाजिक व्यवहार का प्रदर्शन भी ठीक से नही होता है। विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहार करना पूर्णत सामाजिक समायोजन पर निर्भर करता है तथा यही सामाजिक समायोजन सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करने में सहायक होता है।

4 **सामाजिक अनुरूपता** (Social conformity)—सामाजिक व्यवहार मे सामाजिक अनुरूपता का अत्यधिक महत्व होता है। अनुरूपता या समरूपता पूर्णत सामाजिक दबाव का परिणाम होती है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि जब बच्चे कोई कार्य समूह के साथ करते है परन्तु समूह एव बच्चे के कार्यों तथा निर्णयो में अन्तर होता है तो बच्चे मे सघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। इस सघर्ष का निराकरण तब तक नहीं हो सकता है जब तक कि बच्चा समूह के अनुरूप अपना कार्य या निर्णय परिवर्तित न करले। ऐसा करने से एक प्रमुख लाभ यह होता है कि बच्चे का मानसिक तनाव या उलझन समाप्त हो जाता है तथा वह समूह द्वारा प्रशसा का पात्र बनता है। मुख्यतया इन्ही कारणो से सामाजिक अनुरूपता व्यवहार में प्रदर्शित होती है।' अत सामाजिक अनुरूपता सामाजिक विकास के मापक के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

5 **सामाजिक परिपक्वता** (Social maturity)—बच्चो का व्यवहार सामाजिक तौर पर अपने माता पिता, भाई बहिन, स्कूल के साथियो तथा अध्यापको के उचित मार्गदर्शन से परिपक्वता आती है। बालकों के सामाजिक विकास का प्रमुख लक्ष्य उनके अन्दर सामाजिक परिपक्वता का विकास करना है। सामाजिक परिपक्वता का अर्थ यह होता है कि बच्चे को यह

ज्ञान हो जाये कि किस सामाजिक परिस्थितियो मे कैसा व्यवहार करना है। सामाजिक विकास के अन्तर्गत बच्चा नयी व्यवहारों का अर्जन, प्राचीन व्यवहारों का परिमार्जन तथा रुचियो में परिवर्तन तथा मित्रमडली का चयन इत्यादि व्यवहार देखे जात हैं। यदि बच्चे का सामाजिक व्यवहार सामाजिक परिस्थितियो के अनुरूप है तो यह मान लिया जाता हे कि बच्चे में सामाजिक परिपक्वता है। इस तरह से सामाजिक परिपक्वता एव सामाजिक विकास मे धनात्मक सह सम्बन्ध हे। जब बच्चा किशोरावस्था मे पहुॅचता है तब वह स्वय जिम्मेदारीपूर्ण कार्या को करने विशिष्टकार्यो को सम्पादित करने पर प्रशसा प्राप्त करने तथा अधिक से अधिक बडे लोगो के साथ रहने के लिए इच्छुक रहता है। किशोर अपने विषय में स्वय निर्णय लेने, छोटे बालको को मार्ग निर्देशन करने हेतु भी मानसिक रूप से तैयार होना पडता हैं। इन सभी कार्यो को जिम्मेदारीपूर्ण से सम्पन्न करने मे वह सामाजिक परिपक्वता का प्रदर्शन करता है। अपने से वरिष्ठ सदस्यो एव मित्रो के प्रति वह उन्ही के अनुरूप स्वभाव, व्यवहार एव उम्र के अनुसार व्यवहार करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। यही सही अर्थों में सामाजिक रूप से परिपक्व व्यक्ति की पहचान है। इस प्रकार सामाजिक परिपक्वता सामाजिक रूप व्यवहार का एक प्रमुख मापक है।

●

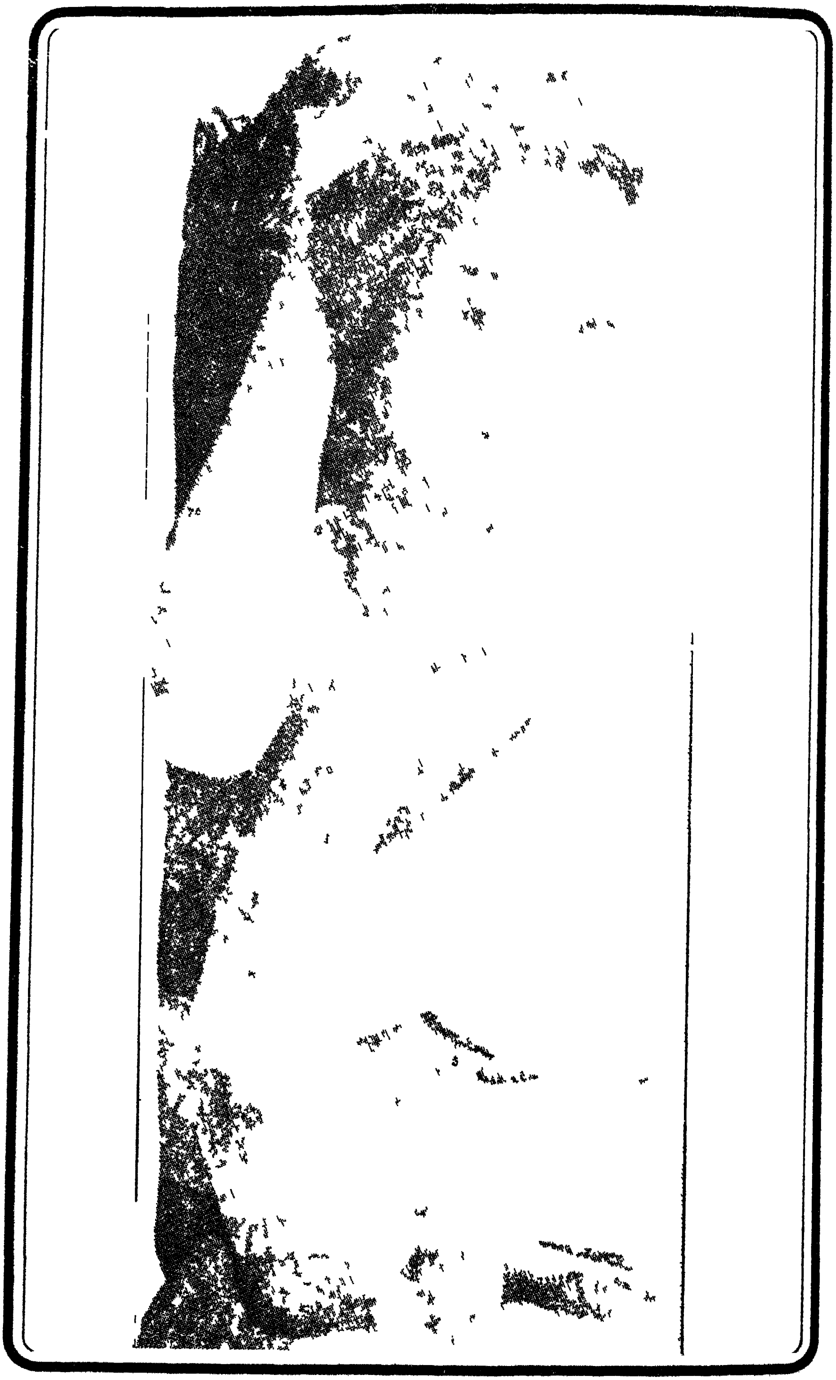

14 किशोरावस्था : विशेषताएँ, समस्याएँ एवम् व्यवहार
(Adolescence : Characteristics, Problems and Behaviours)

मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं की तरह किशोरावस्था एक महत्वपूर्ण अवस्था ानी जाती है। किशोरावस्था के दरम्यान घटित होने वाले व्यवहारों एव समस्याओ पर अनेक ोधकर्ताओ ने अपना ध्यान आकर्षित किया है (हाल, 1904, डेनियल्स 1893, लैंकास्टर 897, स्टारकुल 1899, राबर्टन, 1931, म्यूलर, 1932, मिल्स 1937 मेरेडिम 1967, वेली 956, ड्वायर एवम मेयर 1968, 1969, हॉक 1970, टैनर 1972, ब्रोवर मैन एव उसके हयोगी 1964, हरवर्ट, लोइस एवम् स्टोल्ज, 1951, म्यूस 1970 स्वेल 1967, विगिम्स, वगिम्स एवम् झागर 1968) तथा सम्प्रति अन्य मनोवैज्ञानिक भी इस दिशा में कार्यरत है। कशोरावस्था पर न केवल मनोवैज्ञानिक ही अपना ध्यान आकर्षित किये है बल्कि मानवशास्त्री, माजशास्त्री, जीवनशास्त्री, शिक्षाशास्त्री एव चिकित्साविद भी अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु अध्ययन कर रहे हैं। सही अर्थों मे किशोरावस्था पर अध्ययन करके उनकी समस्याओ एव वशेषताओ तथा व्यवहारो का समुचित विश्लेषण किया जा सकता है।

किशोरावस्था जो अंग्रेजी के Adolescence शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है इसकी त्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द Adolesceare से हुई है। जिसका अर्थ परिपक्वता की और ढने (to grow or to grow to maturity) से लिया जाता है। प्राचीनकाल में यौवनारम्भ व किशोरावस्था को एक ही माना जाता रहा है तथा सन्तानोपत्ति की क्षमता ग्रहण कर लेने के श्चात् किशोरो को प्रौढ की सज्ञा दे दी जाती थी परन्तु आज उसका क्षेत्र व्यापक हो गया है था इसमें केवल शारीरिक परिपक्वता ही नही बल्कि मानसिक, सामाजिक सवेगिक रिपक्तवता की विशेषताएँ सयुक्त रूप से होती है **होराक्स** (Horrocks, 1954) ने कशोरावस्था को परिभाषित करते हुए यह लिखा है कि यौवनारम्भ से सन्तानोपत्ति की क्षमता दर्शित होने के बीच की अवधि को किशोरावस्था कहा जाता है। जैसा कि सर्वविदित है कि डकियो मे यौवनारम्भ (Puberty, 12 15) वर्ष के बीच आता है जबकि लडकों में यह 1-2 र्ष बाद यानि 13 14 वर्ष में शुरू होता है। किशोरावस्था परिवर्तन की अवस्था भी मानी ाती हैं क्योकि इस अवस्था में दैहिक परिवर्तन के साथ-साथ रुचियों, सवेगों एव व्यवहारों में ी परिवर्तन दिखायी पडता है। **हरलाक** (1950) के अनुसार इस अवस्था का प्रसार 11-13 र्ष से लेकर 21 वर्ष तक माना जाता है। हरलाक (1950) ने किशोरावस्था को निम्नलिखित कार से परिभाषित किया है।

'The adolescent years extends from the onset of puberty between he ages of eleven and thirteen years in the average child, to the age of naturity, twenty one years"

किशोरावस्था को निम्नलिखित तरह से विभिन्न अवधियो म बॉटा जा सकता है—

लडके	लडकियाँ	किशोरावस्था का वर्गीकरण
11 – 13	10 – 11	पूर्वकिशोरावस्था
13 – 17	12 – 16	प्रारम्भिक किशोरावस्था
18 – 21	17 – 21	उत्तरकिशोगवस्था

उपर्युक्त वर्गीकरण से यह पता चलता है कि लडकियो मे परिपक्वता लडकों की अपेक्षा 1 या 2 वर्ष पूर्व ही आ जाती है। किशोरावस्था की अवधि काफी लम्बी होती है। इस अवस्था मे कई तरह के विकास सभव होते है। किशोरावस्था मे विकास की गति म अन्तर मिलता है। हरलाक (1975) के अनुसार प्रारम्भिक किशोरावस्था मे विकास का गति केवल तीव्र ही नही होती है बल्कि प्रारम्भिक वर्षों में विकसित तथा प्रदर्शित होने वाली अभिवृत्तियाँ एव व्यवहार भी अतिम वर्षो (उत्तरकिशोरावस्था) की अभिवृत्तियो तथा व्यवहारो से काफी भिन्न होती है।

किशोरावस्था में शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। किशोरावस्था को मनोवैज्ञानिक लोग सक्रमणकाल की अवधि भी कहते हैं क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति अपने को बाल्यावस्था एव प्रोढावस्था के मध्य महसूस करता है। यह अवस्था तूफान एव तनाव की आयु की अवस्था भी कही जाती है। क्योकि इस अवस्था में माता-पिता, शिशुओं एव साथियों से नवकिशोरों की तकरार और सघर्ष हो जाया करता है। इस अवस्था में नवकिशोरों पर नियत्रण रखना आवश्यक होता है। उनके रुचियो, मूल्यों में परिवर्तन होता है। समस्याओ के प्रति समायोजन स्थापित करने में उन्हें मुश्किल होती है। इन समीकरणों से किशोरावस्था का महत्व व्यापक हो जाता है।

किशोरावस्था की अवधियाँ

(Periods of Adolescence)

किशोरावस्था की निम्न तीन अवधियाँ होती हैं जिसमें प्राय देखा जाता है कि किशोरावस्था की प्रारम्भिक वर्षों में विकास की गति तीव्र तथा अतिम वर्षों में गति मन्द होती है।

1 पूर्व किशोरावस्था (Preadolescence)

इस अवधि का विस्तार 10-13 वर्ष का होता है। लडकियों में यह 10-11 वर्ष तथा लडकों में यह 11-13 वर्ष का होता है। बुहलर (Buhler) ने इसे निषेधात्मक अवस्था का नाम दिया है क्योंकि इस अवधि में निषेधात्मक अभिवृत्तियों में अधिकता पायी जाती है। इसी अवधि में बालक के लैंगिक जीवन में तीव्र दैहिक विकास देखने को मिलता है। ओगलाइव (1949) ने पूर्वकिशोरावस्था को रहस्यात्मक या ज्ञात वर्ष कहा है क्योंकि इस अवस्था में मित्रमडली का प्रभाव अधिक देखने को मिलता है । मित्रमडली अपने कार्यों को प्रौढों से छिपाकर रखना चाहते हैं। इस अवस्था में किशोर तथा किशोरियों के व्यवहारों को समझने में कठिनाई होती है। इसलिए इसे रहस्यात्मक अवस्था कहा जाता है। इस अवधि में बालक के पूर्वार्जित सवेगात्मक एव सामाजिक नियत्रण में अस्थिरता पाई जाती है।

2 प्रारम्भिक किशोरावस्था (Early Adolescence)

इस अवधि का प्रसार 13-17 वर्ष तक लडकों में तथा लडकियों में 12 16 वर्ष का होता है। यह ठीक पूर्वकिशोरावस्था के बाद आती है। इस अवस्था में बालक हाईस्कूल जाने की आयु ग्रहण कर लेता है। इसे अनुपयुक्त अवस्था (Awkwardage) कहते हैं जोकि इस समय

बालको एव बालिकाओ मे अनाडीपन, भद्दीगी आदि प्रदर्शित होती है। इसी अवधि मे मानसिक एव शारीरिक विकास अपनी चरम सीमा पर होता है। इस अवस्था को भयानक किशोरावस्था भी कहा जाता है। बहुत से माता पिता इस अवस्था मे भयभीत पाये जाते हैं कि इस अवस्था म अनेक समस्यायें बालको के सामन आने वाली है तथा वह उसके साथ कैसे समायोजन करेगा। इस अवस्था मे बच्चे के व्यवहार मे असतुलन अनुनमेय और अस्थिरता पाई जाती ह। हरलाक (1976) के अनुसार यही नही किशोर वेढगापन और अनियमित व्यवहार वाला हो जाता है।

3 **उत्तरकिशोरावस्था** (Late Adolescence)

इस अवधि का विस्तार 17 21 वर्ष तक होता है। इस अवधि मे किशोर अधिक फुर्तीला होता है तथा इसे आडम्बरी अविध (Ostentations age) भी कहते हैं। इस अवस्था मे किशोर तथा किशोरियो मे सजावट, फैशनपरस्त, भडकीलापन तथा बाह्य आडम्बर देखने को मिलता है। वे एक दूसरे को अपनी तरफ आकर्षित करना चाहते है। उनमे इतराना इठलाना इतना ज्यादा होता है कि उनके हर प्रश्नोत्तर के साथ-साथ कुछ न कुछ स्टाइल भी प्रदर्शित होती है। इस अवधि मे किशोरों की तुलना में किशोरियाँ अधिक फैशनपरस्त हो जाती हैं। इस अवधि में विपरीत लिग के प्रति आकर्षण देखा जाता है। किशोर किशोरियाँ एक दूसरे से अकेले में बात करना ज्यादा पसन्द करते हैं। इस अवस्था में परिपक्व जीवन व्यतीत करना ज्यादा पसन्द करते है तथा उनकी रुचियाँ बाल्यावस्था की रुचियों से भिन्न होती हैं। सामाजिक सहभागिता की सीमा मे वृद्धि पाई जाती है। उत्तर किशोरावस्था में ही उन्हें वोट देने का अधिकार भी मिल जाता है जिससे वे कानूनी दृष्टि से भी स्वय को परिपक्व समझते हैं। जिम्मेदारियों का निर्वाह करना तथा क्रातिकारी होना भी इस अवधि की विशेषता है। इसी अवस्था में उनकी जीवनशैली निर्धारित होती है। यौन परिपक्वता भी इसी अवस्था में ही देखने को मिलती है। नए मूल्यो को ग्रहण करना तथा पुराने मूल्यों को त्यागना एक मुख्य लक्ष्य होता है। उत्तरकिशोरावस्था पूर्ण परिपक्वावस्था होने के साथ साथ एक सुनहली अवस्था भी होती है।

किशोरावस्था की विशेषताएँ
(Characteristics of Adolescence)

किशोरावस्था मे पाई जाने वाली कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन यहाँ पर अपेक्षित है जो निम्नलिखित हैं—

(1) किशोरावस्था सक्रमण काल की अवधि के रूप मे (Adolescence as a Transition Period) – इस अवस्था को सक्रमण काल की अवधि इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह अवधि दो मुख्य अवस्थाओं जैसे बाल्यावस्था एव प्रौढावस्था के मध्य होती है। इसलिए बच्चे अपने बाल्यावस्था के उचित व्यवहार को त्याग कर इस अवस्था की उपयुक्त व्यवहार को स्वीकारते हैं तथा उनका व्यवहार प्रौढ व्यक्तियों जैसा होता है। उनका शरीर प्रौढ जैसे ही लगता है। पूरी परिपक्वता प्रदर्शित होती है । बालक दो अवस्थाओ के मध्य होने के कारण अपने को भूमिका निर्वाह में असमजस की स्थिति में पाता है। इस अवधि मे किशोर के ऊपर उत्तरदायित्व एव जिम्मेदारी का भार ज्यादा होता है जिसका उसकी स्वतन्त्रता पर बुरा अम्र पडता है, सोरेन्सन (Sorensen, 1962) । उसका व्यवहार बचकानापन लिये हुए रहता है। जब उसका व्यवहार समाज द्वारा मान्य नियमों के अनुकूल नही होता है उसे उसको सुधारने

के लिए निर्देश दिया जाता है। एरिक्सन (1968) ने यह मत व्यक्त किया है कि इस अवधि में उन्हें अपने भूमिका के लिए तथा अपने अहम् तादात्म्य के प्रति सतर्क होना पडता है। अहम् तादात्म्य की समस्या इस अवधि की प्रमुख समस्या होती है।

होराक्स (Horrocks 1954) एवम् हिलगार्ड (Hilgard 1973) के अनुसार इस अवधि में किशोर तथा किशोरियो को परिवार से प्राप्त विचारो तथा वर्तमान परिप्रेक्ष्य के विचारो मे भिन्नता के कारण द्वन्द्व का अनुभव होता है तथा एक के बाद एक भूमिकाएँ निभाने का उत्तरदायित्व आने के कारण जटिल समस्या पैदा हो जाती है। इसी अवधि में उनकी रुचियाँ व्यवसाय की दिशा मे विकसित होती है तथा आर्थिक निर्भरता की तरफ किशोर तथा किशोरियाँ अग्रसर होती है। Kulhen (1952) के अनुसार किशोरावस्था में बालक परिपक्वता की देहली पर आसीन होता है जहाँ पर उमे इसी अवस्था के अनुरूप निर्णय लेना पडता है तथा समायोजन करता है जिसका महत्वपूर्ण प्रभाव उसके भविष्य के जीवन पर पडता है। इसी अवधि मे नए एव पुराने व्यवहारो तथा नए एव पुराने अभिवृत्तियों में भी परिवर्तन होता है। इसलिए उनके व्यवहार असगत होते है। इसी अवधि मे अस्थिरता पाये जाने के निम्न कारण देखने को मिलते है उदाहरणार्थ—तीव्र, अनियमित शारीरिक एव मानसिक विकास, वाछित व्यवहार के विषय मे अनभिज्ञता माता पिता शिक्षक समवयस्को एव समाज की परस्पर विरोधी अपेक्षाएँ बच्चो के प्रशिक्षण मे अनिरूपता के कारण प्रतिबल एव दबाब आदि।

(2) किशोरावस्था परिवर्तन की अवधि के रूप मे (Adolesence As a period of Change)—इस अवस्था मे अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जाते है। पूर्व किशोरावस्था में जिस गति से शारीरिक परिवर्तन होते है उसी गति से किशोर के व्यवहार एव अभिवृत्तियो में भी परिवर्तन दिखायी देता है। टैनर (Tanner, 1971) का कथन है कि वृद्धि एव विकास के साथ साथ इस अवधि मे परिवर्तन का स्वरूप बदल जाता है। टैनर ने इसे घटनाओ की अवधि भी माना है। इस अवधि मे टैनर के अनुसार तीव्र सवेगात्मकता का प्रभाव होता है। इस अवधि मे पुराने एव नवीन मूल्यो के मध्य सघर्ष या द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है और यही द्वन्द्व सवेगात्मक अस्थिरता को जन्म देती है। इसी अवधि में लैगिक परिपक्वता चरमसीमा पर होती है। लैगिक परिपक्वता के कारण किशोर एव किशोरियाँ अस्थिरता का अनुभव करती है। इसी अवधि मे विपरीत लिगो के प्रति समायोजन एव आकर्षण दोनों का प्रदर्शन मिलता है। इस अवधि मे किशोर तथा किशोरियो के शारीरिक परिवर्तनो के अतिरिक्त उनके रुचि, मूल्यो मे भी परिवर्तन होता है तथा समाज मे नयी भूमिकाओ का निर्वाह करने की प्रत्याशाएँ समस्याये पैदा करती है जिसके फलस्वरूप किशोर तथा किशोरियो में समस्याओ के समाधान न होने की स्थिति मे हीनताभाव एव अनुपयुक्तता उनके मन मे घर कर जाती है। जिससे अस्थिरता पैदा होती है। इसी अवधि मे उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने बालोचित व्यवहार को त्यागकर प्रौढो जैसा व्यवहार करे। उसके कारण उन्हें आत्मनियत्रण एव स्वमूल्याकन की जरूरत पडती है।

(3) किशोरावस्था आशका की अवधि के रूप मे (Adolescence As a Period of Confusion)—इस अवस्था मे किशोर तथा किशोरियाँ प्राय किकत्तर्व्यविमूढ से दिखायी पडते है। उनका मुख्य जीवन लक्ष्य क्या है इसको निश्चित करने मे काफी आशकित रहते हैं। उन्हें भ्रमित होना पडता है। इस अवधि मे उन्हें अपना व्यवहार समाज के अनुरूप करना पडता

है। अपने से छोटे आयु के बच्चो का पर्यवेक्षण एव निर्देशन भी उन्हे करना पडता है। इस अवस्था मे ऐसा भी देखने को मिलता है कि उनके विचारो तथा माता पिता के विचारों मे काफी भिन्नता होने के कारण टकराव या द्वन्द्व की स्थिति पैदा हो जाती है जिसके फलस्वरूप किशोर एव किशोरियो को माता पिता की सहानुभूति तथा प्यार नही मिल पाता है। जो बाते उनके लिए अब तक कम महत्वपूर्ण थी अब वे महत्वपूर्ण लगने लगती हैं तथा जीवन मे नवीन रुचियो तथा व्यवहारो को विकसित करना पडता है। इस उम्र में किशोर तथा किशोरियॉ दिग्भ्रमित रहती हैं। उन्हे अपने जीवन का लक्ष्य क्या बनाना चाहिए या उनकी क्या मजिल होनी चाहिए इस विषय मे वे निर्णय लेने मे असमर्थ होते है इसलिए यह अवधि आशकाओं की अवधि के रूप में जानी जाती है। भय कष्ट भी इस अवधि में ज्यादा अनुभव की जाती है।

(4) किशोरावस्था अयर्थाथता के काल के रूप मे (Adolescence As a Period of Unrealism)—इस अवधि में किशोर तथा किशोरियो से परिवार और समाज नयी भूमिका निर्वाह करने की अपेक्षा करने लगता है। परिणामस्वरूप उनमे सवेगात्मक अस्थिरता का प्रदर्शन होता है। उनमे चिन्ता की मात्रा ज्यादा रहती है और उनका सन्तुलन खराब हो जाता है। उनके व्यवहार मे यथार्थता की कमी पाई जाती है। परिवार, समाज तथा मिलने की प्रत्याशाए किशोर एव किशोरियो के प्रति व्यापक हो जाती है। वह महत्वाकाक्षी ज्यादा हो जाता है। जब किशोर एव किशोरियॉ अनुभव करते है कि लोग उसकी अवहेलना या अनादर कर रहे है तथा वे अपनी इच्छाओ एव आकाक्षाआ के प्रति सफल नही हो रहे है तो उनमे हताशा एव उदासी की भावना जागृत होती है। परन्तु आगे चलकर आयु अनुभव एव बुद्धि मे वृद्धि होने के साथ साथ उनका व्यवहार यथार्थवादी हो जाता है जिससे उनकी हताशा एव उदासी मे कमी आती है। किशोर तथा किशोरियों मे समायोजन की क्षमता बढ जाती है। हरलाक (1975) के अनुसार वैयक्तिक अनुभवो एव आयु में वृद्धि के साथ साथ किशोर तथ्यपूर्ण ढग से चिन्तन करते है तथा किशोर अपने परिवार मित्र जीवन तथा स्वय को सामान्य रूप से अधिक यथार्थ रूप में देखता है।

'With increased age and Personal experiences and with increased ability to think rationally, the older adolescent see himself, his family and freinds and life in general in a more realistic way"

(5) किशोरावस्था प्रौढावस्था की देहली के रूप मे (Adolescence as a threshold of adulthood)—जैसा कि हम सभी को मालूम है कि उत्तरकिशोरावस्था मे जब किशोर पैर रखते है तो वे अपने आपको पूर्णत परिपक्व समझते है तथा अपना व्यवहार प्रौढो जैसा बनाना चाहते है वे उसके लिए प्रयास भी करते हैं। वे प्रौढों की तरह उठना बैठना, बोलना तथा सामाजिक कार्यों मे सहभागी बनना कार्य करना आदि सीखते है। आयु में वृद्धि के साथ साथ उनके व्यवहार भी परिमार्जित होते है तथा वे प्रौढों द्वारा निर्वाह की जाने वाली भूमिकाओ का अर्जन भी करते है तथा अपने व्यवहार को प्रौढों के अनुरूप ही बनाते है। उदाहरण के लिए लैगिक क्रियाओं मे भाग लेना, हस्तमैथुन करना, शराब पीना जुआ खेलना, धूम्रपान करना तथा नेतृत्व सभालना आदि । इस प्रकार से किशोर प्रौढावस्था के करीब पहुँचता है।

(6) किशोरावस्था बौद्धिक प्रसार की अवधि के रूप मे (Adolescence As a Period of intellectual Expansion)—इस अवस्था को बौद्धिक प्रसार के रूप में भी

जाना जाता है। इस अवधि मे किशोर तथा किशोरियो को अनेक प्रकार से बौद्धिक तथ्य तथा शैक्षिक परिस्थितियो के प्रति समायोजन करना पडता है। इस अवधि मे उसे ज्ञानार्जन होता है। इसका व्यवहार बुद्धिमता से निर्देशित होता है । वह अपने वातावरण मे व्याप्त उद्दीपकों एव परिस्थितियो की व्याख्या एव विश्लेषण करता है जिसके फलस्वरूप उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी अवधि मे इसकी सज्ञानात्मक योग्यता मे काफी विकास हो जाता है। किशोरावस्था के दौरान किशोर तथा किशोरियो को अनेक प्रकार के विकासात्मक कार्यों एव क्रियाओं को सीखना पडता है। (Hurlock 1975) । जैसे—

(1) बचपनावस्था की आदतों एव व्यवहारो को त्यागकर प्रौढो जेसा व्यवहार करना।

(2) लैगिक व्यवहार को प्रौढो की तरह स्वीकार करना तथा उसका भली प्रकार से निर्वाह करना ।

(3) विपरीत लिगों के प्रति आकर्षण मे वृद्धि होना तथा विपरीत लिगो के प्रति विरोध की भावना को त्यागना ।

(4) सवेगात्मक अस्थिरता को सवेगात्मक परिपक्तवा मे बदलना।

(5) सवेगात्मक स्वतन्त्रता का विकास करना।

(6) व्यावसायिक रूचियो को विकसित करना तथा आर्थिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करना।

(7) बौद्धिक योग्यता एव नागरिक सामर्थ्य को शिक्षा के माध्यम से विकसित करना।

(8) सामाजिक, नैतिक मूल्यो का विकास करना।

(9) मूल्यों के विकसित हो जाने पर समाज का अनुमोदन प्राप्त करने के लिए उपयुक्त व्यवहार का प्रदर्शन ।

(10) शारीरिक सरचना प्रत्याशा के विपरीत होने पर शारीरिक सम्प्रत्ययो को सशोधित करना।

(11) सज्ञानात्मक क्षमता में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप परिस्थितियो की व्याख्या एव विश्लेषण मे बौद्धिक प्रसार का होना।

(7) किशोरावस्था अप्रिय अवस्था के अवधि के रूप मे (Adolescence As a Period of unhappiness)—इस अवस्था को अप्रिय या दुख की अवस्था के रूप में भी जाना जाता है। इसका कारण यह है कि इस अवस्था मे किशोरो पर सामाजिक दबाव पडता है जिसके फलस्वरूप वे अपना व्यवहार समाज द्वारा निर्धारित मानकों के अनुरूप करते है। यदि उनका व्यवहार समाज द्वारा मान्य मानको एव नियमों के अनुरूप नही है तो उन्हें इसके लिए दड भी स्वीकार करना पडता है। तथा कभी-कभी वे इसके लिए तिरस्कृत एव बदनाम भी किये जाते हैं। वे इस बात से दुखी रहते हैं कि उन्हे पूर्व की तरह अपनी समस्याओं के समाधान में पारिवारिक सदस्यो की सहायता भी प्राप्त नही होती है । वे आत्म नियत्रित एव स्वतन्त्र होने के लिए भी चिन्तित रहते हैं। अपनी समस्याओ के समाधान हेतु उन्हें कल्पना का सहारा लेना पडता है। अपने जीवन मे जब वह निराश होता है तो भी दुखी होता है। कभी-कभी लक्ष्यपूर्ति न होने के कारण भी वह दुखी हो जाता है।

(8) किशोरावस्था प्रतिबल एव तूफान की अवधि के रूप मे (Adolescence As a Period of Storm and Stress)—किशोरावस्था को प्रतिबल एव तूफानी अवस्था के रूप

मे भी जाना जाता है। ऐसा इसलिए कि इस अवस्था में किशोरों में स्फूर्ति एव जोश का सगम होता है जिसके फलस्वरूप वे कठिन मे कठिन कार्य करना चाहते हैं। यदि इस कार्य में वे सफल नही होते हैं तो उनमें हताशा एव निराशा जन्म ले लेती है। इस अवस्था में अगणित समस्याओ का जन्म होता है जिनके समाधान मे वे अपने माता पिता तथा शिक्षकों का सहयोग लेना उचित नही समझते हैं। वे स्वतन्त्ररूप से समस्याओ का समाधान करना चाहते हैं। वह अपने भविष्य के प्रति लक्ष्य निर्धारित नही कर पाते हैं। वे ऊहापोह की स्थिति मे रहते हैं कि क्या उन्हे करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। ज्यादातर समस्याये समाज मे उनकी अनिश्चित स्थिति तथा स्थिति से असतुष्ट होने के कारण देखी जाती है। विपरीत लिंगों के प्रति आकर्षक होने एव उनके साथ समायोजित न होने पर उन्हें दुख होता है । अत यह अवस्था तनाव एव सन्त्रास की अवस्था भी कही जाती है।

(9) **किशोरावस्था सामाजिक सम्बन्धो के विकास की अवधि के रूप मे** (Adolescence As a period of development of Social Relations)—इस अवधि मे किशोर एव किशोरियो को नयी भूमिकाओं का निर्वाह करते हुए नये सामाजिक सम्बन्ध को स्थापित करना होता है। उसका सम्पर्क क्षेत्र बहुत वृहत स्वरूप का होता है। वे मित्रों का चयन पूर्वाग्रह के आधार पर नही करते हैं बल्कि वे परिस्थिति को ध्यान मे रखकर अपना सम्पर्क बनाते है। विपरीत लिगीय व्यक्तियो के प्रति सम्बन्ध प्रगाढ होता है। समाज में अन्य व्यक्तियो के प्रति मित्रवत् व्यवहार करते हैं । सामाजिक कार्यों, जुलूसों एव जलसो मे बढ चढकर भाग लेते हैं। नेतृत्वशैली भी इस अवस्था में प्रदर्शित होती है उनमें नेता बनने के गुण परिलक्षित होते हैं।

(10) **किशोरावस्था कामुकता की अवधि के रूप मे** (Adolescence as a period of Sexuality)—इस अवधि मे किशोर एव किशोरियों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण बढता है जिसके फलस्वरूप वे चुम्बन, आलिगन प्यार जैसे कामुकता वाले व्यवहार को प्रदर्शित करते हैं। इसी अवस्था मे उनमे स्वप्रेम की भावना का विकास होता है । वह अपने शरीर की सुन्दरता के प्रति काफी सतर्क रहता है। सम आयु के लोगों से मित्रवत व्यवहार करता है। कामुकता से सम्बन्धित किताबों एव पत्रिकाओं को पढकर ज्ञान प्राप्त करता है तथा नया भूमिकाओं का निर्वाह करता है। इस अवस्था में कामुकता की प्रवृत्ति प्रबल होती है तथा साथ ही साथ वह अपना जीवन साथी भी इसी अवस्था मे चुनने का प्रयास करता है। इस कार्य में वह समाज के मानको का उल्लघन भी करता है तथा माता पिता की इच्छा की कोई परवाह नही करता है।

किशोरावस्था मे होने वाले परिवर्तन
(Changes during Adolescence)

यह सर्वविदित है कि किशोरावस्था के दरम्यान अनेक प्रकार के शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होते हैं। इन्ही परिवर्तन के कारण ही उसमें परिपक्वता प्रदर्शित होती है तथा वे बालक से किशोर तथा बालिकाओं से किशोरी कहलाने के योग्य बनते हैं। अत यहाँ पर किशोरावस्था मे होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या करना अपेक्षित है।

(1) शारीरिक परिवर्तन (Physical Changes)

इस अवस्था में शारीरिक परिवर्तन तीव्रगति से होते हैं। इस अवस्था में किशोर तथा किशोरियो मे यौन परिवर्तनो मे व्यक्तिगत भिन्नता भी दिखायी देती है

उदाहरणार्थ—यौवनारम्भ के बाद बालको मे विकास की गति बालिकाओ की अपेक्षा तीव्र पायी जाती है। उनकी ऊँचाई, भार एव शारीरिक अगो के अनुपात मे वृद्धि पाई जाती है। बालिकाओ मे शारीरिक परिपक्वता बालकों से दो वर्ष पहले दिखायी देती है। प्राय लडकिया चौदह वर्ष मे एव लडके 16 वर्ष की आयु मे शारीरिक दृष्टि से परिपक्व हो जाते हैं। बालिकाओं मे अधिकतम शक्ति 17 वर्ष की आयु मे परिलक्षित होती है जबकि बालकों में अधिकतम शक्ति का प्रदर्शन 21 22 वर्ष की आयु मे होता है। लडकियो मे ऊँचाई की गति में वृद्धि 13-14 वर्ष की आयु में होती है। 12 वर्ष की बालिका अपने समआयु के लडकों की अपेक्षा अधिक लम्बी लगती हे। लडकिया की अधिकतम ऊँचाई 17 वर्ष की आयु मे आती है। प्राय 10 15 वर्ष की आयु के मध्य लडकियो का वजन लडकों से अधिक होता है। किशोरावस्था मे सिर, मुखमडल, धड, पैर तथा भुजाएँ सभी शारीरिक अग अपना समुचित अनुपात ग्रहण कर लेते हैं। नाक, कान तथा मस्तक अपना पूरा आकार प्राप्त कर लेते हैं। इन परिवर्तनो के कारण किशोर प्रौढों जैसे लगने लगते हैं।

आतरिक अगों में आमाशय लम्बा हो जाता है तथा कम नलिकादार हो जाता है। आत की लम्बाई तथा परिधि मे भी वृद्धि होती है। मॉस पेशियॉ मोटी होती हैं। लीवर का वजन बढता है तथा ग्रासनली लम्बी हो जाती है। ककाल की वृद्धि लगभग 18 वर्ष में रुक जाती है। हड्डियों की अपेक्षा ऊतकों का विकास हड्डियो मे परिपक्वता आने के बाद भी जारी रहती है। यौवनारम्भ में जननग्रन्थियो की क्रियाशीलता बढ जाती है । पूर्वकिशोरावस्था तक आन्तरिक ग्रन्थि प्रणाली में असतुलन आ जाता है। लैगिक ग्रन्थियॉ तीव्रगति से बढती है। उनके आकार मे भी वृद्धि होती है। लडकों के अण्डकोष (Testes) वीर्यकण (Sperm) तथा लडकियों के डिम्बको (Ovaries) में रजकण (Ovum) बनकर तैयार होने लगते है। इसी के फलस्वरूप वे सन्तानोपत्ति की क्षमता प्रदर्शित करते हैं। इसी अवस्था मे लडको मे वीर्यपतन (Nocturnal emission) तथा लडकियों मे रजस्वला (Mensturation) की घटनाएँ प्रारम्भ होती है। यौनसम्बन्धी परिवर्तनों के फलस्वरूप किशोर को मूछ दाढी, हाथ पैर तथा गुप्तागों पर बाल दिखायी देने लगते हैं। कन्धे चौडे हो जाते है तथा चेहरे में परिवर्तन आ जाता है। किशोरी की वाणी मे मिठास तथा किशोर की वाणी मे भारीपन दिखायी देने लगता है। इस अवधि मे लडकियो में वक्षस्थल का विकास भी हो जाता है।

इस अवस्था में हृदय मे तीव्रगति से वृद्धि पायी जाती है। हृदय का वजन जन्म की तुलना में 12 गुना भारी हो जाता है। रक्तवाहनियो की लम्बाई मोटाई हृदय के साथ परिपक्वता का स्तर प्राप्त करती है। बालिकाओं के फेफडे लगभग 17 वर्ष में परिपक्वता को प्राप्त कर लेते हैं। जबकि बालको में फेफडो मे यह परिवक्वता कई वर्ष बाद परिलक्षित होती है।

इसलिए किशोरावस्था को तूफानो एव प्रतिबलो की अवधि की सज्ञा दी जाती है। इस अवस्था में विषमलिंगीय व्यक्तियों की तरफ आकर्षण तीव्रगति से होता है जो सवेगात्मक तनाव में मदद करता है तथा अस्थिरता प्रदान करता है। किशोरों मे पाया जाने वाला तनाव तीव्र अनियमित, तथा असगत होते हैं । आयु एव अनुभवो मे वृद्धि के कारण वे तनाव को कम करने का प्रयास करते है तथा उसके साथ समायोजन करना सीख जाते हैं। गेसेल (Gesell 1954) के कथनानुसार चिडचिडापन की प्रवृत्ति 14 वर्ष की आयु में प्रदर्शित होने

लगती है। उनकी उत्तेजनशीलता (excitability) बढ जाती है। उनके अन्दर अपने भावो को छिपाने की क्षमता आयु एव अनुभव मे वृद्धि के फलस्वरूप दिखायी देने लगती है। 14 वर्ष की आयु में किशोर तथा किशोरियाँ क्रोधित ज्यादा होती है। अपने भावों को नियन्त्रित करने मे असमर्थ होते है। 15 वर्ष के किशोर अपने भावो को छिपाने का प्रयास करते हैं परन्तु असमर्थ पाये जाते हैं। 16 वर्ष की आयु मे किशोर तथा किशोरियाँ अपनी समस्या समाधान विवेकपूर्ण ढग से करते हैं। इस अवस्था मे सवेगों को नियन्त्रित करना वे सीख जाते है। इस तरह से यह कहना अनुचित नही होगा कि जैसे जैसे नवकिशोर किशोरावस्था की अतिम सीमा की ओर अग्रसर होते जाते है उनमे तनाव एव चिन्ता मे कमी दिखने लगती है तथा तनाव एव चिन्ता को नियत्रण करने मे समर्थ हो जाते है। अत उत्तरकिशोरावस्था में सवेगात्मक स्थिरता परिलक्षित होने लगती है। सवेगात्मक परिपक्वता प्राप्त हो जाने पर वह अपने सवेगात्मक व्यवहार को नियत्रित दशा में उत्पन्न करता है। सवेगो का प्रदर्श न इच्छा के अनुसार करता है। पूर्वकिशोरावस्था के किशोर चल्लाते हैं या क्रोध से दरवाजा बन्द कर लेते हैं। किशोरावस्था के भय बाल्यावस्था के भय की अपेक्षा तीव्र होते हैं। उत्तरकिशोर मे सवेगों की मात्रा कम पायी जाती है। परन्तु प्रेम प्रसग मे व्यतिक्रम होने पर सवेगात्मक तनाव में वृद्धि होती उत्तरकिशोरावस्था मे क्रोध का सवेग अन्य सवेगों की तुलना में ज्यादा पाया जाता है। सामाजिक परिस्थितियो के प्रति लडकियों मे तथा चीजो के प्रति लडकों में क्रोध पाया जाता है। सवेगात्मक तनाव को मित्रो से विचार-विमर्श करके भी दूर करने या करने मे मदद मिलती है। किशोरो मे सावेगिक परिपक्वता पाई जाती है और वे अपने सवेगों का विस्फोट न करके उपयुक्त समय और उपयुक्त तरीके से निकालने की प्रतीक्षा करते है। यह लक्षण सावेगिक परिपक्वता को प्रदर्शित करती है।

(3) **सामाजिक परिवर्तन** (Social Changes)

किशोरावस्था मे सामाजिक विकास अन्य अवस्थाओं की तुलना में तीव्रगति से होता है। इस अवस्था मे सामाजिक समायोजन कठिन होता है। जैसे-जैसे बालक की आयु में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे उसका सामाजिक सम्पर्क भी बढता जाता है। उदाहरणार्थ—बालकों को परिवार के बाहर कालेज मे, अन्य लोगों के साथ साथ विषमलिंगीय व्यक्तियों के साथ भी समायोजन स्थापित करना पडता है। सामाजिक समायोजन में प्रथम बार उसे विपरीत लिगों के प्रति समायोजन स्थापित करने में काफी कठिनाई का सामना करना पडता है। किशोरावस्था में उसका सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार बहुत बढ जाता है तथा उसके सामाजिक व्यवहारों में परिवर्तन तथा परिमार्जन देखने को मिलता है। वह सामाजिक स्वीकृतियों एव सामाजिक अस्वीकृतियों के माध्यम से अपने सामाजिक व्यवहार को परिपक्व करता है। इस अवस्था में वे प्रौढों की तरह व्यवहार करना सीख जाते हैं। नवकिशोरावस्था में सामाजिक अभिवृत्तियों का भी विकास होता है जैसे—समाज में लोकप्रियता हासिल करना, कमजोर की मदद करना, सामाजिक कार्यों मे रूचि, दूसरो को सुधारने हेतु उपदेश देना आदि। बाल्यावस्था की अपेक्षा किशोरावस्था के मित्रों मे सामाजिक दूरी पायी जाती है तथा उनमें घनिष्ठता तथा मित्रता का आधार सहृदयता होती है। उनके घनिष्ठ मित्र उनके सखा भी होते हैं। लडकियों और लडकों में अपने विश्वासपात्रों का चयन करने की योग्यता इसी अवस्था में प्रदर्शित होती है। उत्तरकिशोरावस्था में घनिष्ठ मित्रो की सख्या कम होती है। उनमें समलिगी मित्र तो होते ही हैं

परन्तु वे विपरीत लिग के मित्रो को बनाने मे ज्यादा दिलचस्पी रखते है। सामाजिक क्रियाकलापा मे भाग लेने से उनमें अन्तर्दृष्टि का विकास होता है। अन्तर्दृष्टि के फलस्वरूप वे अच्छा समायोजन स्थापित करने मे सक्षम होते है। वह समलिगीय एव विषमलिगीय का भावनाओं को अच्छी तरह समझ सकता है। उनसे अच्छी तरह से वार्तालाप कर सकता है जिससे उसमें आत्मविश्वास बढता है जो समायोजन मे सहायक होता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट हे कि किशोरावस्था के दरम्यान अनेक सामाजिक परिवर्तन अनुभव किये जाते हैं तथा इन परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियो के प्रति समायोजन स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। किशोरावस्था मे निम्नलिखित सामाजिक परिवर्तन विशेषतया प्रदर्शित होते है।

(1) किशोरावस्था में जो समायोजन सर्वप्रथम प्रदर्शित होता है वह समकक्ष समूहों के प्रति होता है। इस अवधि मे किशार के सामाजिक व्यवहार एव विकास में समकक्ष समूहों का अधिकतम प्रभाव देखा जाता है। होराक्स एव वेनीमाफ (1966) का कथन है कि किशोरों का वास्तविक जगत (Real World) समकक्ष समूह हो जाते है। समकक्ष समूहो के सानिध्य में आने पर किशोर अपने 'स्व' (Self) के विषय में नयी धारणाएँ विकसित करता है। इस अवस्था में वह समकक्ष समूहो के ही साथ अत्यधिक समय व्यतीत करना चाहता है। इस अवस्था में वह एक टोली में न रहकर एक विशाल समूह में रहना चाहता है। इसलिए विशाल समूह का सदस्य बनकर अन्तर्क्रिया करके अपने सामाजिक सम्पर्क को बढाता है।

(2) नये सामाजिक समूहो का निर्माण भी किशोरावस्था के दरम्यान देखने को मिलता हे। उसके खेल के सामान जो बाल्यावस्था मे होते है उसमे काफी परिवर्तन होता है। वह अब किशोरावस्था के खेलो मे रूचि लेता है। घनिष्ठ मित्रों का चयन इसी अवस्था में होता है। धीरे धीरे वह विशाल समूह का निर्माण करता है तथा उसका सदस्य बनता है। ऐसे विशाल समूहों मे सामाजिक दूरी अपेक्षाकृत बढ जाती है। यही समूह आगे चलकर सगठित हो जाते हैं तथा उसके माध्यम से कुछ समकक्षों को अस्वीकृत करने या तिरस्कृत करने के लिए मडलियाँ (Gangs) का निर्माण करते हैं।

(3) किशोरावस्था में होने वाले परिवर्तनों मे सामाजिक व्यवहारो मे होने वाले परिवर्तन का विशेष महत्व होता है। किशोरावस्था में विषम लिग के प्रति आकर्षण एव झुकाव बढ जाता है। सामाजिक क्रियाकलापो मे अधिक भाग लेता है। इससे उसकी सामाजिक समझ में बढोत्तरी होती है। आत्मविश्वास भी बढता है तथा हर कार्य आत्म विश्वास से करता है। ज्यादातर समय विपरीत लिग के साथ बिताना चाहता है। जीवनसाथी का चयन करना भी प्राय इसी अवस्था में शुरू हो जाता है। वह अपने जीवनसाथी के प्रति वफादार बना रहना चाहता है। उसका जीवनसाथी वही बन सकता है जिसके तौर तरीके तथा व्यवहार उसके अनुरूप है। किशोर मित्रों के चयन में प्रौढों की न राय मानते हैं न तो किसी हस्तक्षेप को वे पसन्द करते हैं। वे मित्रों एव जीवनसाथी का चयन स्वय करना चाहते हैं। चूँकि वे विपरीत लिगों के प्रति अनभिज्ञ रहते हैं इसलिए विषमलिगीय मित्रों के चयन मे काफी सावधानी बरतते हैं। वे दूसरों की सहायता करना दूसरो से शिष्टाचार से बात करना, दूसरों का ख्याल रखना तथा निष्कपट व्यवहार करने में प्रसन्न होते हैं।

(4) किशोरावस्था में उत्पन्न व्यवहार हेतु वे नवीन मूल्यों का सृजन करते हैं तथा प्रयासरत रहते हैं कि सामाजिक स्वीकृति इस नवीन मूल्यो के लिए मिल जाये। समकक्ष समूहों के आधार पर वे विकसित मूल्यों को ध्यान में रखते हुए अन्य लोगों को स्वीकृत या अस्वीकृत

करत है। स्वीकृत करने एव अस्वीकृत करने मे वे किसी एक मूल्य का नही बल्कि इसके लिए वे विशेषताओ के सघात या समूह (Constellation of Traits) विकसित करते हैं। ये दो प्रकार के होते है।

1 स्वीकृति लक्षण समष्टि (Acceptance Syndrome)—इसके कारण किशोर समकक्ष समूहो या व्यक्तियो के साथ रहना चाहता है या उनकी लोकप्रियता बढाने का प्रयास करता है।

2 अस्वीकृति लक्षण समष्टि (Rejection Syndrome)

इस विशेषता के द्वारा वह किसी समकक्ष समूह या व्यक्तियो से अलग रहना चाहता है। अकेले रहना ज्यादा पसन्द करता है। उस समूह से निर्वासित होना चाहता है। इस तरह स किशोर इन दोनो लक्षण समष्टि के आधार पर अपना सामाजिक विस्तार बढाता है। स्वीकृति लक्षण समष्टि से वह लोकप्रियता ग्रहण करना चाहता है तथा वह सामाजिक कायो म भाग लेकर अनुमोदन प्राप्त करना चाहता है। अस्वीकृति लक्षण समष्टि से वह अपने अलोकप्रिय समकक्ष समूहो से विरत होकर अकेले मे रहना चाहता है। इस तरह से वह सामाजिक समझ एव सामाजिक अन्तर्दृष्टि का विस्तार करता है जो उसके सामाजिक व्यवहार मे प्रभाव डालते हैं।

(5) नवीन मूल्यों का सृजन वह नेतृत्व के लिए भी करता है। इस अवस्था में नेतृत्व क गुण भी उसमे प्रदर्शित होने लगते हैं। नेता बनने हेतु अपने अन्दर गुणों को विकसित करता है। नेता जेसा उसका व्यवहार होता है। उसकी वेशभूषा भी नेता जैसी ही होती है। दूसरो की सहायता करना उसका मुख्य ध्येय होता है। उसमे मौलिकता आत्मविश्वास, परिहास प्रियता, शीघ्रनिर्णय करने की योग्यता, व्यवहारकुशलता, सहयोगशीलता धैर्य, सयम आदि गुण दिखायी देने हैं। उसमे बुद्धि का विकास होता हैं। सफल नेतृत्व के लिए वह उचित योग्यता वाले व्यक्तियो का ही चयन नेता के लिए किया जाता है। उसमे देशभक्ति, बलिदान करने की इच्छा तथा परोपकारिता जैसे गुण भी प्रदर्शित होते है। समूह के कल्याण की भावना उसमे कूट कूटकर भरी दिखायी देती है। वह नेता के चयन मे समूह की आवश्यकताओं एव इच्छाओ की पूर्ति का आधार बनाता है। उसमे नेतृत्व करने की क्षमता का प्रदर्शन होता है। वह सामाजिक नेतृत्व, बौद्धिक नेतृत्व, सामुदायिक नेतृत्व एव धार्मिक नेतृत्व को भली प्रकार सभालता है।

(4) रुचियो मे परिवर्तन (Changes in Interest)

किशोरावस्था मे अनेक परिवर्तन के साथ साथ रूचियाँ भी बदल जाती हैं। बाल्यावस्था की रुचियाँ या तो समाप्त हो जाती है या घट जाती है। नवीन रूचियो का विकास इस अवस्था में होता है। रुचियो के विकास पर बुद्धि पर्यावरण, समकक्ष समूहों की रुचियो जन्मजात योग्यताएँ तथा पारिवारिक दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण स्थान होता है। आयु एव अनुभव मे वृद्धि के फलस्वरूप नवीन रुचियों के अर्जन मे उन्हे सहायता मिलती है। किशोरावस्था के दरम्यान पाई जाने वाली रुचियाँ निम्नलिखित है।

(1) मनोरजन सम्बन्धी रुचियाँ (Recreational Interests) इसमें किशोर मनोरजन करना चाहता है इसके लिए वह खेलकूद में भाग लेता है विशेष शौक करता है, नृत्य करता है, चलचित्र देखता है रेडियो सुनता है तथा दिवास्वप्न भी देखता है।

(2) सामाजिक रुचियाँ (Social Interests) सामाजिक जलसों, उत्सवो में सहभागी होना, वादविवाद प्रतियोगिता में भाग लेना, दूसरो को सहायता प्रदान करना नशीली पदार्थों का

सेवन करना परोपकार करना दूसरो की आलोचना तथा सुधारसम्बन्धी आदतो का निर्माण करना।

(3) व्यक्तिगत रुचियॉ (Personal Interests) शारीरिक प्रदशन, सामाजिक अनुमोदन प्राप्त करना वेशभूषा पर ध्यान देना, स्वतन्त्रता एव धनोपार्जन करना इत्यादि।

(4) शैक्षणिक रुचियॉ (Educational Interests) विद्यार्जन करना उत्तम अक प्राप्त करना परीक्षाओ मे मेरिट प्राप्त करना आदि।

(5) व्यावसायिक रुचियाँ (Vocational Interests) व्यवमायो का चयन नौकरी के दृष्टिकोण से आकर्षक व्यवसायो मे दिलचस्पी व्यवसाय मे सुरक्षा को ज्यादा प्रदान करना। लडकियॉ अध्यापन एव मेडिकल व्यवसाय को प्राथमिकता देती हे तथा लडको का इन्जीनियरिग एव कम्प्यूटर कोर्स के प्रति लगाव।

(6) धार्मिक रुचियाँ (Religious Interests) धार्मिक कार्यो मे महभागिता, धार्मिक स्थानो का भ्रमण, धार्मिक आस्था एव धार्मिक उत्सवो मे वढ़ चढकर भाग लेना। पूजा पाठ करना तथा धर्म मे विश्वास करना।

(5) नैतिकता मे परिवर्तन (Changes in Morality)

किशोरावस्था में जिस प्रकार से अन्य शारीरिक एव मानसिक गुणो का विकास परिपक्वता की तरफ अग्रसर होता है। इसी प्रकार से नैतिकता का विकास भी परिपक्वता को प्राप्त करता है। सही अर्थों में शैशवावस्था से पूर्ववाल्यावस्था तक नैतिकता में विकास के लिए एक आधार पर निर्माण होता है। नैतिकता का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध से है। किशोरावस्था मे नवीन मूल्यो के अर्जन के साथ ही साथ नयी नैतिक मूल्यो का भी समावेश होता है। वह इस आयु मे सामाजिक अनुमोदन प्राप्त करने के लिए अच्छे कार्य करता है। वह वाल्यावस्था के आदतो एव व्यवहारो को या तो त्यागता है या परिमार्जित करता है। अपना व्यवहार परिमार्जित करके सामाजिक परिस्थितियो के अनुकूल बनाता है।

पियाजे (Piaget, 1969) के अनुसार किशोरावस्था व्यक्ति के सज्ञानात्मक योग्यता सम्बन्धी औपचारिक सचालन की अवस्था है। इस अवस्था में उनमें इतनी सज्ञानात्मक योग्यता आ जाती है कि वे समस्याओ का समाधान तर्कपूर्ण ढग से कर लेते है। किशोरावस्था में वह यह अच्छी रतह से समझने का प्रयास करता है कि कौन से व्यवहार सामाजिक वाछनीय है तथा कौन से व्यवहार अवाछनीय । सामाजिक मानकों के अनुरूप उसका आचरण करने को मन चाहता है। इसी समय कई सामाजिक आवश्यकताएँ भी जन्म ले लेती है जो नैतिकता को प्रभावित करती है। किशोरावस्था में नैतिकता के विकास हेतु, क्रमश नैतिक सन्प्रत्ययों में परिवर्तन, नैतिक सहिता का निर्माण तथा व्यवहार का आन्तरिक नियत्रण के कार्य करने पडते हैं।

नैतिक विकास तथा समायोजन के लिए किशोर को सर्वप्रथम स्थापित नैतिक सम्प्रत्ययों में परिमार्जन करना पडता हे। इसी के साथ ही साथ वह नवीन सम्प्रत्ययो का निर्माण करता है। नवीन सम्प्रत्ययों के निर्माण मे उसे माता, पिता, शिक्षक आदि सभी से निर्देश लेना चाहिए। जिससे नैतिकता का विकास को पूर्णरूप से परिपक्व समझकर उन्हे निर्देश न देने का विचार मन मे आ जायेगा तो इससे किशोर स्वतन्त्र रूप से अपने नैतिक सम्प्रत्यय मे परिवर्तन नही कर पायेगा। अत अनुशासन को बनाये रखना माता पिता तथा प्रौढ सदस्यों का कर्तव्य होता है जिससे किशोर गुमराह न हो तथा सामाजिक मर्यादाओं की अवहेलना न कर सके ।

पूर्व नतिक सम्प्रत्ययो मे परिवर्तन तथा नये नतिक सम्प्रत्ययो के निर्माण के पश्चात किशोर को अपने नैतिक सहिता का निर्माण करना पडता है जो एक कठिन कार्य हैं। किशोर स्वय द्वारा निर्मित तथा सशोधित सम्प्रत्ययो के आधार पर नैतिक सहिता का निर्माण करता है। सर्वप्रथम वह इन सम्प्रत्यया के आधार पर उचित अनुचित या सही या गलत के मध्य अन्तर समझने का प्रयास करता ह। इस सही एव गलत या उचित या अनुचित व्यवहारो का विकास वह सामाजिक सम्बन्धो के आधार पर करता है । Wmick, (1968) का मत है कि किशोर उचित एव अनुचित के निर्धारण मे दोहरे मापदण्ड का भी उपयोग करता है। उदाहरणार्थ—जिन व्यवहारो हेतु किशोरो को प्रशसा प्रदान की जाती है उन्ही व्यवहारो के लिए किशोरियो को प्रशसा नही मिलती है। परन्तु सोरेन्सेन (Sorensen, 1973) के अनुसार आधुनिक किशार तथा किशोरियाँ समान स्वतन्त्रता को पसन्द करती है। आश्रितता उन्हे पसद नही आती हे। सही अर्था मे उनका व्यवहार सामाजिक नैतिक सम्प्रत्यय से नियत्रित होता है। वे समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारो के अनुरूप ही अपने आपके व्यवहार को प्रदर्शित करना चाहते ह जिससे उनका व्यवहार नियमित एव नियत्रित हो सके।

इन दोना कार्यो के पश्चात् जो तीसरा प्रमुख कार्य नैतिक परिवर्तन हेतु करना पडता है वह हें व्यवहार का आतरिक नियत्रण। इसके लिए अन्तरात्मा का विकास (Development of Conscience) करना पडता है। अन्तरात्मा का विकास हो जाने पर किशोर लोग अपने व्यवहारो पर आन्तरिक रूप से नियत्रण करने मे सक्षम हो जाते है। उदाहरणार्थ—अच्छे कार्यो को करने पर उसे खुशी होती है तथा गलत कार्यो को करने पर उसे आत्मग्लानि तथा दुख होता है तथा भविष्य मे भी ऐसे कार्यो को नही करना चाहता है। ऐसा परिणाम पेक एव हैविग्सट (Pack and Havighusst, 1962), तथा वर्टे मेयर (Barte Meier, 1969) ने अपने अध्ययनो में पाया कि अन्तरात्मा के विकास के फलस्वरूप नैतिक सम्प्रत्ययों का परिवर्तन एव विकास सम्भव होता है।

(6) लेंगिक रुचियाँ तथा लेंगिक व्यवहार (Sexual Interest and Sexual Behaviours)

किशोरावस्था मे लैंगिक परिपक्वता चरम सीमा पर होती है। इसलिए किशोरों से लिगसगत व्यवहार करने की अपेक्षा समाज तथा परिवार करता है। किशोरों को लिगानुसार व्यवहार करना सीखना पडता है। किशोरो तथा किशोरियो को एक दूसरे के प्रति आकर्षण का व्यवहार लिगसगत भूमिकाओ के साथ करना पडता है। इस अवस्था में लैंगिक प्रणाली पूर्णरूप से परिपक्व हो जाती है। किशोर तथा किशोरी में शारीरिक परिवर्तन भी प्रदर्शित होने लगते हैं। लैंगिक परिपक्वता किशोरो तथा किशोरी दोनों में परिलक्षित होने लगते है। कुछ शारीरिक परिवर्तन लैगिक परिपक्वता को प्रभावित करते हैं। ये शारीरिक परिवर्तन लैंगिक परिपक्वता के द्योतक माने जाते हैं। ये क्रमश निम्नवत हैं।

(1) बालको मे लैंगिक परिपक्वता (Sexual Maturity in Boys) – जैसा कि मालूम है कि किशोरावस्था में बालकों मे वृद्धि प्राय 14 वर्ष की आयु में देखी जाती है यह लडकियों की अपेक्षा विलम्ब से होती है। बालकों में यौवनारम्भ प्राय 12 वर्ष में तथा बालिकाओं में 10 वर्ष की आयु में दिखायी देता है। बालकों में वीर्यकण तथा बालिकाओं में रजकण तथा गुप्तागो पर बाल उगना भी यौवनारम्भ के साथ ही बालक तथा बालिकाओं में प्रदर्शित होते हैं। यौवनारम्भ में ही बालक के जननागों का भी विकास प्राय 12 वर्ष में शुरू हो जाता है तथा बालिकाओ के जननागों का भी विकास यौवनारम्भ में आरम्भ हो जाता है। बालिकाओं में गर्भाशय में भी परिवर्तन होता है, मेरेडिथ (Meredith, 1967) । बालकों के जननेन्द्रिय का विस्तार होता है। एक बालक वीर्यकण का स्राव 13-14 वर्ष की आयु में करने में सक्षम हो

जाता है (Tanner 1972) । किशोरावस्था के दरम्यान वाणीयत्र या स्वरयत्र का भी विकास होता है। इसीके परिणामस्वरूप बालको के आवाज मे कर्कशता तथा बालिकाओ की आवाज मे मधुरता नजर आती है। किशोर के लिए सबसे महत्वपूर्ण परिपक्वता का परिचायक उसके चेहरे पर बाला के उगने से है। इसी अवस्था मे उनकी दाढी, मूँछे एव कखौरी मे तथा गुप्तागों पर बाल उग आते है।

जननेन्द्रिय का आकार विशेषकर किशोरा के लिए काफी महत्वपूर्ण माना जाता है। जननाग का आकार छोटा होने पर एक बालक बहुत तनावग्रस्त हो जाता है तथा वह सोचता है कि ऐसा माना जाता है कि लम्बे जननाग होने से मानव को ज्यादा शक्तिशाली समझा जाता है। तथा उसमे पुरुषत्व ज्यादा होता है । साथ ही साथ वह अपने जीवन साथी का लेगिक व्यवहार से पूर्णरूप से सतुष्ट कर सकता है जबकि छोटे जननागो (Penis) वाले व्यक्ति ऐसा नही कर पाते हैं। इस विश्वास से वह तनावग्रस्त एव चिन्तित हो जाता है । जहाँ तक जननाग (Penis) के आकार (Size) का सवाल है हर उम्र मे इसमे विभिन्नता पाई जाती है। Roll (1970) ने इस विश्वास का अध्ययन करने के लिए कि बडे आकार के जननाग (Penis) का सम्बन्ध मर्दानगी एव पुरुषार्थ से होता है कि नही एक सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण में यह ऑकडा प्राप्त हुआ कि 18 20 वर्ष की महिलाओ ने लम्बे आकार के जननाग (Penis) बाल से सयुक्त बाहे तथा भुजाएँ और छाती को मर्दानगी एव पुरुषार्थ के निधारक के रूप मे निर्णय दिया। वैसे अनुभवात्मक दृष्टि से ऐसा हो सकता है परन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिए अभी कोई भी शोध नही किया जा सका हे। जहा तक इसका सवाल है उसके लिए मास्टर्स एड जोहेन्सन (Masters and Johenson, 1966) ने यह कहा है कि जननाग का आकार मे पुरुषार्थ एव मर्दानगी का कोई सम्बन्ध नही है। अपने अध्ययन मे इन्होने जननागो के आकार मे काफी विभिन्नता पाई। इन्होंने 312 किशोरो का सर्वेक्षण किया तथा यह पाया कि 5 5" लम्बाई जननाग की उस व्यक्ति मे पाई गयी जो $5\frac{1}{7}$ "लम्बाई का था। तथा 5 11' लम्बाई वाले व्यक्ति के जननाग की लम्बाई 2 36" पाई गयी। मास्टर एव जोहेन्सन (1966) यह पाया कि 2 36" लम्बाई का जननाग पूर्णरूप से उत्तेजित (Erect State or Flaccid State) अवस्था मे बडी आकार के जननागो की तुलना मे बडा दिखायी देता है। लैगिक सुख प्राप्त करने के लिए जननाग के आकार का कोई प्रभाव नही पडता है। (Masters and Johenson 1966) छोटे आकार का लिग भी अपने साथी के साथ सभोग करते समय गर्भाशय के साथ अनुकूलित हो जाता है। गर्भाशय लचीला एव इलास्टिक के तरह का होता है। अत वह अपने मे लिग को अनुकूलित करने की क्षमता रखता है। इस तरह से लिग का आकार लैगिक सुख के लिए एकनगण्य कारक है। इस पर ज्यादा ध्यान नही देना चाहिए। बल्कि लैगिक सुख हेतु लैंगिक तकनीक का प्रभाव देखा जा सकता है।

(2) **लैंगिक परिपक्वता बालिकाओ मे** (Sexual Maturity in Girls) – सभवत 10 वर्ष की आयु मे बालिकाओं के शरीर में परिवर्तन दिखायी देने लगता है तथा यह परिपक्वता 15 वर्ष तक जारी रहती है। परिपक्वता मे कई घटनाएँ घटित होती दिखायी देती हैं। उदाहरणार्थ—वक्षस्थल का विकास (Development of Breast Bud) (Dauvan and Gold, 19xx) । इसी अवस्था में बालिकाओ के शरीर पर तथा गुप्तागों पर बाल उगते दिखायी देते हैं। वक्षस्थल का विकास या वृद्धि लगभग 10 वर्ष के मध्य तक शुरू होती है तथा तब तक जारी रहती है जब तक अपनी पूरी आकृति अगले तीन साल में नही बना लेता है। वक्षस्थल के विकास के फलस्वरूप उसके आकार तथा क्षेत्र मे भी वृद्धि पाई जाती है। वह शक्वाकार होता है तथा निपुल (Nipple) में भी वृद्धि होती है। इसी समय एक लडकी का

स्तन विकसित होता है। यौवनारम्भ के बाल लगभग 11 वर्ष की उम्र में दिखायी देते है। (Hauck, 1970) सामान्यतया यौवनारम्भ मे काफी विचलन पाया जाता है इसलिए वक्षस्थल एव स्तन का विकास 8 13 वर्ष के मध्य किसी समय शुरू हो सकता है। (Tanner, 1972) इसी समय मासिक चक्र का प्रारम्भ होना भी परिवक्वता मे अपनी भूमिका अदा करने लगता है। पूर्णरूप से लैंगिक परिपक्वता किसी समय 20 वर्ष की प्रारम्भिक अवस्था मे परिलक्षित होती है। (Tanner, 1961)

वक्षस्थल का विकास एक सार्थक सकेत के रूप में लैंगिक परिपक्वता के लिए बालिकाओ मे जाना जाता है। वक्षस्थल का आकार तथा स्वरूप एक लडकी को महिला बनने हेतु प्रभावित करती है। कुछ किशोरियो का सदेहास्पद विचार है वक्षस्थल के विकास के प्रति। बालको की भाँति बालिकाओ मे भी छोटे आकार एव बडे आकार के स्तन के प्रति अलग-अलग विचार है तथा इसे भी नारीत्व से जोडने का प्रयास करते हैं परन्तु अभी तक नारीत्व हेतु स्तन के आकार का प्रभाव किसी भी अध्ययन द्वारा नही देखा जा सका है। अधिकाश किशोरियाँ इस बात की शिकायत करती है कि उनका स्तन या तो बहुत बडा है या बहुत छोटा है। एक बडास्तन लडकियो में यह बात पैदा करती है कि लोग उसे देखकर आकर्षित होंगे तथा वह इस स्तन की तुलना अपने समकक्ष समूहों के सदस्यो से करती हैं तो अपना स्तन बडा पाती हैं इससे उसे तनाव होता है। एक लघुकाय स्तनवाली लडकी इस बात से दुखी एव चिन्तित रहती है कि पता नही वह लैंगिक परिपक्वता को प्राप्त कर पायेगी या नही तथा वह पुरुषों को आकर्षित कर पायेगी या नही। यहाँ तक जब एक लडकी अपने प्रौढ शरीर को प्राप्त कर लेती है तो स्तन का आकार जो उसकी किशोरावस्था में बडा या छोटा मालूम पड्ता है वह इस अवस्था मे उचित दिखायी पडता है। इसलिए इस बात के लिए चिन्तित नही होना चाहिए कि लैंगिक परिपक्वता सही समय पर आयेगी कि नही। उसका स्तन विकास से नगण्य सम्बन्ध है। परन्तु स्तन विकास से लडकियों के शरीर में एक उभार दिखायी देता है जो परिपक्वता की तरफ ध्यान आकर्षित करता है। अत स्तन विकास लडकियों में लैंगिक परिपक्वता का एक सकेत प्रदर्शित करती है। निम्नतालिका से लैंगिक परिपक्वता का प्रदर्शन स्पष्ट होता है।

Sexual Maturation in Boys and Girls

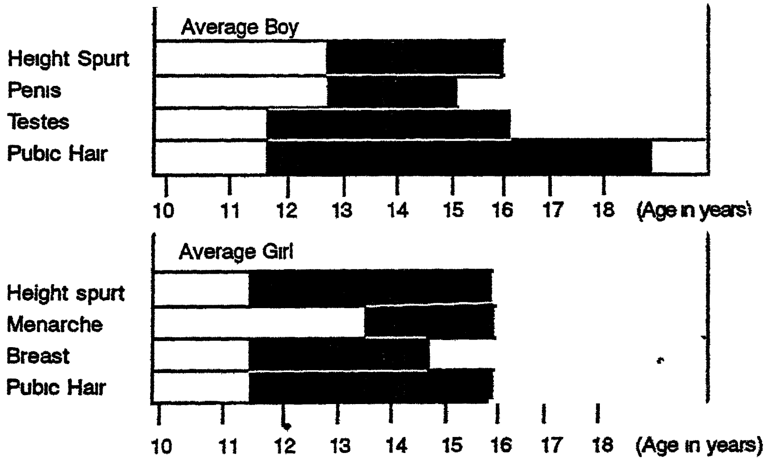

Diagram representing the sequence of events in the pubertal development of an average boy and girl The shaded areas represent the range of years during which such development usually occurs Although individual growth and change patterns may vary widely from these norms, girls generally start and end such development earlier than boys (Adopted from Tanner, 1962)

किशोरावस्था मे किशोर तथा किशोरियॉ आकर्षक दिखने का प्रयास करती है। लैंगिक परिपक्वता प्राप्त हो जाने पर वे समकक्ष समूहो के सदस्यो एव मित्रो मे लैगिक व्यवहार के विषय मे अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहती है। विवाहसूत्र मे बॅधने के पहले ही उन्हें अनेक प्रकार के स्रोतो से लैगिक कार्यों के विषय मे सूचनाएँ मिलती है। इसी अवस्था मे वे हस्तमैथुन प्यार मुहब्बत आलिगन तथा लैगिक ससर्ग का भी व्यक्तिगत रूप से प्रायोगिक अनुभव करते है। इस तरह से उनके लैगिक व्यवहार विकसित होते है। उत्तरकिशोरावस्था तक उनमे लैगिक क्रियाओ की जानकारी चरम सीमा पर होती है। वे चलचित्र तथा सचारतन्त्रो के माध्यम से लैगिक क्रियाओं के प्रति सचेत रहते है। इस तरह से यदि देखा जाये तो ज्यादा तर किशोर तथा किशोरियॉ औपचारिक विवाह सूत्र मे बॅधने से पूर्व लैगिक क्रियाओ की जानकारी रखते है। लैगिक रुचियॉ तथा व्यवहार के विकास की प्रक्रिया को निम्नलिखित दो भागों में बॉटा जा सकता है।

(1) बहुलैगिकता का विकास (Development of Heterosexuality)

(2) अनुमोदित लैगिक भूमिकाएँ (Approved Sex Roles)

बहुलैंगिकता का विकास (Development of Heterosexuality) – पुरुषों तथा महिलाओ का व्यवहार प्रत्येक सस्कृति एव समाज मे समाज द्वारा निर्मित मानको एव नियमों पर आधारित होता है। यदि देखा जाये तो बच्चे को जन्म लेते ही उसके लिग के आधार पर समाज मे समयोजित होने के लिए प्रशिक्षण का प्रबध किया जाता है। यहॉ तक उनके, रहने, खाने, पीने, बोलने तथा पोशाक पहनने में भी लैगिक विभेद को महत्व दिया जाता है। इस तरह से बालक तथा बालिकाएँ अपने समाज से प्रशिक्षण पाकर बडे होते है तथा उनका व्यवहार भी लिंग सगत होने लगता है। किशोरावस्था मे लडके तथा लडकियॉ लैगिक परिपक्वता के फलस्वरूप एक दूसरे के प्रति आकर्षित होने लगते हैं तथा उनका झुकाव एक दूसरे के प्रति बढने लगता है। यहॉ तक देखा गया है कि यदि बच्चे के सामने खिलौने रखे जायें तो बच्चे खिलौनों का चयन अपने लिंग के अनुसार ही करते हैं। (डिलूसिया Delucia, 1963)। हिलगार्ड (Hilgard, 1970) ने अपने अनुभव के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि लडके अपने माता के साथ तथा लडकियॉ अपने पिता के साथ अधिक तादात्मीकरण स्थापित करती है। आयु तथा सामाजिक सम्पर्कों में विवृद्धि से विषमलिंगीय आकर्षण बढता है तथा दूरी घटने लगती है।

इस समय समाज का दृष्टिकोण लिंग के प्रति काफी लचीला एव उदार हो गया है। परिवार नियोजन को बढावा मिलने के कारण तथा गर्भनिरोधक तकनीकों की खोज तथा

गर्भपात को एक कानूनी मान्यता मिल जाने के कारण आजकल किशोर तथा किशोरियों को छोड दीजिए उत्तरबाल्यावस्था के बालक भी लेगिक व्यवहार मे रूचि प्रदर्शित करने लगे हे तथा इनसे उन्हे अधिक जानकारी भी मिल रही है। गर्भनिरोधक के विज्ञापन का इस दिशा म सगहनीय योगदान है कि वे उसके प्रति सही जानकारी किशोर तथा किशोरियो को प्रदान कर रहे है। इन सभी के परिणामस्वरूप किशोर तथा किशोरियों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण बढ रहा हे। सोरेन्सन (Sorenson, 1973) ने एक अध्ययन करके यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया हें कि विवाहसूत्र म बॅधने के पूर्व ही अधिकाश किशोर तथा किशोरियाँ लेगिक जानकारी रखते है। सोरेन्सेन (Sorensen,1973) ने 400 लडके तथा लडकियो का अमेरिका मे साक्षात्कार लिया। इनकी उम्र 13 19 वर्ष थी। इन लडको तथा लडकियो में से साक्षात्कार के समय 59% लडके तथा 45% लडकियो ने यह बतलाया कि उन्होने कम से कम एक बार लैगिक क्रियाओ का अनुभव किया है। सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह रहा हे कि 16 वर्ष के ऊपर वाले लडके तथा लडकियो ने इस बात को स्वीकार किया कि उन्हे लैंगिक क्रियाओ का अनुभव हुआ है।

अधिकाश अध्ययन इस बात को स्वीकार करते हैं कि किशोरावस्था के पहले लडके तथा लडकियाँ किसी न किसी तरह से लेगिक अनुभव करते हैं। उदाहरण के लिए रम्शे (Ramsey, 1943) ने पाया कि 12 वर्ष की आयु तक 75% बालको ने हस्तमैथुन करने की बात स्वीकारी तथा 15 वर्ष की आयु तक 100% बालको ने ऐसे अनुभव को स्वीकार किया कि वे हस्तमैथुन करते हैं। 13 वर्ष की आयु में 40% बालको ने समलिगी मैथुन को स्वीकारा तथा उसके विपरीत उत्तरकिशोरावस्था में 40% बालिकाओं नें भी हस्तमैथुन क्रिया को स्वीकारा। किन्से (Kinsey, 1953) के रिपोर्ट के आधार पर यह पाया गया कि 20 वर्ष की आयु मे मात्र 20% लडकियों ने तथा 40% बालकों ने लैगिक सन्सर्ग का अनुभव किया था। परन्तु आज इनकी रिपोर्ट पीछे छूट गयी है। आज यह प्रतिशत महिलाओं में 20% से बढकर 30 40% तक पहुँच गया है। (Bell and Chasks 1970) । अभी एक अध्ययन में 4000 लडकियो का, जो 15-19 वर्ष की आयु की थी, सर्वेक्षण किया गया तो ऐसा पाया किया कि 19 वर्ष की उम्र में 46% लडकियों ने लैंगिक ससर्ग का अनुभव किया । (Zelink and Kartner, 1972) । किन्से (Kinsey, 1953) ने यह भी रिपोर्ट दिया कि 49% शिक्षित पुरुषो ने शादी से पहले लैंगिक ससर्ग किया जब उनकी उम्र 21 वर्ष से कम थी।

किन्से (Kinsey, 1953) ने यह भी निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि लैंगिक ससर्ग पर सामाजिक वर्ग का असर पडता है। उसने ऐसा पाया कि ज्यादा तर शादी से पहले लैंगिक ससर्ग (Premarital Sexual intercourse) मध्यम एव उपरमध्यम वर्ग के लोगों मे पाया जाता है। निम्न तालिका पॉच देशों के पुरुष तथा महिलाओ के लैंगिक व्यवार को प्रदर्शित करतो है। इस सारणी से यह पता चलता है कि अमेरिका मे शादी से पहले लैंगिक ससर्ग की सख्या में तेजी से वृद्धि हुई है (Luckey and Nass, 1969) । यह सारणी इस बात को सकेत करती है कि विभिन्न देशों की तुलना में अमेरिका में लैंगिक ससर्ग का अनुभव पुरुष तथा महिलाएँ शादी से पूर्व कर लेती हैं। तालिका निम्नवत् है—

College Women's Sexual Experience

Type	USA	CANADA	FNGLAND	GERMANY	NORVAY
Light embracing or fond holding of hands	97 5%	96 5%	91 9%	94 8%	89 3%
Casual goodnight kissing	96 8%	91 8%	93 0%	74 0%	75 0%
Deep kissing	96 5	91 8	93 0	90 0	89 3
Horizontal embrace with some petting but not undressed	83 3	81 2	79 1	77 1	75 0
Petting of breast area from outside women's clothing	78 3	78 8	82 6	76 0	64 3
Petting of breast area without clothes intervening	67 8	64 7	70 9	66 7	58 9
Petting below the waist under woman's clothing	61 2	64 7	70 9	63 5	53 6
Petting below the waist of both Man and Woman under cloting	57 8	50 6	61 6	56 3	42 9
Nude embrace	49 6	47 6	64 0	62 1	51 8
coitus	43 2	35 3	62 8	59 4	53 6
One night affair involving coitus, did not date person again	7 2	5 9	33 7	4 2	12 5
Whipping or spanking before petting or other intimacy	4 5	5 9	17 4	1 0	7 1
Sex on pay-as-you-go basis-	—	—	—	—	—

Source Adopted from Fleanore Lockey and Gilbert Nass (1969) A compassion of sexual attitudes and Behaviours in an International sample " Journal of Marriage and the family 31 374 375

College men's Sexual Experience

USA	CANADA	ENGLAND	GERMANY	NORVAY
98 6%	98 9%	93 5%	93 8%	93 7%
96 7	97 7	93 5	78 6	86 1
96 0	97 7	91 9	91 1	96 2
89 9	92 2	85 4	68 8	93 6
89 9	93 2	87 0	80 4	83 5
83 4	92 0	82 8	69 6	83 5
81 1	85 2	84 6	70 5	83 5
62 9	64 8	68 3	52 7	55 1
65 6	69 3	70 5	50 0	69 6
58 2	56 8	74 8	54 5	66 7
29 9	21 6	43 1	17 0	32 9
8 2	5 7	17 1	0 9	5 1
4 2	4 5	13 8	9 8	2 5

अनुमोदित लैंगिक भूमिकाएँ (Approred Sex Roles)

किशोरावस्था मे लैंगिक सगत भूमिकाअ का अधिगम आवश्यक होता है। लिगसगत भूमिकाओ का अधिगम या सीखना एक कठिन कार्य है। किशोरावस्था में लडके तथा लडकियॉ दोनो का अपना लैगिक व्यवहार समाज द्वारा निर्मित एव स्वीकृत नियमो के आधार पर करना पडता है। ऐसा देखा जाता है कि लडके तथा लडकियॉ धीरे धीरे आयु एव अनुभव मे वृद्धि होने के कारण अनुमोदित लैगिक भूमिकाओ को सीख लेते है तथा उनका यह प्रयास होता है कि मेरा लैगिक व्यवहार इन्ही लिग सगत भृमिकाओ के अनुरूप हो। लडकियॉ प्राय लडकों की अपेक्षा इन भूमिकाओ को शीघ्र आत्मसात करने मे असमर्थ पाइ जाती हैं। इसका कारण यह है कि लडको को पर्यवेक्षण व निर्देशन तथा सम्मान लडकियों की तुलना में ज्यादा मिलता है। इसलिए लडको का अधिगम क्षेत्र व्यापक होने तथा पारिवारिक निर्देशन के फलस्वरूप वे शीघ्र ही अपना व्यवहार अनुमोदित लैगिक मानक के आधार पर प्रदर्शित करना सीख जाते है। आजकल समाज मे काफी उदारीकरण का जमाना आ गया है जिसके फलस्वरूप युवक तथा युवतियॉ पूर्ववैवाहिक लैगिक सम्बन्धो, विशिष्ट लैगिक कार्यों, समलैंगिकता तथा विषम लैगिकता के प्रति आपस मे खुले रूप से वार्तालाप कर लेते हैं। आजकल लिगसम्मत व्यवहारपूर्व की अपेक्षा कम स्पष्ट है। गर्भनिरोधक दवाओं तथ तकनीकों के वृद्धि होने से लैगिक अनुभव करने की स्वतन्त्रता मे वृद्धि हो गयी है। आजकल युवक तथा युवतियो का पहनावा भी लगभग एक जैसा हो गया हें। महिलाओ को जितनी स्वतन्त्रता एव आजादी आज मिली है इतनी स्वतन्त्रता तथा समानता पहले नही प्राप्त थी इसलिए उन्हें लिग सम्बन्धी व्यवहार सीखने मे आसानी हो रही है। सोरेन्सेन (Sorensen, 1973) का मत है कि लडकियॉ भी लडको की भॉति स्वतन्त्रता चाहती है। सामाजिक अनुमोदन को प्राप्त करने के लिए एव पारम्परिक महिला की भूमिकाओं का निर्वाह करना आवश्यक हो जाता है। अत इस प्रसग में वे दोहरे मापदण्ड की विरोधी है। अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष मे नारी मुक्ति आन्दोलन की भी बात कही गई है तथा उन्हे पुरुषों के बराबर उनका अधिकार दिलाने की बात चर्चा में है तथा कई देशो मे आज इस पर खुलकर सम्मेलन एव सगोष्ठियॉ हो रहे है। इस तरह से महिलाओं का अधिकार क्षेत्र अब केवल रसोईघर तक न रहकर देश के राजनीति तक बढ गया है। महिला मुक्ति आन्दोलन ने महिलाओ के लिए समान अधिकार व समानता की मॉग करके महिलाओं के मानस को जागृत कर दिया है तथा आज काई भी महिला घर की चाहरदीवारी के अन्दर न रहकर वह ससार के क्षितिज तक पहुॅचकर अपनी भूमिकाओं को बताना चाहती है। सम्प्रति पुरुषो तथा महिलाओं की लिगसगत भूमिकाएँ अस्पष्ट हो गयी हैं। आज महिलाएँ पुरुषो के कन्धे से कन्धा मिलकार देश की प्रगति एव समाजोत्थान में अपना भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। सम्प्रति लैगिक रुचियॉ एव व्यवहार मे वृद्धि हुई है । गर्भनिरोधक तकनीको को कानूनी स्वीकृति मिल जाने से महिलाएँ लैगिक क्रिया के विषय मे खुलकर बात करती हैं। उनमे अब भय समाप्त हो गया है। अत यह कहा जा सकता है कि लैगिक स्वतन्त्रता एव लैंगिक व्यवहार को लिंगसगत रुढिया एव पूर्वाग्रह प्रभावित करते हैं। आज भी पुरुष तथा महिलाओं के लैंगिक व्यवहार में जो अन्तर पाया जाता है उसमें लिंगसगत रुढियुक्तियों तथा भूमिकाओं का विशेष हाथ होता है ।

किशोरावस्था की समस्याऍ
(Problems of Adolescence)

किशोरावस्था मे जो समस्याये प्राय परिलक्षित होती है उनमे शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक समस्याये मुख्य रूप मे विचारणीय हैं।

(1) शारीरिक समस्याये (Physical Problems)

किशोरावस्था मे अनेक समस्याये जन्म ले लेती है। इसमे शारीरिक विकास के साथ-साथ शारीरिक परिवर्तन भी परिलक्षित होता है। शारीरिक परिवर्तन के समय किशोरी तथा किशोर के लिए समायोजन स्थापित करना मुश्किल हो जाता है। किशोर क शरीर मे विकास की गति तीव्र होती है। कुछ किशोर अपना शरीर स्वस्थ रखने के लिए परेशान रहते हैं तथा दूसरे लोग वजन घटाने या बढाने हेतु चिन्तित पाये जाते है। किशोरो की समस्याये सामाजिक होती है। वे अपने शरीर के उचित विकास के अभाव मे समाज के अन्य लोगो के साथ सम्बन्ध बनाने मे हीनभावना से ग्रस्त हो जाते हैं। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि जो किशोर दुबले एव पतले होते हैं वे अपने शरीर को मोटा करने के लिए परेशान रहते है। साथ ही जिन किशोर तथा किशोरी की लम्बाई किशोरावस्था मे औसत से कम होती है ऐसे लोग इस बात से परेशान रहते हैं कि समाज मे उन्हे हँसी का पात्र बनना पडेगा। जिससे वे हीन भावना के शिकार हो जाते है। कभी कभी यह भी देखा गया हें कि जो किशोर अपग या विकलाग होते है उन्हे सामाजिक पर्यावरण के साथ समायोजन मे काफी दिक्कतें होती हें। अत शारीरिक समस्याओ से किशोर में हीनभावना का विकास होता है। किशोरो को अपनी सस्कृति के सामाजिक मानकों से अभियोजन करना पडता है। शारीरिक समस्या जितनी ही अधिक होगी समायोजन उतना ही मुश्किल होगा। (डेविस 1947) । शारीरिक स्वास्थ्य का सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शारीरिक दोषों के कारण किशोर का सामाजिक विकास अवरुद्ध होता है। जिसके फलस्वरूप हीनता की भावना उनमें दिखायी देती है। ऐसा भी देखा जाता है कि समकक्ष समूहों में यदि कोई सदस्य अपने समूहो के अन्य सदस्यो से शारीरिक क्षमता में कमजोर महसूस करता है तो वह अन्य शारीरिक प्रतिस्पर्धाओं मे पीछे रह जाता है जिससे वह परेशान हो जाता है और हीनभावना हताशा तथा निराशा उनके अन्दर घर कर लेती है । हीनभावना के फलस्वरूप उनका सामाजिक तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी विकास समुचित रूप से सम्पन्न नही हो पाता है। इन कारणों से किशोर तथा किशोरी अपनी योग्यताओं, क्षमताओं तथा स्व का न्यूनानुमान करता है। (Hilgard etal, 1975, Rogers and Rease, 1965, Stone 1948, Williams, 1950)

(2) मनोवैज्ञानिक समस्याये (Psychological Problems)

शारीरिक परिपक्वता के साथ साथ किशोरावस्था में मनोवैज्ञानिक परिपक्वता को प्राप्त करने के लिए किशोरों को कई समस्यायें स्कूलकार्य, माता पिता शिक्षक, अपने ही यौन के सदस्यों के साथ सम्बन्ध, विपरीत लिंग के सदस्यों के व्यवसाय का चुनाव आर्थिक तथा व्यक्तिगत समायोजन से सम्बन्धित होती है। (Coch, 1947, Pope 1947, Beker, 1945, Flease 1945, Luhen and Brass 1947, Williams, 1949, Remess and Spenser, 1950, Drucker 1951, Garrison and Cunningham 1952)। साइमण्डस (Simonds, 1936) के अनुसार इस अवस्थाओं मे रुचियो मे परिवर्तन होता है जिसके कारण भी अनेक समस्याये जन्म लेती है। गैरिसन एव कनिघम (Garrison and Cunningham, 1952) के अनुसार इस अवस्था में किशोर से ज्यादा समस्यायें किशोरी की

होती है। वह अपने शारीरिक विकास को देखते मनोवैज्ञानिक रूप से इस अवस्था में समायोजन करने मे समस्याओ का सामना करती है। विपरीत लिगो के प्रति आकर्षण तथा उनके साथ प्रेम मुहब्बत, प्यार आलिगन आदि समस्याये मनोवैज्ञानिक रूप से उसे परेशान करती है जिससे वह अपने को इस अवस्था मे समायोजित नही कर पाती है। इस अवस्था में किशोरियो की प्रमुख समस्याये अधिकतर पारिवारिक समायोजन, सामाजिक समायोजन, व्यक्तिगत आकर्षण तथा शिष्टाचार से सम्बन्धित होती है जबकि किशोरो की समस्यायें धनार्जन तथा भविष्य से सम्बन्धित होती है। (Pope, 1943, Simonds 1936) । Blos (1971) के अनुसार किशोरावस्था मे बालको तथा बालिकाओ को अधिक से अधिक मनोवैज्ञानिक परिपक्वता लानी चाहिए तथा अपरिपक्व एव बचकाना व्यवहार त्यागकर प्रौढों जैसा आचरण करना चाहिए। इस अवस्था मे किशोर तथा किशोरियो मे प्राय विपरीत यौन के साथ समायोजन न कर पाना तथा लिगसगत भूमिकाओ मे पीछे रहना एव विवाहपूर्व गर्भधारण कर लेना इत्यादि लैगिक अपरिपक्वता के लक्षण प्रदर्शित होते है। किशोरावस्था में नियमों तथा मानको की अवहेलना करने का व्यवहार भी प्रदर्शित होता है। वे अपने समाजविरोधी कार्यो को उचित बताने का प्रयास करते है। Berry, 1971, Goldberg and Guilford, 1972, Heith and Gragory, 1946)

उत्तर किशोरावस्था मे किशोरो मे माता पिता पर निर्भरता का भी प्रदर्शन होता है। उनकी ज्यादातर समस्याये, पारिवारिक दशाएँ तथा विद्यालीय पर्यावरण से उत्पन्न होती है। (Klohar, 1948) । इस अवस्था की प्रमुख मनोवैज्ञानिक समस्यायें विद्यालयीकार्यों, व्यावसायिक वरीयता मनोवैज्ञानिक समायोजन पारिवारिक सम्बन्ध तथा अहम् तादात्म्य से सम्बन्धित होती है। (Stone, 1948, Williams, 1950) डोन्हायू एवम् एलडरसवेल्ड (1947) ने जीविका चयन, आवश्यक प्रशिक्षण तथा अवसर प्राप्त करने की समस्याओं को बतलाया है जबकि हीथ एव ग्रेगरी (1946) ने लज्जाहीन भावना, सामाजिक सवेदनशीलता से सम्बन्धित सामाजिक समस्याओं को प्रमुख माना है। लडको की तुलना में लडकियों के सामाजिक समस्याओ के समाधान मे अधिक कठिनाई होती है। (Hunter and Morgan, 1949) तथा ये समस्यायें नैतिकता, धर्म, यौन विवाह एव व्यक्तिगत आकर्षण से सम्बन्धित होती है (साइमण्ड 1957 और स्टोन 1948)। इस अवस्था मे चरित्र व्यवहार एव नैतिक निर्माण से सम्बन्धित समस्याये भी देखी जाती है (किरकेन्डालण 1948)। ऐसा भी देखा जाता है कि यदि पारिवारिक सम्बन्ध अच्छा नही होता है। ऐसे किशोर एव किशोरियों का सम्बन्ध बाहरी लोगो से भी सन्तोषजनक नही होता है। अत पारिवारिक सम्बन्धों का भी किशोरावस्था के सामाजिक समायोजन पर पडता है।

इसके अतिरिक्त किशोरावस्था मे समायोजन की समस्याओं तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी कारको के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन पाण्डेय (1968) ने किया। इन्होंने मूने समस्या जॉच सूची (Moone Problem Check List) की हिन्दी भाषा में अनुकूलन किया है। इस सूची मे 330 कथन है जो किशोरावस्था से सम्बन्धित समस्यायाओं की जाँच करते हैं। मूने समस्या जॉच सूची में निम्नलिखित किशोरावस्था से सम्बन्धित समस्याओ का अध्ययन किया जाता है।

(1) स्वास्थ्य एव शारीरिक विकास सम्बन्धी समस्यायें।

(2) वित्त, रहन-सहन की दशाएँ तथा रोजगार सम्बन्धी समस्यायें।

(3) सामाजिक एव मनोरजनपरक क्रियाओं से सम्बन्धी समस्यायें।

(4) सामाजिक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध से सम्बन्धित समस्यायें।

(5) प्रेम लिग एव विवाह से सम्बन्धित समस्याये।

(6) व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध से सम्बन्धित समस्यायें।

(7) नैतिकता एव धार्मिक सम्बन्धी समस्यायें।

(8) व्यावसायिक एव शैक्षिक समस्याय।

(9) स्कूल के कार्यो के प्रति समायोजन से सबन्धित समस्याये।

(10) अध्यापनविधि एव पाठयक्रम से सम्बन्धित समस्याये।

(11) पारिवारिक एव गृह से सम्बन्धित समस्याये।

पाण्डेय (1968) ने समस्याओ के प्रति समायोजन पर व्यक्तित्व सम्बन्धी कारकों का अध्ययन किया तथा यह निष्कर्ष दिया कि व्यक्तित्व सम्बन्धी कारक समायोजन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते है। गुप्ता एव गुप्ता (Gupta & Gupta 1978) का मत है कि लडकियाँ कुछ क्षेत्रो से सम्बन्धित समस्याओं से अधिक मुश्किले किशोरावस्था में महसूस करती है तथा कुछ क्षेत्रो मे समायोजन मे कम कठिनाई महसूस करती है। गुप्ता एव गुप्ता (1978) के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष व्यक्त किया गया कि सामाजिक मनोरंजन सम्बन्धी 39 38%, व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध 33 87%, पाठयक्रम एव अध्यापन विधि 33 55% एव सामाजिक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध 31 224 % में इन चार क्षेत्रो मे लडकियों ने ज्यादा समस्याओं का अनुभव किशोरावस्था में किया। इस तरह से यदि देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि आयु एव अनुभव मे वृद्धि के फलस्वरूप किशोर तथा किशोरियाँ समस्याओ के साथ समायोजन करना सीख जाती है। वेसे सभी अवस्था के बालकों की अपनी अपनी समस्याएँ होती हैं परन्तु किशोरावस्था की समस्याएँ अधिक कष्टप्रद होती हे। किशोरावस्था को इसलिए समस्या की आयु भी कहा गया है क्योंकि इस अवस्था म किशोरो को समाज द्वारा स्वीकृत मानको नियमो तथा प्रौढों के अनुरूप व्यवहार करना पडता है जिसमें उन्हें कठिनाई का सामना करना पडता है। अत कह सकते हैं कि विभिन्न समस्यात्मक क्षेत्रों में समयोजन की योग्यता अनिवार्य मानी गयी है। इसमें समायोजन की योग्यता में अन्तर भी देखा जा सकता है।

अत उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किशोरावस्था एक ऐसी अवस्था है कि जिसमें किशोर तथा किशोरियों से समाज एव प्रौढ दोनो उपयुक्त प्रत्याशा व्यवहार का प्रदर्शन चाहते हे। इस प्रत्याशा व्यवहार में किशोर तथा किशोरी को समायोजन सीखना पडता है। बिना समायोजन के उसका व्यवहार उपयुक्त नही हो सकता है। साथ ही साथ किशोरावस्था में माता-पिता तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों की जिम्मेदारी किशोर के प्रति बढ जाती है। अत इस अवस्था में पारिवारिक दायित्व का निर्वाह सावधानीपूर्वक करना चाहिए जिससे किशोर सामाजिक समस्याओं के प्रति समायोजन करना सीख सकें । पारिवारिक सम्बन्ध अच्छा होना चाहिए जिससे उनका उचित विकास हो सके।

●

15 व्यक्तित्व का विकास
(Development of Personality)

नवजात शिशु मे जन्म के समय मात्र सहज क्रियाएँ ही देखने को मिलती हैं। परन्तु धीरे-धीरे यही सहजक्रियाएँ परिपक्वता एव अनुभव के कारण गुणो के रूम मे विकसित होने लगती हे। अनुवाशिकता एव पर्यावरणा की भूमिका व्यक्तित्व विकास मे सहायक होती है। बच्चा जिस नरह के समाज या सस्कृनि मे रहता है उसी सस्कृति एव समाज मे निहित आदतो व्यवहारो आदि का आन्मसातीकरण करता है। शारीरिक, सामाजिक सावेगिक एव मानसिक विकास की प्रक्रिया आयु तथा अनुभवो म वृद्धि के साथ बढने लगती है। एव बच्चा अपना व्यक्तिगत अस्तित्व स्थापित करने लगता है। व्यक्तित्व से सम्बन्धित अध्ययनों की अभी कुछ दिनो पूर्व तक मनोवैज्ञानिक द्वारा उपेक्षा की जाती रही थी। इसका प्रधान कारण इस विषय की जटिलता है। व्यक्तित्व अध्ययनों के क्षेत्र में सर्वप्रथम व्यवस्थित अध्ययन मनोचिकित्साशास्त्रियो द्वारा प्रारम्भ किये गये उसमें कुछ प्रमुख मनोचिकित्साशास्त्री क्रैपलिन, जैनेट तथा फ्रायड आदि है। फ्रायड का इस दिशा मे योगदान अधिक महत्वपूर्ण रहा तथा काफी लोकप्रियता भी प्राप्त की। 19वी शताब्दी के प्रारम्भ मे व्यक्तित्व सम्बन्धी अध्ययनों का अर्थ केवल वैयक्तिक इतिहास से था। तत्पश्चात् व्यक्तित्व के अध्ययनों में इस विषय की खोज होने लगी थी व्यक्तित्व का विकास कैसे सभव है। ऐसे अध्ययनों का कार्य 1930 तक चलता रहा परन्तु धीरे धीरे इसके निर्धारकों पर भी अध्ययन शुरू हुआ। आज व्यक्तित्व एक स्वतन्त्र रूप से अध्ययन का विषय बन चुका है तथा यह साबित हो चुका है कि पर्यावरण के प्रति समायोजन स्थापित करने मे व्यक्तित्व का अत्यधिक महत्व होता है। अत यहॉ पर व्यक्तित्व के विकास की चर्चा अपेक्षित है।

व्यक्तित्व का अर्थ— (The Meaning of Personality) – आज से लगभग 2000 वर्ष पूर्व व्यक्तित्व के लिए लैटिन भाषा का एक शब्द **परसोना** (Persona) का उपयोग किया जाता है। परसोना शब्द का अर्थ है नकाब (Mask) या वेशभूषा। परसोना शब्द के अनुसार व्यक्तित्व अर्थ बाह्य विशेषताओ एव गुणों से लगाया जाता है। व्यक्तित्व से सम्बन्धित सैकडों परिभाषाएँ हैं। जिनका वर्णन **आलपोर्ट** (Allport, 1937) ने किया है। आलपोर्ट ने इन परिभाषाओ को 6 भागों में बॉटा है यहाँ पर कुछ महत्वपूर्ण प्रचलित परिभाषाएँ देना उपयुक्त होगा। आलपोर्ट (1924) के अनुसार "व्यक्तित्व एक व्यक्ति की उसकी विशेषताओं के अनुसार सामाजिक उद्दीपकों के प्रति की गयी प्रतिक्रिया है और वह गुण है जो वह अपने वातावरण के सामाजिक लक्षणों से समायोजन होकर प्राप्त करता है।

'Personality is the individual's Characteristics reactions to social stimuli and the quality of his adaptation to the social features of his environment"

गुथरी (Guthri, 1944) के अनुसार व्यक्तित्व की परिभाषा सामाजिक महत्व के उन आदतो तथा आदत सस्थानो के रूप मे की जा सकती है जो स्थिर तथा परिवर्तन के अवरोध वाली होती है।

'Personality is defined as those habit and habit systems of social importance that one stable and resistant to change"

सामाजिक मूल्य के रूप म व्यक्तित्व के दो अर्थ बताये है (Staghner, 1961)–(1) उद्दीपक मूल्य के रूप म व्यक्तित्व (Persinality as a stimulus value)–उसके अन्तगत यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियो पर प्रभाव है अथवा समाज मे व्यक्ति दूसरे व्यक्तियो को किस रूप मे प्रभावित करता है। प्राय प्रतिदिन ऐसा देखा जा सकता है कि जिन व्यक्तियो का उद्दीपक मूल्य बहुत अधिक होता है या जो हमें अपने आकर्षण से प्रभावित कर जाते है अथवा हमें अच्छे लगते है उनके लिए हम यह कह देते है कि अमुक व्यक्ति का व्यक्तित्व बहुत अच्छा है। परन्तु व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यह विचारधारा नही अधिक महत्वपूर्ण है नही वैज्ञानिक है क्योकि एक ही व्यक्ति के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न लोगो की राय एक जैसी नही होती हैं। इस सम्बन्ध में स्टेगनर (Stagner, 1961) का विचार है "Definition of Pesronality as stimulus makes precision impossible because two personalities are interacting in every instance

(2) अनुक्रिया के रूप मे व्यक्तित्व (Personality as a response) व्यक्तित्व की दो परिभाषाएँ जो आलपोर्ट एव गथरी द्वारा उपर दी गयी है व्यक्तित्व को अनुक्रिया के रूप में परिभाषित करती है। उससे एक लाभ यह है कि व्यक्तित्व का अध्ययन बाह्य होगा कि व्यक्तित्व केवल अनुक्रिया का समूह ही न होकर उद्दीपक मूल्य भी है।

आलपोर्ट (1937) के अनुसार, व्यक्तित्व के मनोदैहिक गुणो का वह गत्यात्मक सगठन है जो व्यक्ति के वातावरण के प्रति अपूर्व समायोजन को निर्धारण करता है।

Personality is the dynamic oranization within the individual of these psycho-physical system that determine his unique adjustment to his environment"

मन (1953) के अनुसार, व्यक्तित्व की परिभाषा उस अति विशेषतापूण सगठन के रूप मे की जा सकती है जिसमे व्यक्ति की सरचना व्यवहार के ढग, रुचियाँ, अभिवृत्तियाँ, क्षमताएँ योग्यताएँ और अभिक्षमताएँ सम्मिलित हैं।"

"Personality may be difined as the most characteristic integration in an individuals structures modes of behaviour interest, attitudes, capacities abilities and aptitudes" (Munn, 1953)

उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं म Allport (1937) की परिभाषा उन सभी सीमाओं को दूर कर देती है जो सामाजिक मूल्य के रूप मे व्यक्ति को परिभाषित करने से उत्पन्न होती है। इस परिभाषा की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ है।

(1) इस परिभाषा में व्यक्तित्व को गत्यात्मक सगठन के रूप में स्वीकार किया गया है। यह देखा गया है कि ससार की प्रत्येक वस्तु मे कुछ-कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। व्यक्तित्व भी इस परिवर्तनशील गुण से प्रभावित होता ह। अत किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व स्थिर नही होता है बल्कि उसके व्यक्तित्व में वातावरण की अत क्रियाओ के अनुसार परिवतन होता रहता ह।

(2) इस परिभाषा म मनोदैहिक गुणो यानि मानसिक एव शारीरिक दोनो प्रकार के गुणों क रूप मे स्वीकार किया गया है।

(3) इस परिभाषा मे व्यक्तित्व को निर्धारक के रूप मे स्वीकार किया गया ह। व्यक्तित्व समायोजन आदि को भी प्रभावित करता हे।

(4) व्यक्तित्व व्यक्ति के वातावरण के प्रति समायोजन को अपूर्व (Unique) ढग म करवाता ह। यह देखा गया हैं कि वातावरण विभिन्न परिस्थितियो मे सभी व्यक्तियो का समायोजन समान नही होता हैं। वातावरण की विभिन्न परिस्थितियो के प्रति समायोजन उसके व्यक्तित्व के अनुसार निर्धारित होता है।

मन की परिभाषा आल्पोर्ट की परिभाषा का एक अग हैं। मन ने विभिन्न मनोदेहिक गुणो को अपनी परिभाषा में व्यक्त किया हे साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि व्यक्तित्व इन मनोदेहिक गुणो का अत्यधिक विशेषता पूर्ण सगठन है। आइजैंक (Eysenck 1970) के अनुसार 'व्यक्ति की आम प्रेरणात्मक व्यवस्थाओ का व्यक्तित्व सापेक्ष रूप से वह स्थिर सगठन हैं जिसकी उत्पत्ति जैविक अन्तर्नोदो सामाजिक तथा भौतिक वातावरण की अत क्रिया के फलस्वरूप होती है।

Personality in the relatively stable organization of a person's motivational dispositions, arising from the interaction between biological drives and social and Physical environment " (Eysenck,1970)

मार्कस (Marx, 1976) के अनुसार, 'मनुष्य की वेयक्तिकता उसके व्यवहार तथा व्यवहार मे सम्बन्धित विशेषरूप से सगठित निर्धारको का अध्ययन ही व्यक्तित्व का अध्ययन है।'

The stuav of personality is the study of Man's individuality of the unique way in which his behaviour and their underlying determinants are organized (Mark 1976) ।

शिनार (Shinar, 1978) के अनुसार, "व्यक्तित्व ऐसी प्राकाल्पनिक रचना है जिसमें अपेक्षाकृत स्थायी विशेषताओं का समुच्चय पाया जाता है जो विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है।

"Personality is a hypothetical construct which Consists set of characteristics which influnces the behaviour of the individual indifferent situations " (Shinar, 1978) ।

उपर्युक्त परिभाषाओं का यदि पूर्णत एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया जाये तो Allport (1937) Eysenck (1970), Marx (1976) और Shinar (1978) की

परिभाषाएँ व्यक्त प्रतीत होती है। इन सभी परिभाषाओ से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व में किस प्रकार के गुण सम्मिलित होते है। इन परिभाषाओ से यह भी स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व मे शारीरिक और सज्ञानात्मक दोनो प्रकार के गुण सम्मिलित होते है। परन्तु उसमे अधिकाश और प्रमुख गुण प्रभावोत्पादक सज्ञानात्मक गुण स्थायीभाव अभिवृत्तियॉं मानसिक ग्रन्थिया तथा अचेतन मनोरचनाएँ रुचियॉं और विचार आदि हो सकते है। ये सभी गुण व्यक्ति के विशेष तथा भिन्न दिखायी देने वाले व्यवहार का निर्धारण करते है।

व्यक्तित्व के लक्षण (Traits of Personality)—क्रच और क्रचफील्ड (1958) ने व्यक्तित्व लक्षणो को परिभाषित करते हुए कहा कि लक्षण व्यक्ति की एक स्थायी विशेषता है। जिसके द्वारा विभिन्न दशाओ मे लगभग एक सा व्यवहार होता है। आलपोर्ट ने व्यक्तित्व लक्षणो को ८ कसौटियो के आधार पर परिभाषित किया है—

(1) लक्षण का अस्तित्व नगण्य से अधिक है।

(2) आदत की अपक्षा लक्षण अधिक सामान्यीकृत होता है।

(3) यह गत्यात्मक होती है कम से कम निर्धारक आवश्यक होती है।

(4) इनके अस्तित्व को अनुभवात्मक और साख्यिकी आधारो पर स्थापित किय जा सकता है।

(5) व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षण एक दूसरे से स्वतन्त्र होते है।

(6) मनोवैज्ञानिक रूप से व्यक्तित्व लक्षण वह नही हैं जो नैतिक गुण है।

(7) वह कार्य और आदते जो लक्षणो के अनुकूल नही होते है उनके द्वारा लक्षणो के अस्तित्व का प्रमाण नही मिलता है।

(8) लक्षण अपूर्व (unique) होते है तथा सार्वभौमिक होते है आलपोर्ट ने व्यक्तित्व लक्षणों के क्षेत्र मे 1929 60 तक गहन अध्ययन किया है आलपोर्ट ने व्यक्तित्व लक्षणों के आधार पर व्यक्तित्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जिसका महत्वपूर्ण निष्कर्ष निम्नवत है—

(1) व्यक्तित्व लक्षणो मे प्रेरित करने, अवरुद्ध करने अथवा उपयुक्त व्यवहार को चयन करने की क्षमता होती है क्योकि इनमे अभिप्रेरणाएँ और आदते सयुक्त होती है।

(2) इन लक्षणो का प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण सभव नही है परन्तु अनुमान अवश्य सभव है।

(3) लक्षणों पर आदते अपना प्रभुत्व नही जमा पाती है बल्कि लक्षण आदतों के निर्माण हेतु दबाव डाल सकते है।

(4) लक्षण व्यवहार को निर्देशित कर सकते है।

(5) आलपोर्ट एण्ड ओडवर्ट (Allport and Odbert, 1936) ने अपने अध्ययनों के आधार पर 17953 लक्षणो का नामकरण किया और इनकी खोज की। इनमें से 4050 लक्षण ऐसे हैं जिनका मापन और विश्लेषण सभव है।

(6) आलपोर्ट के अनुसार कुछ सत्य लक्षण इस प्रकार है जैसे समयबद्धता ईमानदारी, सहिष्णुता आक्राम्कता सवेगात्मक स्थिरता, सघीय प्रवृत्ति प्रतिभागिता, प्रसन्नता विनीतता विश्वसनीयता, शिष्टता आशावादिता, निराशावादिता सामाजिक आदि।

(7) सामान्य लक्षणों की सहायता से सामान्य व्यक्तियों के समायोजन ढगो की तुलना की जा सकती है।

(8) लक्षणों के समूह को आलपोर्ट ने syndromes (समष्टिय) की संज्ञा दी है।

(9) आलपोर्ट ने सभी लक्षणों को तीन प्रारूपों मे वर्गीकृत किया है य तो कार्डिनल लक्षण (Cardinal traits)। इस प्रकार के लक्षण अधिक प्रभुत्वशाली होते है इनका सवेगो के नियन्त्रण मे महत्वपूर्ण कार्य है इसका दूसरा प्रारूप केन्द्रीय लक्षण होते है। यह लक्षण व्यक्ति के व्यवहार के प्राथमिक लक्षणों के केन्द्र है यही लक्षण व्यक्तित्व निर्माण मे ईट के रूप मे जाना जाता है। तीसरे प्रारूप मे गौण लक्षण (Secondary traits) आते है। इनका महत्व कम होता है।

(10) आलपोर्ट ने दो प्रकार के लक्षणों का वर्णन किया है—प्रथम प्रकार का लक्षण व्यक्तिगत लक्षण (Individual traits) तथा द्वितीय प्रकार का लक्षण समान लक्षण (common traits) होते है जो अनेक व्यक्तियों मे पाये जाते है।

व्यक्तित्व की सरचना अनेक प्रकार के शीलगुणो से होती है इन शीलगुणो का विकास जन्म के बाद ही सम्भव होता है अत यहाँ यह कहना उचित है कि बालक जन्म के पश्चात जिस प्रकार के पर्यावरण मे पाल पोशा जायगा उसमे उसी तरह के गुणो का उद्‌भव होगा। इसमे सामाजिक अन्तःक्रिया की भी प्रमुख भूमिका होती है। इसी अन्तक्रिया के परिणामस्वरूप विभिन्न विशेषताओ का विकास होता है। बालको मे विकसित होने वाली आदते भावनाएँ अभिवृत्तियाँ नैतिकता मूल्य और अभिप्रेरणाएँ तथा रुचियाँ इत्यादि सामाजिक पर्यावरण पर निर्भर करती है। व्यक्तित्व की सरचना मे लक्षण समष्टियाँ भी पायी जाती है। इन लक्षण समष्टियो का विशेष महत्व होता है। सामाजीकरण की अवधि मे बच्चो का जिन वस्तुओ व्यक्तियो और परिस्थितियो से सम्पर्क होता है उनके प्रति वह निश्चित प्रकार की अभिवृत्ति विकसित करता है। यही अभिवृत्तियाँ बालक के व्यवहार को निर्देशित तथा नियत्रित करती है। सुखद अनुभूति प्रदान करने वाला वाली वस्तुओ से वह विधेयात्मक अभिवृत्ति तथा दुखद अनुभूति प्रदान करने वाली वस्तुओ से वह निषेधात्मक अभिवृत्ति विकसित कर लेता है। इस प्रकार से निर्मित होने वाली अभिवृत्तियाँ बालक के व्यक्तित्व का एक अग बन जाती है और परिवेश के प्रति व्यवहार करने का समायोजन स्थापित करने मे अनुक्रिया की दिशा एव तीव्रता का निर्धारण करती है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो रहा है कि व्यक्तित्व के शीलगुणों का विकास जन्म के पश्चात प्रारम्भ होता है। यह शीलगुण जीवनपर्यन्त तक जारी रहता है। जैसा कि हम जानते है कि व्यक्तित्व प्रणाली मे शीलगुणो का विकास परिमार्जन एव पुनर्सगठन होता रहता है इसलिए व्यक्तित्व गत्यात्मक सगठन कहा जाता है। सामाजीकरण की अवधि में ही बालक मे मै एव मुझे की भावना का विकास हो जाता है। इस तरह उसके आत्म (self) का विकास होता है। यही व्यक्ति की स्वय के बारे में अवधारणा उसके व्यवहारो को प्रभावित करती है।

व्यक्तित्व विकास के सिद्धान्त (Theories of Personality Development)

(1) **फ्रायड का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त** (Freud s Psycholanalytical Theory —फ्रायड (1939 56) वह प्रथम व्यक्ति था जिसने सर्वप्रथम बाल्यावस्था के

अनुभवो को वयस्क व्यवहार ओर चैतन्यता का आधार बताया। फ्रायड ने व्यक्तित्व विकास को निम्नलिखित पॉच अवस्थाओ मे घटित घटनाओ के आधार पर विश्लेषित करने का प्रयास किया है। इन अवस्थाओ को फ्रायड न मनोलैगिक विकास की अवस्थाओं का नाम दिया है। ये अवस्थाएँ निम्नलिखित है—

(1) **मुखीय अवस्था** (Oral stage)—जन्म के पश्चात् यह अवस्था आरम्भ होती हैं तथा 1 वर्ष तक दूसरा विस्तार रहता ह। इस अवस्था म शिशु के सुख और सन्तोष का प्राथमिक मूल कारण उसके शरीर के मुखीय क्षेत्र के उद्दीपन से उत्पन्न होता है इस अवस्था मे पराश्रयता भी अत्यधिक रहती हे। इस अवस्था मे शिशु प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति पराश्रय रूप मे करता है। आगे चलकर फ्रायड का विचार है कि अगूठा चूसने मे शिशु काम प्रवृत्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार लुब्धा के विकास मे शिशु के मुखीय सुख की प्रधानता पायी जाती हे। इस अवस्था की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता निष्क्रियता का होना है। वातावरण की कठोरता क कारण यदि बालक की उचित देखभाल नही की जाती ह या उसकी इच्छाओ की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होता ह तो उसमे अविश्वास की भावना जन्म ले लेती है।

(2) **गुदीय अवस्था** (Anal Stage)—इस अवस्था मे शरीर मज्जा का प्रशिक्षण व्यक्तित्व के विकास मे सहायक होना है। साथ ही इस अवस्था मे गुदीय उद्दीपन से बच्चा सुख व कामानन्द की प्राप्ति करना हे। बालक मे सक्रियता दिखायी पडती है। उसम सामाजीकरण स्वायत्तता लज्जालुपन तथा अनुरक्षण द्वारा बच्चा सुख व आनन्द की अनुभूति करता है। इस अवस्था मे सुख तथा आनन्द के स्रोत मल धारण व मल विसर्जन और पेशीय नियत्रण होते हैं। इस अवस्था की प्रधानता 2 3 वर्ष के मध्य परिलक्षित होती है।

लैगिक या शिश्नीय अवस्था (Phallic Stage)—इस अवस्था का प्रारम्भ 3 वर्ष में होता है अगले 6 वर्ष तक जारी रहती है। इस अवस्था मे बालक जननेन्द्रिय के दर्शन पर्शन से सुख एव आनन्द की अनुभूति करता है। इस अवस्था मे बालक अनेक कौशलो को प्राप्त करने तथा अन्य पुरुषो के विषय मे नई बातो से परिचित होने का अवसर प्राप्त करता है। इस समय नैतिक मन का विकास होता हे। सत्ता के प्रति विद्रोह भी करना है। इस समय लडके लडकियॉ पिता पुत्र के मध्य सघर्ष का बोलबाला र ा है।

(4) **अव्यक्त अवस्था** (Latent stage)—इस अवस्था में बालक लगभग 5 6 वर्ष का हो जाता है और उसमे लैंगिक (आनन्द) भावनाएँ दब जाती हैं और वह अपना ध्यान बाहरी वातावरण पर केन्द्रित करता है। इस अवस्था मे बालक की काम क्रियाएँ शान्त होने का मुख्य कारण सामाजिक भय है। साथियो के साथ खेलने, गप्प करने में उसे आनन्द आता है। उसे माता पित द्वारा प्रदर्शित प्रेम अच्छा नही लगता हे। मॉ के प्रति प्रेम सम्मान में बदल जाता है। यह अवस्था 12 वर्ष तक चलती है।

(5) **जननिक अवस्था** (Genital stage)—यह अवस्था 12 20 वर्ष तक की है। इसमें लडके तथा लडकियाँ अपने गुप्तागों को जननेन्द्रिय के रूप में देखने लग जाते हैं। लैंगिकता उस अवस्था में फिर से फूट पडती है। इस अवस्था में विषम लिगीय प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इस अवस्था में लडके तथा लडकियॉ कहानी पढने, मनगढन्त कहानियों को सुनने, दिवास्वप्न, मास्टरबेशन (हस्त मैथुन) और समलैगिकता जैसे कृत्य करने लग जाते हैं। गदे

खेल खेलने चुम्बन लेने आदि व्यवहार का प्रदशन होता है। यह देखा गया है कि लडके तथा लडकियॉ अकेले होते है तो आप पराजित अनुभव कर उदास हो जाते हैं और पराजय से सतुष्टि प्राप्त करने हेतु हस्त मैथुन करते हे लडकियॉ सकोची और लज्जालु होने लगती हे। इस अवस्था के अन्त तक समलैंगिकता समाप्त होने लगनी है।

फ्रायड के अनुसार मनोलैंगिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में बालक को जिस प्रकार के अनुभव होगे उसी प्रकार का आगे चलकर उसका व्यक्तित्व उद्‌भूत होगा। फ्रायड ने मन को इदम (Id) अहम (Ego) एव नैतिक मन (Super Ego) में विभक्त किया है। मानवीय व्यक्तित्व इन्ही तीन मानसिक शक्तियो की पारस्परिक प्रतिक्रियाओ का परिणाम है। इदम् अपने मे प्रेरको की तात्कालिक सतुष्णिका इच्छुक रहता है। अधी मूल प्रवृत्तियों का समाहार होने के कारण यह पूर्णरूपेण अचतन रहता है।

इमे भले बुरे का ज्ञान नही रहता है। यह काम वासना का कोष रहता है। यह काम वासना तृप्ति सिद्धान्त से शासित होता है। इसका बाहरी पर्यावरण से सीधा सम्बन्धी नही होता है। इदम् का विकास अहम है। इसका प्रधान कार्य मूल प्रवृत्तियों को ग्रहण करना है यह चेतन और विचारशील होता है। यह वाह्य जगत से नियम और इदम् की स्वाभाविक प्रवृत्ति सवेग दबाव और नैतिक मन की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रियाओं में समझौता करता है। ताकि व्यक्तित्व का सतुलन बिगडने न पावे। नैतिक मन (परम् अहम्) की क्रिया तथा आदर्श का प्रतिफल होता है। यह पूर्वकालीन बाल्यावस्था मे उत्पन्न होता है। यह नैतिकता के आधार पर व्यक्ति की क्रियाओ की आलोचना अव्यक्त रूप मे करता है' दूसरे प्रमुख कार्य इदम् के आवेगो को दमित करना नैतिक लक्षणो को प्राप्ति हेतु अहम् को मानना और पूर्णता के लिए प्रयासरत रहना। इच्छाओ की सतुष्टि होने पर भावना ग्रन्थियॉ पडती हैं और परिणामस्वरूप नैतिकता का निर्माण होता है। व्यक्तित्व के विकास में तादात्मीकरण भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बालकों मे अपने माता पिता या अन्य सदस्यों के प्रति लगाव या प्रेम उत्पन्न होता है। बालक अपनी मॉ के प्रति एव बालिका अपने पिता के प्रति अधिक आकर्षित होती है। इस प्रवृत्ति को क्रमश आडिपस ग्रन्थि (Oedipus complex) एव इलेक्ट्रा ग्रन्थि (Electra complex) कहते है। ये अपने माता-पिता के व्यवहार का अनुकरण करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इनके व्यक्तित्व के विकास पर माता पिता के व्यवहार तथा विशेषताओं का प्रभाव पडता है।

फ्रायड ने व्यक्तित्व के अन्तर्गत इस बात का प्रतिपादन किया है कि व्यक्ति के विचार तथा व्यवहार प्रेरकों द्वारा उत्पन्न होते हैं। इदम् की मूल प्रवृत्तियों तथा अन्त प्रेरणाएँ प्रेरक का काम करती है। छिपे आवेग चिन्ता उत्पन्न करते हैं, अन्त प्रेरणा का अचेतन रूप से निरोध किया जाता है। इस प्रकार अचेतन अभिप्रेरणा व्यक्तित्व विकास में गतिशीलता लाती है।

फ्रायड ने एक व्यापक सिद्धान्त प्रस्तुत किया परन्तु उनके सिद्धान्त की काफी आलोचना भी की गयी है।

(1) अनेक आलोचकों ने इस बात पर काफी नाराजगी जाहिर की है कि फ्रायड ने मानव व्यवहार में लैंगिकता को आवश्यकता से ज्यादा महत्वपूर्ण माना है।

(2) फ्रायड के विचार मनोरोगियो के अध्ययनो पर आधारित ह अत इस सिद्धान्त द्वारा सामान्य व्यक्तियो के विषय मे प्रामाणिक तर्क नही दिये जा सकते है।

(3) फ्रायड के सिद्धान्त मे यह भी कमी है कि इनकी अवधारणाएँ अस्पष्ट एव अपरीक्षणशील है।

(2) एरिक्सन का मनोसामाजिक विकास का सिद्धान्त

(Erickson s Psychosocial development Theory)

एरिक्सन (1950 63) ने अपनी पुस्तक Childhood and Society मे अपने सिद्धान्त का वर्णन किया है। एरिक्सन का सिद्धान्त नवफ्रायडवादी सिद्धान्तो मे सर्वाधिक प्रभावशाली और व्यवस्थित सिद्धान्त है। एरिक्सन ने व्यक्तित्व विकास की 8 अवस्थाओ का वर्णन मनोसामाजिक आधार पर किया है। एरिक्सन का मत है कि व्यक्तित्व का विकास सम्पूर्ण जीवन भर होता रहता है न कि केवल किशोरावस्था तक। उसने अपने व्यक्तित्व विकास पर सामाजिक अन्त-क्रियाओ के प्रभाव को ज्यादा महत्व दिया है। उसका मत है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास का नियत्रण उसकी विकास के सम्बन्ध मे तत्परता का सम्बन्ध होता है। वह जितने ज्यादा व्यक्तियो ओर अधिक प्रकार के व्यक्तियो से अन्त क्रिया करने हेतु तत्पर होता है उसके व्यक्तित्व का विकास उतना ही अधिक होता है। एरिक्सन द्वारा वर्णित अवस्थाएँ निम्नलिखित है तथा प्रत्येक अवस्था मे पायी जाने वाली विशेषताओ का भी वर्णन साथ ही साथ अकित है।

	अवस्था	मनोसामाजिक तत्व	महत्वपूर्ण सम्बन्धो का क्षेत्र	अनुकूल परिणाम
1	जन्म से प्रथम वर्ष तक	आस्था बनाम अनास्था	माता या उसका विकल्प	अन्तर्नोद (प्रेरणा) एव आशा
2	द्वितीय वर्ष	स्वायत्तता बनाम शर्म, सन्देह	माता पिता	आत्मनियत्रण एव इच्छा शान्ति
3	तृतीय से पचम वर्ष	पहल (उपक्रम) बनाम अपराध (दोष)	मुख्य परिवार	निर्देश एव उद्देश्य
4	छठवें से यौवनारम्भ तक	परिश्रम बनाम हीनता	पडोस विद्यालय	विधि एव सक्षमता
5	किशोरावस्था	तादात्म्य एव खण्डन बनाम तादात्म्य प्रसार	समकक्ष समूह एव बाह्य समूह नेतृत्व के आदर्श व्यक्ति	समर्पण एव निष्ठा
6	पूर्व प्रौढावस्था	आत्मीयता एव सहानुभूति बनाम एकाकीपन	दोस्ती, लैगिकता, प्रतिस्पर्धा एव सहयोग के साथी	सम्बन्ध एव प्यार
7	युवा एव मध्य प्रौढावस्था	उत्पादकता बनाम आत्म तन्मयता	विभाजित श्रम एव घरेलू भागीदारी	उत्पादन, परवाह चिन्ता
8	उत्तर प्रौढावस्था	सत्यनिष्ठा बनाम निराशा	मानवतावाद	त्याग, विवेक

(3) व्यक्तित्व विकास के सामाजिक अधिगम सिद्धान्त

(Social Learning Theory of Personality Development)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक बन्दूरा ओर बाल्टर्स (Banduara and Walters 196 ह। इन्होने अपनी पुस्तक Social Learning and Personality Development व्यक्तित्व विकास मे सामाजिक अधिगम को महत्व दिया ह। सामाजिक अधिगम के महत्व क पुष्ट अनेक प्रयोगात्मक अध्ययनो क आधार पर ही ह। मार्कस (1976) ने भी यह लिखा ह कि व्यक्तित्व के सामाजिक अधिगम सिद्धान्तो का एक प्रमुख उद्देश्य यह वर्णन करना ह कि व्यक्तित्व का अधिगम किस प्रकार किस प्रकार होता ह तथा आगे चलकर किस तर परिवशीय परिस्थितियो म उसका परिमाजन होता ह मिलर एव डोलार्ड (1941) ने भी य व्यक्त किया ह कि व्यवहार सम्बन्धी अधिकाश विशेषताएँ पर्यावरण के साथ अन्तर्क्रिया होन पर व्यक्ति मे विकसित होती हे। इस तरह से यह स्पष्ट हे कि सामाजिक अधिगम सिद्धान्तो क समर्थकों ने व्यक्तित्व के विकाम मे फ्रायडवादियो के विचारो को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया ह। बन्दूरा (Bandura 1975) मिशल (Mischel 1973) त था सीयस तथा व्हाटिंग (Sears and whiting 1953) आदि ने व्यक्तित्व के विकास मे फ्रायडवादी विचारो का उन्मूलन करने का प्रयास किया है ओर उनके स्थान पर मामाजिक सज्ञानात्मक कारको एव प्रक्षणात्मक प्रतिमानो की भूमिका पर जोर दिया है।

सामाजिक अधिगम सिद्धान्तों के प्रशसको के अनुसार व्यक्तित्व के विकास मे सामाजिक अधिगम का ही विशेष महत्व है। इन मनोवैज्ञानिकों या समर्थकों के अनुसार बच्चों मे व्यवहारो का विकास अनुकरण के माध्यम से ही उद्भूत होता है। बच्चे विकास की अवस्थाओं में परिवार पडोस तथा अन्य सामाजिक परिस्थितियों का अनुकरण करके अनेक व्यवहार सीखत हे। बच्चे जिन लोगों के व्यवहारों का प्रेक्षण करके अनुकरण करते हैं वे प्रतीकात्मक या उदाहरणस्वरूप हो सकते है। उदाहरणात्मक सिनेमा या पुस्तकों में अनुकरण हेतु प्रतीकात्मक प्रतिमान मिलते हैं। प्रतिमाना के वर्ग मे जाने पहचाने राजनैतिक नेताओं छात्र नेताओ एव खिलाडियो आदि को रखा जा सकता है अनुराग व्यवहार हेतु परिवार की महत्वपूण भूमिका होती है। बच्चे जिस प्रकार के प्रतिमानों को प्रेक्षण करते हैं उनमें वैसे ही विशेषताएँ विकसित होने लगती हैं (Bendura. 1973) सामाजिक अधिगम सिद्धान्तों के महत्व का सियर्स (Sears, 1953) ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि सामाजिक परिस्थितियाँ ही बच्चे मे विभिन्न विशेषताओं का विकास करती है।

शिशुपालन की विधियाँ (Child rearing Practices) का व्य त्व के विकास पर पडने वाले प्रभावों का अध्ययन करने के पश्चात् सियर्स न यह बतलाया कि माँ के पालन पोषण सम्बन्धी नियमो का बच्चे के व्यक्तित्व के विकास पर प्रत्यक्ष एव स्पष्ट प्रभाव पडता है। माता का व्यवहार बच्चों में परिश्रयता आक्रामकता, चिन्ता सामाजिकता या मानवता का बीजारोपण करता है। अत हम दावे से कह सकते हैं कि व्यक्तित्व विकास मे सामाजिक कारकों का अभूतपूर्व योगदान होता है।

व्यक्तित्व विकास की समस्याएँ

(Problems of Personality Development)

बालक के विभिन्न अवस्थाओं के दरम्यान होने वाले व्यक्तित्व विकास में अनेक समस्याएँ आती हैं। अत व्यक्तित्व के विकास के लिए इन समस्याओं का निराकरण करना

आवश्यक होता है सक्षेप मे प्रमुख समस्याएँ जो व्यक्तित्व विकास मे परिलक्षित होता है, निम्नलिखित है (एरिक्सन 1950) ।

(1) **निर्भरता या पराश्रयता** (Dependency)—यह सर्वविदित है कि बच्चा जन्मोपरान्त अपने परिवार पर पूर्णरूप से निर्भर रहता है। वह अपनी इच्छाओं एव आवश्यकताओ की पूर्ति रोकर या चिल्लाकर करता है। शैशवावस्था एव बाल्यावस्था की निर्भरता या पराश्रयता के कारण बच्चो मे अच्छे या बुरे गुण विकसित हो सकते हैं। फ्रायड एव एरिक्सन का भी यह विचार है कि सतुष्टि प्राप्त होने पर (आस्था) एव असतुष्टि प्राप्त होने पर (अनास्था) की भावना जन्म लेती है। अत यह परिवार का दायित्व होता है कि बच्चे में आत्मनिर्भरता की भावना का विकास करे। पराश्रयता के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व पूरी तरह से विकसित नही हो पाता है। इसलिए शैशवावस्था एव बाल्यावस्था मे बच्चे का उचित देखभाल तथा साथ ही साथ उचित प्रशिक्षण प्रदान करना चाहिये। जिससे वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। सियर्स (Sears, 1953) का भी मत है कि बच्चो की अत्यधिक देखभाल (overprotection) के कारण उसमे आत्मनिर्भरता नही आ पाती है। बाल्यावस्था की पराश्रयता का प्रभाव बालक की तुलना मे बालिकाओं पर बुरा प्रभाव डालता है। कागन एव मास (Kagan and Moos 1962) का मत है कि बाल्यावस्था की पराश्रयता की शिकार बालिकाएँ स्वय को असीम से युक्त नही कर पाती हैं। परन्तु बालिकाओं की अपेक्षा बालकों पर इसका प्रभाव उतना अधिक नही दिखायी पडता है। अत अतिरक्षण हमेशा व्यक्तित्व विकास मे बाधक है।

(2) **अनुशासन** (Discipline)—बालक के व्यवहार पर अनुशासन का भी प्रभाव पडता है। ऐसा देखा जाता है कि आत्मनिर्भरता मे वृद्धि होने के साथ-साथ बालक पारिवारिक दबाव तथा हस्तक्षेप से मुक्ति चाहता है। अधिक स्वतन्त्र या नियन्त्रण मुक्त बच्चे अनाज्ञाकारी पाये जाते हैं। इस अनाज्ञाकारिता के फलस्वरूप उनमें निषेधात्मक अभिवृत्तियाँ एव आदतें जन्म ले लेती हैं। अत अनुशासन का समुचित प्रयोग करना चाहिये। जिससे बच्चों में आज्ञाकारिता एव सहिष्णुता दोनों जन्म ले सकें। ज्यादा कठोर अनुशासन बालक के व्यक्तित्व को विकसित करने मे बाधक होता है। ऐसा देखा गया है कि कठोर अनुशासन में पले बच्चे प्राय दब्बू, अन्तर्मुखी एव निष्क्रिय होते हैं। वे कुण्ठा, हताशा, निराशा से पीडित होते हैं। इसलिए यह पारिवारिक सदस्यो विशेषकर माता पिता का यह कर्त्तव्य होता है कि बच्चों में अनुशासन की भावना का विकास करते हुए उनके व्यक्तित्व को एक सही दिशा दें। जिससे उनका समायोजन पर्यावरण के प्रति हो सके। बालकों को अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित करना चाहिये तथा उनकी प्रशसा भी करनी चाहिये। यदि बच्चे अच्छे कार्यों के लिए प्रेरित किये जायें तो उनके विधेयात्मक शीलगुणों का विकास होगा। बच्चों को अनुशासित बनाये रखने के साथ-साथ उनमें स्व की अवधारणा का भी विकास करना चाहिए। बुरे कार्यों के लिए उन्हें दण्ड भी देना चाहिए परन्तु दण्ड की मात्रा अपराध की मात्रा के अनुपात में हो तो अच्छा रहता है। अनुशासन से बालक का व्यक्तित्व निखर जाता है तथा उसमें आत्मसम्मान (Self esteem) की भावना का विकास होता है।

(3) **आक्रामकता** (Aggression)—जन्मोपरान्त जब बालक वातावरण के सम्पर्क में आता है तो वह वातावरण में स्थित वस्तुओं के प्रति जानने की इच्छा प्रकट करता है। वह

वातावरण की वस्तुओं का प्रहस्तन करता है तथा इस प्रकार से अपनी इच्छाओ की पूर्ति चाहता है। यदि उसकी इस इच्छा पूर्ति में कोई बाधक होता है तो वह उससे निराश होता है तथा असफलता के कारण वह वातावरण के प्रति समायोजन नही स्थापित कर पाता है जिसके फलस्वरूप उसमे आक्रामकता व्यवहार देखा जा सकता है। आक्रामकता जन्मजात प्रवृत्ति है परन्तु प्रशिक्षण के माध्यम से उसका उपयोग सृजनात्मक कार्यों में किया जा सकता है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक आक्रामकता मे व्यवहार को अर्जित योग्यता मानते हें। इस पर सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव देखा गया हे। ऐसा प्राय देखा जाता है कि यदि आक्रामक बालक को दण्ड दिया जाये तो उसका आक्रामक व्यवहार कम हो सकता है तथा इसके विपरीत यदि उसे आक्रामकता के समय प्रशषा किया जाये तो उसका यह व्यवहार और प्रबल हो जाता है। चूँकि आक्रामकता हमेशा समायोजन को अवरुद्ध करती है इसलिए यह आवश्यक है कि स्वस्थ समायोजन हेतु बच्चो मे आक्रामकता नही होनी चाहिये। बन्दूरा (Bandura, 1973) ने यह बतलाया है कि यह सभी का प्रयास होना चाहिये कि बच्चो को आक्रामक दृश्यों तथा प्रतिमानो से दूर रखना चाहिये। अन्यथा यह आक्रामकता स्थायी हो जायेगी जो आगे चलकर अपराध की भावना में बदल सकती है।

(4) **लैंगिक भूमिकाएँ** (Sex Roles) – लैंगिक भूमिकाएँ भी व्यक्तित्व विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। जन्म के समय ही लिग के अनुसार बालक तथा बालिकाओं की भूमिकाएँ विभिन्न प्रकार की हो जाती हैं। बालक तथा बालिकाओं के पालन पोषण में भी लिंग के अनुसार अन्तर दिखायी पडता है। उनको प्रशिक्षण दिया जाता है अमुक व्यवहार लडकियो के लिए समाजोनुकूल है तथा अमुक व्यवहार बालकों के लिए उचित है। बालक-बालिकाओं के नामकरण में, उनके पोशाक में तथा उनके बातचीत मे अन्तर रखकर उन्हें लैगिक भूमिकाओं का भान कराया जाता है। बालकों को पुरुषोचित तथा बालिकाओं को स्त्रियोचित व्यवहार करने का निर्देश दिया जाता है। इस प्रकार के निर्देशों से उनका सामाजिक समायोजन उचित ढग से होता है।

बालक बालिकाओ में जो व्यवहार सम्बन्धी भिन्नता परिलक्षित होती है उसमे दो मुख्य कारण बताये जाते हैं। प्रथम कारण बालक बालिकाओ में अलग अलग प्रकार के लैंगिक हारमोन्स का होना बताया जाता है जो उनके व्यवहार मे अन्तर उत्पन्न करता है जबकि दूसरा कारण सामाजिक एव सास्कृतिक परिस्थितियों के कारण उनके व्यवहार में अन्तर दिखायी पडता है। बालक-बालिकाओं से हमारा समाज भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रत्याशाएँ भी करता है। यह प्रत्याशा अपेक्षित हैं कि बालक बाचाल बहादुर एव आक्रामक होगा जबकि बालिकाएँ मृदु, शान्त, सरल होंगी उनमें आक्रमकता, ईर्ष्या, क्रोध नही होगा। अत सामाजिक मानकों के आधार पर लैंगिक भूमिकाएँ निर्धारित होती हैं। जिनका अनुपालन बालक तथा बालिकाओ को करना चाहिये जिससे उनका व्यक्तित्व पूरी तरह से विकसित हो सके।

(5) **नैतिकता** (Morality) – नैतिकता का व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण स्थान होता है। आयु में वृद्धि तथा अनुभव में वृद्धि होने के साथ-साथ नैतिकता का विकास होता है। जन्म के समय बच्चा गैरनैतिक होता है। **कोल्हवर्ग** (Kohlberg, 1968) के अनुसार बच्चा नैतिक दार्शनिक होता है (Child is a moral Philosopher)। नैतिकता का विकास सामाजीकरण की अवधि में होता है। सर्वप्रथम बच्चे में उचित एव अनुचित, अच्छा तथा बुरा, सगत तथा

असगत आदि नैतिक सम्प्रत्ययो का विकास होता है। एरक्सिन (Erickson 1963) के अनुसार बच्चो मे दूसरे वर्ष से ही नैतिकता प्रारम्भ हो जाती है। मनोसामाजिक विकास की इस अवस्था मे स्वायतत्ता बनाम शर्म सन्देह तत्व पाया जाता है। इस अवस्था मे माता पिता बच्चा के केन्द्र बिन्दु होते है। माता पिता के निर्देशो के परिणामस्वरूप बच्चा मे आत्मनियत्रण का भावना जन्म लेती है जो नैतिक विकास के लिए महत्वपूर्ण मानी जाती है।

जन्म के बाद नेतिकता का विकास बच्चो मे पुरस्कार एव दण्ड के माध्यम से देखी जा सकती है। जिन कार्यो को करने पर उन्हे सुख या आनन्द मिलता है तथा उसके माता पिता उनकी प्रशसा करते है वह उसके प्रति विधेयात्मक अभिवृत्ति बना लेता है तथा उसके विपरीत जिन कार्यो के करने पर उसे दण्ड या दु खद अनुभूति होती है उसके प्रति वह निषधात्मक अभिवृत्ति बना लेता है। इस तरह से वह अच्छा एव बुरा उचित तथा अनुचित सगत तथा असगत नैतिक सम्प्रत्ययो को विकसित करता है। काल्हवर्ग (Kohlberg 1968) के अनुसार बालक मे नैतिक विकास की प्रक्रिया निम्नलिखित 6 अवस्थाओ मे पूरी होती है—

1 सुखद एव दुखद अनुभूतियो की अवस्था।
2 पुरस्कार एव दण्ड की अवस्था।
3 सामाजिक चेतना की अवस्था।
4 सामाजिक व्यवस्था मे विश्वास की अवस्था।
5 विवेक की अवस्था।
6 अन्तरात्मा की अवस्था।

उपर्युक्त 6 अवस्थाओ के द्वारा बालक मे नैतिकता का विकास होता है। कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि बालक उचित एव अनुचित व्यवहार मे भेद नही कर पाता है तो उसे समस्या होती है। इसलिए ऐसी समस्याओ के निराकरण मे सामाजिक परिस्थितियो पर विशेष ध्यान देना चाहिए तथा माता पिता को ऐसा निर्देश देना चाहिए कि इस सामाजिक परिस्थिति मे जो उचित है वही दूसरी सामाजिक परिस्थिति मे अनुचित हो सकती है। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए बच्चो को उचित प्रशिक्षण का अवसर प्रदान करना चाहिए जिससे वे परिस्थितियों के प्रति समायोजन करना सीखे। यही समायोजन व्यक्तित्व विकास की कुजी है।

विभिन्न अवस्थाओ मे व्यक्तित्व का विकास
(Personality Development in Different Stages)

शैशवावस्था मे व्यक्तित्व का विकास (Personality Development in Infancy) — जन्म के समय से ही शिशु मे व्यक्तित्व के कतिपय लक्षण दिखायी देने लगते है। वश परम्परा एव अन्य कारणो से शिशुओ के व्यवहार में व्यक्तिगत विभिन्नता परिलक्षित होते हैं। जो उनके व्यक्तित्व के अन्तर कहे जा सकते हैं। **उदाहरणार्थ**—विभिन्न शिशुओं की विभिन्न प्रकार से रोने, मुस्कराने हॅसने और खाने की अनुक्रियाएँ रहती है और वे इनके अनुसार गामक चेष्टाएँ करते है। इन विभेदो तथा अन्तरो से उनके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जन्म के पूर्व माता की सवेगात्मक उलझन तथा वातावरण की अन्य गडबडी से नवजात शिशु के व्यवहार में अन्तर पाया जाता है। कोई चिडचिडा रहता है तो कोई शान्त, कोई चचलता लिए रहता है तो कोई अचचलता। हरलाक (1956) के अनुसार जन्म के समय जो शिशु माता से अलग कर दिये जाते है वे पर्यापरण से समायोजन करने मे असमर्थ होते हैं।

जावन के प्रथम दो वर्षा मे शिशुओ मे वशानुक्रम आर पर्यावरण के प्रभाव से जो शीलगुणो अभिवृत्तियो आदतो एव व्यवहारा का विकास हो जाता हे वह उनके भावी जीवन पर प्रभाव डालता है। अनेक मनोवैज्ञानिको की यह राय ह कि जन्म के पूर्व ही गर्भ म शिशु मे व्यक्तिगत विभेद होता है। शिशुओ को शारीरिक और मानसिक सम्पत्ति एक जैसी नही होती हे अत माता पिता के व्यक्नित्व का प्रभाव उन पर पडे बिना नही रह सकता हें। जो शीलगुणो तथा व्यक्तित्व लक्षणो की नीव उनके बचपन मे पड जाती हें वही भावी जीवन म भी कायम रहती है। शर्ली (Shirlv 1939) के अनुसार बालक मे प्रारम्भिक जीवन के शीलगुण उनके परिपक्वावस्था मे भी पाये जाते है। 3 6 वर्ष की अवस्था मे शिशु मे माता के प्रति आत्मीयता बढ जाती है और छोटे भाई बहिन तथा परिवार के अन्य सदस्यो के प्रति भी वह अपना दृष्टिकोण बनाने लगता हे। साथ ही वह उन लागो के प्रति सहानुभूति तथा स्नेह दर्शाने लगता है। 5-6 वर्ष की आयु मे शिशु दूसरे बच्चो के साथ खेलने लडने व झगडने लगता हे। उनमे सामाजिक समझ (Social Understanding) का उदभव होता ह। इस प्रकार माता पिता भाई बहिन सगे सम्बन्धी सभी के व्यवहार शिशुओ मे अहम प्रत्यय निर्माण करने में सहायक होते है। यदि शिशु माता पिता एव अन्य व्यक्तियो से समायोजन स्थापित नही कर पाता है तो उनमे उदण्डता विद्रोहपन एकान्तवासी डरपोक और दब्बूपन दिखायी पडता है। बच्चियो के व्यवहार मे सवेगात्मक अधिक पायी जाती है। **वाटसन** (Watson) का कथन है कि यदि उत्तरशैशवावस्था और पूर्वबाल्यावस्था मे माता पिता द्वारा उचित शिक्षण प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार नही किया जाता तो बच्चो मे आक्रामकता पराश्रयता और हीनता के भावो का उद्भव होता है जोकि आगे चलकर उनके व्यवहार एव व्यक्तित्व को अवरुद्ध करते हैं।

बाल्यावस्था मे व्यक्तित्व विकास (Personality Development in Childhood) – इस अवस्था मे बालक का सम्पर्क विद्यालय के अन्य बालकों तथा अध्यापको के साथ होता है। और उसका सामाजिक विस्तार होता है। वे समवय समशील और समरुचि वाले बालको के साथ खूब क्रीडा करते हैं। उस समय बालकों के व्यक्तित्व व लक्षणो मे भिन्नता देखी जाती है। उनमे से कोई नेता कोई अनुयायी कोई मिलनसार तो कोई विवेकी एव बुद्धिवाला तो कोई अविवेकी स्वभाव के होते है। इस अवस्था मे उनके व्यक्तित्व लक्षणो मे स्थिरता आने लगती है। शिक्षक तथा मित्रो के व्यवहार भी उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करते है। यदि उनके द्वारा उन्हें सहानुभूति एव प्रेम मिलता है तो उनका सन्तुलित व्यक्तित्व बनता है। और यदि इस प्रकार का स्नेह एव सहानुभूति नही मिलता है तो उसमे असन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

इस प्रकार इस अवस्था मे यह ध्यान देना चाहिये कि उनका सामाजिक वातावरण ऐसा न हो कि उनमें अवाछनीय और दुर्व्यवहारों की नीव पड सके। उनक व्यक्तित्व मे कुछ ऐसे भी पहलू रहते हैं जो कि पारिवारिक तथा सामाजिक पर्यावरण तथा सवेगात्मक प्रभाव के कारण बदलते रहते है। इस अवस्था में वे परिवार से स्नेह, सहानुभूति एव सुरक्षा चाहते हैं। हरलाक (1950) के अनुसार ज्यो ज्यो बालक दूसरे बालको के साथ स्नेह का समय बढाता जाता हैं त्यों-त्यो उसे इस बात का ज्ञान होता जाता है कि कुछ व्यक्तित्व लक्षण ऐसे हैं जिनकी अन्य बालक श्लाघा करते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें वे नापसन्द करते हैं। इस प्रकार बडे बालको के

व्यक्तित्व को सवारने मे सामाजिकता का बहुत महत्वपूर्ण हाथ होता है। वह सामाजिक मान्यता और स्वीकृति की भावना रखता है और उसे पाने की आशा मे अपने कतिपय को समूह द्वारा अनुमोदित मानको के अनुसार टालने की कोशिश करता है।

किशोरावस्था मे व्यक्तित्व विकास (Personality Development in Adolesecnce) – पूर्व किशोरावस्था की समाप्ति तक किशोर किशोरियाँ व्यक्तित्व के अच्छे बुरे लक्षणो से पूरी तरह भिन्न हो जाती है। वे अपने से अनुरूप मिलने के व्यक्तित्व लक्षणों से तुलना करती है तथा साथ ही उनका मूल्याकन भी। **हरलाक** (1950) के अनुसार "सामाजिक सम्बन्धो मे वे व्यक्तित्व के महत्व को भी अच्छी तरह जान लेते है और उससे उन्हे समाज में और अधिक अपनाये जाने की आशा से अपने व्यक्तित्व मे सुधार करने की प्रबल प्रेरणा मिलती है। उस अवस्था में किशोर तथा किशोरियों में शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन बडी तीव्र गति से परिलक्षित होते है। साथ ही उनकी अभिरुचियो और अभिवृत्तियो के विकास में भी तीव्र परिवर्तन होते है। विपरीत लिगीय प्रेमाकर्षण बढता है। लैगिक समस्याएँ एव भूमिकाएँ प्रधान हो जाती हैं। समाज के प्रति दृष्टिकोण मे भी काफी बदलाव आता है।

इस अवस्था में उनके जीवन आदर्श भी बदलते है। उनमे नेतृत्व शैली का भी विकास होता हे। किशोरावस्था में नये तत्वो और अनुभवो का समावेश होता है जो कि व्यक्तित्व को परिवर्तित करते है। ये तत्व हैं—प्रौढ की शरीर सम्पत्ति नये अन्तर्नाद, सवेगात्मकता, यौन परिपक्वता, अधिक आत्मचेतना जिसके फलस्वरूप स्वय निर्देशन तथा मानको उद्देश्यों और आदर्शों आदि के लिये तीव्र इच्छा का जागृत होना विशेष करके विपरीत लिंगीय मित्रता की आवश्यकता का अनुभव करना और बाल्यावस्था से प्रौढता से सक्रमण के कारण अनेक प्रकार के सघर्ष उत्पन्न होना आदि हैं। इस अवस्था मे शारीरिक तथा सामाजिक तत्वों के कारण अहम् सम्प्रत्यय (Ego-conacept) का प्रादुर्भाव होता है। **मीड (Mead)** के अनुसार "अहम् सम्प्रत्यय का उद्गमन प्रत्यक्ष रूप में व्यक्ति के प्रति दूसरों के व्यवहार तथा अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति स्वय के शारीरिक एव मानसिक शीलगुणो के कारण होता है।"

व्यक्ति के व्यक्तित्व पर सामाजिक दबाव का भी प्रभाव पडता है। किशोर एव किशोरियों की यह इच्छा रहती है कि उनके कार्य समाज द्वारा स्वीकृत और प्रशसित किये जायें। इस अवस्था में हवाई कल्पना, दिवास्वपन, महत्वाकाक्षा आदि जैसी बातें दिखायी पडती हैं। किशोरावस्था में किशोर व्यक्तित्व का कुसमायोजन के अधिक शिष्ट होते हैं। किशोर के आदर्शों एव उनके माता-पिता तथा अभिभावकों के आदर्शो मे टक्कर होने की सम्भावना प्रबल रहती है। इस अवस्था में व्यक्तित्व में स्थिरता एव स्थायित्व आने लगती है। इसी अवस्था में व्यक्तित्व में स्थिरता भी उत्पन्न होने लगती है।

व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors influencing the Personality Development)

व्यक्तित्व के विकास में प्रधानत दो कारकों का प्रभाव दिखायी देता है। पहला जैविक या वशानुक्रम कारक तथा दूसरा पर्यावरणीय कारक इन दोनों कारकों की वृहद चर्चा अग्रवत हैं—

(1) **व्यक्तित्व के आनुवाशिक निर्धारण** (Heretitary Determinants)—आनुवाशिक कारको का भी व्यक्तित्व विकास पर अमिट प्रभाव पडता है। इन कारको के अन्तर्गत निम्नाकित कारकों को सम्मिलित किया जाता है—

(1) **अन्त श्रावी ग्रन्थियाँ** (Endocrine Glands)—ये ग्रन्थियाँ व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करती हैं। पीयूष ग्रन्थि शारीरिक विकास को प्रभावित करती हे। उस ग्रन्थि के अधिक सक्रिय होने पर शरीर का आकार बढ जाता है तथा बेडौल विकास होता है। मानसिक पक्ष पर भी इसका प्रभाव पडता है। व्यक्तित्व व्यवहार उग्र हो जाता है। जिससे समायोजन मे बाधा पहुँचती है। इस ग्रन्थि की अल्पसक्रियता से व्यक्ति की शारीरिक वृद्धि अवरुद्ध हो जाती है। वह बौना हो जाता है। व्यक्ति कायर सकोची व झगडालू प्रवृत्ति का हो जाता है। गलग्रन्थि (थायरायड गलेण्ड) के अधिक सक्रिय होने से शारीरिक तन्तु अधिक उत्तेजित हो जाते हैं। मॉसपेशियों मे तनाव आ जाता है। व्यक्ति बैचेन और चिन्तित हो जाता है। इस ग्रन्थि की अल्पसक्रियता से शरीर मन्द पड जाता है, व्यक्ति सुस्त और चिन्तातुर हो जाता है। उसकी स्मरण शक्ति तथा चिन्तन मन्द पड जाता है। उपकठ ग्रन्थि (पैराथाइराइड ग्लण्ड) का अधिक सक्रियता से व्यक्ति शिथिल व शान्त हो जाता हैं जबकि अल्पसक्रियता से वे उत्तेजनशील बन जाते है। एड्रनल ग्रन्थि के अधिक क्रियाशील होने पर बच्चे सक्रिय मुखवादी सावधान तथा चचल होते हैं जबकि अल्पक्रियाशीलता से बच्चे चिडिचडे कमजोर, सहकारिता रहित उदास, सवेगात्मक परिस्थितियो से समायोजन करने मे असमर्थ होते हैं। यौनग्रन्थियां का प्रभाव भी शारीरिक मानसिक एव सामाजिक दशा पर पडता है। ये ग्रन्थियाँ बच्चो मे पुरुषत्व तथा बच्चियो मे स्त्रीत्व का उन्मेष करती है। कामवासना में रुचि अथवा अरुचि उत्पन्न करती है। इस प्रकार से अन्त श्रावी ग्रन्थियाँ किसी न किसी रूप मे व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं।

(2) **शारीरिक सरचना** (Psysical Structure)—शारीरिक सरचना के अन्तर्गत शारीरिक बनावट, वजन तथा रूप रग आदि आते हैं। यदि शारीरिक बनावट आदि में किसी प्रकार का दोष पाये जाते हैं तो बच्चो के व्यक्तित्व का विकास ठीक तरह से नही हो पाता है जबकि शारीरिक दोष के कारण अग विशेष का उचित रूप से विकास नही हो पाता है । वाणी के किसी प्रकार के दोष जैसे हकलाने, तुतलाने से उनने हीनभाव आ जाते हैं। शारीरिक दोष के कारण वे एकान्तवासी तथा आत्मविश्वास खो बैठते हैं। इस प्रकार उनके व्यवहार असामाजिक हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व का उचित विकास नही हो पाता है। शारीरिक सरचना एव व्यवहार मे सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य काफी पहले (Sheldon, 1940) ने किया। शेल्डन ने शारीरिक बनावट के आधार पर व्यक्तियों को तीन वर्गों में बॉटा है और इस आधार पर मानसिक स्वभाव को भी तीन भागों में बॉटकर उच्च सहसम्बन्ध प्राप्त किया है। शेल्डन द्वारा प्राप्त परिणाम निम्नवत हैं—

लक्षण	शारीरिक प्रकार	स्वभाव	सह-सम्बन्ध
काफी मोटापा	गोलाकृति (Endomorphy)	आरामपसद (Viscerotonia)	+0 79
मासल या पुष्ट	आयाताकृति (Mesomorphy)	साहसी (Somatotonia)	+0 82
दुबला पतला	लम्बाकृति (Ectomorphy)	सीमितश्रम सकोच व थकान प्रधानता (Cerebrotonia)	+0 83

अधिकाश मनोवैज्ञानिको ने शेल्डन के इस वर्गीकरण को स्वीकार नहा किया ह फिर भा कुछ मनोवैज्ञानिको ने (Diamond, 1957, Hall and Lingzley, 1937, Walker, 1962 1963) ने शेल्डन के वर्गीकरण को स्वीकार किया हे । इस प्रकार से यह स्पष्ट हो रहा ह कि शारीरिक सरचना भी व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करती है ।

(3) **बुद्धि** (Intelligence) – व्यक्तित्व विकास मे बुद्धि की महत्वपूर्ण भूमिका रहती हे । तीव्रबुद्धि के बालको का शारीरिक तथा मानसिक विकास की गति भी तीव्र होती ह। **गाल्टन** (Galton), **गोडार्ड** (Goddard) और डग्डेल (Dugdale) मनोवैज्ञानिको के शोधो से यह स्पष्ट होता है कि प्रतिभा और मानसिक दुर्बलता आनुवाशिक होती ह जो एक वश परम्परा से दूसरी वश परम्परा तक सक्रमित होती रहती ह । अत जो व्यक्ति आनुवाशिक रूप मे मानसिक दुर्बलता प्राप्त करता है वह व्यक्तित्व का विकास नही कर पाता हे । प्राय तीव्रबुद्धि वाले बालको में श्रेष्ठता की भावना ओर मदबुद्धि वाले बालको मे हीनता की भावना विकसित होती है । मन्द बालकों का समायोजन तीव्र बुद्धि वाले बालको की तुलना में सतोषजनक नही होता है । मानसिक मन्दता से पीडित बालको की शरीर प्राय बोनी होती हे । इसके अतिरिक्त इनमें मगोलियन, लघुशीर्षता एव जलशीर्षता का भी विशेषताएँ परिलक्षित होता हैं। ये विशेषताएँ उच्च एव औसत मानसिक योग्यता वाले बच्चो मे नही पायी जाती है । इस तरह से यह स्पष्ट है कि मानसिक योग्यता का भी व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पडता हे ।

(4) **जन्मक्रम** (Birth Order) – व्यक्तित्व के विकास पर जन्मक्रम का भी प्रभाव पडता है । **हरलाक** (Hurlock, 1975) के अनुसार प्रथम क्रम मे आने वाले सतान में परिपक्वता शीघ्र प्रदर्शित होती है । पारिवारिक समायोजन अच्छा होता हे परन्तु उसमें असुरक्षा की भावना अधिक होती है और वह लोगो से अधिक से अधिक सहानुभूति स्नेह व प्यार पाना चाहता है । इसके विपरीत अतिम क्रम मे आने वाली सतानो मे स्वतन्त्रता की भावना अधिक होती है । पराश्रयता बढती है । उत्तरदायित्व की भावना कम होती हे आर सामाजिक समायोजन अच्छा होता है । **मार्क्स** (Marx, 1976) ने भी अपने अध्ययनो के आधार पर यह बतलाया है कि प्रथम जन्मी सतानो मे सम्बन्धन अभिप्रेरक अधिक पाया जाता ह एव उनमे असुरक्षा की भावना भी ज्यादा होती है । इन सन्तानो मे माना कि क्षमता अधिक होती ह परन्तु साथीगण उसे कम पसन्द कर सकते है क्योकि इन सन्तानो का सामाजिक समायोजन कम अच्छा होता है ।

(5) **योन की भूमिका** (Role of Sex) – लैगिक भिन्नता का महत्व व्यक्तित्व विकास पर देखा जा सकता है। लैगिक भिन्नता के ही कारण समाज मे बालक बालिकाओ की भूमिकाएँ अलग अलग होती है। इन भूमिकाओं मे अन्तर के कारण ही उनका व्यवहार भी अलग अलग होता है। मार्क्स (Marx, 1976) के अनुसार अनेक अध्ययनों से यह प्रमाणित हो चुका है कि लैगिक भिन्नता के कारण व्यक्तित्व की सरचना मे अन्तर मिलता है। **उदाहरणार्थ**—पुरुषो की अपेक्षा क्षेत्र आश्रितता की विशेषता महिलाओ मे अधिक पायी जाती हे जबकि महिलाओ की अपेक्षा पुरुषो मे क्षेत्र अनाश्रितता की विशेषता अधिक पायी जाती है। इस तरह से पुरुषो एव महिलाओ की मनोवैज्ञानिक विभेदीकरण की क्षमता मे भी अन्तर मिलता है ।

व्यक्तित्व के पर्यावरणीय कारक (Environmental Factors of Personality) – आनुवाशिक कारको के अतिरिक्त व्यक्तित्व के विकास को पर्यावरणीय कारक भी प्रभावित

करते है। बच्चा जिस पर्यावरण मे रहता है उसका भी प्रभाव स्पष्ट रूप मे व्यक्तित्व विकास पर पडता है। अत पर्यावरणीय कारण निम्नलिखित है—

(1) **परिवार** (Family) – इस दिशा मे हुए अध्ययनो से यह ज्ञात हुआ है कि जीवन के प्रारम्भिक अवधि म उस व्यक्ति के मॉ से सम्बन्धों का प्रभाव उसके जीवन पर पर्यावरण सम्बन्धी कारको के देखते हुए बहुत अधिक पडता है। इस दिशा मे एक अध्ययन हारलो (Harlow 1966) मे यह देखा गया कि जब बन्दर के नवजात शिशु को 1 साल तक पूर्ण एकान्त म रखा जाता है तो बन्दर का बच्चा असामान्य व्यवहार प्रदर्शित करता है। एकान्त में रहने के बाद बन्दर का बच्चा अन्य बन्दरो के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित नही करता है। वह अधिक उत्सुक दिखायी देता है परन्तु उसमें भय भी अधिक होता है। इस दिशा में मानव शिशुओ पर हुए अध्ययन (Spitz, 1949) हार्लो के निष्कर्षों की पुष्टि करते हैं। एक अन्य अध्ययन एरो (Yarrow 1963) मे यह देखा गया कि बच्चो का सवेगात्मक और बोद्धिक विकास का प्रत्यक्ष सम्बन्ध बालक की मॉ के साथ अन्त क्रियाओ की मात्रा तथा विशेषता से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होता है। मॉ की भाँति पिता की भी उपस्थिति या अनुपस्थिति और व्यवहार आदि का प्रभाव बालक के व्यक्तित्व विकास पर पडता है। एक अध्ययन में मिसेल (Mischeal 1958) ने देखा कि पिता की अनुपस्थिति का प्रभाव बच्चो के सामाजीकरण और उसके विकास पर पडता है। **ग्रीनस्टीन** (Greenstein, 1966) ने अपने एक अध्ययन मे देखा कि पिता पुत्र के सम्बन्धो का प्रभाव बालक के होमोसेक्सुअल विकास पर पडता है। एक अध्ययन मे ग्रीनस्टीन (Greenstein, 1966) ने यह भी प्राप्त किया कि पिता पुत्र के सम्बन्धो का प्रभाव यौन सम्बन्धो पर पडता है।

बालक के व्यक्तित्व पर माता-पिता के अतिरिक्त परिवार के अन्य सदस्यों का भी प्रभाव पडता है। यह देखा गया है कि यदि परिवार के अन्य सदस्य बालक के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करते हैं उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति करते है, उसे अच्छी अच्छी बाते सिखाते हैं तो निश्चय ही ऐसा वातावरण बालक के व्यक्तित्व मे धनात्मक लक्षणो को उत्पन्न करता है। परिवार का आकार भी बालक के व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण ढग से प्रभावित करता है। जब परिवार मे माता पिता के अतिरिक्त बच्चों की सख्या अधिक होती है तो नवजात शिशु मे भाषा सज्ञान तथा मानसिक योग्यताओ का विकास अन्य बालको की उपस्थिति के कारण अपेक्षाकृत शीघ्र सम्पन्न होता है। परन्तु भाई बहनो की सख्या जब अधिक होती है और परिवार में सुविधाओ का अभाव होता है तब व्यक्तित्व पर इस प्रकार के परिवार के आकार का प्रभाव ऋणात्मक पडता है। इसी प्रकार से जब किसी माता पिता अपनी सतान को लाड प्यार अधिक करते है। ऐसी अवस्था में बालक मे जिद्दी और असामाजिक बनने की सभावनाएँ अधिक रहती है।

परिवार की आथिक स्थिति का व्यक्तित्व पर एक विशेष सीमा तक महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। यह देखा गया है कि अत्यधिक गरीबी में पले बच्चों में हीनता और असुरक्षा की भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक दिखायी देती है। इसके साथ ही साथ यह भी देखा गया है कि गरीबी के तनावपूर्ण वातावरण का प्रभाव बच्चों के मानसिक विकास और व्यवहार अथवा

व्यक्नित्व पर भी पडता है। इससे स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के विकास मे परिव की महत्वपूर्ण भूमिका होती ह।

(2) **विद्यालय तथा साथो समूह** (School and Peers) – परिवार के बाद बालक के व्यक्तित्व पर पडोस का प्रभाव पडता है। पडोस के जिन बच्चो के साथ बच्चा खेलता ह अथवा जो बच्चे बालक के साथ उससे खेलन उसके घर आते है, बच्चा इन बच्चो से अनेक आदने ओर तरह नरह के कौशल ही नही सीखता बल्कि बच्चे को बोद्धिक एव सवेगात्मक विकास भी इन बच्चों के व्यवहार से प्रभावित होता है। जब बच्चा कुछ और बडा हो जाता है तो तब वह विद्यालय मे प्रवेश करता है। विद्यालय मे वह शैक्षिक सफलता ओर असफलता के अनुभव प्राप्त करता है। विद्यालय मे बच्चे के समायोजन सम्बन्धी अनुभव उसके विकसित होते व्यक्तित्व के लिए लाभदायक हो सकते है और हानिकर भी हो सकते है। ग्लासर (Glasser, 1966) ने विद्यालया के विद्यार्थियो के प्रति प्रकार्य को आलोचना करते हुए कहा हे कि विद्यालय उन विद्यार्थियो की उपलब्धि को अवरुद्ध कर देते है जो विद्यार्थी विद्यालय में असफल हो जाते हैं या शैक्षिक उपलब्धि मे अन्य विद्यार्थियो की तुलना मे पीछे रह जाते है। एक अन्य अध्ययन मे डेविडसन तथा लैग (Davidson & Lang, 1960) में यह देखा गया कि प्राथमिक स्कूल के अनुभवा और बच्चो के स्वय के प्रति प्रत्यक्षीकरण मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उस अध्ययन मे यह देखा गया कि जो बच्चे यह समझते है कि शिक्षक की दृष्टि मे वह अच्छे बच्चे है ऐसे बच्चो का व्यवहार अधिक उपयुक्त होता है तथा ऐसे बच्चो की शैक्षिक उपलब्धि भी अपेक्षाकृत अधिक अच्छी होती है। बच्चो के सामाजिक तथा सवेगात्मक विकास मे स्कूल के साथी समूह का प्रभाव सर्वाधिक पडता है। जहाँ पर बालको और शिक्षकों के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हं मनोरजन व खेलकूद के साधन उपलब्ध है और पाठयक्रम बालकों की योग्यता एव रुचि के अनुकूल है उन विद्यालयों के बच्चो में प्राय अच्छे गुणो का विकास होता है। यदि विद्यालय मे इन अनुकूल परिस्थितियो का अभाव हें तो ऐसे बच्चो में निषेधात्मक गुणो का विकास होता है। अत इससे स्पष्ट होता है कि परिवार के बाद विद्यालय एव साथी समूह ऐसा ही कारक है जो बालक के व्यक्तित्व के समुचित विकास मे अपनी भूमिका अदा करता है।

(3) **सास्कृतिक कारक** (Cultural Factors) – व्यक्तित्व के विकास के निर्धारक में सास्कृतिक कारको का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। बहुधा सास्कृतिक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पाये जाते हैं। परन्तु एक ही देश मे बच्चों में उसके राष्ट्र की उप संस्कृतियाँ बच्चों के व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण ढग से प्रभावित करती है। ब्रोनफेन ब्रेनर (Bronfenbrenner, 1958) ने यह अपने अध्ययन में प्राप्त किया कि अमरीका के मध्यम परिवार के बच्चे कर्मचारीवर्ग के बच्चों की तुलना में अधिक दिनों तक स्तनपान करते है और अपेक्षाकृत अधिक आयु पर स्वतन्त्र शौच की आदतें (Toilet Habits) सीखते हैं। ब्रोनफेनब्रीनर (1970) ने अमरीका और रूस के बच्चों के पालन पोषण सम्बन्धी कार्य प्रणाली (Child rearing Practices) का अध्ययन किया। उसने पाया कि रूस के बच्चों की फिजिकल हैण्डलिंग (Physical Handling) अमरीका के बच्चो की तुलना मे अधिक होती हे। परन्तु रूस के इन बच्चों को स्वतन्त्र गतिविधियो हेतु कम अवसर प्राप्त होते है। यह भी देखा गया कि इन बच्चों के माता पिता में

अपने बच्चो को प्यार एक अनुशासित विधि क रूप म व्यक्त करते है। यही कुछ कारण ह कि यहाँ के बच्चो मे आन्तरिक नियत्रण आज्ञापालन आर महनतीपन अपेक्षाकृत अधिक मात्रा म पाया जाता ह। दूसरी तरफ इन बच्चो मे Creative, Innovative आर Impulsive व्यवहार अधिक मात्रा मे नही पाया जाता ह। ब्रोनफनब्रेनर न यह भी प्राप्त किया कि अमरिकन बच्चो की अपेक्षा रूस के बच्चो के विचारो मे भिन्नता कम दृष्टिगोचर होता ह। यह विचारो मे भिन्नता की कमी परिवार आर परिवार क बाहर दोनो जगह दिखायी दता ह। क्रेच क्रचफील्ड आर बेलेकी (Krech Crutchfield & Ballachey 1962) न यह व्यक्त किया है कि सांस्कृतिक वातावरण मे भिन्नता के ही कारण लोगो क आचार विचार म भी भिन्नता आती ह। जिस संस्कृति को जसा मान्यता तथा विचारधारा होगी उसम पालित लोगो म उसी प्रकार क गुणो का विकास भी होगा। भारतीय समाज म विभिन्न जातियो क सदस्यो के आचार विचार मे आज भी असमानता परिलक्षित होती है। अत उपयुक्त विवेचनो स स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के विकास म सांस्कृतिक कारको का महत्वपूर्ण स्थान होता ह

16

खेल का विकास
(Development of Play)

बच्चो के स्व तथा व्यक्तित्व के विकास मे खेल की अहम् भूमिका होती है। खेल के विकास से ही बच्चो मे सामाजिक विकास की दिशा परिलक्षित होती है। बच्चो को स्वस्थ रखने हेतु भी खेल का विकास होना आवश्यक है। खेल के माध्यम से बच्चे अपनी खुशी प्रसन्नता, आमोद एव प्रमोद का इजहार करते हैं। मनोवैज्ञानिको, शिक्षा-शास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियो ने बच्चों के विकास में खेल की भूमिका को स्वीकार किया है।

खेल की परिभाषा मनोवैज्ञानिको ने अनेक प्रकार से देने का प्रयास किये हैं। बेलेन्टाइन का मत है कि खेल मे एक प्रकार का आनन्द हैं। (There is a type of amusement in play) हरलॉक (Hurlock, 1950) ने खेल को निम्न तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया है।

'खेल का सम्बन्ध किसी भी ऐसे कार्य से है जो सुखानुभूति के लिए किया जाता है। इसमे अपनी इच्छा से भाग लिया जाता है। और किसी बाहरी दबाव या बाध्यता का अभाव होता है।'

'Play relates to any activity engaged in for the enjoyment it gives, without consideration of the end result, It is entered into voluntarily by the endividual and is lacking in external force or compulsion ' (Hurlock, 1950)

इस तरह से यह आशय मिलता है कि खेल एक जन्मजात, स्वतन्त्र, रचनात्मक, स्फूर्तिदायक आनन्ददायक तथा आत्मप्रेरित किया है जो बच्चे के भावी जीवन हेतु तैयार करती है। (कार्लग्रस)

जिस प्रकार से प्रौढों को कार्य से प्रेरणा एव आनन्द मिलता है उसी प्रकार बच्चो को खेल से आनन्द एव स्फूर्ति मिलती है। अत खेल एव कार्य के अन्तर को समझना यहॉ पर आवश्यक है।

खेल तथा कार्य मे अन्तर
(Difference between play and work)

प्राय लोग खेल एव कार्य में अन्तर नही मानते हैं। परन्तु दोनों सम्प्रत्ययों मे मौलिक अन्तर होता है। खेल एव कार्य में अन्तर को अग्रलिखित तरह से समझाया जा सकता है।

	खेल		काय
1	खल मे पूरी स्वतन्त्रता परिलक्षित होती ह। वह जब चाह खल शुरू कर सकता ह तथा जब चाहे खल बन्द कर सकता ह। खल मे लक्ष्य का अभाव पाया जाता ह क्योकि खेल केवल आनन्द हेतु खेले जाते है।	1	कार्य म पूरी स्वतन्त्रता नहा हाता ह। कार्य को पूरा करना ही पडता ह। काय अपने आप म लक्ष्योन्मुख होत ह। (फिमगरट 1969)
2	खेल अभिवृत्ति प्रधान हाते हे जेस वस्तुओ का एकत्रीकरण करना प्राय बच्चो मे देखा जा सकता ह। (Hurlock 1965)	2	कार्य आभवृत्ति प्रधान होने क साथ साथ शोक (Hobby) भा होते है। उदाहरणार्थ प्रोढो म वस्तुओ का एकत्रीकरण एक शोक माना जा सकता ह। परन्तु बच्चो मे उसे खेल माना जायेगा। (Horlock 1965)
3	खेल मे ऊर्जा का स्तर निम्न होता है। (Hurlock 1965)	3	कार्य म ऊर्जा का स्तर उच्च होता है। (Hurlock 1965)
4	खेल मे लक्ष्य अस्पष्ट होना है क्योकि खेल मात्र आनन्द स्फूर्ति के लिये खेले जाते हैं। (Hurlock 1965)	4	कार्य मे लक्ष्य स्पष्ट होता है। (Hurlock 1965)
5	खेलो के मूल्याकन हेतु बाह्यसकेत आवश्यक होते है।	5	कार्य हेतु बाह्य सकेतो की आवश्यकता नही पडती है।
6	खेलो मे बच्चो को अनेक प्रकार के कोशलो (skills) की आवश्यकता पडती है। (Hurlock 1965)	6	कार्य मे निर्दिष्ट कौशलों (Designated skills) की आवश्यकता पडती ह। (Hurlock 1965)
7	खेल मे अभिप्रेरणा का स्तर उच्च होता है। प्राय जब बच्चे खेलते हैं तो उनमे अभिप्रेरणा का उच्च स्तर देखा जा सकता है।	7	कार्या मे खेलो की तरह अभिप्रेरणात्मक स्तर उच्च नही होता है।
8	खेलो मे आनन्द स्फूर्ति, जोश, एव [illegible] की अनुभूति होती है।	8	कार्यो मे यदि रुचि न हो तो इससे थकान, नीरसता की अनुभूति होती है।
9	बच्चो के खेल में नियमो की प्रधानता कम देखने को मिलती है प्रोढो का खेल नियमबद्ध होता है।	9	कार्यो की परिणति नियमो पर ही आधारित होती है।

10 बच्चा का खेलते समय यदि रुकावट या अवरोध पदा किया जाये तो उनमे क्रोध एव दुख के सवेग दिखायी देते है। (फिनगेरेट 1969)	10 काय को अवरोधित करन पर इन सवगो का मात्रा मे कमी दखी जा सकती हे। (फिनगेरेट 1969)
11 बच्चो क खेल स्वय की इच्छा से निर्धारित होते ह किसी अन्य की इच्छा से नही। (फिनगेरेट 1969)	11 कार्य दूसरो की इच्छा पर भी निभर होते हैं परन्तु स्वय की इच्छा का भी महत्व होता है। (फिनगेरेट 1969)
12 खेल आत्मप्रेरित होते है। उसमे आर्थिक प्रलोभन का कोई स्थान नही होता है।	12 कार्य किसी प्रेरक या आर्थिक प्रलोभन (financial Incentive) हेतु किया जाता है।

इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि खेल एव काय मे एक विशेष अन्तर होता है तथा अभिवृत्ति की भी प्रधानता रहती ह। प्रौढो के लिए जो क्रियाएँ कार्य मे स्वय मे जानी जाती है। वही बच्चो हेतु खेल के रूप मे पहचानी जाती है। अत खेल एव कार्य को एक नही समझना चाहिए बल्कि उसे उपरलिखित अन्तर के साथ विश्लेषण करने का प्रयास करना चाहिए।

बच्चो के खेल की विशेषताएँ
(Characteristics of Childern's Play)

बच्चो एव प्रोढौ के खेलो की अलग अलग विशेषताएँ होती है। प्राय सभी बालको के समूह मे एक जैसी ही खेल विशेषताएँ परिलक्षित होती है। अत यहाँ पर बालकों से सम्बन्धित खेलो की विशेषताओ का विवरण देना अपक्षित है।

(1) खेल के विकास का प्रतिमान (Pattern of development of play)

जिस प्रकार से विकास की एक दिशा होती है उस प्रकार खेल के विकास का भी एक क्रम होता है। एकनिश्चित आयु के बालको में एक निश्चित खेल के प्रति रुचि देखी जा सकती है। इस प्रकार की रूचियो मे पर्यावरण जाति धर्म एव सस्कृति का प्रभाव नही पडता है। बालक जब एक विकास की अवस्था से दूसरी अवस्था मे प्रवेश करता है उसके खेल भी उसकी आयु के अनुसार परिवर्तित हो जाते है। उदारहणार्थ बचपनावस्था से उत्तर वाल्यावस्था तक प्राय बच्चे खिलौने प्रयुक्त खेलो से खेलते है। तत्पश्चात् दौड धूप वाली खेलों तथा उसके बाद क्रिडाओं (sports) में रुचि प्रदर्शित करते हैं। गेसेल (Gesell 1940) ने पॉच वर्ष के बच्चो मे खेल विकास के प्रतिमानों का अध्ययन करके उपर्युक्त विशेषताओं की सस्तुति की है। गेसेल (Gesell 1940) के अनुसार प्रारम्भ मे बालकों मे साधारण स्तर की पेशीय क्रियाये (Mator activities) भी दिखायी पडती है। तत्पश्चात् समाजीकृत खेलो, (Socialized plays) और आगे के वर्षो में चलकर अभिनयी (Dramatic) एव रचनात्मक खेलों (Constructive plays) सकता है कि खेलो के विकास में एक अनुक्रम होता है।

(2) उम्र के साथ खेल की मात्रा मे कमी (Decrease in play activities with age)

बाल्यावस्था को यदि खेलों की अवस्था कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नही होगी। बाल्यावस्था मे बच्चे अपने आप को कई प्रकार के खेलो में व्यस्त रखते हैं तथा उससे आनन्द उठाते है। बाल्यावस्था म खेल बच्चो का शौक बन जाता है। जबकि प्रौढो को अपने काम से इतना भी समय नही मिलता है कि वे खेलों के विषय मे सोच सकें। लेहमैन और विटी

	खेल		काय
1	खल मे पूरी स्वतन्त्रता परिलक्षित हाती ह। वह जब चाह खल शुरू कर सक्ता ह तथा जब चाहे खेल बन्द कर सक्ता ह। खल मे लक्ष्य का अभाव पाया जाता ह क्याकि खेल केवल आनन्द हेतु खेले जाते है।	1	कार्य मे पूरी स्वतन्त्रता नहा हाती ह। कार्य को पूरा करना ही पडना ह। काय अपने आप म लक्ष्योन्मुख होते ह। (फ्रिमगरट 1969)
2	खेल अभिवृत्ति प्रधान हाते है जैस वस्तुओ का एकत्रीकरण करना प्राय बच्चो मे देखा जा सकता है। (Hurlock 1965)	2	कार्य अभिवृत्ति प्रधान होने क साथ साथ शौक (Hobby) भी होते है। उदाहरणार्थ प्रौढा मे वस्तुओ का एकत्रीकरण एक शाक माना जा सकता ह। परन्तु बच्चा मे उसे खेल माना जायेगा। (Horlock 1965)
3	खेल मे ऊजा का स्तर निम्न होता है। (Hurlock 1965)	3	कार्य म ऊर्जा का स्तर उच्च होता है। (Hurlock 1965)
4	खेल मे लक्ष्य अस्पष्ट होना है क्योकि खेल मात्र आनन्द स्फूर्ति के लिये खेले जाते है। (Hurlock 1965)	4	कार्य मे लक्ष्य स्पष्ट होता है। (Hurlock 1965)
5	खेलो के मूल्याकन हेतु बाह्यसकेत आवश्यक होते है।	5	कार्य हेतु बाह्य सकेतो की आवश्यकता नही पडता है।
6	खेलो मे बच्चो को अनेक प्रकार के कोशलो (skills) की आवश्यकता पडती हैं। (Hurlock 1965)	6	कार्य मे निर्दिष्ट कौशलों (Designated skills) की आवश्यकता पडती ह। (Hurlock 1965)
7	खेल मे अभिप्रेरणा का स्तर उच्च होता है। प्राय जब बच्चे खेलते हैं तो उनमे अभिप्रेरणा का उच्च स्तर देखा जा सकता है।	7	कार्यो मे खेलो की तरह अभिप्रेरणात्मक स्तर उच्च नही होता है।
8	खेलो मे आनन्द स्फूर्ति, जोश एव उत्सा को अनुभूति होती है।	8	कार्यो मे यदि रुचि न हो तो इससे थकान, नीरसता की अनुभूति होती है।
9	बच्चो के खेल में नियमो की प्रधानता कम देखने को मिलती है प्रौढा का खेल नियमबद्ध होता है।	9	कार्यो की परिणति नियमा पर ही आधारित होती है।

10 बच्चा को खेलते समय यदि रुकावट या अवरोध पैदा किया जाये तो उनमे क्रोध एव दुख के सवेग दिखायी देते है। (फ्निगेरेट 1969)	10 काय को अवरोधित करन पर इन सवगो का मात्रा मे कमी दखी जा सकती ह। (फिनगेरट 1969)
11 बच्चो क खेल स्वय की इच्छा से निधारित होते हैं किसी अन्य की इच्छा से नही। (फ्निगेरेट 1969)	11 कार्य दूसरो की इच्छा पर भी निभर होते है परन्तु स्वय की इच्छा का भी महत्व होता है। (फिनगेरेट 1969)
12 खेल आत्मप्रेरित होते है। उसमे आर्थिक प्रलोभन का कोई स्थान नही होता है।	12 कार्य किसी प्रेरक या आर्थिक प्रलोभन (financial Incentive) हेतु किया जाता है।

इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि खेल एव काय मे एक विशेष अन्तर होता है तथा अभिवृत्ति की भी प्रधानता रहती हे। प्रोढो के लिए जो क्रियाएँ कार्य मे स्वय मे जानी जाती है। वही बच्चो हेतु खेल के रूप मे पहचानी जाती है। अत खेल एव कार्य को एक नही समझना चाहिए बल्कि उसे उपरलिखित अन्तर के साथ विश्लेषण करने का प्रयास करना चाहिए।

बच्चो के खेल की विशेषताएँ
(Characteristics of Childern's Play)

बच्चो एव प्रोढौ के खेलो की अलग अलग विशेषताएँ होती है। प्राय सभी बालको के समूह मे एक जैसी ही खेल विशेषताएँ परिलक्षित होती है। अत यहाँ पर बालकों से सम्बन्धित खेलो की विशेषताओ का विवरण देना अपक्षित है।

(1) खेल के विकास का प्रतिमान (Pattern of development of play)

जिस प्रकार से विकास की एक दिशा होती है उस प्रकार खेल के विकास का भी एक क्रम होता है। एकनिश्चित आयु के बालको मे एक निश्चित खेल के प्रति रुचि देखी जा सकती है । इस प्रकार की रूचियो मे पर्यावरण जाति, धर्म एव सस्कृति का प्रभाव नही पडता है। बालक जब एक विकास की अवस्था से दूसरी अवस्था मे प्रवेश करता है उसके खेल भी उसकी आयु के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं। उदारहणार्थ बचपनावस्था से उत्तर वाल्यावस्था तक प्राय बच्चे खिलौने प्रयुक्त खेलो से खेलते हैं। तत्पश्चात् दौड धूप वाली खेलों तथा उसके बाद क्रिडाओ (sports) में रुचि प्रदर्शित करते हैं। गेसेल (Gesell 1940) ने पॉच वर्ष के बच्चो मे खेल विकास के प्रतिमानो का अध्ययन करके उपर्युक्त विशेषताओं की सस्तुति की है। गेसेल (Gesell 1940) के अनुसार प्रारम्भ मे बालको में साधारण स्तर की पेशीय क्रियाये (Mator activities) भी दिखायी पडती है। तत्पश्चात् समाजीकृत खेलो, (Socialized plays) और आगे के वर्षो में चलकर अभिनयी (Dramatic) एव रचनात्मक खेलो (Constructive plays) सकता है कि खेलो के विकास में एक अनुक्रम होता है।

(2) उम्र के साथ खेल की मात्रा मे कमी (Decrease in play activities with age)

बाल्यावस्था को यदि खेलो की अवस्था कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नही होगी। बाल्यावस्था मे बच्चे अपने आप को कई प्रकार के खेलो में व्यस्त रखते है तथा उससे आनन्द उठाते है। बाल्यावस्था म खेल बच्चो का शौक बन जाता है। जबकि प्रौढों को अपने काम से इतना भी समय नही मिलता है कि वे खेलों के विषय मे सोच सकें। लेहमैन और विटी

	खेल		काय
1	खल मे पूरी स्वतन्त्रता परिलक्षित हाती ह। वह जब चाह खल शुरू कर सकता ह तथा जब चाहे खेल बन्द कर सकता ह। खल मे लक्ष्य का अभाव पाया जाता हे क्योकि खेल केवल आनन्द हेतु खेले जाते है।	1	कार्य मे पूरी स्वतन्त्रता नही हाती ह। कार्य को पूरा करना ही पडता ह। कार्य अपने आप म लक्ष्योन्मुख होते है। (फिमगरट 1969)
2	खेल अभिवृत्ति प्रधान हाते है जेसे वस्तुओ का एकत्रीकरण करना प्राय बच्चो मे देखा जा सकता है। (Hurlock 1965)	2	कार्य अभिवृत्ति प्रधान होने के साथ साथ शाक (Hobby) भी होते है। उदाहरणार्थ प्रौढा म वस्तुओ का एकत्रीकरण एक शाक माना जा सकता ह। परन्तु बच्चा मे उसे खेल माना जायेगा। (Horlock 1965)
3	खेल मे ऊजा का स्तर निम्न होता है। (Hurlock 1965)	3	कार्य म ऊर्जा का स्तर उच्च होता है। (Hurlock 1965)
4	खेल मे लक्ष्य अस्पष्ट होना हे क्योकि खेल मात्र आनन्द स्फूर्ति के लिये खेले जाते है। (Hurlock 1965)	4	कार्य मे लक्ष्य स्पष्ट होता है। (Hurlock 1965)
5	खेलो के मूल्याकन हेतु बाह्यसकेत आवश्यक होते है।	5	कार्य हेतु बाह्य सकेतो की आवश्यकता नही पडती है।
6	खेलो मे बच्चो को अनेक प्रकार के कोशलो (skills) की आवश्यकता पडती है। (Hurlock 1965)	6	कार्य मे निर्दिष्ट कौशलों (Designated skills) की आवश्यकता पडती ह। (Hurlock 1965)
7	खेल में अभिप्रेरणा का स्तर उच्च होता है। प्राय जब बच्चे खेलते हैं तो उनमे अभिप्रेरणा का उच्च स्तर देखा जा सकता है।	7	कार्यो मे खेलो की तरह अभिप्रेरणात्मक स्तर उच्च नही होता हे।
8	खेलो मे आनन्द स्फूर्ति, जोश एव ऊर्जा की अनुभूति होती है।	8	कार्यो मे यदि रुचि न हो तो इससे थकान, नीरसता की अनुभूति होती है।
9	बच्चो के खेल में नियमो की प्रधानता कम देखने को मिलती है प्रौढो का खेल नियमबद्ध होता है।	9	कार्यो की परिणति नियमा पर ही आधारित होती है।

10 बच्चा का खेलते समय यदि रुकावट या अवरोध पेदा किया जाये तो उनमे क्रोध एव दुख के सवेग दिखायी देते है। (फ्निगेरेट 1969)	10 काय को अवरोधित करन पर इन सवगो का मात्रा मे कमी दखी जा सकती ह। (फ्निगरट 1969)
11 बच्चो क खेल स्वय की इच्छा मे निर्धारित हाते हैं किसी अन्य की इच्छा मे नही। (फ्निगेरेट 1969)	11 कार्य दूसरो की इच्छा पर भी निभर होते हैं परन्तु स्वय की इच्छा का भी महत्व होता है। (फिनगेरेट 1969)
12 खेल आत्मप्रेरित होते है। उसमे आर्थिक प्रलोभन का कोई स्थान नही होता है।	12 कार्य किसी प्रेरक या आर्थिक प्रलोभन (financial Incentive) हेतु किया जाता है।

इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि खेल एव काय मे एक विशेष अन्तर होता है तथा अभिवृत्ति की भी प्रधानता रहती हे। प्रोढो के लिए जो क्रियाएँ कार्य मे स्वय में जानी जाती है। वही बच्चो हेतु खेल के रूप मे पहचानी जाती है। अत खेल एव कार्य को एक नही समझना चाहिए बल्कि उसे उपरलिखित अन्तर के साथ विश्लेषण करने का प्रयास करना चाहिए।

बच्चो के खेल की विशेषताएँ
(Characteristics of Children's Play)

बच्चो एव प्रौढौ के खेलो की अलग अलग विशेषताएँ होती है। प्राय सभी बालको के समूह मे एक जैसी ही खेल विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। अत यहाँ पर बालकों से सम्बन्धित खेलो की विशेषताओ का विवरण देना अपक्षित है।

(1) खेल के विकास का प्रतिमान (Pattern of development of play)

जिस प्रकार से विकास की एक दिशा होती है उस प्रकार खेल के विकास का भी एक क्रम होता है। एकनिश्चित आयु के बालको में एक निश्चित खेल के प्रति रुचि देखी जा सकती है । इस प्रकार की रूचियो मे पर्यावरण जाति, धर्म एव सस्कृति का प्रभाव नही पडता है। बालक जब एक विकास की अवस्था से दूसरी अवस्था मे प्रवेश करता है उसके खेल भी उसकी आयु के अनुसार परिवर्तित हो जाते है। उदारहणार्थ बचपनावस्था से उत्तर वाल्यावस्था तक प्राय बच्चे खिलौने प्रयुक्त खेलो से खेलते है। तत्पश्चात् दौड धूप वाली खेलों तथा उसके बाद क्रिडाओ (sports) में रुचि प्रदर्शित करते हैं। गेसेल (Gesell 1940) ने पाँच वर्ष के बच्चो मे खेल विकास के प्रतिमानो का अध्ययन करके उपर्युक्त विशेषताओ की सस्तुति की है। गेसेल (Gesell 1940) के अनुसार प्रारम्भ मे बालकों में साधारण स्तर की पेशीय क्रियाये (Mator activities) भी दिखायी पडती है। तत्पश्चात् समाजीकृत खेलों, (Socialized plays) और आगे के वर्षो में चलकर अभिनयी (Dramatic) एव रचनात्मक खेलों (Constructive plays) सकता है कि खेलो के विकास में एक अनुक्रम होता है।

(2) उम्र के साथ खेल की मात्रा मे कमी (Decrease in play activities with age)

बाल्यावस्था को यदि खेलो की अवस्था कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नही होगी। बाल्यावस्था मे बच्चे अपने आप को कई प्रकार के खेलों में व्यस्त रखते है तथा उससे आनन्द उठाते है। बाल्यावस्था म खेल बच्चों का शौक बन जाता है। जबकि प्रौढो को अपने काम से इतना भी समय नही मिलता है कि वे खेलों के विषय मे सोच सकें। लेहमैन और विटी

(Lehman & Witty, 1927) के अनुसार बालको मे खेलो की सख्या प्रौढौ की तुलना में अधिक होती है।

(3) उम्र के साथ खेल के समय मे ह्रास (Decrease in time of play with age)

उम्र बढने के साथ साथ खेल के समय मे भी कमी देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ बालको मे बाल्यावस्था मे खेलो के प्रति काफी सतर्क रहते है तथा समय की अधिकता भी रहती है। परन्तु वही बालक जब किशोरावस्था या प्रौढावस्था मे प्रवेश करता है तो कार्य की व्यस्तता के कारण खेलों के समय मे कमी का प्रदर्शन होता है। अत उम्र मे वृद्धि के साथ खेलो के समय मे कमी का प्रदर्शन व्यावहारिक है।

(4) उम्र के साथ विशिष्ट खेलो का विकास (Development of specific plays with age)

उम्र मे वृद्धि के साथ-साथ बच्चो मे विशिष्ट खेलो का विकास भी देखा जा सकता है। प्राय बच्चो में एक अवस्था से दूसरें अवस्था के मध्य खेलो की रूचियो मे अन्तर देखने को मिलता है। उसका कारण उम्र मे वृद्धि तथा अवधान केन्द्रण मे कमी हो सकता है। वयस्कों तथा प्रौढो मे अवधान केन्द्र उच्च स्तर का पाया जाता है इसलिए वे अपने आपको कार्य में व्यस्त रखते है।

अवधानकेन्द्रण मे कमी के कारण बच्चे ज्यादा समय खेल मे लगाते है तथा प्रौढ कम समय मे ही खेल तथा कार्य को सम्पन्न कर लेता है। आयु मे वृद्धि होने से प्रौढ लोग खेल को समय कम दे पाते है। इसलिए प्रौढ लोग अपने लिए विशिष्ट प्रकार के खेल विकसित कर लेते है। वान आल्सटाइन (Van Alstyne, 1932) का कहना है कि छोटे बच्चो मे अवधान केन्द्रण की योग्यता कम होती है और प्रौढों मे अधिक। इसी कारण प्रौढ किसी कार्य के सम्पादन में कम समय लेते हैं तथा बच्चे ज्यादा समय लेते है। अवधानकेन्द्रण की योग्यता मे वृद्धि के फलस्वरूप कार्य की गति (Speed of activity) मे भी वृद्धि पायी जाती है और व्यक्ति विशिष्ट प्रकार के खेलो मे अधिक रुचि लेने लगता है ।

(5) बाल्यावस्था के खेल अनोपचारिक होते है (Childhood's play are Informal)

प्राय बच्चों की रुचि बाल्यावस्था मे खेलो के प्रति अधिक होती है। उन्हे पूरी स्वतन्त्रता होती हैं कि वे खेल खेले या न खेले। इनके खेल स्वाभाविक तथा अनौपचारिक होते हैं। इनके खेलो मे नियमो का पूर्णत अभाव होता है। वे समय एव परिस्थिति की परवाह किये वगैर खेल खेलते है। जिन खेलो से उन्हे खुशी तथा आनन्द मिलता है वही खेल वे ज्यादा खेलते है। उनके खेल पूर्व नियोजित था पूर्वनिर्धारित नही होते है। उनका खेल पूर्णत आत्म इच्छा पर निर्भर करता हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि बाल्यावस्था के ज्यादातर खेल आत्मप्रेरित होते है। उसके विपरित प्रौढों के खेल लक्ष्योन्मुख होते है। औपचारिक होते है तथा आर्थिक प्रलोभनों से प्रेरित होते हैं। प्रौढौं के खेलो मे नियमो तथा निर्देशो का पूरी तरह से पालन करना अनिवार्य होता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि उम्र मे वृद्धि के साथ साथ खेलों का रूप औपचारिक होने लगता है।

(6) बच्चो के खेल मे सक्रियता का होना (Activeness in childern's play)

बच्चे जब खेल खेलते है तो उनमें सक्रिय होकर खेलते है। इसलिए सक्रियता की मात्रा बच्चो मे प्रौढौ की तुलना मे खेलते समय ज्यादे प्रदर्शित होती है। बच्चे खेल मे खेलते समय इतने तन्मय एव सक्रिय हो जाते है वे खाना, पीना, सोना भूल जाते हैं। उन्हें जबरदस्ती खेलने से मना करना पडता है जिससे वे अपनी नित्यक्रिया में भाग ले सके। उम्र में वृद्धि के

साथ-साथ सामाजीकरण मे भी वृद्धि होती है तथा खेलों के प्रति रुचि में भी अन्तर आने लगता है। परिणामस्वरूप यह मिलता है कि खेल व्यवहारो मे गभीरता दिखायी देने लगती है। सही अर्थो मे यह कहा जा सक्ता है कि प्रौढों मे खेलो के प्रति सक्रियता मे कमी देखी जा सकती ह जबकि बच्चो मे सक्रियता की मात्रा मे वृद्धि पायी जाती है।

बच्चो के खेल के प्रकार
(Types of children's play)

उम्र तथा सामाजिक अधिगम के वृद्धि के फलस्वरूप बच्चो मे अनेक प्रकार के खेलों के प्रति रुचि प्रदर्शित होने लगती है। आयु एव अधिगम मे वृद्धि के साथ साथ प्राचीन खेलों का विलोपन तथा नवीन खेलों का अर्जन होता है । प्रारम्भिक अवस्था के खेल प्राय सरल एव असगठित तथा अनियमित होते है। जबकि अगली अवस्थाओं मे यही खेल सगठित, नियमित एव काफी जटिल हो जाते हैं। हरलाक (Hurlock] 1950) ने बच्चों मे खेलो के प्रकार को पूर्वबाल्यावस्था एव उत्तर बाल्यावस्था के आधार पर वर्गीकृत किया है जिसका विवरण निम्नलिखित है।

पूर्वबाल्यावस्था के खेल
(Play in Early Childhood)

हरलॉक (Hurlock 1950) के अनुसार पूर्वबाल्यावस्था मे बच्चे प्राय तीन प्रकार के खेलो मे अपने आपको व्यस्त रखते है, वे निम्नलिखित है

1 **मुक्त, स्वाभाविक खेल** (Free, Spontaneous play)

जैसा कि हम सभी को मालूम है कि पूर्वबाल्यावस्था ही खेलों के अभ्युदय को अवस्था है। ठस अवस्था के खेल मुक्त यानि स्वतन्त्र एव स्वाभाविक होते है। उस अवस्था में इस प्रकार के खेलो मे नियमो तथा निर्देशों का अभाव होता है। ऐसे खेल पूर्णत एकाकी होते हैं न कि सामाजिक। इस प्रकार के खेल बच्चे स्वय अकेले खेलते हैं। यदि कोई अन्य बच्चा खेलते समय बाधा पहुँचाता है तो वे उसका प्रतिरोध करते हैं। उस प्रकार के खेल बच्चे अपनी इच्छानुसार खेलते हैं तथा अपनी इच्छानुसार खेल खेलना बन्द कर देते है। इसलिए उसे स्वाभाविक खेल की सज्ञा दी गयी है।

इस प्रकार के खेल खेलने में बच्चे पूरी तरह से आजाद या स्वतन्त्र होते हैं। उनके खेलो में समय एव परिस्थिति का कोई प्रभाव नही देखा जाता है। इस प्रकार के खेलों में प्रारम्भिक अवस्था मे बच्चे खेलों से आनन्द की अनुभूति करते हैं।

उपर लिखित खेलों का प्रयास क्रमश होता है। शर्ली (Shirly, 1931) अपने अध्ययनों के आधार पर उस निष्कर्ष पर पहुँची कि लगभग 20 वें सप्ताह में बच्चों में वस्तुओं के पास पहुँचने एव पकडने तथा झपट्टा मारने की योग्यता (Reaching, Grarping and catchihg ability) आ जाती हैं। इस प्रकार की योग्यता को प्रथम स्तरीय कौशल (First order skill) कहते हैं। उम्र बढने के साथ-साथ बच्चो में द्वितीयस्तरीय (Second order skill) कौशल, तृतीयस्तरीय कौशल (Third order stall) तथा चतुर्य स्तरीय कौशल (Fourth order skil) क्रमश 20-30 सप्ताह, 32-45 सप्ताह और 41-50 सप्ताह के मध्य परिलक्षित होते हैं। इस प्रकार के खेलो में प्रयुक्त खिलौनें में बालक तथा बालिकाओं के मध्य अन्तर मिलता है। लडके अधिक सक्रिय एव विध्वसक खेल खेलते हैं। जबकि लडकियाँ अन्वेषक खेलो मे अपना समय ज्यादा व्यतीत करती हैं तथा कम विध्वसक खिलौनों का प्रयोग करती हैं। (Goldberg & Lawis 1969, Lawrance 1968 and pulske 1970)।

(Lehman & Witty, 1927) के अनुसार बालको मे खेलो की सख्या प्रौढौ की तुलना मे अधिक होती है।

(3) उम्र के साथ खेल के समय मे ह्रास (Decrease in time of play with age)

उम्र बढने के साथ साथ खेल के समय मे भी कमी देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ बालको मे बाल्यावस्था में खेलो के प्रति काफी सतर्क रहते है तथा समय की अधिकता भी रहती है। परन्तु वही बालक जब किशोरावस्था या प्रौढावस्था मे प्रवेश करता है तो कार्य की व्यस्तता के कारण खेलो के समय में कमी का प्रदर्शन होता है। अत उम्र मे वृद्धि के साथ खेलो के समय मे कमी का प्रदर्शन व्यावहारिक है।

(4) उम्र के साथ विशिष्ट खेलो का विकास (Development of specific plays with age)

उम्र मे वृद्धि के साथ-साथ बच्चो मे विशिष्ट खेलो का विकास भी देखा जा सकता है। प्राय बच्चो में एक अवस्था से दूसरे अवस्था के मध्य खेलो की रूचियो मे अन्तर देखने को मिलता है। उसका कारण उम्र मे वृद्धि तथा अवधान केन्द्रण मे कमी हो सकता है। वयस्कों तथा प्रौढो मे अवधान केन्द्र उच्च स्तर का पाया जाता है इसलिए वे अपने आपको कार्य में व्यस्त रखते है।

अवधानकेन्द्रण मे कमी के कारण बच्चे ज्यादा समय खेल मे लगाते है तथा प्रौढ कम समय मे ही खेल तथा कार्य को सम्पन्न कर लेता है। आयु मे वृद्धि होने से प्रौढ लोग खेल को समय कम दे पाते हैं। इसलिए प्रौढ लोग अपने लिए विशिष्ट प्रकार के खेल विकसित कर लेते है। वान आल्सटाइन (Van Alstyne, 1932) का कहना है कि छोटे बच्चो मे अवधान केन्द्रण की योग्यता कम होती है और प्रौढो मे अधिक। इसी कारण प्रौढ किसी कार्य के सम्पादन में कम समय लेते है तथा बच्चे ज्यादा समय लेते है। अवधानकेन्द्रण की योग्यता मे वृद्धि के फलस्वरूप कार्य की गति (Speed of activity) मे भी वृद्धि पायी जाती है और व्यक्ति विशिष्ट प्रकार के खेलो मे अधिक रुचि लेने लगता है ।

(5) बाल्यावस्था के खेल अनौपचारिक होते है (Childhood's play are Informal)

प्राय बच्चो की रुचि बाल्यावस्था मे खेलो के प्रति अधिक होती है। उन्हे पूरी स्वतन्त्रता होती हैं कि वे खेल खेलें या न खेले। इनके खेल स्वाभाविक तथा अनौपचारिक होते है। इनके खेलों मे नियमो का पूर्णत अभाव होता है। वे समय एव परिस्थिति की परवाह किये वगैर खेल खेलते है। जिन खेलो से उन्हें खुशी तथा आनन्द मिलता है वही खेल वे ज्यादा खेलते है। उनके खेल पूर्व नियोजित था पूर्वनिर्धारित नही होते है। उनका खेल पूर्णत आत्म इच्छा पर निर्भर करता है। इसलिए यह कहा जाता है कि बाल्यावस्था के ज्यादातर खेल आत्मप्रेरित होते है। उसके विपरित प्रौढो के खेल लक्ष्योन्मुख होते है। औपचारिक होते है तथा आर्थिक प्रलोभनों से प्रेरित होते हैं। प्रौढौं के खेलो मे नियमो तथा निर्देशो का पूरी तरह से पालन करना अनिवार्य होता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि उम्र मे वृद्धि के साथ साथ खेलों का रूप औपचारिक होने लगता है।

(6) बच्चो के खेल मे सक्रियता का होना (Activeness in childern's play)

बच्चे जब खेल खेलते है तो उनमे सक्रिय होकर खेलते है। इसलिए सक्रियता की मात्रा बच्चों मे प्रौढौं की तुलना मे खेलते समय ज्यादे प्रदर्शित होती है। बच्चे खेल में खेलते समय इतने तन्मय एव सक्रिय हो जाते है वे खाना, पीना, सोना भूल जाते हैं। उन्हें जबरदस्ती खेलने से मना करना पडता है जिससे वे अपनी नित्यक्रिया मे भाग ले सके। उम्र में वृद्धि के

साथ-साथ सामाजीकरण मे भी वृद्धि होती है तथा खेलो के प्रति रुचि में भी अन्तर आने लगता है। परिणामस्वरूप यह मिलता है कि खेल व्यवहारो मे गभीरता दिखायी देने लगती हें। सही अर्थो मे यह कहा जा सक्ता है कि प्रौढो मे खेलो के प्रति सक्रियता में कमी देखी जा सकती है जबकि बच्चो मे सक्रियता की मात्रा मे वृद्धि पायी जाती है।

बच्चो के खेल के प्रकार
(Types of children's play)

उम्र तथा सामाजिक अधिगम के वृद्धि के फलस्वरूप बच्चों में अनेक प्रकार के खेलों के प्रति रुचि प्रदर्शित होने लगती है। आयु एव अधिगम मे वृद्धि के साथ साथ प्राचीन खेलो का विलोपन तथा नवीन खेलो का अर्जन होता है । प्रारम्भिक अवस्था के खेल प्राय सरल एव असगठित तथा अनियमित होते है। जबकि अगली अवस्थाओ मे यही खेल सगठित, नियमित एव काफी जटिल हो जाते हैं। हरलाक (Hurlock] 1950) ने बच्चों में खेलो के प्रकार को पूर्वबाल्यावस्था एव उत्तर बाल्यावस्था के आधार पर वर्गीकृत किया है जिसका विवरण निम्नलिखित है।

पूर्वबाल्यावस्था के खेल
(Play in Early Childhood)

हरलॉक (Hurlock 1950) के अनुसार पूर्वबाल्यावस्था में बच्चे प्राय तीन प्रकार के खेलो मे अपने आपको व्यस्त रखते हैं, वे निम्नलिखित है

1 मुक्त, स्वाभाविक खेल (Free, Spontaneous play)

जैसा कि हम सभी को मालूम है कि पूर्वबाल्यावस्था ही खेलों के अभ्युदय की अवस्था है। ठस अवस्था के खेल मुक्त यानि स्वतन्त्र एव स्वाभाविक होते हैं। उस अवस्था में इस प्रकार के खेलों में नियमों तथा निर्देशों का अभाव होता है। ऐसे खेल पूर्णत एकाकी होते हैं न कि सामाजिक। इस प्रकार के खेल बच्चे स्वय अकेले खेलते है। यदि कोई अन्य बच्चा खेलते समय बाधा पहुँचाता है तो वे उसका प्रतिरोध करते हैं। उस प्रकार के खेल बच्चे अपनी इच्छानुसार खेलते हैं तथा अपनी इच्छानुसार खेल खेलना बन्द कर देते हैं। इसलिए उसे स्वाभाविक खेल की सज्ञा दी गयी है।

इस प्रकार के खेल खेलने में बच्चे पूरी तरह से आजाद या स्वतन्त्र होते हैं। उनके खेलों में समय एव परिस्थिति का कोई प्रभाव नही देखा जाता है। इस प्रकार के खेलों में प्रारम्भिक अवस्था में बच्चे खेलों से आनन्द की अनुभूति करते हैं।

उपर लिखित खेलों का प्रयास क्रमश होता है। शर्ली (Shirly, 1931) अपने अध्ययनो के आधार पर उस निष्कर्ष पर पहुँची कि लगभग 20 वें सप्ताह में बच्चों में वस्तुओं के पास पहुँचने एव पकडने तथा झपट्टा मारने की योग्यता (Reaching, Grarping and catchihg ability) आ जाती हैं। इस प्रकार की योग्यता को प्रथम स्तरीय कौशल (First order skill) कहते हैं। उम्र बढने के साथ साथ बच्चों में द्वितीयस्तरीय (Second order skill) कौशल, तृतीयस्तरीय कौशल (Third order stall) तथा चतुर्य स्तरीय कौशल (Fourth order skil) क्रमश 20-30 सप्ताह, 32-45 सप्ताह और 41-50 सप्ताह के मध्य परिलक्षित होते हैं। इस प्रकार के खेलों में प्रयुक्त खिलौनें में बालक तथा बालिकाओं के मध्य अन्तर मिलता है। लडके अधिक सक्रिय एव विध्वसक खेल खेलते हैं। जबकि लडकियाँ अन्वेषक खेलो में अपना समय ज्यादा व्यतीत करती हैं तथा कम विध्वसक खिलौनों का प्रयोग करती है। (Goldberg & Lawis 1969, Lawrance 1968 and pulske 1970)।

2 कल्पनात्मक खेल (Make Believe play)

कल्पनात्मक खलो का नाटकीय या कृत्रक विश्वास खेल भी कहते है। इस प्रकार के खलो मे बच्चा भाषा (Language) या वाह्य व्यवहार (External Behaviour) के माध्यम स वस्तुओ मे उनगुणो की कल्पना कर लेते है जो उनमे नही पाये जाते है (Hurlock 1950)। कम आयु के बच्चे अपने से बडे उम्र क बच्चो से उस कल्पनात्मक खेल को सीखते हैं। प्राय इस प्रकार के खेल व्यवहार 18 24 माह की आयु म प्रदर्शित होते है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हैं कि उस खेल मे बच्चे अपने खिलोने से बात करते हें उनका नामकरण भी कर देते है। परन्तु आयु एव अधिगम मे वृद्धि के परिणामस्वरूप यह खल व्यवहार जटिल हो जाता हे तथा नाटकीय खेलो का प्रदर्शन करने लगते है। कल्पनात्मक खल साढे पॉच वर्ष की अवस्था में अपनी चरमसीमा पर होता हैं 1 (Greehaker 1959 & Marshal 1961) । पूर्वस्कूला बच्चो मे उस प्रकार के खेलो की प्रधानता होती है। स्कूल मे प्रवेशोपरान्त उस तरह के खेलो के प्रति रूचि मे कमी आती है। क्योकि बच्चे जीवन को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखने लगते है तथा उनमे तार्किक योग्यता (Logical Ability) का विकास हो जाता है। निम्न बौद्धिक बुद्धि वाले बच्चे नाटकीय खेलो मे रुचि कम प्रदर्शित करते हे जबकि उच्च मानसिक योग्यता वाले बच्चो मे उस प्रकार के खेलो मे रुचि ज्यादा होती है। उस प्रकार का खेल लडके तथा लडकियो दोनो मे स्थायीरूप से लोकप्रिय होता है परन्तु लडकियॉ नाटकीय खेलो मे लडकों की अपेक्षा ज्यादा रुचि रखती है।

(3) रचनात्मक खेल (Constructive Play)

उम्र एव अधिगम मे वृद्धि के फलस्वरूप बच्चो मे रचनात्मक खेल व्यवहार प्रदर्शित होने लगता है। प्राय बच्चो मे उस योग्यता का विकास देखने को मिलता है कि वे विभिन्न वस्तुओ को एकत्रित करके उनमे किसी न किसी प्रकार की सरचना करते हैं तथा आनन्द उठाते हैं । विभिन्न वस्तुओ के साथ खेलना इसमे किसी प्रकार की तस्वीर डिजाइन या आकृति बनाना ही रचनात्मक खेल में आता है। 5-6 वर्ष की आयु तक बच्चों मे उस रचनात्मक खेल व्यवहार का प्रदर्शन होने लगता है। प्रारम्भिक रचनात्मक खेलों मे मिट्टी की वस्तुओ तथा बालू के पहाड या सुरग बनाते है। इसके अलावा कैची से कागज को काटकर विभिन्न प्रकार की तस्वीर एव डिजाइन बनाना घर बनाना रगो का प्रयोग करके विभिन्न प्रकार के रचनात्मक खेल खेलते है। रचनात्मक खेल के माध्यम से बच्चों मे सृजनात्मक क्षमता (Creative ability) का विकास होता है। यही बच्चे भविष्य में अच्छे चित्रकार तथा कलाकार बनते है। प्राय बालक घर के बाहर (outdoor) एव लडकियॉ घर के अन्दर (Indoor) रचनात्मक कार्यो में अधिक सफल होती है। रचनात्मक खेल व्यवहार का बच्चा के अनुभव एव मानसिक क्षमता से सार्थक सम्बन्ध है। उपयुक्त अनुभव तथा उच्च बौद्धिक योग्यता के बच्चे रचनात्मक कार्यो में निम्न बौद्धिक योग्यता वाले बच्चो की तुलना मे ज्यादे सफल होते है।

इसके अलावा बच्चे प्राय निम्नलिखित खेलो में भाग लेते है।

1 **निष्क्रिय खेल** (Unoccupied play)— उसमे बच्चे लघुकालिक वस्तुओं का अवलोकन करते है और अपने शरीर को खेल की मुद्रा में लाकर आनन्दानुभूति करते है।

2 **दर्शक व्यवहार** (Onlooker play) उसमें बच्चे दूसरे बच्चे जो खेल रहे होते हैं उनके खेलों का अवलोकन करते है, उन्हें सुझाव भी देते है परन्तु स्वय खेल के सहभागी नही बनते है।

3 एकाकी खेल (Solitary play) इस प्रकार के खेल मे बच्चे अकेले खेलते हैं। अन्य बच्चे यदि साथ देना चाहते हं तो वे उसका प्रतिरोध करते हैं।

4 समानान्तर खेल (Parallel Play) इस प्रकार के खेल म आमने सामने खलते हे। उस खेल म वस्तुओ का प्रयोग अपना अपना अलग अलग करते हे। सामग्रियॉ लगभग एक ही जैसी होती ह।

5 सहचारी खेल (Associative play) इस प्रकार के खेल मे बच्चे समान खेल सामग्रियों क साथ एक साथ खेलते है तथा बराबर सहभागिता का प्रदर्शन करते हें।

6 सहयोगी खेल (Cooperative Play) इस प्रकार के खेल मे बच्चे एक साथ मिलकर खलते ह। उस प्रकार के खेल मे समूह की भावना (Feeling of Group) प्रबल रहती ह।

समूह एक या दो बच्चो से नियत्रित होता रहता है। यही से सामाजिक विकास का अभ्युदय होता ह। इन खेलो के माध्यम से सामाजिक व्यवहार का विश्लेषण करने मे मदद मिलती ह।

उत्तरबाल्यावस्था के खेल
(Play in Latechilhood)

स्कूल मे प्रवेशोपरान्त बच्चो मे खेल सम्बन्धी रुचियो मे परिवर्तन आता हैं। पूर्वबाल्यावस्था के खेल समाप्त हो जाते है तथा उत्तरबाल्यावस्था के खेल प्रस्फुटित होने लगते हे। प्रवेश के बाद बच्चो का सामाजिक विस्तार होता है। सामाजिक अन्तर्क्रिया का अवसर मिलता है। उनमे मित्रता की भावना जन्म लेती है। इसी समय पूर्वबाल्यावस्था तथा उत्तरबाल्यावस्था के खेलो मे अविच्छादन प्रारभ हो जाता हे। पुराने खेलो का विसर्जन तथा नवीन खेलो का अर्जन प्रारम्भ होता है। यही कारण हे कि उत्तर बाल्यावस्था को खेल की अवस्था (The play Age) कहते हे। Hurlock (1950) के अनुसर उत्तरबाल्यावस्था मे निम्नलिखित खलो का प्रदर्शन होता है।

(1) **सग्रह** (Collection) – प्राय तीन वष की उम्र के पश्चात बच्चों मे सग्रह करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है। वस्तुओ को सग्रह करने मे आकर्षण का विशेष महत्व है। बच्चे उन वस्तुओ का सग्रह पहले करते है जो उन्हे आकर्षित करती है। उनके सग्रह मे उसकी उपयोगिता एव अनुपयोगिता का कोई महत्व नही होता है। वे वस्तुए जो निरर्थक होती है उनका भी सग्रह बच्चे करते हैं। कभी कभी ऐसा पाया जाता है कि बच्चे सग्रह की गयी वस्तुओ को अपने खिलौने के साथ रख लेता हे तथा वह भूल जाता है। बच्चे खेलते समय इन सग्रह की गयी वस्तुओ का दूसरों बच्चो से विनिमय करते है। प्राय ऐसा देखा गया है कि 6 वर्ष से लेकर वय सधि यानि किशोरावस्था तक यह सग्रह की प्रवृत्ति लडकी तथा लडकियॉ दोनो में पाई जाती है। **डुरोम्ट** (Durost, 1932) अपने एक अध्ययन में पाया कि सग्रह करने की प्रवृत्ति लडको में 10 वर्ष तक तथा लडकियों मे 11 वें वर्ष तक अधिकतम रूप मे पाई जाती है। लडके तथा लडकियॉ स्कूल मे प्रवेशोपरान्त किशोरावस्था तक उन वस्तुओं को सग्रहित करने मे रुचि रखते है जिनका सग्रहण प्राय उनकी समआयु के साथी करते है। वस्तुओ मे सग्रहण मे लडके तथा लडकियॉ मे प्रतिस्पर्धा की भावना भी रहती है। जिससे उन्हे गव भी होता है। एकीकरण या सग्रहण एक प्रकार का खेल है क्योकि इस खेल से उन्हे आनन्दानुभूति होती है। बडे बच्चों में सकलन या सग्रहण क्रमबद्ध रूप मे पाया जाता है। कम आयु के बच्चे सार्थक एव निरर्थक दोनो प्रकार की वस्तुओ का सकलन करते हैं जबकि बडे बच्चे केवल उन्ही

वस्तुओ का सकलन करते है जिससे उन्हे प्रशसा तथा सम्मान मिलता है तथा उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि प्रदान करता है। प्राय सभी आयु स्तर मे लडकियॉ लडको की तुलना मे अधिक सग्रहण प्रदर्शित करती है। सग्रहण पर बच्चो की बौद्धिक योग्यता का भी प्रभाव देखा गया है। उच्च बौद्धिक योग्यता के बच्चे निम्नबौद्धिक योग्यता के बच्चो की अपेक्षा सग्रह खेल का प्रदर्शन कापी अच्छे ढग से करते है। सग्रह हेतु प्राय जिन सामग्रियो का उपयाग बच्चे करते हैं वे है— पत्थर, पुरानी पत्रिकाओ ,सिक्को डाकटिकटो, छोटे बाक्सो, फोटो एव बटन इत्यादि ।

2 **खेलकूद** (Games and sports)—बच्चो मे खेलकूद का प्रदर्शन घर से आरम्भ होता है। सबसे पहले वे अपने माता पिता के साथ खेलते है। फिर घर के अन्य सदस्यों के साथ खेलना आरम्भ करते है। माता के साथ खेलकूद का प्रदर्शन 1 वर्ष की आयु मे होता है। सामान्तया 4 5 वर्ष से आयु तक बच्चो का खेलकूद का प्रदर्शन प्रनिस्पर्धात्मक रूप ले लेता है तथा खेलकूद मे सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हे काफी श्रम करना पडता है। 5 वर्ष की आयु मे बच्चे अपने कौशलो के प्रदर्शन हेतु खेल खेलते है। वे अकेले खेलते है। और अपनी पिछली अवस्थाओ की उपलब्धियो से इसकी तुलना करते है। 8 10 वर्ष की आयु मे उनकी टोली खेल (Gang Play) के प्रति इच्छा प्रकट होती है। टोलीखेल को सामूहिक खेल (group play) भी कहते है। उस प्रकार के खेल मे सहयोगियो की सख्या एक से ज्यादे होती है। ऐसे खेल अधिक सगठित होते है। इनमे नियमो की प्रधानता होती है। सामूहिक खेल में प्रतिस्पर्धा अधिकतम पाई जाती है। बच्चे जो स्कूल मे प्रवेश पाने के पूर्व घर के पर्यावरण में खेलते थे वे स्कूल मे प्रवेशोपरान्त खुले पर्यावरण मे खेलने के आदी हो जाते है। इस प्रकार से उनमे सामाजिकता का विस्तार होता है। स्वार्थी प्रवृत्ति का समजन होता है। सहयाग एव मैत्री की भावना प्रबल रूप मे पाई जाती है। अन्य बच्चो के प्रति दुर्भाव तथा कटुता का भाव समाप्त हो जाता है। विद्यालय मे प्रशिक्षण के माध्यम से विभिन्न प्रकार के खेल कूद के प्रति रुचि में स्कूल मे प्रवेश लेने के बाद अन्तर दिखायी पडने लगता है। खेलो में रूचि तथा सफलता का महत्व लडकियॉ के लिए कम हो जाता है। आन्तरिक खेल (Indoor games) लडकियों में अधिक लोकप्रिय होता है तथा बाहर के खेल (Outdoor games) लडकों में ज्यादा लोकप्रिय होते है। Gerai, 1968, Moos and Miacheal, 1964 and sattansmith, 1965) ।

3 **मनोरजन** (Amusement)—बच्चे मनोरजन भी चाहते है। खेलों मे व्यस्तता के कारण उनमे थकान की प्रवृत्ति पाई जाती है। जब वे थकान से पीडित होते हैं तो किसी भी क्रिया मे सक्रिय सहभागी न बनकर निष्क्रिय सहभागी बन जाते है। इस निष्क्रिय सहभागिता से मनोरजन करते हैं। इस तरह से उनमे थकान कम होती है तथा शारीरिक उर्जा की पुर्नस्थापना होती है। Hurlock (1950) के अनुसार मनोरजन से आशय उन खेलों से है जिनमें व्यक्ति निष्क्रिय दर्शक की भॉति भाग लेता है और अन्य व्यक्तियो की क्रियाओ का अवलोकन करके आनन्दानुभूति करता है। इस प्रकार के मनोरजन के साधन में प्राय पढना (Reading) चलचित्र एव रेडियों टेलीविजन आदि आते है। इनका वर्णन यहॉ पर करना अपेक्षित है।

(i) **पढना** (Reading)—खेल या कार्य से थक जाने के पश्चात् बच्चे अपनी पुस्तक या पत्रिका आदि लेकर पढते है। उससे उन्हें आराम करने का सुअवसर मिलता है तथा साथ ही साथ मनोरजन का लाभ भी उठाते है। पुस्तको मे तथा पत्रिकाओ में वर्णित रगीन चित्रो का प्रेक्षण करके वे आनन्दित होते है। बच्चों में पढने का व्यवहार दोपहर या साय को ज्यादा प्रदर्शित होता है। लडकों की अपेक्षा लडिकयॉ पढने के व्यवहार का प्रदर्शन ज्यादा करती है।

Behın, 1959 & Gerai 1968) । कार्सेल (1957) एव बैंग (1958) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि तीव्र मानसिक क्षमता वाले बच्चे निम्न मानसिक क्षमता वाले बच्चो की तुलना मे अधिक पढते है। कैपा (1956) एव इमान्स (Emmons 1968) के अनुसार बच्चे काल्पनिक कहानियों को पढने मे काफी रुचि दिखाते हैं। वाविन्ट (1977) बोयड एव मेण्डेलर (Boid and Mandler 1955) ने अपने अध्ययनो के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि अल्पआयु के बच्चे परिचित व्यक्तियों एव वस्तुओं की कहानियो तथा किण्डर गोर्टन आयु के बच्चे हास्यप्रधान कहानियाँ, कामिक्स, नाटक आदि पढने मे अधिक रुचि प्रदर्शित करते है। पढने के व्यवहार पर सास्कृतिक कारका तथा सामाजिक, आर्थिक स्तरो का भी प्रभाव देखा गया है। एक अध्ययन में गेयर एव वोलियर (1960) तथा वैलेस (1960) ने यह पाया कि निम्न सामाजिक आर्थिक स्तर वाले बच्चे वे सभी पढते है जिसे वे पढना चाहते हैं जबकि मध्यम एव उच्च सामाजिक आर्थिक स्तर वाले परिवारो के बच्चे नही पढते है जिन्हे उनके माता-पिता तथा शिक्षक उपयुक्त समझते हैं । आयु में वृद्धि होने के साथ साथ पढने के व्यवहार की रूचि मे भी अन्तर दिखायी पडने लगता है।

उत्तरबाल्यावस्था मे पढने के व्यवहार पर यौन भेद पाया जाता है। लडके साहस, बहादुरी एव अविष्कारो से सम्बन्धित पुस्तको को पढना ज्यादा पसद करते हैं जबकि लडकियाँ गृहस्थ जीवन कहानियाँ, विद्यालयी जीवन से सम्बन्धित पुम्तको को पढने मे रुचि प्रदर्शित करती है। किशोरावस्था मे पढ़ने के व्यवहार के प्रति रुचि प्रबलतम होती है (Belih 1959, and Lyness 1951) । सकरैम लाइल तथा पार्कर, (1961) के अनुसार सात वर्ष की आयु के पूर्व बच्चे समाचार पत्रो की ओर कम रूचि रखते हैं। बच्चे सामान्य पुस्तकें समाचार पत्र, कामिक्स एव पत्रिकाओ को पढने मे रूचि रखते है। कम आयु के बच्चे छोटी पुस्तकें जिसमे रगीन चित्र आदि बने हो तथा उसे ज्यादे पसन्द करते है। मुद्रित सामग्री कम हो तथा चित्र आदि ज्यादे बने हो तो ऐसी पुस्तकों के प्रति उनकी रुचि बढती है। बच्चे उन पुस्तको को नही पसन्द करते है जिससे उन्हे कष्ट तथा चिन्ता की अनुभूति हो। लडके लडकियों की तुलना मे समाचार पत्रो के प्रति काफी आकर्षित होते हैं। लडके समाचार पत्रों में खेलकूद एव मनोरजन सम्बन्धी सामग्रियों को अधिक पढते हैं। बुद्धिमान बच्चे कम बुद्धिमान बच्चो की तुलना में समाचार पत्र एव पत्रिका पढना ज्यादा पसन्द करते हैं।

छोटे बच्चे कामिक्स, कार्टून, कहानी आदि पर विशेष रुचि रखते हैं। कामिक्स, कार्टून सम्बन्धी पुस्तकों को वे एकत्रित करते है तथा अपने आयु के बच्चों से प्रतिस्पर्धा रखते हैं। 2-3 वर्ष की आयु में बच्चे कामिक्स के चित्रों को देखकर मनोरजन उठाते हैं । 5 वर्ष के बाद कामिक्स के शब्दों को समझने की कोशिश करते है। तत्पश्चात् उनकी रुचि में बढोत्तरी होती जाती है। बटरवर्थ एव थामसन (1951) एव बिटी (1966) के अनुसार 6-7 वर्ष की आयु मे कामिक्स एव कार्टून के प्रति बच्चों की रुचि पराकाष्ठा पर होती है परन्तु उसके बाद उसमे कमी नजर आने लगती है। बेलिन (1959) एव बैग (1956) के अनुसार लडके लडकियों की तुलना मे कामिक्स अधिक पढते हैं। अल्प आयु के बच्चे पशुओं और स्त्रियों से सम्बन्धित कामिक्स पढते हैं तथा बडे आयु के बच्चे रोमान्स एव साहस से सम्बन्धित कामिक्स पढना अधिक पसद करते हैं। (बटरवर्थ एव थामसन 1951) ।

(ii) **सिनेमा** (Cinema) – सिनेमा भी मनोरजन के साधन के रूप में माना जाता है। बच्चों को वे चलचित्र ज्यादे पसद आते हैं जिनमे पशुओं की भाग दौड, मारपीट युद्ध इत्यादि का दृश्य होता है। आजकल तो सिनेमा का इतना प्रभाव हो गया है कि 3-4 वर्ष की आयु के

बच्चे सिनेमा जाने के लिए माता-पिता से अक्सर अनुनय करते नजर आते हैं। लेहमन एव विटि (Lehman & Witti (1927)) के अनुसार शहरी क्षेत्र के 8 9 वर्ष की आयु क 90% बच्चे सिनेमा देखने जाते है जबकि 12 वर्ष आयु की लडकियो मे से 75% ने यह स्वीकार किया कि वे सिनेमा देखने जाती है। परन्तु यह अध्ययन काफी पुराना है तथा आजकल 100% बच्चे सिनेमा देखने जाते है। सिनेमा आजकल मनोरजन का एक उपयुक्त साधन बन चुका है। सिनेमा देखने पर बच्चो के सामाजिक आर्थिक प्रभाव पडता है। सिनमा के माध्यम से बच्चो मे सामाजिक परिस्थितियो के साथ समायोजन करने की योग्यता मे वृद्धि हाती है। सिनेमा का बच्चो पर सावेगिक प्रभाव भी पडता है। फलस्वरूप बच्चो मे प्रारम्भ मे स्वप्न दिवास्वप्न अशिष्ट व्यवहार आदि परिलक्षित होते है।

(iii) **रेडियो** (Radio) – जब सिनेमा एव टेलीविजन का आविष्कार नही था तब रेडियो ही एकमात्र मनोरजन का साधन था। रेडियो के प्रति अल्पआयु के बच्चो मे आकर्षण कम होता है। जबकि अधिक आयु के बच्चे एव व्यस्क दोनो अभी भी रेडियो को एक खेल एव मनोरजन का साधन मानते है तथा उसके प्रति गहरी रुचि रखते है। रेडियो के श्रवण हेतु यौन विभिन्नता पाई जाती है। लडकियाँ लडको की अपेक्षा रेडियो कम सुनती हैं। उच्च मानसिक क्षमता तथा उच्च समायोजित बच्चे निम्न मानसिक क्षमता एव निम्न समायोजित बच्चो की तुलना मे रेडियो के प्रति आकर्षण कम रखते है। गॉव मे रहने वाले बच्चे शहर मे रहने वाले बच्चो की अपेक्षा रेडियो ज्यादा सुनते है। लडकियो की पसद पहेली लोकप्रिय सगीत और हास्य प्रोगामो के प्रति ज्यादा होती है जबकि लडके खेलकूद साहस, बहादुरी एव जासूसी और अपराध के प्रोग्रामो के प्रति ज्यादा आकर्षित होने है। (Gerai & Schienfeld 1968, Risiyuti 1987) । मेरिल (Meril, 1961) के अनुसार जो बच्चे रेडियो सुनने मे ज्यादा समय बिताते है उनमे शारीरिक अभ्यास हेतु बहुत कम समय मिलता है तथा उनका विद्यालयीय उपलब्धि भी प्रभावित होती है।

(iv) **टलीविजन** (Television) – आजकल तो टेलीविजन की बाढ सी लग गयी है। टेलीविजन एक उच्च प्रकार का मनोरजन का साधन बन गया है। घर वैठे ही देश विदेश के प्रोग्रामो को देखा जा रहा है। चैनलो की सख्या इतनी बढ गयी है कि टेलीविजन आज 24 घटे चल रहा है। आजकल बच्चो की रुचि टेलीविजन के प्रति बढ रही है। विटि (Witty 1966) के अनुसार टेलीविजन बच्चो को अन्य मनोरजन के साधनो की अपेक्षा ज्यादा प्रलोभित एव आकर्षित करता है। लडकियो की तुलना मे लड़के टेलीविजन ज्यादा देखते है। टेलीविजन से आज बच्चे अपने सामान्य ज्ञान को भी बढा रहे है क्योकि टेलीविजन पर विभिन्न प्रकार के शैक्षिक कार्यक्रम भी प्रदर्शित किये जा रहे है।

(4) **सगीत** (Music) – सगीत भी एक प्रकार का खेल हैं जो बच्चो को आकर्षित करता है। प्राय छोटे बच्चे कुछ न कुछ गुनगुनाते हुए देखे जाते है। वे बिना लय के गाना गाते है। 4-5 वर्ष की आयु मे ज्यादेतर बच्चे सरल लयो को गाकर सुनाते है। जब कभी वे गाते समय कुछ लय भूल जाते है तो वे अपनी तरफ से जोडकर उसे पूरा कर लेते है (Jerseld 1968) । कम आयु के बच्चे दूसरों के सगीत सुनना ज्यादे पसद करते है। स्कूल मे प्रवेश लेने के पूर्व बच्चो मे टेपरिकार्डर एव रेडियो से सगीत सुनना अधिक पसद किया जाता है। 2 वर्ष की आयु पर बच्चे रेडियो, सगीत पर झूमकर नाचने लगते हे। 3 वर्ष की आयु मे वे सगीत की समझने लगते है तथा सरल गीत गाने लगते है। उम्र वृद्धि होने से उनकी रुचि धीरे धीरे सगीत लोकगीत और देशभक्ति गीतो मे बढने लगती है तथा धार्मिक गीतो के प्रति रूचि मे कमी आती है। (आवेरियन 1951 एव पाइनी 1967) ।

(5) **दिवास्वप्न** (Day Dreaming) – दिवास्वप्न भी एक प्रकार का दिमागी खेल है। दिवास्वप्न के माध्यम से भी बच्चे आनन्द की अनुभूति करते है। दिवास्वप्न के विचार उन्हे कामिक्स पुस्तको पत्रिकाओ सिनेमा एव टेलीविजन से प्राप्त होते ह जो असत्य होते हैं (ग्रीनएकर 1959 एव पुलस्की 1970)। विद्यालय में प्रवेश के बाद बच्चा मे कल्पनात्मक खेल समाप्ति की ओर होता है तथा वे दिवास्वप्न की तरफ अग्रसर होते हैं। किशोरावस्था का तो यह एक लक्षण ही होता है। उस अवस्था मे दिवास्वप्न अपनी चरम सीमा पर होता है। असमायोजित बच्चे दिवास्वप्न ज्यादे देखते है क्योकि उनकी रुचि खेलो मे कम होती है। जबकि समायोजित बच्चे दिवास्वप्न कम देखते है। सभी अवस्थाओ में लडके लडकियो की तुलना मे दिवास्वप्न कम देखते हैं। दिवास्वप्नों में बच्चे जो भूमिकाए खेलते हैं वह नाटकीय (Dramatic) वीरोचित (Heroic), उमगी (Fancifal) तथा दैनिक जीवन से दूर (Remote) होते है। बच्चो के दिवास्वप्न काफी मोहक तथा प्रेमलीला तथा उत्तेजना से परिपूर्ण होते है।

खेल का महत्व
(Importance of Play)

बच्चो के चहुँमुखी विकास के लिए खेल का विशेष महत्व ह। खेल के माध्यम से बच्चे आनन्द का अनुभव करते है। उनकी शारीरिक ऊर्जा एव मानसिक ऊर्जा मे वृद्धि होती है। वे शारीरिक एव मानसिक रूप से स्वस्थ रहते हैं। खेल के माध्यम से उनकी सामाजिक अन्तक्रिया मे वृद्धि होती है। उनमे सहयोग एव प्रतिस्पर्धा की भावना का विकास होता है। खेल के माध्यम से उनमे व्यावहारिक परिपक्वता का विकास होता है। खेलो द्वारा बच्चे का नैतिक सामाजिक एव मानसिक विकास होता है। खेल से शारीरिक, सामाजिक विस्तार को बढावा मिलता है। खेल मानसिक तनाव को भी कम करता है तथा मानसिक सतुलन बनाये रखता है। यही कारण है कि खेल को विकास के दृष्टिकोण से आवश्यक एव महत्वपूर्ण माना गया है। मनोवैज्ञानिक शिक्षाशास्त्री तथा समाजशास्त्री सभी इस बात को स्वीकारते हैं कि बच्चो को खेल का उचित अवसर प्रदान करना चाहिए जिससे उनका सर्वागीण विकास हो सकें। खेल से जो लाभ प्राप्त है वे निम्नलिखित है।

(1) **खेल एव सामाजिक सम्बन्ध** (Play and social Relationships) बच्चे हमेशा एक समूह मे खेलते है। खेल समय समूह के सदस्यों से उनकी अन्तक्रिया होती है जिससे वे एक दूसरे को समझने का प्रयास करते है तथा अपना मित्र बनाते है। सामाजिकता का खेल से धनात्मक सह सम्बन्ध है। बच्चे जब खेल खेलते है तो उनमें समूह की भावना जन्म लेती है। उनमें अपनत्व तथा स्नेह की भावना भी दूसरो के प्रति जन्म ले लेती है। सामाजिक विस्तार मे वृद्धि होती है। सघीय प्रवृत्ति (Gregariousnees) को बल मिलता है। खेल के माध्यम से बच्चो में सहभोग एव प्रतिस्पर्धा भी जन्म लेती है।

(2) **खेल एव शारीरिक विकास** (Play and Physical Development) – खेलों से शारीरिक स्वस्थता में मदद मिलती है। शरीर के विभिन्न अगों में समन्वय (coordination) दिखायी पडता है। शारीरिक सतुलन एव समायोजन में वृद्धि होती है। शारीरिक क्षमताओं एव विभिन्न शारीरिक कौशलों को विकसित करने में खेलों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। खेलों से शरीर हृष्ट पुष्ट एव फुर्तीला होता है।

(3) **खेल एव शिक्षा** (Play and Education) – खेल के माध्यम से बच्चे अपने सामान्य ज्ञान को बढाते है। उदाहरणार्थ—सगीत सुनने पढने टेलीविजन देखने सिनेमा देखने

से बच्चो को ज्ञानार्जन होता है। इस ज्ञानार्जन के माध्यम से उनका पर्यावरण के साथ समायोजन उचित रूप से बढता है। खेल से व्यक्तित्व विकास भी होता है। अत खेल शैक्षिक उपलब्धि मे भी सहायक होता है खेल से शारीरिक एव मानसिक स्वस्थता मिलती है तथा यह स्वस्थता बच्चे के बौद्धिक स्तर को ठीक करता है तथा यही बौद्धिक स्तर शैक्षिक उपलब्धि में सहायक माना जाता है।

(4) **खेल एव चिकित्सा** (Play and Therapy) – खेल का उपयोग चिकित्सा के रूप मे विभिन्न प्रकार के मानासिक तनावो, उलझनो एव सवेगो तथा द्वन्द्वो को कम करने के लिए किया जाता है। आजकल तो खेल का उपयोग प्रतिबल (stress) के नियत्रण हेतु किया जा रहा है। विभिन्न प्रकार के मानसिक विकृतियो के उपचार हेतु भी खेल चिकित्सा, (Play therapy) का उपयोग किया जा रहा है। मानसिक चिकित्सालयों मे तो खेलाचिकित्सा पर ज्यादा बल दिया जा रहा है। स्वतन्त्र खेलो के माध्यम से विभिन्न प्रकार के मानसिक उलझनों, सवेगो तथा ग्रन्थियो को दूर करने में महत्वपूर्ण मदद मिलती है।

(5) **खेल एव नैतिक प्रशिक्षण** (Play and Moral Training) – खेल के माध्यम से बच्चो ने नैतिक सम्प्रत्यय का विकास होता है। वे उचित तथा अनुचित एव सही तथा गलत व्यवहारो को विभेदन करने मे सक्षम होते है। खेल के माध्यम से वे समूह की सदस्यता ग्रहण करते हैं तथा उनमे शराफत, ईमानदारी, सहिष्णुता एव समरसता जन्म लेती है खेल के माध्यम मे उनके नैतिक मन (Moral Mind) का विकास होता है। अच्छे आचरण पर प्रशसा का तथा गलत आचरण पर निन्दा का पात्र बनता है तथा दण्ड का भोगी भी बनना पडता है। इस प्रकार से वह अपने व्यवहार में सशोधन करता है। नियमो तथा आदर्शों का पालन करता है। अत खेल के माध्यम से बच्चो को नैतिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। अत बच्चो को खेल का उचित अवसर प्रदान करना चाहिए जिससे उनके नैतिक विकास मे मदद मिल सके।

खेल को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Influencing play)

खेल के विकास को भी कुछ कारक प्रभावित करते हैं जिनका वर्णन यहाँ पर अपेक्षित है। इन्ही कारको के कारण प्राय ऐसा देखा जाता है कि बच्चो मे खेल सम्बन्धी योग्यता तथा रुचि में अन्तर मिलता है। जो कारक खेल के विकास को प्रभावित करते है वे निम्नलिखित हैं

(1) **स्वास्थ्य** (Health) – बच्चो का स्वस्थ होना खेल विकास के लिए आवश्यक होता है। बच्चे जितने ही शारीरिक एव मानसिक रूप से स्वस्थ होगे, खेल एव मनोरजन के प्रति उनको रुचि उतनी ही बढेगी। खराब स्वास्थ्य के कारण प्राय बच्चे निष्क्रिय खेल ज्यादा पसद करते है। स्वस्थ बच्चों में उर्जा की मात्रा अस्वस्थ बच्चों की तुलना में ज्यादा होती है। स्वास्थ्य बच्चों का खेल का प्रदर्शन कौशल पूर्ण होता है तथा वे शीघ्रता से खेल की ग्रहण करने मे सफल होते हैं। अस्वस्थता के कारण बच्चे मे चिडचिडापन जन्म ले लेता है जिससे उनमे शीघ्र के प्रति रुचि जागृत नही होती है। बच्चा शीघ्र ही थक भी जाता है तथा उसमें एकाकीपन की भावना जन्म ले लेती है। अत यह स्पष्ट है कि शारीरिक एव मानसिक स्वास्थ दोनों का खेल के विकास से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

(2) **क्रियात्मक विकास** (Motor Development) – खेल के विकास पर क्रियात्मक विकास का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा गया है। क्रियात्मक खेलो मे सहभागी बनने के लिए मॉसपेशियो का समुचित विकास एव समन्वय आवश्यक होता है। प्रत्येक आयु स्तर के खेल के लिए उचित पेशीय नियत्रण (Moto Coordination) की आवश्यकता पडती है। खेल

के प्रशिक्षण का समुचित उपयोग बच्चा तभी कर सकता है। जब बच्चे में समुचित पेशीय समन्वय स्थापित हो चुका हो। Jones (1939) ने एक अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया है कि स्नायु पेशीय समन्वय (Neuromuscular Coordination) का खेल के विकास पर स्पष्ट प्रभाव पडता है। खेलों का अधिगम सरलतम रूप म करने के लिए शारीरिक परिपक्वता का स्तर आवश्यकतानुरूप होना चाहिए। शारीरिक परिपक्वना के अभाव में खेलों का प्रदर्शन कठिन होता है। इस प्रकार खेल के मैदान में बच्चे की भूमिका उसके क्रियात्मक विकास पर निर्भर होती है।

(3) **मानसिक योग्यता** (Mental Ability)—मानसिक योग्यता या बुद्धि का प्रभाव स्पष्ट रूपेण बच्चों के खेल की योग्यता के विकास पर देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—उच्च मानसिक क्षमता वाले बच्चे निम्न मानसिक क्षमता वाले बच्चों की अपेक्षा खेल के प्रति सक्रिय रूप से सहभागी बनते है। उच्च मानसिक योग्यता वाले बच्चे मानसिक खेलो जैसे ताश, चेस, सयोग खेल अनुमान खेल, इत्यादि में अधिक सक्रियरूप में रुचि प्रदर्शित करते हैं या निम्न मानसिक योग्यता वाले बच्चो की खेल मे सहभागिता कम होती है (Lehmann, Witty, 1927, Terman 1925) । Horne & Philleo (1942) के अनुसार सामान्य बुद्धि के बच्चे औसत से निम्न मानसिक क्षमता वाले बच्चों की अपेक्षा खेलों के विकास क्षमता वाले बच्चो की अपेक्षा खेलों के विकास में स्थिरता का प्रदर्शन करते है। जैसे-जैसे बच्चों का मानसिक विकास होता है वैसे-वैसे बौद्धिक खेलों मे नाटकीयता तथा पढने में अधिक रुचि प्रदर्शित होती है।

(4) **यौनभिन्नता** (Sex Deffirences)—प्रारम्भिक अवस्थाओं में खेल के विकास पर यौन भिन्नता का प्रभाव परिलक्षित नही होता है परन्तु आगे की अवस्थाओं में धीरे-धीरे खेल के प्रति रुचियों में अन्तर दिखायी पडता है। उदाहरणार्थ— लडकियॉं घरेलू कार्यों एव स्कूल से सम्बन्धित कार्यो मे ज्यादा रुचि रखती है जबकि लडके साहसिक बहादुरी एव जासूसी सम्बन्धी खेलो में अधिक रुचि रखते है। टरमन एव लीमा (Terman & Lima, 1927) के अध्ययन मे यह पाया गया कि लडके तथा लडकियॉं के खेल के प्रति रुचियॉं में विशेष अन्तर मिलता है। लडके सभी प्रकार के खेल और मनोरजन मे श्रम साध्य खेलों को ज्यादा पसन्द करते है। पूर्व बाल्यावस्था के लडको में लडकियों की अपेक्षा उत्तर बाल्यावस्था की अपेक्षा खेल रुचियाँ ज्यादा परिलक्षित होती है।

(5) **वातावरण** (Environment)—खेल के विकास पर वातावरण का प्रभाव भी देखा गया है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि कुस्वास्थ्य, खेल सामग्री तथा स्थानाभाव के कारण अनुपयुक्त वातावरण के बच्चे उपर्युक्त वातावरण की तुलना में खेल कम खेलते है। उसी प्रकार के परिणाम ग्रामीण बच्चों की तुलना मे शहरी बच्चे खेल ज्यादा खेलते है पाया गया है। गरीब घर के बच्चो की खेल के प्रति रुचि कम होती है तथा अमीर घर के बच्चों में खेल के प्रति काफी रुचि दिखायी देती है उसका कारण यह हो सकता है कि अमीर घर के बच्चों को खेल की सामग्री बचपन से ही मिलती रहती है जबकि गरीब घर के बच्चों में खेल सामग्रियों का अभाव रहता है। लेहमेन (Lehman 1926) को ऐसा ही परिणाम मिलता है।

(6) **सामाजिक-आर्थिक स्तर** (Socio Economic Status)—उच्च सामाजिक आर्थिक स्तर के बच्चों में खेल के प्रति रुचि अधिक होती है तथा वे अधिक मूल्य वाले खिलोने से खेलना पसद करते है। जबकि निम्न आर्थिक सामाजिक स्तर के बच्चों कम

खर्चीली खिलौने क प्रति अपनी खेल वरीयता प्रदर्शित करते है। अत सामाजिक आर्थिक स्तर का प्रभाव खेल के विकास पर पडता हे।

(7) **अवकाश की अवधि** (Amount of Leisure Time)—परिवार के लोग बच्चो को कितना समय खेलने के लिए प्रदान करते है उस पर खेल का विकास निर्भर होता है। यदि बच्चो के पास अवकाश का समय निम्न स्तर का है तो वे अल्प अवधि वाले खेतों के प्रति ज्यादा रुचि प्रदर्शित करते हे जबकि यदि उनके पास लम्बा अवकाश है तो वे दीर्घकालिक खेलो को खेलना पसन्द करते हे। फाक्स (Fox 1934) के अनुसार अमीर घर के बच्चों के पास समय ज्यादा होता हैं इसलिए वे गरीब घर के बच्चों की तुलना मे ज्यादा समय खेल में व्यतीत करते हे।

(8) **खेल उपकरण** (Play Equipments)—घर मे किस प्रकार की तथा कितनी सख्या मे खेल उपकरण उपलब्ध है उस पर खेल का विकास निर्भर करता है। घर मे जिस प्रकार की खेल सामग्री उपलब्ध होगी उसी प्रकार के खेल के प्रति बच्चो मे रुचियॉ विकसित होती है। गुडियॉ या लकडी के खिलौने की अधिकता होने से बच्चे कृतक विश्वास खेल तथा ब्लाक एव मिट्टी उपलब्ध होने पर वह रचनात्मक खेल खेलते हैं। परन्तु आज कल इलेक्ट्रानिक्स खिलौने की आधुनिकता होने के कारण उनकी रुचियॉ इन खेलो के प्रति बढ रही हैं। उदाहरणाथ—विडियो गेम कम्प्यूटर खेल आदि।

(9) **आयु** (Age)—बच्चो के खेल के विकास पर आयु का भी प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ आयु मे वृद्धि होने के साथ ही साथ सहभागियो की सख्या भी बढती जाती हें। छोटे बच्चे बाल्यावस्था में पडौस के बच्चों के साथ खेलते है। तथा उत्तर बाल्यावस्था में वही बच्चे अपने सहपाठी तथा समानआयु के बच्चो के साथ खेलते है। किशोरावस्था में भी इस प्रकार के परिवर्तन खेल सहभागी मे देखे जाते है। अत आयु मे वृद्धि के साथ साथ खेल व्यवहार मे वृद्धि देखा जाता है।

(10) **ऋतु** (Seasons)—बच्चों के खेल के विकास पर ऋतु का भी प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ बसन्त ऋतु मे बच्चे प्राय उछलना कूदना, साईकिल पर सवारी करना आदि खेल का व्यवहार प्रदर्शित करते है। गर्मी के ऋतु मे बच्चे तेरना तथा पिकनिक जाकर नाव आदि चलाना ज्यादा पसन्द करते है। जाडे के मौसम मे अधिकतर खेल आयोजन होते है। उदाहरणार्थ क्रिकेट, हाकी तथा फुटबॉल जैसे खेल खेले जाते है। जिन खेलकूदो में परिश्रम कम लगता है वे बसन्त या गर्मी के मौसम मे खेले जाते ह।

17 पारिवारिक सम्बन्ध एव परामर्श
(Family Relationship and Counselling)

पारिवारिक सम्बन्ध का बच्चों के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। बच्चा जन्मोपरान्त जब धीरे धीरे बाल्यावस्था की सीढी पर चरण रखता है नो उसका सम्बन्ध परिवार के अन्य सदस्यो के साथ बढता है। यही सम्बन्ध उसके सज्ञानात्मक सामाजिक एव सवेगात्मक विकास के लिए महत्वपूर्ण समझा जाता है। यदि सरल शब्दो में यह कहा जाये कि बाल्यावस्था ही पारिवारिक सम्बन्धो की प्रथम सीढी है तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। पिछले कई वर्षो मे मनोविश्लेषणवाद तथा नवमनोविश्लेषण वादी मनोवैज्ञानिकों ने बालकों के व्यवहार एव मनोवृत्तियो पर बच्चो के पिछले अनुभवों की भूमिका पर बल दिया है। सही अर्थों में फ्रायड (Freud, 1953) के अनुसार तात्रिका विकृत (Neuropath) माता तथा पिता अपने सन्तानों की अतिरक्षा (Overprotection) करते है तथा उनके प्रति इतना लाडप्यार प्रदर्शित करते है कि बच्चों में स्नायुविक रोग के लक्षण दिखायी देने लगते है। विगत वर्षों में किये गये शोधो से यह पता चलता है कि मातृत्व की ममता का भी प्रभाव बालविकास पर पडता है। पारिवारिक सम्बन्ध पूर्णत पारिवारिक वातावरण के ऊपर निर्भर करता है। जैसा पारिवारिक वातावरण होगा उसी प्रकार का पारिवारिक सम्बन्ध परिवार के सदस्यों के मध्य देखा जा सकता हेतु अत परिवार ही वह सस्था है जहाँ से बच्चे का सर्वांगीण विकास सभव है। यदि परिवार विघटित है तो बच्चो का पूर्णत विकास असम्भव है। अत यह आवश्यक है कि बच्चों के उचित विकास हेतु पारिवारिक वातावरण सौहार्द्रपूर्ण तथा सानुकूल होना चाहिए। जिससे उनमें स्नायुविक रोग के लक्षण प्रदर्शित न होने पाये। बच्चों में वातावरण के प्रति समायोजन करने की क्षमता भी परिवार से ही आरम्भ होती है। अत बाल विकास हेतु, पारिवारिक सम्बन्धों का अध्ययन यहाँ अपेक्षित है।

बच्चो के विकास पर पारिवारिक सम्बन्धो का प्रभाव (Effect of Family Relationships on Child Development)—परिवार वह प्रथम स्थान है जहाँ बच्चा सम्बन्ध स्थापित करना सीखता है। किम्बलयग (Kimbal young, 1960) के अनुसार 'समाज के अन्दर विभिन्न साधनों में परिवार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।"

Of the various agents of soualization family is the moit important "

परिवार ही बच्चों का सबसे महत्वपूर्ण स्थाई साधन है। इसका एकमात्र कारण यह है कि बच्चे की विकासात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार से ही आरम्भ होती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी अवस्थाओं से गुजरता हुआ वह परिवार का सदस्य बना रहता है। परिवार के मध्य विभिन्न सदस्यों के साथ पारस्परिक अन्तक्रियात्मक सम्बन्ध बालविकास को प्रभावित करते है। क्लार्क एव वान सोमर्स (1961) के अनुसार परिवार ही बच्चों का सबसे महत्वपूर्ण

सामाजिक तत्र (Social Network) हे। इसी प्रकार से बोसार्ड एव बाल (1966) का मत है कि "घर वह स्थान है जहाँ बच्चे अनुभवो के साथ वापस लौटते है, आश्रम के लिए यह एक माँद है जहाँ वह अपने घावो के चाटते है उसके उपलब्धियो के गौरव को प्रदर्शित करने का एक मच है तथा अपने व्यवहारो, वास्तविकताओ और कल्पनाओं पर चिन्तन करने का आश्रम है, घर वह स्थान है जहाँ पर बच्चे अपने देनिक व्यवहार, अनुभवों, सामाजिक अनुभवों तथा व्यवहार आदि का मूल्याकन परीक्षण तथा परिवर्तन आदि करते है' । परिवार के अन्दर सभी सदस्य बालविकास को अलग अलग तरह से प्रभावित करते है। परिवार के अन्दर माता पिता का स्थान बालविकास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण माना गया है। बच्चा सबसे ज्यादा समय अपनी माता के साथ व्यतीत करता है इसलिए पिता की अपेक्षा माता का स्थान बालविकास की दृष्टि से सर्वोच्च माना गया है। परन्तु पिता की भी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। तानाशाही प्रवृत्ति वाले पिता से बच्चो का विकास अवरोधित होता है तथा बच्चे का समायोजन के शिकार हो जाते है। निम्न पारस्परिक अन्तक्रियात्मक सम्बन्ध बच्चों के विकास को सर्वाधिक प्रभावित करते है।

(1) **माता पिता का बच्चो से सम्बन्ध** (Parent Child Relationship)–जब माता पिता किन्ही कारण से अपने बच्चों को स्नेह, लाड-प्यार एव ममता नही प्रदान कर पाते है तो ऐसे बच्चे तिरस्कार (Neglected) बच्चो की श्रेणी में आ जाते हैं तिरस्कृत बच्चों का सामाजिक विकास तथा अन्य विकास विकृत हो जाता है। ऐसे बच्चे अपने को एकाकी समझने लगते है। ऐसे बच्चे माता-पिता के प्रति विरोधी अभिवृत्ति विकसित कर लेते है। ऐसे बच्चे निराशावादी दृष्टिकोण अपना लेते है। माता-पिता के स्नेह के अभाव मे वे परिवार के अन्य सदस्यों तथा समाज के अन्य सदस्यों से लाड प्यार एव स्नेह की आकाक्षा करते है। ऐसे बच्चे समाज विरोधी भी हो जाते है। ऐसे बच्चो का समायोजन असमान्य हो जाता है। उनमें परपीडन प्रवृत्ति (Saddistic Tendency) विकसित होने लगती है। वे बच्चे दूषित अनुशासन के शिकार हो जाते है। प्राय यह देखा जाता है कि यदि माता पिता प्रभुत्वशाली (Dominance) प्रकार के है तो बच्चा स्पष्टवादी, झगडालू और निर्भर करने योग्य भी हो सकता है। बच्चों का अतिसरक्षण भी विकास को बाधित करता है। अतिसरक्षित बच्चो में निर्भरता अधिक तथा उत्तरदायित्व की कमी देखी जा सकती है। जैसा माता पिता का बच्चों के प्रति व्यवहार होगा वैसा ही बच्चे व्यवहार करना सीखते है। इस प्रकार से यह कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी कि बच्चों को उचित अवसर प्रदान करना चाहिए जिससे उनमें उत्तरदायित्व एव आत्मनिर्भरता का विकास हो सकें। घर के अन्दर भी माता पिता का व्यवहार उचित एव समायोजित होना चाहिए जिससे बच्चे भी समयोजित हो सके। अधिकाश माता-पिता को यह ज्ञान ही नही होता है कि उनके बच्चों की बाल सुलभ निर्भरता किस गति से बढ रही है। अत यह आवश्यक है कि माता-पिता का बच्चों के साथ सम्बन्ध अनुशासित एव सौहार्द्रपूर्ण होना चाहिए।

(2) **माता-पिता का आपसी सम्बन्ध** (Mother-father Relationship)–माता पिता का आपसी सम्बन्ध भी बालविकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है यदि माता-पिता का आपसी सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण तथा समायोजित है तो बच्चे में भी इस प्रकार के सम्बन्ध प्रस्पुटित होते है। यदि माता-पिता की भूमिकाएँ स्पष्ट है तथा वे लोग अपनी भूमिकाओं से सन्तुष्ट है तो उनमें तथा उनके बच्चों में सावेगिक हार्दिकता पायी जाती है। जब माता पिता एक दूसरे के प्रति काफी आलोचनात्मक (cirtical) हो जाते है, उनके सम्बन्ध

काफी कटुतापूर्ण तथा असामायोजित हो जाते हे। अत यह आवश्यक है कि बच्चे के मर्वागीण विकास हेतु माता पिता का पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण एव अच्छा होना चाहिए। सम्बन्ध जब माता पिता के मध्य कटुतापूण होता है तो उससे सामाजीकरण तथा बच्चे का सामाजिक विकास भी अवरूद्ध हो जाता है। अत बच्चे के उचित समायोजन एव विकास के लिए माता पिता का सम्बन्ध पूर्ण रूपेण आत्मीय वाला होना चाहिए। अत माता पिता के मधुर पारस्परिक सम्बन्ध ही सामान्य सामाजीकरण को अग्रसर करता है।

(3) **भाई बहिनो का बच्चे से सम्बन्धित** (Brother Sister Relationship with Child) – भाई-भाई बहिन बहिन भी एक दूसरे के सामाजिक विकास को प्रभावित करते है। भाई तथा बहिन मे बच्चे का स्थान भी बच्चे के सामाजीकरण को प्रभावित करता है। परिवार मे बडा भाई एव बडी बहिन एक माडल के रूप मे जाने जाते है बच्चे इनको अपना आदर्श मानकर उनके सारे व्यवहारो, आदतो एव मनोवृत्तिया की सीखता है। इस तरह से बडे बच्चे में चाहे वह लडका हो तथा लडकी (भाई हो या बहिन) दोनो मे उत्तरदायित्व की तथा आत्मविश्वास की भावना का विकास होता है। ऐसा बच्चा सहनशील परिश्रमी और दूसरो की चिन्ता करने वाला हो सकता है। इसी तरह से प्राय यह देखा जाता हें सबसे छोटा बच्चा घर मे खिलौने की तरह देखा जाता है। माता-पिता भाई वहिन, दादा दादी सभी लोग उसे हाथों पर लिए रहते है। जिसके कारण अन्य बच्चों मे विपरीत भाव विकसित होते है तथा बच्चा एकाकी, निराशावादी एव समाज विरोधी भी हो सकता है। तथा छोटा बच्चा पराश्रमी आलस्यी एव वाचाल हो सकता है। बच्चों में आपसी सम्बन्ध यदि प्रतिस्पर्धा पूर्ण नही है तो तन मे सहयोगिता एव सहभागिता की प्रवृत्ति विकसित होती है। अत भाई-बहिन का बच्चे से सम्बन्ध उसके विकास को प्रभावित करता है।

(4) **सम्बन्धियो से सम्बन्ध** (Relationships with Relatives) – आयु में वृद्धि होने के साथ साथ बच्चो में सम्बन्ध का विस्तार होता है। वह जहाँ अभी तक केवल माता-पिता दादा-दादी एव भाई-बहिन से ही सम्बन्ध रखता था अब वह उससे अलग चलकर मामा-मामी चाचा-चाची, फूफा बूआ आदि से भी सम्बन्ध बनाता है। इन सदस्यों से यदि बच्चे की आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है तो वह उनसे अविलम्ब प्रभावित हो जाता है तथा उनसे मधुर सम्बन्ध बना लेता है। इसके विपरीत जो सम्बन्धी बच्चों को परेशान करते है उन्हे चिढाते है तथा शारीरिक दड देते है उनसे वे दूर रहना चाहते हे तथा उनमें भय की प्रवृत्ति विकसित होती है। जो दादा-दादी बचपन में बच्चों में अपना प्रेम प्रकाशित करते रहे वही अब काफी कठोर एव अनुशासित हो जाते है। जिससे बच्चा यह नही समय पाता है कि मुझे क्या करना चाहिए। दादा-दादी तथा अन्य सम्बन्धी अब अनुशासन तथा उचित समायोजन हेतु, प्राय बच्चों को प्रताडित भी करने का प्रयास करते है। जिससे बच्चा एकाकीपन तथा निराशावादी एव समाजविरोधी मनोवृत्ति विकसित कर लेता है। अत यह आवश्यक है कि बच्चों का अन्य पारिवारिक सदस्यो तथा सम्बन्धियों से मधुर सम्बन्ध होना चाहिए जिससे उनका उचित सर्वागीण विकास हो सके। उचित सम्बन्ध उचित समायोजन मे वृद्धि करता है। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि पारिवारिक सम्बन्ध बच्चों के विकास पर अमिट प्रभाव डालता है।

पारिवारिक सम्बन्धो मे विकृति का बच्चे के विकास पर प्रभाव (Effect of deterioration in family Relationships on child development) – प्राय ऐसा देखा गया है कि पारिवारिक सम्बन्धों में विकृति बालविकास को बुरी तरह प्रभावित करती है। पारिवारिक वातावरण में परिवर्तन भी पारिवारिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है। पारिवारिक

सम्बन्धो में परिवर्तन से सौहार्द्र का तथा कटुतापूर्ण सम्बन्ध विकसित होते है। यदि एक बा सम्बन्ध विकृत रूप ले लेता है तो उसमे सुधार आना प्राय मुश्किल ही होता है। इस तरह वे विकृत सम्बन्ध हमेशा प्रत्याक्रमण (React) करने की आदत विकसित करते है। कभी कभ ऐसा देखा जाता है कि माता-पिता का अपने बच्चो से सम्प्रेषण (Commcunication) उचि ढग से नही हो पाता है जो पारिवारिक सम्बन्ध को खराब करता है। सम्प्रेषण मुख्यरूप र आत्मीय सम्बन्ध को बढाता है। सम्प्रेषण की कमी के कारण बच्चो में माता पिता के प्रति अविश्वास की भावना जन्म ले लेती है अविश्वास की भावना जब जन्म ले लेती है तब पारिवारिक वातावरण प्रदूषित हो जाता है आये दिन तकरार, झगडा लडाई तथा अन्य विकृ व्यवहार देखने की मिलते है। बच्चो के पारिवारिक वातावरण मे भी परिवर्तन दिखायी देता है पारिवारिक मनमुटाव या तकरार सम्बन्धो को प्रभावित करते है। उदाहरणार्थ कृपालु माता पित का अधिक कृपालु बनना तथा तिरस्कार करने वाले माता पिता को अधिक अस्वीकृत व्यवहा का हो जाना (बूडी 1969, निकेली, 1967, शेयफर एव बेली 1966)।

पारिवारिक वातावरण का इतना गलत प्रभाव पडता है कि बच्चे मे यदि यह बात जन ले लेती है कि उसके माता पिता उसे कम स्नेह प्यार दे रहे है तो वह चिन्तित (Anxious) असुरक्षित (Insecurre) तथा विद्रोही (Rebelion) हो जायेगा। कभी कभी माता पिता तथ बच्चों मे आक्रामकता (Aggression) का व्यवहार भी परिलक्षित होता है। इस प्रकार क व्यवहार किसी भी अवस्था मे जन्म ले सकता है परन्तु प्राय पूर्व बाल्यावस्था में ऐसा व्यवहा प्रदर्शित होता है। अवसर यह भी अध्ययनो मे पाया गया है कि जब माता पिता तथा बच्चों म से कोई भी अल्पसमय के लिए अलग रह लेता है तो सम्बन्धो में प्रगति तथा प्रगाढता पाय जाती है।

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि सम्बन्धो मे विकृति बालविकास मे बुरीतरह स प्रभाव डालती है। अत माता-पिता तथा बच्चो के मध्य स्नेहात्मक सम्बन्ध होना चाहिए। बच्चे को उनकी आवश्यकतानुसार उन्हें समय समय पर प्रशिक्षण भी देना चाहिए जिससे उनमे उचित समायोजनात्मक व्यवहार जन्म ले सके तथा सामाजिक विकास मे वृद्धि हो सके पारिवारिक सम्बन्ध यदि अच्छा होगा तो बच्चो मे शारीरिक विकास, सज्ञानात्मक विकास गत्यात्मक विकास, सामाजिक विकास एव नैतिक विकास उचित रूप मे विकसित होगा अन्यथ ये सारे विकास अवरुद्ध हो जायेगे यदि पारिवारिक सम्बन्ध कटु तथा विकृत है। अत माता-पिता तथा अन्य पारिवारिक सदस्यो को ऐसा प्रयास करना चाहिए कि बच्चों के साथ सम्बन्ध विकृत रूप न ले पाये। यह माता-पिता तथा सभी सदस्यो का दायित्व होगा कि उचित विकास के लिए उचित पारिवारिक सम्बन्ध की स्थापना करें।

पारिवारिक सम्बन्धो पर पैतृक मनोवृत्तियो का प्रभाव (Influence of Parenta Attitudes on family Relationships) – पैतृक मनोवृत्तियो बच्चे के पालन पोषक की विधि (Child rearing Practics) को भी प्रभावित करती है व्यक्तियो का सामाजीकरण पालन पोषण प्रणाली द्वारा अधिक प्रभावित होता है। विभिन्न समाज में एव सस्कृति तथ परिवार मे बच्चो के पालन पोषण की प्रणाली अलग-अलग होती है। न्यूकाम्ब (Newcomb 1966) के अनुसार जिन बच्चो के पालन-पोषण में माता पिता द्वारा उचित दुलार, प्यार दिय जाता है तथा बच्चो की देख-रेख उनके द्वारा स्वय की जाती है उनमें सामाजिक नियमों को सीखने तथा उसके अनुकूल व्यवहार करने की तीव्र प्रेरणा होती है। फलस्वरूप ऐसे बच्चों मे सामाजीकरण की प्रक्रिया तीव्र एव सतोषजनक होती है। इसके विपरीत जिनके माता पित

उचित लाड-प्यार नही देते है तथा उनकी देख रेख किसी अन्य के द्वारा होती है उसका सामाजीकरण धीमी गति से होता है। सभी अभिवृत्तियो की भॉति बच्चे के प्रति अभिवृत्ति का विकास भी अर्जन का ही परिणाम होता है। माता पिता की मनोवृत्ति को कई कारक प्रभावित भी करते है। इन कारको मे मुख्य रूप से वैवाहिक समायोजन, वैवाहिक सतुष्टि बच्चों की सख्या, जन्मक्रम माता-पिता का व्यक्तित्व समायोजन आदि आते है। कुछ विशिष्ट पैतृक अभिवृत्तियाँ पारिवारिक सम्बन्धो हेतु प्रभावी मानी गयी है जिनका विवरण यहॉ अपेक्षित है।

विशिष्ट पैतृक अभिवृत्तियॉ (Typical Parental Attitudes) – प्रत्येक समाज में पैतृक अभिवृत्तियॉ विभिन्न रूप में पायी जाती है भारतीय समाज में प्राचीन समय की अपेक्षा अब अभिवृत्तियॉ काफी उदार हो गयी है।

पैतृक अभिवृत्तियो पर सपादित किये गये अध्ययनों एव शोधकार्य से यह पता चलता है कि इनमे विभिन्नताऐं हैं यह माता-पिता बच्चो तथा भाई बहिनों के सम्बन्ध पर अपना अमिट प्रभाव डालती है। कुछ विशिष्ट अभिवृत्तियॉ माता-पिता से सम्बन्धित निम्नवत है।

(1) **अति सरक्षणात्मकता** (Over Protectiveness) – यह आम बात है कि अति अधिक परिवारों मे बच्चों के प्रति अति सरक्षण देखा जाता है। अत्यधिक सरक्षण से कई दुष्परिणाम देखे गए है। यह अक्षरश सत्य है कि अतिसरक्षित माता पिता वाले बच्चे पराश्रयी भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। आत्म नियत्रण तथा आत्म अनुशासन में कमी देखी जाती है। ऐसे माता-पिता बच्चों को प्रतिस्पर्धात्मक खेलो एव क्रियाओं में भाग लेने के लिए अनुमति नही प्रदान करते हैं। इतना ज्यादा सरक्षण बच्चे के सामाजिक विकास को अवरुद्ध करते है। ऐसे बच्चे अपने वयस्कावस्था में भी अतिनिर्भरता वाले विशिष्टताओं से ग्रस्त होते है। आत्म निर्भरता उनमें विकसित नही हो पाती है। ऐसे माता पिता अपने बच्चों का ख्याल तथा देखरेख जरूरत से ज्यादा करते है। बच्चों को इतना पराश्रयी बना दिया जाता है कि वे स्वय कोई जिम्मेदारी लेने से कतराते है तथा अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति भी नही कर पाते है अति सरक्षित बच्चों में आक्रामकता, चिडचिडापन एकाग्रता की कमी आदि जैसी तन्त्रकीय प्रवृत्तियॉ देखी जा सकती है। ऐसे बच्चों में कुण्ठा सहिष्णुता, आकाक्षा अहशक्ति का निम्न स्तर दृष्टिगत होता है। सावेगिक नियत्रण तथा उत्तरदायित्व निर्वहन में कमी देखी जाती है। अपनी क्षमताओं तथा योग्यताओ पर उनका विश्वास कम होता है। अपनी आलोचनाओं के प्रति अति सवेदनशील होते है। अत अतिसरक्षणात्मक पैतृक अभिवृत्ति बच्चों के पारस्परिक सम्बन्ध बुरी तरह प्रभावित करती है। जहॉ तक हो यह माता-पिता को प्रयास करना चाहिए कि बच्चों में पराश्रयता की भावना जन्म न ले सके।

(2) **अनुमतिबोधकता** (Permissiveness) – अनुमति बोधक प्रकार के माता-पिता प्राय अपने बच्चों को स्वतन्त्र विचार रखने वाला तथा अनुशासित बनाने की कोशिश् करते है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि कुछ माता-पिता बच्चों पर कडा अनुशासन थोपने का प्रयास करते है। कडा अनुशासन कभी कभी बच्चों में पारिवारिक सम्बन्ध के प्रति रुचि में कमी प्रदान करता है। अनुमति बोधक माता-पिता अपने बच्चों के प्रत्येक बातों को ध्यान से सुनते है उसको स्वीकार करते है। ऐसे माता पिता अपने बच्चों को दूसरे बचर्चो के साथ खेलने की अनुमति प्रदान करते है। ऐसे माता-पिता बच्चों में पारस्परिक सम्बन्ध विकसित करने का प्रयास करते है। उनके प्रयास से बच्चे अधिक शातप्रिय, सहिष्णु तथा समरसता से युक्त होते है। अनुमतिबोधकता का प्रभाव माता-पिता को अनुमति बोधक तो होना चाहिए परन्तु ज्यादे नहीं। मध्यम श्रेणी की अनुमति बोधकता हमेशा स्वस्थ पारिवारिक सम्बन्धों को प्रेरित करती है तथा

स्वस्थ पारिवारिक जीवन निर्वहन हेतु भी प्रेरित करती है। बौसार्ड एव बाल 1966, हेन 1961, सियर्स मैकोवी तथा लेविन 1957)। जब माता पिता अपने बच्चो को तर्क सग आजादी प्रदान करते है तो बच्चे सामाजिक दशाओ मे चालाक सहयोगी तथा आत्मनि बनते है एव अपने उत्तरादायित्वो का निर्वाह सुसमायोजित ढग से करते है। जब माता पि अधिक कृपा प्रदर्शित करते है तो बच्चो मे सामाजिक दशाओ के साथ समायोजन में मुश्कि आती है। ऐसे बच्चे स्वार्थी तथा क्रूर प्रवृत्ति के हो जाते है तथा दूसरो पर आश्रित भी हो जा है।

(3) **अस्वीकृति** (Rejection) – बालक का व्यक्तित्व विकास पूरी तरह से स्वीकृ एव अस्वीकृति लक्षण समष्टि पर निर्भर करता है। पैतृक अस्वीकृति भी एक प्रकार की विशि अभिवृत्ति होती है जिसके कारण बच्चो का विकास अवरुद्ध दिखायी देता है। जब माता पि अपने बच्चो को अस्वीकृति प्रदान करते है तो बच्चो मे उदासीनता के लक्षण दिखायी दे लगते है। बच्चा परिवार के साथ रहने के बावजूद अकेला महसूस करता है। बच्चों में इ अभिवृत्ति के कारण उनके स्वसम्मान को खतरा महसूस होने लगता है। इस तरह से अस्वीकृ अभिवृत्ति के कारण उनका सामाजिक एव पारिवारिक समायोजन बिगड जाता है। वे कुण्ठ प्रतिबल एव निराशा के शिकार हो जाते है। इस कुसमायोजन के कारण बच्चे का व्यक्ति विकास अवरुद्ध हो जाता है वह समाजविरोधी व्यवहार प्रदर्शित करने लगता है। वह बडा हो पर झूठी कसम खाना, अनावश्यक प्रशसा ध्यान एव सहायता की आकाक्षा जैसे व्यवहार प्रदर्शन करता है (बामरिण्ड 1971, निकेली 1967)। अत ऐसा प्रयास माता पिता को कर चाहिए कि अस्वीकृति जैसी अभिवृत्ति उनमे जन्म न लेने पावे। बल्कि बच्चो को स्वीकृति माध्यम से उचित समायोजन प्रदान करना चाहिए। अस्वीकृति अभिवृत्ति बच्चे के विकास तथा पारिवारिक सम्बन्धो के विकास मे बाधक का काम करती है। पैतृक अस्वीकृति सामा सुरक्षा भावना को जोखिम या खतरे मे डालती है। अस्वीकृति पैतृक अभिवृत्ति पारिवारि सम्बन्धो के विकास के दृष्टि से हानिकारक है अत जहॉ तक हो पैतृक अस्वीकृति से बच्चो व दूर रखना चाहिए जिससे उनके पारिवारिक सम्बन्धो का विकास समायोजित एव सानुकूल तर से हो सके।

(4) **स्वीकृति** (Acceptence) – पैतृक स्वीकृति का अर्थ है माता पिता का बच्चे प्रत्येक व्यवहार को यथावत स्वीकार कर लेना। इस प्रकार के माता पिता बच्चों से उत्तेजना पू साकेतिक सम्बन्ध स्थापित करते है। सवेगात्मक रूप से समायाजित एव परिपक्व माता पि बच्चों का विकास एक स्वतन्त्र आदर्श सहिता के साथ चाहते है तथा इस उद्देश्य की पूर्ति हे सतत प्रयास भी करते है। इसके विपरीत सावेगिक रूप से असमायोजित एव अपरिपक माता पिता अपने बच्चों से मनस्तापीय रूप से सम्बन्ध रखते है तथा अपने आदर्शों ए सिद्धान्तों के अनुरूप उन्हें बनाना चाहते है। ऐसा देखा गया है कि सामान्य तथा स्वीकृ बालक असामान्य तथा अस्वीकृत बालको की तुलना मे अधिक समयोजित, सहयोगी, मित्रव विश्वसनीय, प्रसन्न तथा सावेगिक रूप से स्थिर होते है। अत माता-पिता को पारिवारि सम्बन्धों हेतु यह प्रयास करना चाहिए कि बच्चो मे स्वीकृति लक्षण समष्टि उत्पन्न हो जिस उनका विकास अवरुद्ध न हो सके। बच्चे जब यह समझते है कि मेरे माता पिता मुझे स्वीका कर रहे है तो उनके आत्म सम्मान को बल मिलता है तथा वे आत्मनिर्भर तथा स्वालम्बी बनते इसके विपरीत जिन बच्चों के माता-पिता स्वीकृति नही प्रदान करते है उनमें पराश्रयी तथ कुसमायोजन का मार्ग प्रशस्त होता दिखता है। अत यह बहुत ही उचित होगा कि स्वीकृ

बच्चो मे तथा माता पिता दोनो मे उचित मात्रा में हो जिससे पारिवारिक सम्बन्ध मधुर बन सके।

(5) **प्रभुत्व** (Dominance) – प्राय ऐसी विचारधारा है कि जिन बच्चो के माता पिता प्रभुत्व गुण से सम्पन्न होते है उनके बच्चों में विनम्रता ईमानदारी तथा सावधानी से अपना काम निकाल लेने जैसे सामाजिक एव नैतिक व्यवहार का प्रदर्शन होता है। इसके साथ ही साथ ऐसे बच्चे लज्जायुक्त सकोची प्रवृत्ति, आज्ञाकारिता युक्त तथा विनीतता जैसे लक्षणों से युक्त होते है। वे अनुपयुक्त निकृष्ट घबराया हुआ किकर्तव्यविमूढ तथा अन्तर्वाधित भी होते है। वे स्वपरिवार के सदस्यों से सहजता से प्रभावित हो जाते है लेकिन समवयस्कों से नही। उपरलिखित व्यवहारो से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभुत्व पारिवारिक सम्बन्धो के विकास हेतु माता पिता मे होना चाहिए परन्तु अति प्रभुत्व (Over Dominance) का होना विकास में बाधक होता है। सामाजिक सम्बन्धों के विस्तार एव विकास हेतु, प्रभुत्व होना आवश्यक है परन्तु अतिप्रमुख का होना सामाजिक सम्बन्धों के विकास में अवरोधक का काम करता हें। प्रभुत्व से अनुशासन एव समायोजन दोनों प्रभावित होते है। अति प्रभुत्व से अनुशासन एव समायोजन बिगडता है। अत माता पिता मे प्रभुत्व का होना आवश्यक है जिससे वे बच्चो को अनुशासन, आज्ञाकारिता, सहिष्णुता, समरसता का पाठ पढा सके।

(6) **बच्चो के प्रति विनम्रता** (Submission to Children) – ऐसे बच्चों मे प्रभुत्व ज्यादा प्रदर्शित होता है जिनके माता पिता बच्चों के प्रति विनम्र ज्यादा होते है। ऐसे बच्चे माता-पिता का सम्मान कम करते है। ऐसे बच्चे अनाज्ञाकारी, अनुशासनहीन तथा गैर जिम्मेदाराना व्यवहार वाले हो जाते है। आक्रामकता हठधार्मिता, लापरवाही तथा प्रतिद्धदिता का व्यवहार ज्यादा प्रदर्शित होता है इन सबके बावजूद वे स्वावलम्बी तथा स्वतन्त्र विचार वाले भी होते है। अत इस प्रकार से माता-पिता को अधिक विनम्र नही होना चाहिए। उन्हें परिस्थितियों के अनुसार विनम्रता एव प्रभुत्व का प्रदर्शन करना चाहिए जिससे बच्चों में उचित व्यवहार का प्रदर्शन हो सके। बच्चों को अनुशासित तथा आज्ञाकारिता का व्यवहार प्रदर्शन करने के लिए माता-पिता को अधिक विनम्र तथा अतिप्रभुत्व का नही होना चाहिए।

(7) **पक्षपात** (Favourtism) – प्राय यह कहते हुए सुना जाता है कि प्रत्येक माता पिता अपने सारे बच्चों को एक तरह से ही लाड प्यार प्रदान करते है। परन्तु व्यावहारिक धरातल पर ऐसा प्रदर्शित नही होता है। उनकी प्रत्येक बच्चे के प्रति स्नेहात्मक अनुक्रियाएँ विभिन्न तरह की होती है। यह विभिन्नता बच्चों में विभिन्न तरह की भावनाओं को जन्म देती है। अध्ययनों से यह निष्कर्ष मिलता है कि कृपा पात्र बच्चे अपने माता-पिता को हमेशा प्रसन्न रखने की तीव्र इच्छा रखते है जबकि दूसरे सहोदर आक्रमकता का प्रदर्शन करते है। अत माता पिता को पक्षपात पूर्ण व्यवहार नहीं प्रदर्शित करना चाहिए। सभी बच्चों के साथ एक जैसा व्यवहार प्रदर्शित करना चाहिए जिससे उनके अन्दर अच्छी आदतों का विकास हो सके। पक्षपातपूर्ण व्यवहार बच्चों को कष्टकारी अनुभव प्रदान करते है तथा समाजविरोधी व्यवहार को जन्म देते है। भारतीय समाज में बच्चों के प्रति माता पिता का पक्षपात बच्चों के यौन सामाजिक, आर्थिक स्तर (बेली एव शेयफर 1960) बौद्धिक यौग्यता (हरलाक 1974) आदि बच्चो के पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्धों के विकास हेतु पैतृकपक्षपात का न होना ही उचित होता है।

(8) **पैतृक महत्वाकाक्षा** (Parental Ambitions) – पैतृक महत्वाकाक्षा भी बच्चों के पारिवारिक सम्बन्ध के विकास को प्रभावित करती है। प्राय प्रत्येक माता-पिता की महत्वाकाक्षा

अपने बच्चे के प्रति ज्यादे होती है। महत्वाकाक्षा के समय वे बच्चे की योग्यनाएँ एव रुचियों पर ध्यान नही देते हैं। जो माता पिता अपने जीवन में जिन लक्ष्यो की पूर्ति करने मे असमर्थ रहे है वे अब उसी लक्ष्य पूर्ति मे अपने बच्चो का सहारा लेते है तथा उन्हे ही बलि का बकरा बना देते है। प्रत्येक माता-पिता अपने आदर्शो एव सिद्धान्तों को बच्चे पर थोपते है जिससे बच्चा यह नही समझ पाता है कि मुझे क्या करना चाहिए। जब बच्चे अपनी माता पिता के महत्वाकाक्षाओ के अनुरूप अपने को सिद्ध नही कर पाते है तो माता पिता मे अस्वीकृति जैसी अभिवृत्ति जन्म ले लेती है जिसके कारण बच्चे झगडालू, गैर जिम्मेदार तथा अनाज्ञाकारी हो जाते है। इन सभी के कारण विद्यालयीय निष्पादन भी उनका प्रभावित होता है। वे हमेशा दिवास्वप्न एव कल्पना मे लीन हो जाते है। (रैण्ड, स्वीनी एव विन्सेन्ट 1963)। इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि माता पिता को अधिक महत्वाकाक्षी नही होना चाहिए। साथ हा साथ अपने महत्वाकाक्षा की पूर्ति हेतु कभी भी बच्चों पर दबाव नही डालना चाहिए। अपनी अपनी महत्वाकाक्षा की पूर्ति हेतु सबसे पहले बच्चो की योग्यताओ एव क्षमताओ तथा रुचियों का भी ध्यान देना चाहिए। उनकी योग्यातओ एव रुचियो को ध्यान मे रखकर यदि माता पिता बच्चों को प्रशिक्षित करेंगे तो बच्चो में पारिवारिक सम्बन्धों का विकास तथा विद्यालययीय उपलब्धि में वृद्धि होगी।

पारिवारिक सम्बन्धो के विकास पर परिवार के आकार का प्रभाव (Influence of the size of family on the Development of family Relationship)–बच्चा किसी भी परिवार में जन्म लेगा उस परिवार का सदस्य बन जाता है। चूँकि परिवार एक प्राथमिक समूह है अत इसके सदस्यो में जैसे माता-पिता, भाई-बहन, चाचा चाची आदि में एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इनके मध्य दुलार प्यार, सहयोग आदि भी भावना अधिक होती है। इन सभी सदस्यों का प्रभाव बालक के पारिवारिक सम्बन्ध के विकास को सुदृढ करता है। समाजशास्त्रियों एव समाज मनोवैज्ञानिकों की यह सामान्य विचारधारा है कि परिवार ही प्रथम सस्था होती है जो बच्चों को शिष्टाचार एव नैतिक विकास की शिक्षा देकर उसे एक योग्य सामाजिक प्राणी बनाता है। परिवार का आकार लघु से दीर्घ तक हो सकता है। परिवार में पति-पत्नी के अलावा उनके बच्चे तथा अन्य सदस्य भी हो सकते है। इस परिवार को सयुक्त परिवार या दीर्घ परिवार की सज्ञा दी जाती है। पहले यह मत था कि सयुक्त परिवार में बच्चों में पारिवारिक सम्बन्धों का विकास सुचारू रूप से होता है। परन्तु सम्प्रति परिवार टूटते टूटते अब मात्र एकाकी परिवार का रूप ले लिया है। इस परिवार में जो बच्चे की अन्तक्रिया होती है वह मात्र माता एव पिता से ही हो सकती है। अब परिवार इतना छोटा हो गया है कि उनमें मात्र तीन सदस्य भी पाये जाते है वे है—माता-पिता एव एक बच्चा। इस तरह से बच्चे की सामाजिक अन्तक्रिया अब कम हो गयी है। दीर्घ परिवार में या सयुक्त परिवार में बच्चे को अन्तक्रिया करने का अवसर अधिक मिलता था जोकि लघु या एकाकी परिवार में सीमित हो गया है। सरल शब्दों में यह कहा जाये कि जितनी ही अन्तक्रियात्मक प्रणाली की सख्या परिवार में अधिक होगी उतनी ही पारिवारिक सम्बन्धों के विकास को गति मिलेगी। इसलिए यह माना जाता है कि दीर्घ परिवार में अन्तक्रियात्मक प्रणाली की सख्या लघु परिवार की तुलना में ज्यादा होती है।

डी फ्लुयर, डी एण्टोनिओ एव डी फ्लुयर (De Flaur, De Antonio and De Fleur, 1976) ने परिवार की महत्ता को इस प्रकार सराहा है। सस्कृति एव सामाजिक क्रम (Social order) के सार तत्वों को बच्चों को पढाने की एव उनके व्यक्तिगत विकास को निर्देशित करने की जबावदेही हमेशा परिवार पर ही होती है।

It is the family that has always borne the Major responsibility for teaching children the essentials of social order and culure and for guiding their personal development (De fleur, D'Antonio and De fleure 1976)

परिवार मे सबसे पहली अन्तर्क्रिया माता-पिता से होती है। अत यह बिल्कुल सत्य है कि बच्चो के पारिवारिक सम्बन्धो के विकास मे माता-पिता का व्यवहार अमिट प्रभाव डालता है। समाज मनोवैज्ञानिको ने बच्चो के साथ होने वाले माता-पिता के व्यवहारों के भिन्न भिन्न आयामों का अध्ययन किया है। सभी समाज मनोवैज्ञानिको की यही राय रही है कि दो आयाम काफी अहम भूमिका दशाते है। इनसे बच्चो का पारिवारिक सम्बन्ध सापेक्ष रूप से प्रभावित होता है। ये दो आयाम क्रमश हार्दिकता विद्वेष (Warmth hostility) तथा प्रतिबधकता-अनुश्रात्मकता (Vertrictiveness Permissiveness) है।

कुछ माता पिता इस प्रकार के होते है जो अपने बच्चो को बहुत स्नेह एव प्यार आदि प्रदान करते है। अत इस प्रकार के माता पिता में हार्दिकता का आयाम तीव्र होता है इसके विपरीत कुछ माता-पिता हमेशा बच्चों को डॉटते है। फटकार लगाते है। उनके साथ झगडा एव लडाई भी करते है तथा गन्दे शब्दों का प्रयोग करके गाली देते है। इस प्रकार के माता-पिता मे विद्वेष वाला आयाम तीव्र होता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जो माता-पिता हार्दिकता आयाम से युक्त होते है उनके बच्चों में पारिवार के सम्बन्धों तथा सामाजिक गुणो का विकास विद्वेष आयाम वाले माता पिता की तुलना में शीघ्र एव तीव्र गति से होता है। हार्दिकता आयाम वाले माता-पिता के बच्चों में सुरक्षा की भावना आत्म सम्मान, आत्म विश्वास आदि गुण शीघ्र उत्पन्न होते है जिससे उनमें बाद में बहुत तरह के सामाजिक रूप से अनुमोदित व्यवहार तीव्रगति से विकसित होते है।

बच्चों के पारिवारिक सम्बन्धों के विकास में केवल माता-पिता का दुलार प्यार एव स्नेह ही उतना प्रभावी नही होता है बल्कि माता पिता का बच्चों पर नियत्रण भी प्रभाव डालता है।

माता पिता द्वारा जो व्यवहार बच्चों का नियत्रण होता है उसके दो आयाम है प्रथम प्रतिबधक स्वभाव (Restrictive Nature)। ऐसे माता पिता जो अपने बच्चो को स्वच्छन्द एव स्वतत्र रूप से विचरण करने हेतु मना करते है वे प्रतिबधक स्वभाव के माता पिता की श्रेणी में आते है। उसके विपरीत कुछ माता पिता काफी अनुज्ञात्मक स्वभाव (Permissive Nature) के होते है जो बच्चों के व्यवहारों पर शायद ही कमी प्रतिबध लगाते है। बामरिण्ड (Baumrind 1967) ने अपने शोधकार्य के परिणाम के आधार पर यह निष्कर्ष दी है कि इन दोनों तरह के नियत्रणों से पारिवारिक सम्बन्धों का विकास मन्द होता है। माता-पिता और बच्चों के मध्य अन्तक्रिया के अलावा पारिवारिक सम्बन्ध के विकास को परिवार का आकार यानि उनमें सदस्यों की सख्या, पारिवारिक वातावरण का भी प्रभाव पडता है। समाज मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जैसे जैसे परिवार का आकार बढता है अर्थात् जैसे-जैसे परिवार के सदस्यों की सख्या में वृद्धि होती है, वैसे वैसे माता-पिता एव बच्चों में घनिष्ठ सम्बन्ध की सम्भावना कम होती है। इससे बच्चों में धनात्मक, सामाजिक सावेगिक एव सज्ञानात्मक विकास की गति मन्द हो जाती है।

मनोवैज्ञानिक एव समाजशास्त्रियों में परिवार को चार प्रमुख वर्गों में विभाजित करने की परम्परा रही है। एक सतान परिवार, छोटा परिवार, मध्यम परिवार तथा वृहद परिवार। एकमात्र सतान वाले परिवार में माता-पिता बच्चे के मध्य सम्बन्ध प्रगाढ होता है। माता-पिता

अतिसरक्षण अभिवृत्ति से त्रस्त होते है। सहोदर न होने के कारण प्रतिद्वान्दिता और ईर्ष्या के अभाव मे पारिवारिक मन मुटाव कम पाया जाता है। शैक्षणिक उपलब्धि हेतु पैतृक प्रोत्साहन भी निलता है। लघु या छोटे परिवार सामान्यत योजनाबद्ध होते है। उसमे माता पिता बच्चों पर उपयुक्त समय देते है। सहोदरो मे प्रतिद्वन्दिता और ईर्ष्या सर्वाधिक पायी जाती है। मध्यम आकार के परिवार मे पारिवारिक वातावरण उचित तथा समायोजित होता है। माता पिता प्रथम सतान पर ज्यादे ध्यान देते है। सहोदरो मे प्रतिद्वन्दता एव ईर्ष्या भी तीव्र पायी जाती है। वृहद परिवार मे सामान्यतया योजनाबद्धता नही दिखायी देती है। वैयक्तिक एव आर्थिक स्वार्थों के लिए मनमुटाव की अधिकता रहती है। पारिवारिक वातावरण सौहार्द्रपूर्ण नही रहता है। पारिवारिक नियत्रण हेतु भूमिका निर्धारण जरूरी हो जाता है। मनमुटाव कम करने तथा पारिवारिक वातावरण सौहार्द्रपूर्ण बनाने के लिए पैतृक नियत्रक की जरूरत पडती है ऐसे परिवारो मे प्रथम सतान एव अतिम सन्तान पर माता-पिता ध्यान ज्यादा देते है जबकि मध्य सतान पर ध्यान कम देते है।

इस तरह से यह निष्कर्ष निकलता है कि परिवार का आकार पारिवारिक सम्बन्धों के विकास को प्रभावित करता है। परिवार का आकार बच्चो में सामाजिक एव नैतिक विकास को भी प्रभावित करता है जो कि पारिवारिक सम्बन्धो का ही एक पहलू है।

पारिवारिक सम्बन्धो पर पारिवारिक भूमिकाओ के प्रत्यय का प्रभाव (Inftuence of concepts of famıly Roles on famıly relatıonshıps) –

जैसा कि हम जानते है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के साथ साथ परिवार का एक अमूल्य अ ा होता है। उसकी भूमिकाओ पर ही पारिवारिक सम्बन्धों की नींव बनी होती है। परिवार के सभी सदस्यो की एक अहम भूमिका होती है। इस भूमिकाओं का समुचित निर्वाह करना प्रत्येक सदस्य का प्रमुख कर्तव्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति इन भूमिकाओं को अपने पारिवारिक रीति रीवाजो, परम्पराओ एव सास्कृतिक मूल्यो से ग्रहण करता है तथा समय आने पर इन सभी का उपयोग भी करता है। परिवार के सभी सदस्यों के प्रत्यय अलग अलग सीखे जाते है। उन्ही प्रत्ययो के अनुसार हम उनसे व्यवहार की प्रत्याशा भी करते है। उदाहरणार्थ—अच्छे पिता के भूमिका प्रत्यय के अन्तर्गत अनुमति बोधकता अनुनयात्मकता, अनुशासन, प्रेम, प्यार, स्नेह, मृदु स्वभाव, उत्तरदायित्व, प्रोत्साहन भाव, कर्मठ सरल, आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। जबकि एक खराब पिता के दुर्गुणों के रूप में उनकी प्रतिबधकात्मकता की प्रवृत्ति, दण्डात्मक प्रवृत्ति, कठोर, निष्ठुर आलोचक, व्यगात्मव आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इसी प्रकार से अच्छी माता के प्रत्यय जैसे—स्नेही ममता वाली, प्यार देने वाली सहयोगी, सरल, मातृत्व रूप वाली प्यारी आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। उसके विपरीत दुष्ट प्रकृति वाली माताओं के प्रत्यय क्रमश ईर्ष्यालु कमस्नेही, दण्ड देने वाली, शारीरिक चोट पहुँचाने वाली निष्ठुर कठोर, वात्सल्य रस से मुक्त आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इसी प्रकार से बच्चों में भी भूमिका प्रत्यय होती है जैसे बच्चों को आज्ञाकारी, अनुशासित, मेहनती, सहयोगी आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। उसी प्रकार के बच्चों की भी भूमिका प्रत्यय होती है जैसे बच्चों को साक्षात्कार से अनुशासित, मेहनती, सहभोगी आदि सम्मिलित किया जा सकता है। उसी प्रकार से बालिकाओं हेतु भूमिका प्रत्यय क्रमश लज्जायुक्त, सकोची, विनयी आज्ञाकारिणी, सहयोगिनी आदि' होनी चाहिए। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि पारिवारिक सम्बन्धों का पारिवारिक भूमिकाओं

का भी प्रभाव पडता है। इन्ही भूमिकाओ के माध्यम से बच्चो का पारिवारिक सम्बन्धों का विकास प्रभावित होता है तथा बच्चे इन भूमिकाओ का निर्वाह करने मे सफल होते हैं।

परामर्श
(Counsellıng)

परामर्श एक प्राचीन सम्प्रत्यय है। फलत इसको कई तरह से मनोवैज्ञानिकों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। परामर्श का महत्व आजकल चिन्तायुक्त एव प्रतिबलयुक्त जीवन के लिए महत्वपूर्ण हो गया है। मानव जीवन में विभिन्न प्रकार की समस्याओ का समाधान व्यक्ति को करना पडता है। कभी कभी व्यक्ति को इन समस्याओं का समाधान करने मे मुश्किले आती है तब उसे किसी भी प्रकार की मदद या सहायता की जरूरत पडती है जिसके द्वारा वह अपनी समस्याओं में समाधित कर सकें। आज किसी भी व्यक्ति के पास इतना समय नही रह गया कि वह परिवार, बच्चो एव माता पिता आदि के विषय मे सोच सके। आजकल पारिवारिक जीवन काफी जटिल हो गया है। सम्प्रति माता तथा पिता दोनो कार्यरत् होते हैं। बच्चे के विकास के विषय मे सोचने के लिए उन लोगों के पास समय तक नही है। ऐसी दशा मे बच्चो का विकास अवरुद्ध हो जाता है। तब उन्हें परामर्श की जरूरत समझ में आती है। इन सभी समस्याओ के समाधान परामर्श के माध्यम से ही सभव है।

वेवस्टर शब्दकोष के अनुसार 'परामर्श का अर्थ पूछताछ, परस्परिक तर्क वितर्क' या विचारो का पारस्परिक विनिमय है।" परन्तु निर्देशन मे इतने से ही काम नही' चलता है क्योकि इसमे परामर्श एक तकनीकी रूप मे प्रयोग किया गया है। शाब्दिक अर्थ से हमारा आशय पूरा नही होता है। परामर्श को निम्नलिखित रूप मे कुछ मनोवैज्ञानिकों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है।

रोबिन्सन (Robınson) ने परामर्श की अत्यन्त स्पष्ट परिभाषा देते हुए कहा है कि परामर्श में वे सभी परिस्थितियाँ सम्मिलित कर ली जाती है जिनसे परामर्श प्रार्थी (Clınt) स्वय को वातावरण के अनुसार समायोजित करने में सहायता प्राप्त कर सके। परामर्श सर्वदा दो व्यक्तियों से सम्बन्धित होता है। परामर्शदाता (counsellor) एव परामर्श प्रार्थी (clıent) परामर्श प्रार्थी की कुछ समस्यायें तथा आवश्यकताएं होती है जिनको वह स्वय बिना किसी राय या मदद से पूरा नही कर सकता है। उन समस्याओ एव आवश्यकताओं के निराकरण हेतु उसे वैज्ञानिक राय की जरूरत पडती है। और यह वैज्ञानिक राय का सुझाव ही परामर्श कहलाता है। उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करते हुए हान (hann) तथा मैक्लीन (Maclean) ने यह बताया कि वैज्ञानिक सुझाव तभी प्रदान किये जाने चाहिए जबकि परामर्शदाता उपर्युक्त रूप से अनुभवी तथा प्रशिक्षित हो अन्यथा यह सुझाव निष्प्रभावी हो सकता है।

कार्ल रोजर्स (Carl Rogers,) ने परामर्श को परिभाषित करते हुए, विचार व्यक्त किया है कि 'परामर्श एक निर्धारित रूप से निर्मित स्वीकृत सम्बन्ध है जो परामर्श प्रार्थी को पर्याप्त मात्रा में अपने को समझने में सहायता प्रदान करता है। जिससे वह अपने नवीन ज्ञान के सन्दर्भ मे ठोस कदम ले सके।

"Coucsellıng ıs a definıtely structurea permıssıve relatıonshıp whıch allows the clıent to gaın an understandıng to hımself to a degree whıch enables hım to take prıtıve steps ın the lıght of hıs orıentatıons '

इसके अलावा हम्फ्री तथा ट्रेक्सलर (Humphrys and Traxler) ने परामर्श की परिभाषा इस प्रकार दिया है, "परामर्श व्यक्तियों की समस्या समाधान हेतु विद्यालय या अन्य सस्थाओं के कमी वृन्द उत्सों का प्रयोग है"

'Counsellıng ıs the applıcatıon of the personal resources of the school or other ınstıtutıons of the solutıons of the problems of the ın dıvıdual "

काम्बस (Combas) ने भी परामर्श को पूरी तरह परामर्श प्रार्थी केन्द्रित माना ह। उसने परामर्श प्रक्रिया मे परामर्श दाता को उतना महत्वपूर्ण नही दिया है जितना कि परामर्श प्रार्थी (clıent) को।

ब्रीवर (Brewer) ने भी काम्बस (combas) की ही तरह परामर्श प्रार्थी को ही परामर्श का केन्द्र बिन्दु माना है। ब्रीवर (Brewer) ने परामर्श को बातचीत करना विचार करना (conference) तथा एक मियतापूर्ण वार्तालाप करना (frıendly converdatıon) बताया है।

जोन्स (Jones) परामर्श की प्रकृति के सम्बन्ध मे कुछ अधिक निर्देशीय (Dırectıve) हो। जोन्स (Jones) के मतानुसार परामर्श प्रक्रिया मे समस्त तथ्यो को एकत्रित किया जाता है छात्र के समस्त अनुभवो का अध्ययन किया जाता है। छात्रो की योग्यताओ को एक विशेष परिस्थिति के अनुसार देखा जाती हैं तथा समस्या समाधान हेतु छात्र को प्रत्यक्ष एव व्यक्तिगत मदद प्रदान की जाती है। परन्तु जोन्स (Jones) ने यह स्पष्ट किया है कि परामर्श द्वारा किसी छात्र की समस्या का समाधान नही होता है वरन् उसे समाधान करने योग्य बना दिया जाता है।

इरिक्सन (Erıckson) ने परामर्श की परिभाषा प्रार्थी प्रधान (counsellee centered) के रूप में दी है। उन्ही के शब्दो मे "एक परामर्श साक्षात्कार व्यक्ति से व्यक्ति के सम्बन्ध है। जिसमें एक व्यक्ति अपनी समस्याओं तथा आवश्यकताओं के साथ दूसरे व्यक्ति के पास मदद हेतु जाता है।"

रोलो मै (Rollo may) ने परामर्श प्रार्थी प्रधान परिभाषा के विपरित परामर्शदाता प्रधान परिभाषा देने का प्रयास किया है। मे (May) के अनुसार 'परामर्श प्रक्रिया में परामर्श प्रार्थी' की अपेक्षा परामर्शदाता प्रमुख होता है। तथा परामर्शदाता के कार्य भी महत्वपूर्ण होते है। मै (May) के अनुसार परामर्श दाता के कार्य कुछ इस प्रकार के होते हैं जैसे—परामर्श प्रार्थी को सामाजिक दायित्वो को सहर्ष स्वीकार करने में मदद पहुँचाना, उसे साहस प्रदान करना जिससे वह हीन भावना का शिकार होने पावे तथा सामाजिक एव कार्यात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति में उसकी मदद करना।

स्ट्रैंग (Strang) ने परामर्श को निम्नलिखित तरह से परिभाषित किया है।

'परामर्श का उद्देश्य आत्म परिचय का स्ववोध (Self Realızatıon) है। इसके द्वारा प्रार्थी को यह बोध कराया जाता है कि वह क्या कर सकता है, उसे गुणों के विकास हेतु क्या करना चाहिए उसे अपनी समस्याओं पर किस प्रकार ध्यान देना चाहिए।"

उन्ही के शब्दों मे "परामर्श प्रक्रिया एक सयुक्त प्रयास (Joınt quesrt) है। छात्र की जिम्मेदारी अपने आप को समझने की चेष्टा करना तथा उस मार्ग का पता लगाना है जिस पर उसे आगे अपना है तथा जैसे ही समस्या उत्पन्न हो उसके समाधानार्थ आत्म विश्वास (Self Confidence) जगाना है। परामर्शदाता का उत्तरदायित्व इस प्रक्रिया में जब कभी प्रार्थी को आवश्यकता हो, सहायता प्रदान करना है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का अवलोकन करने के बाद यह पता चलता है कि परामर्श एक सयुक्त प्रयास है। अरबकल (Arbuckle) ने विभिन्न परिभाषाओं से कुछ निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है वे निम्नवत् हैं।

(1) परामर्श प्रक्रिया मे दो व्यक्तियों का होना आवश्यक हे।

(2) परामर्श प्रक्रिया का लक्ष्य परामर्श प्रार्थी को अपनी समस्याये स्वतन्त्र रूप से समाधान करने के योग्य बनाना है।

(3) परामर्श एक अनुभवी एव प्रशिक्षित व्यक्ति का व्यावसायिक कार्य हैं।

विलियम कोटेल (William Cottle) ने परामर्श मे तीन के स्थान पर पॉच तत्व बताये हे ये निम्नवत है।

(1) परामर्श मे परामर्श दाता एव परामर्श प्रार्थी के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध आवश्यक है।

(2) परामर्शदाता एव परामर्श प्रार्थी के मध्य विचार विमर्श (Conference) के अनेक श्रोत हो सकते है।

(3) प्रत्येक परामर्शदाता अपना परामर्श का कार्य पूर्ण ज्ञान एव तल्लीनता से करता है।

(4) परामर्श के समय परामर्शप्रार्थी की भावनाओ मे फलस्वरूप परिवर्तन अपेक्षित है।

(5) प्रत्येक परामर्श साक्षात्कार निर्मित (Structured) होता है।

अन्यविद्वान ने परामर्श के तत्वो का वर्णन फ्रायडियन सम्प्रत्ययो (Freudian concepts) के आधार पर किया है। इनके अनुसार परामर्श में निम्न लिखित तत्व निहित होने हैं।

(1) सघर्षमय अवस्था का आभास (Reognition of a state of conflict)

(2) अचेतन की स्वीकृति (Acceptance of the unconscious)

(3) दमन का स्थान (The Role of Repression)

(4) निर्भर शीलता एव हस्तान्तरण (Dependence and Transfercence)

(5) अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि (The acquiring of insight)

(6) ऊचित सवेगात्मक अनुभवो पर बल (Emphasis on corrective emoticonal experiecence)

(7) स्वीकारात्मक अभिरुचि (Accepting Attitude)

परामर्श के प्रकार
(Types of counselling)

सभी परिभाषाओ का विश्लेषण करने पर ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि कुछ परिभाषाएँ परामर्श प्रार्थी (Client) केन्द्रित हैं तो कुछ परामर्शदाता (Counsellor) केन्द्रित है। कुछ परिभाषाओ में ऐसा भी आभास मिलता है। कि परामर्शदाता एव परामर्श प्रार्थी दोनों की भूमिकाएँ परामर्श हेतु आवश्यकता महत्वपूर्ण है। इस प्रकार से परामश के सन्दर्भ में निम्नलिखित तीन मुख्य विचार धाराएँ प्रचलित है।

(1) निर्देशीय परामर्श (Directive Counselling) इस विचारधारा वाले परामर्शदाता को ही महत्व देते है।

(2) अनिर्देशीय परामर्श (Non-Directive counselling) इस विचारधारा वाले पूर्ण तया परामर्श प्रार्थी को महत्व प्रदान करते हैं।

(3) समन्वित परामर्श (Eclectic Counselling) इस विचार धारा वाले परामर्शदाता एव परामर्श प्रार्थी दोनों को महत्वपूर्ण मानते है।

अव इसका वर्णन सविस्तार रूप मे करना अपेक्षित है।

(1) **निर्देशीय परामर्श** (Directive Counselling) – जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस तरह के परामर्श मे पूरा ध्यान परामर्शदाता के ऊपर निहित होता है। परामर्शदाता अपना ध्यान समस्या पर अधिक रखता हे पर परामर्श प्रार्थी पर नही। इस प्रकिया मे पूर्वनिर्धारित योजना के तहत समस्या का विश्लेषण तथा व्याख्या विभिन्न पहलुओं को ध्यान मे रखकर की जाती है। ऐसा करने मे परामर्शदाता परामर्श प्रार्थी की सहायता एव सहयोग प्राप्त करता है। निर्देशीय परामर्श साक्षात्कार एव प्रश्नावली पद्धति से दिया जाता है।

विलि तथा एण्ड्र (Willy & Andrew) ने इस परामर्श मे निम्नलिखित तत्वों पर महत्व दिया है।

(1) परामर्शदाता सुयोग्य एव प्रशिक्षित तथा अनुभवी होता है फलत समाधान के सम्बन्ध मे अच्छी राय दे सकता है।

(2) परामर्श एक बौद्धिक (Intellectual) क्रिया है।

(3) पक्षपात एव सूचनाओ के अभाव में परामर्श प्रार्थी समस्या का समाधान नही कर सकता है।

(4) परामर्श के लक्ष्य समस्या समाधान अवस्था माध्यम से उपलब्ध किये जाते हैं।

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो रहा है कि परामर्शदाता प्रमुख स्थान रखते हुए परामर्श प्रक्रिया मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है तथा परामर्श देने में वे अनेक कदम उठते हैं। विलियम्सन तथा डार्ले (Williamson and Darley) ने अपनी पुस्तक "Student personal work" में निम्नलिखित सोपानो को स्पष्ट किया है।

(1) विभिन्न विधियों तथा उपकरणों की सहायता से ऑकडे सग्रहित कर उनका विश्लेषण करना।

(2) ऑकडों का यान्त्रिक (Mechanical) तथा आकृतिक (graphic) सगठन करके उनका सश्लेषण करना।

(3) परामर्श प्रार्थी की समस्या के कारणो को ज्ञात करके निराकरण प्राप्त करना।

(4) परामर्श या उपचार।

(5) मूल्याकन या अनुगमन (Follow up)

प्रथम सोपान के अन्तर्गत परामर्शदाता परामर्श प्रार्थी से सम्बन्धित समस्याओं नोट करता है। इसके वाद जो मुख्य समस्याओ का लक्षण होता है उस पर ध्यान केन्द्रित करता है। साक्षात्कार व्यक्ति इतिहास, अवलोकन द्वारा तथा घर एव विद्यालय से वह सारी सूचनाओं को समस्या से सम्बन्धित एकत्र करता है। कभी कभी कुछ मनोवैज्ञानिक परीक्षण जैसे टीएटी (TAT) व्यक्तित्व परीक्षण तथा समायोजन मापनी का भी उपयोग समस्याओं को जानने हेतु करता है। उपर्युक्त सारी विधियाँ आयु के अनुसार प्रयोग में लायी जाती है। समस्याओं के सम्बन्धों में सूचना एकत्रीकरण करने के बाद उसका विश्लेषण करता है।

द्वितीय सोपान मे प्राप्त प्रदत्तों को वह यात्रिक रूप से तथा आकृति के रूप मे सगठित करके उसका सश्लेषण करता है जिससे समस्याओं के मुख्य क्षेत्र का पता चल सके।

तृतीय सोपान मे ऑकडो का विश्लेषण एव सश्लेषण करने के पश्चात् परामर्शदाता समस्या की प्रमुख जड का पता लगाने का प्रयास करता है। इस सम्बन्ध में वह परामर्श प्रार्थी के शारीरिक स्वास्थ्य, उसके सामाजिक आर्थिक स्तर गृह दशा तथा विद्यालमी कार्यों तथा उसके सामाजिक जीवन एव व्यक्तित्व तथा सावगिक जीवन के विषय मे सूचनाएँ एकत्र करता है। इस तरह से परामर्शदाता समस्याएँ के मूल कारणो (Root cause of the problem) का पता लगाता है।

चतुर्थ सोपान मे समस्याओ के मूल कारणों का पता लगाने के बाद परामर्शदाता परामर्श देने का विचार करता है। वह उससे बातचीत करता हे तथा सहायता प्रदान करता है। वह परामर्शप्रार्थीकी समस्याओ को समझता हैं तथा सभव मदद के करने का प्रयास करता है। वह उसका उपचार करता है। उपचार हेतु निम्नलिखित विधियों की सहायता ली जाती है।

(1) सुझाव
(2) पुनर्शिक्षा
(3) नार्किक अनु नय्
(4) परामर्श प्रार्थी के वातावरण में परिवर्तन
(5) खेल चिकित्सा
(6) व्यावसायिक चिकित्सा
(7) सामूहिक चिकित्सा
(8) मनोविश्लेषण
(9) स्पष्टीकरण
(10) साराश स्पष्टीकरण
(11) अनुमोदन
(12) पुनर्कथन
(13) मौनधारण
(14) परित्याग
(15) विश्वास या वायदा।

अतिम सोपान मे परामर्शदाता उपचार करने के बाद परामर्श प्रार्थी में यह देखने का प्रयास करता है कि कितनी मदद उसे मिल पायी है तथा समस्या का कितना समाधान हो पाया है। शनै शनै वह प्रयास जारी रखता है तथा उसे पूर्ण समायोजित व्यक्ति बना देता है।

(2) **अनिर्देशीय परामर्श** (Non directive Counselling)—इस प्रकार का परामर्श पूरी तरह से परामर्श प्रार्थी केन्द्रित होता है। इस परामर्श के जन्मदाता रोजर्स (Rogers) थे। रोजर्स के अनुसार निर्देशीय परामर्श अमनोवैज्ञानिकं तथा निष्प्रभावी है क्योंकि निर्देशन का केन्द्र बिन्दु परामर्श प्रार्थी न होकर समस्या पर होती है।

अनिर्देशीय परामर्श मे परामर्श की क्रियाएँ महत्वपूर्ण नही है। ध्यान प्रार्थीकी क्रियाओं पर किया जाता है। अनिर्देशीय परामर्श रोग निदान आवश्यक नही है क्योंकि उसमें प्रार्थी से सम्बन्धित पिछले ऑकडे एकत्र नही किये जाते है। न किसी प्रकार का परीक्षण ही होता है। रोजर्स के अनुसार अनिर्देशीय परामर्श की तीन मुख्य विशेषताएँ होती है।

(1) **पगमर्श प्रार्थी केन्द्रित सम्बन्ध** (The client centered Relations)–अनिदेशीय परामर्श के अन्तर्गत व्यक्ति को महत्व दिया जाता है कि प्रार्थी की कुछ समस्यायें होती है जिनका वह समाधान कराना चाहता है। अनिर्देशीय परामर्श मे परामर्शदाता ऐसा वातावरण उत्पन्न करता है कि प्रार्थी उसी वातावरण मे अपनी समस्या का समाधान स्वय खोजने का प्रयास करता है और स्वय को अन्य किसी दूसरो पर निर्भर नही समझता है। वह टीन भावना का शिकार नही होता है क्योकि उसे इस बात का क्रोध नही होता है कि कोई अन्य व्यक्ति उसके लिए कुछ विचार या उसकी सहायता प्रदान कर रहा है।

(2) **भावना-आवेग पर बल** (Emphanis on Feeling of Emotions)–अनिर्देशाय परामर्श का सम्बन्ध आवेगो से होता है तथा अनेक प्रतिचार (Responses) प्राय प्रार्थी की भावनाओं को प्रदर्शित कर देते है। अत इस परामर्श मे अधिक महत्व आवेगात्मक प्रक्रिया पर दिया जाता है, न कि वौद्धिक प्रक्रिया पर। परामर्श प्रार्थी को वास्तविकता का बोध कराया जाता है तथा उसे इस प्रकार का स्वतन्त्र अवसर प्रदान किया जाता है कि वह अपनी भावनाओ को निष्पक्ष एव निडर होकर व्यक्त कर सके। इस प्रकार से उसे उसकी भावनाओं तथा अभिरूचियों का सही ज्ञान प्राप्त हो जाता है और वह समस्या का समाधान सरल एव सुगम रूप मे कर लेते है।

(3) **उचित वातावरण** (The Appropriate environment)–अनिर्देशीय परामर्श मे परामर्श दाता का मुख्य कार्य प्रार्थी को उचित वातावरण प्रदान करना है। जिससे वह अपने आवेगात्मक सवेगों को व्यक्त कर सके। परामर्शदाता का कार्य केवल प्रार्थी के भावों का अवलोकन करना तथा उसकी वार्तो को तटस्थतापूर्वक सुनना होता है। ऐसे वातावरण में प्रार्थी स्वय निर्णय लेता है तथा अपने आपको समझने का प्रयास करता है।

रोजर्स के अनुसार अनिर्देशीय परामर्श में निम्नलिखित सोपान होते है।

(1) परामर्शदाता सहायक अवस्थाओं को परिभाषित करता है।

(2) परामर्शदाता प्रार्थी को स्वतन्त्रता पूर्वक भाव व्यक्त करने का उचित वातावरण तैयार करता है।

(3) परामर्शदाता नकारात्मक एव स्वीकारात्मक भावों को पुनर्गठित तथा स्पष्ट करता है।

(4) परामर्श प्रार्थी जैसे जैसे आत्मवोध करता जाता है वैसे ही परामर्शदाता उसकी भावनाओ की ओर स्पष्ट रूप से झुकता है।

(5) अन्त मे प्रार्थी या परामर्शदाता परामर्श परिस्थितियो का परित्याग करता है।

विलियम स्निडर (William Snyder) ने एक लेख प्रकाशित करके अनिर्देशीय परामर्श की निम्नधाराओं का उल्लेख किया है।

(1) परामर्श प्रार्थी स्वजीवन से सम्बन्धित उद्देश्य निर्धारित करने में स्वतन्त्र है चाहे परामर्श दाता की राय कुछ भी हो।

(2) प्रार्थी अधिकतम सतोष पाने के लिए उद्देश्य चयन स्वय करेगा।

(3) अल्प समय मे परामर्श प्रक्रिया के माध्यम से वह स्वतन्त्र रूप से निर्णय ले सकने के योग्य हो जाता है।

(4) उचित समायोजन मे आवेगात्मक सघर्ष सबसे बडी बाधा है।

(3) **समन्वित परामर्श** (Eclectic counselling)–इस प्रकार का परामर्श न तो पूर्णतया निर्देशीय है और न अनिर्देशीय है। यह मध्य वर्गीय परामर्श है। यह अनिर्देशीय तथा

निदशीय परामर्श सिद्धान्तो पर आधारित हैं। इस प्रकार का परामश प्रार्थी की आवश्यकताओ तथा अपनी परिस्थितियो दोनो का ही अध्ययन करता है। प्र दाने की कुछ न कुछ बात स्वीकार करक चलता है।

निर्देशीय तथा अनिर्देशीय परामर्श मे अन्तर

(Difference between Directive and non directive couneselling)

जहाँ तक लक्ष्य एव उद्देश्य की बचत है दोना प्रकार के परामर्श का लक्ष्य एव ध्येय एक ही होता है। परन्तु उस ध्येय की प्राप्ति का साधन अलग अलग है। ये दो साधन क्रमश निदेशीय एव अनिर्देशीय के नाम से जाने जाते है। इसलिए यदि हम यह कहे कि अन्तर केवल साधन मात्र म ही होता ह तो अतिशयोक्ति न होगी। जो अन्तर दोनों प्रकार के परामश में परिलक्षित होता है वह निम्नलिखित है।

(1) अनिर्देशीय परामर्श के अनुसार मानव म विकास का अक्षुण्ण शक्ति सन्निहित होती है इसी कारण वह अपने वातावरण के प्रति अच्छा समायोजन स्थापित करने में सफल होता है परन्तु व निहित शक्तियाँ अज्ञात एव प्रयोगहीन होती है। इसक विपरित निर्देशीय परामश इस तथ्य को स्वीकार नही करता है। निर्देशीय परामश के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपना स्वय का मूल्याकन पक्षपात हान नही कर सकता है। इसलिए पक्षपातहोन हेतु ही परामशदाता की आवश्यक्ता होती है।

(2) अनिदेशीय परामर्श स भावात्मक पहलू को अधिक महत्व दिया जाता है। जबकि निर्देशीय परामर्श मे बोद्धिक पहलू को प्रधानता होनी हैं।

(3) समय की दृष्टि से निर्दशीय परामशशास्त्री का विचार यह है कि यह सभव नही कि परामर्शदाता को थोडे समय मे प्रशिक्षित किया जा सके। इसका आशय यह है कि अत्यन्त अल्प समय मे परामर्शदाता इतना प्रशिक्षित नही हो पाता है कि वह दूसरो को परामर्श या निर्देशन दे सके। इसके विपरीत अनिर्देशीय परामर्शदाता अल्प समय मे अच्छा विश्लेषण कर्ता तो नही बन सक्ता है परन्तु प्रभावशाली परामर्शदाता की श्रेणी मे तो आ सकता है।

(4) अनिर्देशीय परामर्श परामर्श प्रार्थी की निकटस्थ एव सम्प्रति समस्याओ को ही महत्व देती है परन्तु निर्देशीय परामर्श अनीतकाल की समस्याओं से समाधान करना चाहता हैं। सही अर्था मे यह कहा जाय कि अनिर्देशीय परामश व्यक्ति प्रधान होता है तथा निर्देशीय परामर्श समस्या प्रधान होता है।

(5) अनिर्देशीय परामर्श के मतानुसार उचित रोग के निदान हेतु राय सुझाव एव निर्देशीय क्रियायें महत्वपूण होती है। रोग निदान के लिए व्यक्ति का अनुभव एव आत्मानुभूति अत्यन्त आवश्यक है इसके विपरीत निर्देशीय परामर्श में बौद्धिक चुनाव भविष्य को दृष्टि में रखकर किया जाना है। परामर्श दाता का यह उत्तरदायित्व होता है कि चुनाव निर्माण में सहायता प्रदान करे परन्तु चुनाव मात्र परामर्श प्रार्थी द्वारा ही किया जाता है।

परामर्श विधियाँ

(Techniques of Counselling)

(1) मोनधारण (Silenec)—मौन रहना बुरी बात नही है। परामर्श देते समय यह आवश्यक होता है कि परामर्श प्रार्थी जो कुछ कह रहा है उसे विना रोक टोक के सुनना चाहिए। मोन धारण से आशय यह है कि परामर्श दाता परामर्श प्रार्थी की समस्या को सुने परन्तु जब परामर्श प्रार्थी अपनी समस्या का वर्णन कर रहा है तो उस समय परामर्शदाता मौन

होकर ध्यान से सुने। मौन रहने पर सबसे बडा लाभ यह है कि परामर्श दाता प्रार्थी की समस्या को समझने का प्रयास करेगा तथा तब अपना सुझाव करेगा।

(2) **स्वीकृति** (Acceptance) – परामर्शदाता जब परामर्श दे रहा होता है तो उस समय प्रार्थी कुछ कह रहा होता है तो उस समय परामर्शदाता कुछ न कुछ बोलकर यह प्रार्थी को आभास कराता है कि मै ध्यानपूर्वक समस्या को सुन रहा हूँ। परामर्श दाता बीच बीच में कुछ स्वीकृति वाले शब्द जैसे बहुत अच्छा' ठीक हैं आदि कहता है। कभी कभी परामर्शदाता अपनी शारीरिक हाव भाव से भी स्वीकृति प्रदान करता है।

(3) **पुनकर्थन** (Restatement) – पुनकर्थन मे परामर्शदाता उसी बात को दुहराता हैं जिसे प्रार्थी ने स्वय वर्णित किया है। परन्तु परामर्शदाता परामर्शप्रार्थी के कथन को दुहराते समय कथन म सशोधन या स्पष्टीकरण नही करता हैं। पुनकर्थन भी स्वीकृति प्रदान करती है तथा यह बोध कराता है कि परामर्शदाता परामर्श प्रार्थी की बात या समस्या को समझ रहा हैं।

(4) **स्पष्टीकरण**—परामर्शदाता का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह प्रार्थी को इस बात का एह सास करा दे कि वह उसकी बात या समस्या को समझ रहा है। कभी कभी परामर्शदाता को प्रार्थी के पूरे वर्णित बयान का स्पष्टीकरण करना पडता है। स्पष्टीकरण द्वारा परामर्शदाता प्रार्थी वणन को सक्षिप्त करके उसे स्पष्ट करने का प्रयास करता है।

(5) **साराश स्पष्टीकरण** (Summary clarification) – साराश स्पष्टीकरण में परामर्शदाता का यह दायित्व होता है कि वह प्रार्थी के भाषण को सक्षिप्त करके उसे सगठित करे तथा प्रार्थी को स्पष्ट रूप से समस्या का बोध करा करके उसकी स्वीकृति ले ले। परामर्श दाता को कभी भी स्वय कोई विचार या बात नही जोडना चाहिए और न कभी भाषण या वार्ता की विवेचना करनी चाहिए।

(6) **अनुमोदन** (Approval) – परामर्श प्रार्थी अपनी समस्या से सम्बन्धित विभिन्न विचार अभिव्यक्त करता है। परामर्शदाता इन विचारो में से कुछ को अनुमोदित करता है तथा शेष को अनसुना कर त्याग देता है। जिन विचारो को अनुमोदित कर दिया जाता है वे विचार प्रार्थी को अत्यन्त प्रभावित करते है। यदि परामर्श दाता बीच बीच मे प्राय ही उसके विचारे को अनुमोदित करता रहता है तो अनुमोदन प्रभावहीन हो जाती है अत इस बात का ध्यान देन चाहिए कि सारी समस्याये या वार्ता सुनने के पश्चात् तब अनुमोदन न करना ज्यादा हितक होता है।

(7) **विश्लेषण** (Analysis) – प्रार्थी द्वारा वर्णित समस्या के समाधान हेतु परामर्शदात समाधान प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु इस समाधान का वह प्रार्थी से धृष्टतापूर्वक प्रयोग नह करता है। वह मात्र समाधान प्रस्तुत करता है बाकी वह प्रार्थी पर डाल देता है कि वह समाधा स्वीकार करे या नही या सशोधित करे। परामर्शदाता का समाधान हेतु दवाव डालना उचि नही होता है।

(8) **विवेचना** (Interpretation) – विवेचना के अन्तर्गत उस बात का ध्यान रख चाहिए कि प्रार्थी के केवल उसी वर्णित बातो की विवेचना करनी चाहिए जो प्रार्थी ने प्रस्तु किया है। उसे अपनी तरफ से कुछ जोडना या घटाना नही चाहिए। विवेचना की सहायता परामर्शदाता प्रार्थी के वर्णित बातों से निष्कर्ष निकालता है तथा समाधान करने का प्रयास कर है।

(9) **परित्याग** (Regression) – कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि प्रार्थी के वक्त में कुछ बातें भ्रामक एव गलत होती है। इस अवस्था में इन भ्रामक एव गलत वक्तव्यों परित्याग आवश्यक होती है। परित्याग का प्रमुख लक्ष्य प्रार्थी के वक्तव्य में परिवर्तन ला

है। परित्याग करते समय परामर्शदाता को सावधान रहना चाहिए क्योकि हो सकता है कि प्रार्थी इस परिवर्तन को स्वीकार न करे तथा विद्रोही प्रवृत्ति का विकास कर ले।

(10) **विश्वास प्रदान करना** (Assurance) – कभी कभी परित्याग या विश्वास दाना काफी प्रभावी होते है। विश्वास की सहायता से प्रार्थी के कथनों को परामर्शदाता स्वीकार भी करता है साथ ही साथ उन्हे अनुमोदित भी करता है। कभी कभी यह विधि इसलिए आवश्यक हो जाता है कि परामर्श दाता अन्य विधियो से कथन प्राप्त नही कर पाता है परन्तु इस विधि के प्रयोग मे दो बात ध्यान मे रखना आवश्यक होती है।

(i) एक बार दिया गया विश्वास वापस नही लिया जा सकता है।

(ii) परामर्श प्रार्थी को परामर्शदाता ऐसा अन्य व्यक्ति लग सकता है जो उस समस्या के सम्बन्ध मे कुछ नही जानता है।

परामर्शदाता की योग्यताएँ
(Qualities of Counsellor)

परामर्शदाता के लिए कुछ योग्यताओ का होना आवश्यक होता है जिसमे वह परामर्शदाता अच्छी तरह से कर सके। जो योग्यताए आवश्यक होती है वे निम्नलिखित है।

(1) **व्यक्तिगत योग्यताएँ** (Personal qualities) – अनेक मनोवैज्ञानिको ने अपनी अपनी तरह से कई व्यक्तिगत योग्यताओ की सूची प्रस्तुन की है। इन सभी सूचियो मे से सबसे महत्वपूर्ण सूची 'A professional standards committce of the American college Pessonnel association ने प्रस्तुत की हैं जिसका उल्लेख Andrew and Willy ने किया है। इस सूची के अनुसार निम्नलिखित वैयक्तिक विशेषताएँ परामर्शदाता मे होनी चाहिए।

(1) सामाजिक व्यावहारिकता रुचि व्यक्तियो से लगाव दूसरों की आवश्यकताओ को सम्मान देना, सामान्य ज्ञान।

(2) नेतृत्व योग्यता (Leadership Ability) निर्णय लेने की योग्यता (Ability of Decision Making एव आत्मनिर्भरता (Self Dependercy)

(3) सह योगियो के साथ मिलजुलकर कार्य सम्पन्न करने की योग्यता।

(4) मैत्रीभाव (Friendly feelings)

(5) सुरुचिपूर्ण व्यवहार

(6) सुन्दर व्यक्तित्व (Good Personality)

(7) आत्मविश्वास (Self confidence)

(8) महत्वपूर्ण धार्मिक एव नैतिक विचारधाराएँ

(Important Religious and moral views)

(2) **अनुभव**—परामर्शदाता के पास परामर्श हेतु अच्छा अनुभव होना चाहिए। परामर्श प्रक्रिया का उचित ज्ञान होना चाहिए। बिना अनुभव के वह प्रार्थी की समस्याओं का समाधान करने में समर्थ नही होगा। परामर्शदाता को परामर्श प्रक्रिया को आधारभूत सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है। अनुभव के द्वारा विशेषज्ञता में वृद्धि होती हैं तथा यही विशेषज्ञता समस्या समाधान मे मददगार साबित होती है।

(3) **प्रशिक्षण**—परामर्शदाता को अनुभव के साथ साथ प्रशिक्षित भी होना चाहिए। प्रशिक्षण के माध्यम से वह अपनी परामर्श प्रक्रियाओं का उपयोग एव प्रयोग स्पष्ट रूप से कर सकता है। इन सभी के अतिरिक्त निम्नलिखित दो क्षेत्रों मे प्रशिक्षण का होना परामर्शदाता के लिए आवश्यक होता है।

(i) **मानव विकास** (Human Growth and Development) – इस प्रशिक्षण के अन्तर्गत परामर्श दाता को मानवा विकास की सम्पूर्ण अवस्थाओं का ज्ञान होना चाहिए। प्रत्येक अवस्था मे सम्बन्धित समस्याओ का भी ज्ञान नितात आवश्यक है। समस्याओ का विकास समयोजन इत्यादि के विपक्ष मे उचित स्थान आवश्यक होता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण में परामर्शदाताओं अधिनियम रूचि प्रेरणा, वैयक्तिक भिन्नताएँ तत्परता, अभिरूचि विचार विकास एव व्यवहार का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना चाहिए। इन सभी के अभाव मे वह परामर्शदाता समस्या समाधान मे परिपक्व नही हो पायेगा।

(ii) **निदशन सामग्री** (Counselling Materials) – जिस निदशन या परामर्शदाता करेगा उसकी पूर्ण प्रक्रिया प्रतियोगगिक रूप म उसे आनी चाहिए। उदाहरणर्थ यदि किसी मनो वैज्ञानिक परीक्षण का उपयोग परामर्श हेतु किया जा रहा है। तो इस परीक्षण का फलाकन, प्रशासन, विश्लेषण एव व्याख्या स्पष्ट रूप से उसे आनी चाहिए। यदि ऐसा नही है तो सही परामर्श देने मे गलती हो सकती है।

परामर्शदाता के कार्य
(Functions of Counsellor)

परामर्शदाता का मुख्य कार्य क्या होना चाहिए इसका यहा पर वर्णन करना नितात आवश्यक है। परामर्श दाताओ को निम्नलिखित तीन बातो पर आवश्यक ध्यान देना चाहिए।

(1) प्रत्येक व्यक्ति का महत्व है।

(2) समाज तथा वातावरण के साथ समायोजन एक सतत प्रक्रिया है।

(3) व्यक्ति का चयन करने का आधारभूत अधिकार है। ये उपयुक्त तीन आवश्यक तत्व के अलावा परामर्शदाता को कुछ क्रियात्मक विचारों का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

(1) परामर्शदाता को प्रार्थी के ऊपर समस्या थोपनी नहा चाहिए।

(2) परामर्शदाता का लक्ष्य प्रार्थी के समस्या का समाधान करना होना चाहिए।

(3) परामर्शदाता का कर्तव्य प्रार्थी को समस्या का ज्ञान या बोध कराना भी होना चाहिए।

(4) परामशदाता को प्रार्थी के सामने सभी समाधान के विकल्प खुले रखने चाहिए।

(5) परामर्शदाता को प्रार्थी की समस्या पर सभी सभावित दृष्टिकोणो या पक्षो से विचार करना चाहिए।

(6) अतिम निर्णय प्रार्थी को लेना चाहिए कि कौन सा समाधान का विकल्प उसे स्वीकार है। उपर्युक्त तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए एक परामर्शदाता को निम्नाकित कार्य करने चाहिए।

(1) प्रार्थी से सम्बन्धित ऑकडो को एकत्र करना।

(2) विभिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित सूचनाओ का सग्रह करना।

(3) विभिन्न प्रकार की शिक्षा, शिक्षा सस्थान एव प्रशिक्षण सुविधाओ मे सम्बन्धित सूचना सग्रह करना।

(4) साक्षात्कार की व्यवस्था करना।

(5) सामाजिक सम्बन्ध का स्थापन।

(6) अनुगमन (Follow up) कार्य करना।

(7) उचित अनुमोदन एव प्रक्रिया प्राप्त करना।

(8) उचित भौतिक परिस्थितियाँ एव सेवाएँ उपस्थित करना।

परामर्श एव बाल विकास
(Counsilling and Child Development)

परामर्श एव वाल विकास मे अटूट सम्बन्ध ह। बच्चे के जन्म स लकर उसकी सारी अवस्थाओ मे परामर्श की काफी अहम भूमिका हानी हे। परामर्श के माध्यम म हम माता-पिता की यह राय दे सकते है कि बच्चा का लालन पालन किस प्रकार करना चाहिए जिससे बच्चे का उचित विकास हो सके। पारिवारिक सम्बन्ध की स्थापना कैसी होनी चाहिए। पारिवारिक वातावरण किस प्रकार का होना चाहिए कि उसमे बच्चे का विकास उचित ढग से हो सके उसका भी महत्व परामर्श के माध्यम मे समझना चाहिए। पैतृक सन्तान सम्बन्ध (Parent child Relationship) का प्रशिक्षण भी हम परामर्श देकर बच्चो के विकास हेतु ऐसा वानावरण तयार कर सकते हे जिनमें उसका विकास अच्छी तरह से हो। बच्चा ज्यो ज्यो अगली अवस्थाओ मे प्रवेश करता है। उस समय सबसे अहम् समस्या सामायोजन की समस्या होती ह। समायोजन की समस्या को भी हम परामर्श के माध्यम से दूर कर सकते है। उदाहरणार्थ—किशोरावस्था मे अहम् तादात्म्य की समस्या प्रमुखरूप से पाई जाती हे। इस समय प्रतिस्पर्धा ईर्ष्या आदि की भी समस्याये घट कर जाती हे। इन सभी समस्याओं के निकटस्थ का एकमात्र विकल्प परामर्श ही है। बच्चे की विषय चयन की समस्या शैक्षणिक समस्या सामाजिक सम्बन्धो की समस्या व्यावसायिक चयन की समस्या आदि का निदान एव समाधान परामर्श के माध्यम से परामर्श दाता करता है। अत उपर्युक्त बाल विकास हेतु परामर्श का महत्वपूर्ण स्थान है। यह परामर्श माता पिता से लेकर बच्चे तक को उचित अवसर प्रदान करता है कि वह जीवन को जीना सीखे तथा सघर्षमय परिस्थितियों में समायोजन करना भी सीखे।

●

18

प्रौढावस्था : विशेषताएँ, एवं समस्याएँ
(Adulthood : Characteristics, and Problems)

विकास की विभिन्न अवस्थाओ मे प्रौढावस्था एक ऐसी अवस्था है जिन पर अनेक क्षेत्रो मे वैज्ञानिको तथा शोधकर्ताओ ने अपना ध्यान आकर्षित किया है। विरेन 1964 एरिस्किन 1963, वर्शीड वालस्टर एव वोहार्नसेट (1973), हविग्हसट (1972), पावेल एव फेरेरौ (1960), वाईमर (1974), नेगार्टेन (1968), व्हाइट (1966), मेल्टजरए (1962) रोमन्यू (1974), वार्डविक (1971), वोएटजेल (1966), किन्से मार्टिन एवं मरे (1948), मास्टर्स एव जोहन्सन (1966), कार्टर एव ग्लिक (1970), मर्स्टीन (1971), वर्गेस एव वालिन (1953), रूनि (1973), काक्स (1968), ब्लड एव वोल्फ (1960) एव डेनफिल्ड एव गार्डन (1973) आदि । इसके अतिरिक्त प्रौढावस्था पर मनोवैज्ञानिकों के अतिरिक्त मानवशास्त्री समाजशास्त्री तथा शिक्षाशास्त्री भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अध्ययन करते है। इतना अवश्य है कि इन विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित शोधकर्ताओं का लक्ष्य तथा विधियाँ विभिन्न होती हैं। उससे यह स्पष्ट हो रहा है कि प्रौढावस्था अवश्य ही एक महत्वपूर्ण विकासात्मक अवस्था है।

प्रोढावस्था का अर्थ (Meaning of Adulthood)

प्रौढावस्था जिसका अग्रेजी रूपान्तरण Adulthood है, की उत्पत्ति लैटिन भाषा के एडल्टस (Adultus) से हुई है। इमका तात्पर्य पूरी तरह से विकसित होने या परिपक्व हाने (Grown to full size and strength' or Matured) से है। इस तरह प्रौढ व्यक्ति वे होते है जो अपनी वृद्धि को पूरा कर चुके होते हैं कि अपने सस्थिति को समाज मे पहचानने का प्रयास करते है तथा दूसरे प्रौढों से सम्पर्क स्थापित करते हैं। विभिन्न सस्कृति में प्रोढ होने को विभिन्न आयु से जाना जाता है। कुछ सस्कृनि में 18 वर्ष तथा कुछ में 21 वर्ष की आयु को प्रौढ की आयु माना जाता है। इसका कारण यह भी है कि उस अवस्था में इस आयु तक वधानिक परिपक्वता उन्हें प्राप्त हो जाती है तथा वे चुनाव में अपना मत (Vote) प्रकट कर सकते हैं। प्रोढावस्था एक लम्बी अवधि का होता है। इसमें कुछ निश्चित प्रकार के शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक परिवर्तन दिखायी देते हैं। प्रौढावस्था अनेक दृष्टिकोणों से एक महत्वपूर्ण अवस्था है। इसमे अनेक प्रकार के परिवर्तन होते है। विभिन्न विशेषताएँ पूरी तरह से परिपक्वता के स्तर तक पहुँचाती हैं और प्रौढ एक जिम्मेदार व्यक्ति की भूमिका का निर्वाह करता है। प्रौढावस्था का विस्तार 21 वर्ष मे मृत्यु तक माना जाता है। प्रौढावस्था को 3 भागों मे विभक्त किया जा सकता है। इन्हें क्रमश प्रारम्भिक प्रौढावस्था (Early adulthood), मध्यावस्था (Middle adulthood), एव वृद्धावस्था (Oldage or Lateradutlhood or Senescence) के नाम से जाना जाता है।

प्रौढावस्था मे अनेक प्रकार के शारीरिक, मार्नसिक व्यावहारिक एव सामानिक विकास तथा परिवर्तन दिखायी पडते है। इस अवधि मे रूचियो तथा मूल्यो मे परिवर्तन गेता है। उनके सामने अनेक प्रकार की समस्याओ के प्रति समायोजन करने की समस्या आती है। इन सभी कारणो से प्रौढावस्था का महत्त्व काफी बढ जाता है।

प्रौढावस्था की अवधियॉ (Periods of Adulthood)

प्रौढावस्था के स्वरूप का वर्णन करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रौढावस्था की अवधि काफी लम्बी होती है। प्रारम्भिक वर्षों मे परिवर्तन की गति तीव्र तथा मध्यम और अतिम अवधि के वर्षो मे परिवर्तन की गति भी कुछ मन्द होती है। इस आधार पर इस अवस्था को तीन भागो में बॉटा जा सकता है।

(1) **प्रारम्भिक प्रौढावस्था** (Early Adulthood) – किशोरावस्था के अन्तिम अवधि के ठीक एक साल बाद यह अवस्था शुरू हो जाती है। इस अवस्था का विस्तार 21 से 40 वर्ष तक माना जाता है। इस अवस्था मे शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक परिवर्तन तीव्रगति से होते हैं। इस अवधि मे प्रौढ के लैगिक क्रियाओ मे भी परिवर्तन दिखायी पडता है। वह एक ज्यादा ही पूर्ण व्यक्तित्व का प्रौढ होता है। वह सामाजिक क्रियाकलापो मे काफी भाग लेता है। परिपक्वता चरम सीमा पर होती है। वैधानिक परिपक्वता प्राप्त हो जाने के कारण वह सामूहिक एव राजनैतिक क्रियाकलापों में भी भाग लेता है। प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे शारीरिक क्षमता एव शारीरिक आकर्षण चरम सीमा पर होता है। शारीरिक शक्ति एव शारीरिक गति में भी तीव्रता आती है । पूरी शरीर मे परिपक्वता झलकती है 20-30 वर्ष की आयु में मासपेशियों में हड्डियो मे पूर्ण विकास हो चुका रहता है। शरीर गठीला एव सुडौल लगता है। ऊँचाई धीरे धीरे स्थिर होने लगती है। वजन भी स्थिर हो जाता है। प्रारम्भिक प्रौढावस्था सही अर्थों में शारीरिक स्वस्थता एव निष्पादन की अवधि होती है। जीवन के नये सहभागियो के साथ समायोजन भी करना पडता है। उसे समाज मे नयी भूमिकाओ का निर्वाह भी करना पडता है। इन भूमिकाओं में, पति पत्नि, दादा-दादी, अभिवावक, माता पिता आदि आते हैं। इन भूमिकाओं के निर्वाह मे नये मूल्य, नयी अभिवृत्तियॉ एव नयी रूचियॉ जन्म लेती है। इन भूमिकाओं के साथ समायोजन भी करना पडता है। अत प्रारम्भिक प्रौढावस्था एक महत्वपूर्ण अवस्था है।

(2) **मध्यावस्था** (Middle Adulthood or Middle Age) – इस अवस्था का विस्तार 40-60 वर्ष का होता है। इस अवस्था में शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक विशेषताओं में ह्रास होता है। मध्यावस्था पूरे जीवन विस्तार में लम्बी अवधि का होता है। इसे भी प्राय दो भागों में बॉटा गया है—1 प्रारम्भिक मध्यावस्था (Early Middle Age) जिसका विस्तार 40-50 वर्ष तक होता है तथा 2 उत्तरमध्यावस्था (Later middle age) जिसका विस्तार 50-60 वर्ष तक माना गया है। इस अवस्था में जो शारीरिक और मानसिक परिवर्तन देखने को मिलते हैं वे विशेषतया प्रारम्भिक मध्यावस्था से भिन्न होते है। इस अवस्था मे भी नयी नयी भूमिकाओं का निर्वाह करना पडता है। शारीरिक एव मानसिक क्षमता मे कमी आती है। इसलिए इस अवस्था को प्रतिबल एव तूफान की अवस्था भी कहते हैं। इस समय तक प्रारम्भिक अवस्था के प्रौढ पूरी तरह से मध्य अवस्था में पहुँचने पर समयोजन करने में असमर्थ होते है। उनकी सन्तानोत्पत्ति की क्षमता में भी ह्रास होता है। प्रौढ महिलाअ में मासिक चक्र समाप्त होता है इससे वे भी काफी चिन्तित हो जाती हैं कि अब वे वृद्धावस्था की तरफ बढ रही हैं। मासिक चक्र समाप्त होने पर विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ प्रौढ महिलाओं मे देखी जाती हैं लैंगिक व्यवहार मे अपने को असमर्थ पाती है। पारिवारिक दायित्व बढ जाता है। इस

अवस्था म न्हे अपने बच्चो के साथ साथ अपने माता पिता का भी ख्याल रखना पडता ह जिससे वे काफ चिन्तित एव परेशान दिखायी पडते हे। इस अवस्था में भी नयी नयी अभिवृत्तियो मूल्य एव व्यवहार के नये प्रतिमान जन्म लेते है। इस अवस्था मे प्रौढो को शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक परिवतन के प्रति भी समायोजन स्थापित करना पडता है । मनोवैज्ञानिक प्रतिबलो मे क्रमश पति या पत्नी म से किसी एक की मृत्यु का होना विधवापन या विधुरपन, घर से बच्चो का बाहर जाना, विवाह से वैराग्य, मृत्यु की तरफ बढने की चिन्ता आदि होती है। आर्थिक प्रतिबल भी देखा जाता है जैसे—समाज मे अपनी स्थिति को बरकरार रखने के लिए पैसे का अभाव बच्चों की पढाई तथा पारिवारिक खर्च म रुपया का अभाव आदि । इस तरह से मध्यावस्था भी आशका की अवधि के रूप मे जाना जाता है।

(3) **वृद्धावस्था** (Later Adulthood or Oldage)—उत्तर प्रौढावस्था या वृद्धावस्था की शुरूआत 60 वर्ष से होती है तथा तब तक मानी जाती है जब तक प्रौढ की मृत्यु नही हो जाये। इस समय शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक क्षमताओं मे तीव्रगति से ह्रास हो जाता है। लोग बूढा कहकर पुकारना शुरू करते है। शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। चेहरे पर झुर्रियाँ नजर आने लगती है। वृद्धावस्था जीवन विस्तार की अतिम अवस्था या विराम अवस्था है। 60 वर्ष की आयु मध्यावस्था एव वृद्धावस्था की विभाजन रेखा है। इस अवधि को क्रमश दो भागो मे बाँटा जाता है—1 प्रारम्भिक वृद्धावस्था (Early oldage) इसका विस्तार 60 70 वर्ष तक होता है तथा दूसरी अवस्था उच्च वृद्धावस्था (Advanced oldage) होता है उसका विस्तार 70 वर्ष से मृत्यु तक माना जाता है। 60 70 वर्ष की आयु के प्रौढ को वरिष्ठ या बुजुर्ग कहकर पुकारा जाता है परन्तु 70 से आगे की उम्र वाले प्रौढ को वृद्ध कहकर पुकारा जाता है। इस अवस्था में भी शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक परिवर्तन प्रदर्शित होते है। इस अवस्था म पुरुषो एव महिलाओ का शारीरिक एव सामाजिक समायोजन काफी खराब होता हैं। इसमें प्रसन्नता की जगह अप्रसन्नता, चिडचिडापन अशान्ति थकान, बोरियत आदि विशेषताएँ दिखायी देती हैं। इस अवस्था म असहाय की भावना (Feeling of Helplessness) तथा पराश्रितता की भावना (Feeling of Dependency) तीव्र रूप में दिखायी पडती है। आर्थिक असुरक्षा के कारण उनमें निराशा जन्म लेती है। शारीरिक अगों मे भी परिवर्तन दिखायी पडता है । लैंगिक व्यवहार में भी परिवतन आता है। सन्तानोत्पत्ति की क्षमता समाप्त हो जाती है। उनकी अभिवृत्तियों मे, रुचियो में तथा मूल्यों मे भी परिवर्तन प्रदर्शित होता है। इस तरह से नयी भूमिकाओ का निर्वाह करना पडता है तथा समायोजन भी करना पडता है। इस अवस्था को भी समस्यात्मक आयु के रूप मे जाना जाता है। कार्य से निवर्तमान होने के कारण उनमें असुरक्षा की भावना जन्म लेती है। मनोवैज्ञानिक प्रतिबल भी दिखायी देते है जैसे तलाक की समस्या, विधवापन, विधुरपन, एकाकीपन आदि।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि एक अर्थ में प्रौढावस्था विकास की लम्बी अवधि है। इस अवस्था में विकास अतिम चरण में होता है। तूफान, समस्या, प्रतिबल आदि मुख्य रूप से इस अवस्था मे पाये जाते हैं। समायोजन तथा पर्यावरण के साथ अभियोजन दोनों महत्वपूर्ण होते हैं। नयी भूमिकाओं का निर्वाह तथा जीवन के प्रति विभिन्न अभिवृत्तियों में परिवर्तन भी दिखायी पडता है। इस तरह से प्रौढावस्था एक महत्वपूर्ण अवस्था है।

प्रारम्भिक प्रौढावस्था की विशेषताएँ
(Characteristics of Early Adulthood)

प्रारम्भिक प्रौढावस्था जीवन के नये सहयोगियो के साथ तथा नयी सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुरूप समायोजन की अवस्था है। नवप्रौढ से यह आशा की जाती है कि नये

भूमिकाओ का निर्वाह करे। इन भूमिकाओ मे पति पत्नी या माता पिता तथा अभिभावक की भूमिकाएँ प्रमुख है। इस अवस्था मे नई अभिवृत्तियाँ, नये सामाजिक मूल्य तथा नयी रुचियो का उद्भव होता है। ये सारी अभियोजन प्रारम्भिक प्रौढावस्था को अन्य अवस्थाओ से अलग करती है। यह एक कठिन अवस्था होती है (Marini 1978) ।

प्रारम्भिक प्रौढावस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ होती है—

(1) **प्रारम्भिक प्रौढावस्था बन्दोवस्त की अवधि के रूप मे** (Early Adulthood As a Period of Settling Down) – ऐसा कहा जाता है कि बाल्यावस्था और किशोरावस्था परिपक्व होने की अवस्था है परन्तु प्रारम्भिक प्रौढावस्था बन्दोबस्त अवधि के रूप मे जानी जाती है। इस अवस्था मे पुरुष तथा महिलाएँ जब वैधान्कि परिपक्वता को प्राप्त कर लेती है तब उनकी आजादी एव स्वतन्त्रता का समय जाता हुआ दिखायी देता है तथा जिम्मेदारीपूर्ण व्यवहार करने का समय आता है। इस अवस्था मे वह अपने जीवनशैली का चयन करता है जिसके आधार वह पूरा जीवन व्यतीत करना चाहता है। प्रोढ महिलाओ का घर गृहस्थी की जिम्मेदारी तथा माँ का उत्तरदायित्व सभालना पडता है। इस अवस्था मे ज्यादातर किशोर एव किशोरियाँ दाम्पत्य सूत्र मे बँध जाते है। इस अवस्था मे प्रोढ का बन्दोवस्त दो कारको पर आधारित होता है। पहला कितने जल्दी वे अपनी जीवनशेली को बनाते है जिससे उनकी जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो रही हो। **उदाहरणार्थ**—जो किशोरियाँ अब तक गुडियों से खेलती थी अब वे पत्नी और माँ बनना चाहती है तथा पुरुष भी पिता बनना चाहता है। दूसरा कारक यह है कि प्रौढ अपनी जिम्मेदारियो को कैसे लेते है। इसका मतलब उनका जीवन प्रतिमान बदल जाता है तथा वह अपने इस जीवन प्रतिमान के अनुरूप व्यवहार करना चाहता है। अत जीवनशैली के आधार पर ही बन्दोवस्त की व्यवस्था करना इस अवस्था की प्रथम विशेषता है।

(2) **प्रारम्भिक प्रौढावस्था सन्तानोपत्ति की अवधि के रूप मे** (Early Adulthood as a period of Reproduction) – प्राय अधिकतर प्रोढ इस अवस्था मे माता पिता बनने की सोचते है जिनकी शादियाँ उत्तरकिशोरवस्था तक हो जाती है वे प्रारम्भिक प्रौढावस्था में माता-पिता की भूमिका के निर्वाह मे लग जाते है। प्राय 20 30 वर्ष की आयु मे वे माता पिता तथा कुछ लोग 40 वर्ष की आयु तक पितामह तथा पितामही बन जाते है। जो लोग जब तक शादी नही करते है तब तक उनकी शैक्षिक अभिरूचियाँ पूरी न हो जाये वे माता पिता बनने की भी नही सोचते है । उनके लिए कैरियर महत्वपूर्ण होता है। अगर कोई किशोरी कैरियर चुनना चाहती है तो वह शादी के बाद भी बच्चा 30 वर्ष की आयु तक नही चाहती है। ऐसी किशोरियो के लिए प्रारम्भिक प्रौढावस्था का अन्तिम दशक यानि 30 40 वर्ष ही सन्तानोपत्ति की अवधि होती है। जो लोग किशोरावस्था मे विवाहित होते है उनके परिवार का आकार प्रारम्भिक प्रौढावस्था में विवाहित लोगो की तुलना मे काफी बडा होता हैं। अत प्रारम्भिक प्रौढावस्था सन्तानोपत्ति की अवस्था है ।

(3) **प्रारम्भिक प्रौढावस्था समस्या की अवधि के रूप मे** (Early adulthood as a period of Problems) – इस अवस्था मे अन्य अवस्थाओं की तुलना मे समस्याएँ अधिक होती है। वैधानिक परिपक्वता की आयु 18 वर्ष होने के कारण ज्यादातर प्रोढ इन समस्याओ से जो इस अवस्था मे होती है उसके समाधान मे अपने को असहाय एव असमर्थ पाते है। इस अवस्था मे वे बिना माता पिता की स्वीकृति के शादी करते हैं तथा उन्हे वोट देने का भी अधिकार मिल जाता है। इस अवस्था मे वे काफी स्वतन्त्र होते है तथा यह स्वतन्त्रता उन्हे कई

समस्याएँ पैदा करती है। प्रौढावस्था मे समायोजन उनके किशोरावस्था के ममायोजन मे भी प्रभावित होता है। जो समस्याएँ इस अवस्था में प्राय प्रौढा द्वारा प्रदर्शित होती हैं उनमे माता पिता बनने की समस्या (Parenthood) शादी की समस्या एव रोजगार की समस्या प्रमुख होती है। 30 40 वर्ष की अवधि पारिवारिक सम्बन्धो से जुडी होती हैं। (Gould, 1975) ।

ज्यादातर समस्याएँ जो प्रौढ लोग इस अवस्था मे रखते हे उनके समायोजन मे समय एव शक्ति ज्यादा खर्च होती है । अगर समायोजन असम्भव नही है तो मुश्किल जरूर हें। उदाहरण के लिए एक ही समय मे प्रौढ अपने कार्य के प्रति तथा शादी दोनों के प्रनि समायोजन रखने की कोशिश करते है। इसी तरह से जब वे माता पिता बनते हे तो ज्यादातर महिलाएँ जो शादी के प्रथम वर्ष मे ही माता बन जाती है इसके समायोजन मे कठिनाई महसूस करती हैं। ऐसा ही पुरुषों मे भी देखा जाता है। प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे समायोजन ठीक से न होने के कारण होते है। प्रथम कारण जो दिखायी देता है वह यह होता है कि इन समस्याओ के साथ समायोजन हेतु पूरी तरह से तैयार नही होते है। प्राय यह भी दिखायी देता है कि उनकी स्कूली एव कालेज की शिक्षा उन्हे पूर्णरूपेण समायोजन हेतु प्रशिक्षित नही करती ह। जो प्रौढ माता पिता बन जाते हैं उन्हें भी कालेज या स्कूल मे मातृवत् एव पितृवत व्यवहार करने हेतु प्रशिक्षण नही मिल पाता है इससे वे काफी परेशान रहते हे। दूसरी समस्या नये नये कोशलो को सीखने से आती है तथा इन कौशलो को ठीक से न सीखने के कारण भी समस्या जन्म लेती है। इन समस्याओ के समाधान मे पूरी तरह से सफल न होने के कारण उनका समायोजन कमजोर तथा खराब होता है। शादी करना, माता पिता बनना तथा साथ ही साथ अपन केरियर के साथ समायोजन स्थापित करना मुश्किल होता है यदि वे शादी विद्यार्थी जीवन मे ही कर लेते हैं। तीसरा मुख्य कारण यह देखा जाता है कि इन समस्याओ के समाधान मे ये प्रौढ किसी की सहायता या मदद नही लेना चाहते हैं। कभी कभी यह कहकर सुने जाते है कि वे अपनी समस्याओ को सुलझाने मे सक्षम हैं परन्तु वे इन समस्याओं के लिए अपनी ही गलतियो को कमजोरी मानते है जिसके तहत वे किसी की मदद नही चाहते हैं। इसके कारण उनका समायोजन खराब होता है। इस तरह से यह कहा जाता है कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था तथा उत्तरकिशोरावस्था का सक्रमण समायोजन की दृष्टि से काफी कठिन होता है तथा समस्याओ का घर होता है।

(4) प्रारम्भिक प्रौढावस्था सावेगिक तनाव की अवधि के रूप मे (Early Adulthood as a Period of Emotional Tension)—इस अवस्था मे सावेगिक तनाव भी देखा जाता है। इस अवस्था मे प्रौढ लोग क्रोध, प्रेम, व्यवहार आदि का भी प्रदर्शन करते है। इस अवस्था में माता पिता की भूमिका का निर्वाह करने मे वे काफी तनाव ग्रस्त लगते हैं। पारिवारिक सम्बन्धो के विस्तार में भी काफी चिन्तित रहते है। बहुत से प्रौढ 30 वर्ष की आयु में अपनी समस्याओ का समाधान स्वय कर लेते है तथा वे शात एव सावेगिक रूप से स्थिर दिखायी देते है। 20-30 वर्ष की आयु मे सावेगिक तनाव ज्यादा प्रदर्शित होता है तथा उस अवधि में प्रौढ का समायोजन सतोषजनक नही होता है। (Campbell 1975) ।

30 वर्ष की आयु में जब तनाव प्रदर्शित होता है तो प्रौढ प्राय आकुलता लिये हुए रहते हैं। इनकी आकुलता का सम्बन्ध उनके समस्याओ या समाधान के न होने से होता है। इन

समस्याओ के समाधान मे वे सफल या असफल होगे। इस चिन्ता से परेशान रहते है। उनकी चिन्ता प्राय उनके कार्य से सम्बन्धित होती है। वे ऐसा चाहते है कि मेरा जिस शीघ्रता एव तीव्रता से विकास या प्रगति होना चाहिए उस गति से नही हो पा रहा है। जब प्रौढ इस बात का अनुभव करते है कि वे अपने जीवन की प्रमुख समस्याओ का समाधान नही कर पा रहे हैं तो प्राय वे सावेगिक रूप से व्यथित हो जाते है तथा कभी की आत्महत्या करने की भी सोचते हैं।

(5) **प्रारम्भिक प्रौढावस्था सामाजिक अलगाव के अवधि के रूप मे** (Early Adulthood as a period of Social Isolation)—औपचारिक शिक्षा समाप्त होने पर तथा प्रौढ सम्मत प्रतिमान मे प्रवेश करने पर तथा समकक्ष समूहो के सदस्यो से विवाह रचाने पर उसका सामाजिक सम्पर्क घर से बाहर के लोगो से होता है। परिणामस्वरूप बचपनावस्था से पहली बार अधिक चर्चित व्यक्ति सामाजिक अलगाव का अनुभव करने लगता है। इसे एरिकसन (Erickson, 1968) सामाजिक अलगाव (Social Isolation) की सज्ञा दी है। इस अवस्था मे प्राय यह देखा जाता है कि प्रौढ जो अपने बाल्यावस्था और किंशोरावस्था में समकक्ष समूहो में प्रसिद्धि प्राप्त किये थे सम्प्रति घर-गृहस्थी एव अपने जिम्मेदारियो के कारण समकक्ष समूहो से विलग हो जाते है। उनकी जिम्मेदारियाँ इतनी बढ जाती है कि वे मात्र अपने घर एव परिवार तक ही सीमित रह जाते है। धीरे-धीरे वह अपने बाल्यकाल एव किशोरावस्था के समकक्ष मित्रो को त्यागता है तथा नयी भूमिका के साथ अपना सामाजिक सम्पर्क बढाना चाहता है। इस अवस्था मे प्रतिस्पर्धा की भी भावना ज्यादा दिखायी देती है। वह एक सफल प्रौढ बनना चाहता है। इसलिए वह अपना ज्यादा समय अपने कार्य मे लगाता है जिसके कारण सामाजीकरण के माध्यम से नये मधुर सम्बन्ध बनाने के लिए समय कम मिल पाता है। इसके परिणामस्वरूप वह आत्मकेन्द्रित हो जाते है जो अकेलापन को बढावा देता है। (Erickson, 1968)।

(6) **प्रारम्भिक प्रोढावस्था प्राय पराश्रितता की अवधि के रूप मे** (Early Adulthood as a period of Dependency)—वैधानिक परिपक्वता प्राप्त हो जाने के बाद भी ज्यादातर प्रोढ अपने प्रारम्भिक काल मे एक दूसरे पर आश्रित रहते है। आशिक या पूर्णरूप से वे अपने माता-पिता पर या इस शिक्षण सस्था पर जहाँ वे शिक्षा ग्रहण करते है तथा वहाँ पर सरकारी सस्थानो पर जिससे वे अपने योजनाओ को परिणिति करने के लिए ऋण आदि ले लेते हैं। उन पर आश्रित रहते है। कुछ प्रौढ अपने माता पिता के ऊपर अपने कैरियर को चुनने के बाद आर्थिक रूप से मदद लेने के लिए आश्रित रहते हैं। कुछ प्रौढ इस पराश्रयता का विरोध भी करते है परन्तु, शादी के बाद यदि वे किसी रोजगार मे नही लग पाते हैं या अपना कैरियर नही चुन पाते है तो उन्हें पराश्रयता की भावना स्वय पकड लेती है। इस तरह से वे आर्थिक रूप से आश्रित हो जाते हैं। परिणामस्वरूप यह देखा गया है कि पराश्रितता प्रारम्भिक प्रौढावस्था में प्राय परिलक्षित होती है। यह पराश्रितता 21-30 के मध्य ज्यादा रहती है परन्तु 30 40 के मध्य प्राय दिखायी देती है।

(7) **प्रारम्भिक प्रौढावस्था मूल्यपरिवर्तन की अवधि के रूप मे** (Early Adulthood as a period of Value Change)—बहुत सारे मूल्य जो बाल्यावस्था और किशोरावस्था की अवधि मे विकसित हुए रहते हैं उनमें काफी परिवर्तन होता है तथा प्रौढावस्था में नये मूल्यों

का अर्जन तथा पुराने मूल्यो का परिमार्जन होता है। बाल्यावस्था मे जो उसे स्कूल जाना बुरा लगता था वही स्कूल अब सामाजिक और व्यावसायिक संस्थिति हेतु महत्वपूर्ण बन जाता है। आत्मसमर्थता की भावना विकसित होती है। वह अपनी शिक्षा को बढाना चाहता है तथा नये नये कौशल एव प्रशिक्षण सीखता है, मूल्य परिवर्तन का प्रौढावस्था मे कुछ कारण होता है। प्रथम कारण यह होता है कि प्रौढ समूह स्वीकृति चाहते हैं। समूह स्वीकृति के लिए वे पुराने मूल्यो को बदलते है तथा समूह द्वारा मान्य मूल्यो का सृजन एव अर्जन करते हैं। **उदाहरणार्थ**—जैसे किशोरावस्था एव बाल्यावस्था मे बालक समकक्ष समूहो के मूल्यो को स्वीकारता है उसी प्रकार प्रोढावस्था मे भी यह प्रौढ सम्मत व्यवहार के लिए प्रौढ द्वारा मान्य मूल्यो की स्वीकृति चाहता है। इसीलिए ऐसा देखा जाता है कि विद्यालय विरोधी व्यवहार का समापन होता है तथा प्रौढ सम्मत व्यवहार का सृजन होता है। दूसरा कारण यह होता है कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे नवप्रौढ इस बात का पता लगाते हैं कि परम्परागत मूल्य क्या हैं तथा क्या विश्वास है इस समूह का तथा इस विश्वास और मूल्य का पता लगा करके वे इसे आत्मसात करते है। जिस प्रकार से किशोरावस्था में शादी के पूर्व लैगिक क्रिया समकक्ष समूहो का मूल्य होता है उसी प्रकार शादी के बाद लैंगिक क्रिया प्रौढावस्था का मूल्य होता है। तीसरा प्रमुख कारण मूल्य परिवर्तन का उनका माता पिता बनना है। माता पिता बनने के बाद उनके मूल्य मातृवत एव पितृवत जैसा होना चाहिए ऐसा वे अनुभव करते हैं इसलिए व अपने मूल्यो मे परिवर्तन चाहते है। सामान्य तोर पर अधिकतर प्रौढ अहम् केन्द्रित से समाज केन्द्रित हो जाते है। उसमे अहम् तादात्म्य की समस्या के कारण भी मूल्य परिवर्तन होता है। वे अपने पति और पत्नी की भूमिका के प्रति जागरूक हो जाते हैं और उसी के अनुरूप व्यवहार करना पसन्द करते हे।

(8) **प्रारम्भिक प्रोढावस्था नयी जीवन शेली के प्रति समायोजन की अवधि के रूप मे** (Early Adulthood as a period of Adjustment to Newlifestyles)—प्रारम्भिक प्रोढावस्था मे दिनचर्या एव जीवनशैली बदल जाती है। उसकी जिम्मेदारियाँ बढ जाती हैं। समाज उससे कुछ अपेक्षाएँ रखता है। इन अपेक्षाओं की पूर्ति करने मे वह समायोजन सीखता हे। वह पारम्परिक लैगिक भूमिकाओ को छोडकर नयी लैंगिक भूमिकाओं के आधार पर व्यवहार करता हे। नये पारिवारिक प्रतिमान स्थापित करता है। नये व्यावसायिक प्रतिमान का भी प्रतिपादन करता है। वैसे नये जीवन प्रतिमान या शैली के प्रति समायोजन असम्भव नही तो कठिन अवश्य होता है। इसका कारण यह होता है कि बाल्यावस्था एव किशोरावस्था के समय उन्हे जो समायोजन हेतु कौशल एव प्रशिक्षण दिया जाता है वह इस अवस्था मे उपयोगी नही होता है। सामान्यतया वयस्क धीरे धीरे नये जीवन प्रतिमा या शैली के प्रति समायोजन करना सीख जाते है। वे उसके आधार पर अपना जीवन आगे ले जाने में इच्छुक रहते हैं।

(9) **प्रारम्भिक प्रोढावस्था सृजनात्मकता की अवधि के रूप मे** (Early Adulthood as a period of Creativity)—प्रारम्भिक प्रौढावस्था को बौद्धिक प्रसार और शैक्षिक अनुभवो की भी अवधि के रूप में जाना जाता है। इस अवस्था में सृजनात्मकता चरम सीमा पर होती है। इसका कारण यह होता है कि इस अवस्था मे उनके ऊपर अकुश कम रहता हे तथा वे जो चाहते हैं उसे करते है। इस अवस्था में सृजनात्मकता उनकी योग्यता एव रुचियो पर पूरी तरह से निर्भर करती है। जिस कार्य से उन्हें आत्मसतोष मिलता है वही कार्य करना भी पसन्द

करते है। कुछ वयस्क अपनी हावी (Hobbies) बना लेते है तथा कुछ लोग उन कार्यों या व्यवसायो का चयन करते है जिनमे वे अपनो सृजनात्मकता को प्रदर्शित कर सकते हैं। (Taylor, 1974) सृजनात्मक क्रियाओ के प्रति रुचि वैसे तो 20 वर्ष की आयु मे प्रारम्भ हो जाती है। सृजनात्मक उपलब्धियाँ मध्यावस्था तक भी चरमसीमा पर नही होती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि सृजनात्मक क्रियाओ के प्रदर्शन को प्रारम्भिक अवस्था में हतोत्साहित किया जाता है तथा बाद की अवस्थाओ मे प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार से ज्यादातर पुरुष तथा महिलाएँ प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे केवल अपनी सृजनात्मक रुचियो को ही नही खोजते हे बल्कि वे अपने सृजनात्मक क्षमता को विकसित भी करने का प्रयास करते है। जैसा कि देखा गया हे कि किशोरियाँ किशोरो की तुलना मे ज्यादा सृजनात्मक रुचियाँ रखती हैं। जैसा कि सृजनात्मकता महिलाओं के लिए लिगोचित ज्यादा होता है पुरुषो की तुलना में। महिलाओ को अवसर ज्यादा मिलता है पुरुषो की तुलना मे। इसलिए ऐसा देखा जाता है कि महिलाएँ अपनी वेशभूषा मे अपनी मकान की सजावट में तथा अपनी हावी में ज्यादा सृजनात्मक रूप से व्यवहार करती है जबकि पुरुष ऐसा नही कर पाते है। कभी कभी पारिवारिक दायित्व एव बालपोषण की जिम्मेदारियाँ महिलाओ की सृजनात्मकता को अवरुद्ध करती है। परिणामस्वरूप जब वे मध्यावस्था मे प्रवेश करती है तो उनकी सृजनात्मक क्षमता अपने पुरूषों की तुलना मे पीछे रह जाती हे जो अपने प्रारम्भिक अवस्था मे कम सृजनात्मक क्षमता वाले होते है । (Alpaugh & Birren, 1975) तथा Joesting (1975) ।

प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे होने वाले परिवर्तन

(Changes during Early Adulthood)

जैसा कि प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे अनेक प्रकार के परिवर्तन होते है। इन्ही परिवर्तनो के परिणामस्वरूप उसका व्यवहार प्रौढ जैसा होता है। अत यहाँ पर प्रारम्भिक प्रौढावस्था के समय होने वाले मुख्य परिवर्तनो की चर्चा की जायेगी। इस अवस्था के मुख्य परिवर्तन निम्नलिखित है

प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे रूचियो मे परिवर्तन

(Changes in Interests in early adulthood)

विशेष तौर पर यदि देखा जाये तो ऐसा मिलता है कि ज्यादातर प्रौढ अपने किशोरावस्था की रुचियाँ बरकरार रखते है। थोडा बहुत उनकी रुचियो मे जो किशोरावस्था में थी उनमे प्रौढावस्था की भूमिका के अनुरूप परिवर्तन करना पडता है। रुचियो के परिवर्तन पर जिन कारको का प्रभाव पडता है उनमे उनकी शारीरिक दशाएँ, आर्थिक स्तर में परिवर्तन, जीवनप्रतिमान मे परिवर्तन, मूल्यों मे परिवर्तन, लैगिक भूमिकाओं मे परिवर्तन, विवाहित जीवन मे परिवर्तन, माता-पिता की भूमिकाओ का अनुमान, वरीयता मे परिवर्तन तथा सास्कृतिक एव पर्यावरणीय दशाओ मे परिवर्तन प्रमुख है। रुचिया में परिवर्तन का समय विशेषकर किशोरावस्था ही होता है क्योकि इस अवस्था मे शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक परिवर्तन तीव्रगति से होते है परन्तु प्रौढावस्था मे ये परिवर्तन धीमी गति से होता है इसलिए रुचियों में भी परिवर्तन कम होता है। स्ट्रॉग (Strong 1958) के विचार मे 25 वर्ष की उम्र तक प्रौढ यही चाहता है कि वह क्या बनना चाहता है तथा 20 वर्ष की उम्र में जो सुन्दर रुचियाँ वह विकसित कर लेता है उसी से पूरा जीवन भर चलता रहना चाहता है।

प्रौढावस्था मे रुचियो मे परिवर्तन के जगह पर रुचियो मे सकीर्णनापन आता है। प्रौढ अपने रुचियो का विस्तारीकरण के जगह पर स्थिरीकरण चाहता है। इसलिए वे प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे कम रुचियाँ रखते हैं। आगे चलकर जैसे-जैसे उनके कर्तव्य एव जिम्मेदारी म परिवर्तन होता है तो वे मात्र अपने रुचियो को नये भूमिकाओ के अनुरूप समायोजित करने का प्रयास करते हैं। ज्यादातर व्यक्ति अपने वातावरण मे परिवर्तन के फलस्वरूप नये रुचियो को जन्म देते है तथा इसके लिए उन्हे नया अवसर प्रदान होता है। प्रारम्भिक प्रोढावस्था के रुचियों का विस्तार विस्तृत होता है। नववयस्क के लिए कुछ निश्चित रुचियाँ प्रदर्शित होती है। इन रुचियो को क्रमश तीन वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है—वेयक्तिक रुचियाँ मनारजन की रुचियो तथा सामाजिक रुचियाँ ।

वैयक्तिक रूचियाँ (Personal Interests) – वैयक्तिक रुचियाँ प्रोढ के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित होती हैं। प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे भी प्रौढ किशोरावस्था की तरह आत्मकेन्द्रिन या अहम् केन्द्रित होता है। जैसे जैसे कार्य गृह एव पैतृक जिम्मेदारियों मे वृद्धि होती है अहम् केन्द्रित रुचियो मे सामाजीकृत रुचिया को एक रास्ता प्रदान करती है। इस अवस्था में वे अपने हावभाव तथा शारीरिक सरचना के प्रति रुचि रखने हैं। इस अवस्था मे वे आकर्षक बनना चाहते है। सुन्दरता को पसन्द करते हैं। वे ये समझते हैं कि आकर्षकता सामाजिक सम्बन्धो की एक निधि है तथा अनाकर्षकता सामाजिक सम्बन्धा पर भार स्वरूप होता है। शारीरिक आकर्षण पर विशेष बल देते हैं। उनमे आत्मगोरव व आत्मसम्मान की भावना विकसित होती है। इस सम्बन्ध मे मैथ्यूज और कान्ह (Matheus and Kahn, 1975) लिखते है।

"In a social exchange, physical attractiveness is a positive input and can be used to obtain a variety of good outcomes for its possessor One of the most frequently obtained outcomes is liking Attractive people are liked more as friends and receive more positive evaluations from others and empathy than unattractive poeple As a result of the many good outcomes obtained by attractive people it seems likely that thev are happier and better adjusted than unattractive people It is also probable that the liking received from others is reflected in a high self-esteem"

महिलाएँ यह समझती है कि शारीरिक आकर्षण जीवन सस्थिति को एकदिशा देने में मदद करता है। यह व्यवसाय एव विवाह दोनों के लिए महत्वपूर्ण होता है। सम्प्रति हमारी सस्कृति में एक सफल वैवाहिक जीवन के लिए उसकी सुन्दरता एव आकर्षण उसकी बुद्धि एव शिक्षा से ज्यादा महत्वपूर्ण माना जाता है। उच्च सामाजिक सस्थिति प्राप्त करने के लिए भी शारीरिक आकर्षण ज्यादा महत्वपूर्ण होता है (Udry, 1977, Benson, Karabenick and learner, 1976) । हावभाव की रुचियाँ 21 वर्ष के बाद प्रदर्शित होती है जब पारिवारिक दबाव ज्यादा होता है। इस अवस्था मे महिलाएँ पुरुषों की तुलना में अपना वजन प्राप्त करना चाहती है या बढाना चाहती हैं। परन्तु उसमें सामाजिक आर्थिक स्तर के कारण अन्तर भी मिलता है। मध्यम एव उच्च सामाजिक आर्थिक स्तर वाले प्रौढ निम्न सामाजिक आर्थिक स्तर

वाले प्रौढ की तुलना मे अधिक वजन के प्रति सतर्क रहते हैं। यही निष्कष महिलाओ पर भी लागू होता है। (Packard, 1961, Borkan and Norris 1977) ।

प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे कपडे पहनने या वेशभूषा पर काफी रुचियाँ देखी जाती हैं। वे समझते है कि सुन्दर कपडे पहनने से भी शारीरिक हावभाव मे वृद्धि होती है तथा सामाजिक स्तर ऊँचा होता है। वे समझते है कि हावभाव तथा आकषण जावन के सभी क्षेत्रों मे सफल होने के लिए आवश्यक है। नववयस्क प्रारम्भिक प्रौढावस्था म कपड पर ज्यादा रुपया खर्च करते है। यह महिलाओ एव पुरुषो दोनो मे एक जैसा ही मिलता है। इस सम्बन्ध में बिकमेन (Bickman, 1974) लिखते है कि

'Clothes may seem to be superficial qualities, but they are important determinants of one person s reaction to another"

प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे वेयक्तिक रुचियो मे वे धनोपार्जन के प्रति भी काफी उत्सुक रहते हैं। रुपया कैसे खर्च करना चाहिए किस चीज पर खर्च करना चाहिए वे अच्छी तरह समझते है। वे धन के माध्यम से भी अपने सामाजिक स्तर को बढाना चाहते है। उनकी धार्मिक रुचियॉ भी होती है। वे धार्मिक कार्यो मे किशोर की ही तरह भाग लेते हैं। धार्मिक स्थानो का दर्शन भी करते है तथा धार्मिक आस्था मे परिवर्तन भी करते है। आस्तिकता एव नास्तिकता जैसे धार्मिक विश्वास जन्म लेते हैं। माता पिता बनने के पश्चात वे यह समझते हैं कि बच्चो मे नयी नैतिक रुचियॉ तथा नैतिक मूल्य उत्पन्न करने के लिए धर्म का सहारा लेना चाहिए। वे अपने घर मे भी पूजापाठ करते है। धार्मिक रुचियो का लिग, सामाजिक वर्ग आवास का स्थान पारिवारिक पृष्ठभूमि मित्रो के धार्मिक रुचियॉ, विभिन्न विश्वास के पति पत्नी मृत्यु के प्रति लगाव, तथा व्यक्तित्व प्रतिमान प्रभावित करते है।

मनोरजन सम्बन्धी रुचियाँ (Recreational Interests)

नवप्रौढ के मनोरजन सम्बन्धी रुचियॉ जो अभी तक किशोरावस्था में होती है उसमें परिवर्तन होता है। जयादेतर प्रोढ आराम की जिन्दगी जीना पसन्द करते है। वे इस बात से परेशान करते है कि खाली समय का उपयोग कैसे किया जाये। अमेरिकन सस्कृति मे छोटा सप्ताह होने के कारण उन्हे खाली समय ज्यादा मिलता हे वे इस खाली समय का भरपूर उपयोग करना चाहते हैं। इन सब के बावजूद भी ऐसा देखा जाता है कि ज्यादातर प्रौढ अपने मनोरजन सम्बन्धी क्रियाए सतोषपूर्ण ढग से नही कर पाते हे। उन्हे समायोजन की भी समस्या होती हैं। मनोरजन सम्बन्धी क्रियाएँ जिस पर कई कारको का प्रभाव पडता है वे इस प्रकार से है जैसे—स्वास्थ्य, समय, वैवाहिक स्तर, सामाजिक आर्थिक स्तर लिग तथा सामाजिक स्वीकृति। इन मनोरजन सम्बन्धी क्रियाओं केसाथ समायोजन समस्या के कई कारण होते हैं। पहला कारण यह होता है कि प्रौढ लोग जब स्कूल या कालेज की अवस्था मे थे तो उन्हें कई प्रकार के मनोरजन सम्बन्धी सामग्री तयार मिलती थी, उनके पास मित्र कई होते थ जिनसे वे मनोरजन सम्बन्धी क्रियाओ हेतु सहभागी बनाने का प्रयास करते थे। दूसर कारण यह था उनके माता पिता, शिक्षक उन्हें मनोरजन सम्बन्धी क्रियाएँ हेतु प्रोत्साहित करते थे उससे समस्या कम होती थी। तीसरा मुख्य कारण यह कि उन्हे विद्यालय तथा कालेज में इस बात के लिए प्रशिक्षण दिया जाता था कि खाली समय का कैसे उपयोग करना चाहिए। (Kelly 1973, Orthner, 1975, and Williams 1977)

इस अवस्था मे जो मनोरजन सम्बन्धी रुचियॉ प्रदर्शित होती हैं वे प्राय घर एव पडोस तक ही केन्द्रित होती है। कुछ रुचियॉ उनकी आवश्यकता का पूर्ति मे सम्बन्धित होती हे। उदाहरणार्थ—जब उनके बच्चे छोटे होते है तो ज्यादातर प्रौढ का मनोरजन केन्द्र उनके बच्चे तक ही होता है जब बच्चे किशोरावस्था में पहुँचते है तब प्रौढ का मनोरजन का केन्द्र उनका परिवार हो जाता है। इस अवस्था मे जो मनोरजन सम्बन्धी रुचियॉ देखी जाती हैं उनमे क्रमश वार्तालाप, नृत्य का शौक, स्पोटर्स एव खेलकूद, हाबीज, विश्राम रेडियो टेलीविजन का आनन्द आदि आता है। वार्तालाप की रुचियॉ प्राय उन्ही से होनी है जो समान रुचि रखने वाले होते है। यह मुख्यतया उन महिलाओ पर ज्यादा लागू होता है जो केवल घर तक ही पारिवारिक दायित्व का निवाह करती हैं। प्रौढ पुरुष प्राय घर से बाहर अपने मित्रों से अपनी दिनचर्या के विषय मे बातचीत करते हैं। गपशप प्राय महिलाओ मे देखी जाती है जबकि पुरुष हमेशा हँसी मजाक कहानियॉ तथा राजनीतिक चर्चा करना ज्यादा पसन्द करता है। नृत्य का शौक भी प्राय महिलाओ मे होना हे। ये 20 30 वर्ष की आयु मे नाचना ज्यादा पसन्द करती हे। प्रौढावस्था मे स्पोर्ट्स तथा खेलकूद की रुचियों में कमी देखी जाती है उसका कारण उनका बुरा स्वास्थ्य या कम रुचि नही है बल्कि उनके पास उसके लिए समय पर्याप्त नही होता है। खेलकूद में सहभागी बनने मे उस समय ज्यादा कमी आती है जब प्रौढ 30 40 वर्ष के मध्य मे रहता है। उनकी हाबीज भी बदल जाती है। यह उनके आर्थिक समस्या से सम्बन्धित होती है। उस समय उनकी हाबीज रचनात्मकता से सम्बन्धित होती हैं। उदाहरणार्थ—खाना बनाना गार्डेन का काम करना पेन्टिग, सिलाई, कढाई तथा सगीत यन्त्रों मे खेलना आदि होता है।

सामाजिक रुचियॉ (Socil Interests)—जैसा कि एरक्सिन (1968) ने बताया है कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था महिलाओ तथा पुरुषों हेतु, सामाजिक अलगाव की अवधि होती है। उस अवधि में सामाजिक सहभागिता में भी कमी देखी जाती है। प्रौढ अपने घर तक ही सीमित हो जाता है। वह सामाजिक उत्सवों एव सामाजिक कार्यों के लिए कम समय निकाल पाता है। प्रौढ का समाज उसका परिवार ही हो जाता है तथा पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। उसका मित्रता मे परिवर्तन देखने को मिलता है। इस अवस्था मे वे अपने किशोरावस्था के मित्रों के साथ सम्बन्ध बनाये रखते हैं। उसमें कोई विस्तार नही होता है। इस अवस्था मे मित्रता चयनात्मक होती है वही मित्र ज्यादा होते हैं जो उनके सुख-दुख में साथ देते हैं। मित्रों की सख्या मे चयनात्मकता के कारण कमी होती है। इस अवस्था में मित्रता का चयन, रुचियों एव विशेषताओ के आधार पर होता है। नव प्रौढ कम लेकिन घनिष्ठ मित्र रखते हैं। (Verbugge, 1977)। सामाजिक समूह में भी परिवर्तन होता है। इस अवस्था में विश्वसनीय तथा घनिष्ठ मित्रों का छोटा समूह होता है। उनके मित्रों की सख्या क्या होगी वह इस बात पर निर्भर करता है कि प्रौढ अपनी समस्याएँ, रुचियों और इच्छाओं को वह कितना खुलासा करना चाहता है। 30 40 वर्ष की आयु में ज्यादातर प्रौढ अपनी एक मित्रमण्डली बना लेते हैं उसी से अपनी समस्याएँ, इच्छाएँ तथा रुचियों पर बातचीत करते हैं। इस अवस्था में नेतृत्व में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। इस अवस्था में नेता बनने के गुण में भी परिवर्तन होता है। प्रौढ नेता की जो आवश्यक महत्वपूर्ण विशेषताएँ होनी चाहिए वे निम्नवत् हैं—

1 नेता का उच्च सामाजिक आर्थिक स्तर होना चाहिए।

2 उच्च स्तर की शिक्षा होनी चाहिए।

3 यथार्थ आत्मसम्प्रत्यय होना चाहिए।

4 वास्तविक लक्ष्य होना चाहिए।

5 कुण्ठा को शमन करने की उच्च क्षमता होनी चाहिए।

6 सफलता और असफलता को सुन्दर ढग से स्वीकार करने की योग्यता होनी चाहिए।

7 दूसगे के साथ बातचीत करने की इच्छा एव योग्यता होनी चाहिए।

8 समूह के साथ कार्य करने की योग्यता होनी चाहिए।

इस तरह से यदि देखा जाये तो प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे उच्च स्तर के परिवर्तन रुचियो मे देखे जाते हैं। इस अवस्था मे पार्टियों तथा उत्सवो मे भाग लेने मे कमी आती है। नशीले पदार्थों का सेवन करते है। सासारिक घटनाओ के स्थान पर घरेलू घटनाओ पर ज्यादा समय रखते है। आलोचना तथा सुधार सम्बन्धी आदतें भी देखी जाती है।

(2) **सामाजिक परिवर्तन** (Social Change)—प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे सामाजिक परिवर्तन स्थिर हो जाता है। इस अवस्था में सामाजिक परिस्थितिया के प्रति समायोजन करने में उन्हें कई समस्याओ का सामना करना पडता है। विवाहित पुरुष तथा महिलाओ को पहली बार अपने लैंगिक सम्बन्ध बनाने मे समस्या होती है। उनकी लैंगिक क्रिया लिंग सम्मत भूमिकाओ के अनरूप होती है। उसमे अपने जीवन साथी के प्रति लगाव तथा आकर्षण उतना ही बना रहता है। जितना किशोरावस्था मे विपरीत लिंगों के प्रति देखने को मिलता है। इस अवस्था में सामाजिक विस्तार भी स्थिर हो जाता है। सामाजिक व्यवहारो में परिवर्तन तथा परिमार्जन होता है। समकक्ष समूहों के साथ समायोजन स्थापित करने में उन्हें समस्या कम होती है। वे अपने किशोरावस्था के व्यवहार को त्यागकर प्रौढावस्था के प्रति तत्पर होते हैं। प्रौढावस्था मे उन्हे नवीन सामाजिक समूहो का निर्माण करना पडता है। जो उनकी रुचियो, इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। उनका व्यवहार समाज के स्वीकृत मानकों से निर्देशित होता है। नेताओं के चयन में भी नवीन मूल्यो का विकास होता है। नेता के गुणों मे भी परिवर्तन होता है। नेता समूह का प्रतिनिधि होता है। इस अवस्था में सामाजिक नेतृत्व, बौद्धिक नेतृत्व तथा राजनैतिक नेतृत्व का विकास होता है। वे उसी नेता को ज्यादा पसन्द करते है जिसमें ईमानदारी तथा कल्याण की भावना हो। इस प्रकार से यदि देखा जाये तो सामाजिक मापदण्ड किशोरावस्था की तुलना में नेता के चयन में बदल जाते हैं। प्रौढ सम्मत भूमिकाओं का निर्वाह करना पडता है। कुछ प्रौढ अपने पारस्परिक प्रौढ सम्मत भूमिकाएँ पसन्द करते हैं तो कुछ प्रौढ उससे हटकर व्यक्तिगत भूमिकाओं पर ज्यादा बल देते हैं। इसी अवस्था में माता-पिता की भूमिका ले लेने के परिणामस्वरूप उनकी सामाजिक भागदौड (Socil Mobility) कम हो जाती है। वे यदि सामाजिक भागदौड करते हैं तो उसका मतलब यह होता है कि उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु यह जरूरी है अन्यथा वे ऐसा नही करते। उनकी पूरी निष्ठा अपने पारिवारिक पृष्ठभूमि तक ही सीमित हो जाती है।

(3) **लैंगिक रुचियों तथा लैंगिक व्यवहार** (Sexual Interests and Sexual Behaviour)—इस अवस्था में ज्यादातर प्रौढ विवाह के सूत्र में बँध जाते हैं। वे इस विवाह का आनन्द उठाते हैं। उनका व्यवहार लिंगसम्मत होता है। किशोरावस्था की ही तरह वे एक दूसरे के प्रति काफी आकर्षित रहते हैं। Saxton (1972) का निष्कर्ष है कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था में भी लैंगिक सम्बन्ध एव लैंगिक निष्पादन महत्वपूर्ण तरीके से जारी रहता है।

जैसा कि मालूम है कि वय सधि की आयु मे हस्तमैथुन लैंगिक व्यवहार का एक रूप होता है परन्तु प्रारम्भिक प्रौढावस्था में सभोग (Sexual Intercouse) एक प्रमुख लैंगिक व्यवहार है। Kinsey, Pomeroy and Martin, 1948 , Masters and Johenson 1966) । सभोग करना प्रारम्भिक प्रौढावस्था का एक अधिकार बन जाता है। शादी के बाद पुरुष तथा महिलाएँ सभोग मे काफी रुचि रखते ह तथ अपना कर्त्तव्य भी समझते हैं। शादी के प्रथम वर्षों मे सभोग ज्यादा होता है। सभोग से केवल आनन्द ही नहा मिलता ह बल्कि एक दूसरे के प्रति प्यार एव लगाव की सीमा मे भी वृद्धि होती है। बेल ओर लोवेसेन्ज (Bell and Lobesenz, 1974) ने एक सर्वेक्षण किया उसके आधार पर उन्हे लेगिक अभ्यास एव अभिवृत्ति का पता लगाना चाहा। उसके लिए उन्हे 2372 पूर्ण शिक्षित पत्नियो का लैगिक अभ्यास एव अभिवृत्ति के विषय मे सूचनाएँ एकत्र करने के बाद ऐसा निष्कर्ष दिया कि शादी के बाद ज्यादातर पत्नियाँ उच्च स्तर का लैंगिक आनन्द प्राप्त करती है। अधिकाश पत्नियों का यह बयान था कि हम प्राय सभोग कर लेते हे। यह सभोग सावेगिक लगाव के लिए महत्वपूर्ण होता है। इन लोगों के बयान के आधार पर ऐसा निष्कर्ष मिला कि वैवाहिक प्रसन्नता हेतु सभोग जरूरी है। बेल और लोवसेन्ज (1974) के सर्वेक्षण मे ज्यादातर महिलाएँ सभोग की आवृत्ति से सतुष्ट थी। जो महिलाएँ 26 30 वर्ष की आयु की थी उन लोगो ने एक माह में 9 बार सभोग किया जबकि वे महिलाएँ जिनकी आयु 31 40 वर्ष थी यह रिपोर्ट किया कि उन्होंने एक माह में 7 बार सभोग किया। उन लोगो ने यह भी रिपोर्ट किया कि घर का काम तथा पारिवारिक जिम्मेदारियो से लैगिक क्रियाओ मे भी कमी आती है। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे लैगिक ससर्ग का अनुभव ज्यादातर होता है। इस तरह से प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे लैंगिक रुचियाँ एव लैगिक व्यवहार प्रदर्शित होता है। इस अवस्था में लैंगिक भूमिकाओ के प्रति समायोजन करना पूर्णत कठिन कार्य होता है। इसका कारण यह होता है कि ज्यादातर किशोरियॉ इस अवस्था मे पत्नी और मॉ की भूमिका निभाने लगती हैं। परन्तु वे पारम्परिक रूप से पत्नी और मॉ नही बनना चॉहती हैं। उस समय वे घर का सारा भार अपने ऊपर ले लेती हैं। इसलिए पत्नियो को गृहलक्ष्मी या गृहनिर्मात्री का नाम दिया जाता है। घर सॅभालना उन्ही का कार्य होता है। पति घर के बाहर का कार्य सॅभालता है साथ ही साथ पारिवारिक दायित्वो की पूर्ति भी करता है। जिसमें उसे समायोजन करने में समस्या आती है।

(4) नैतिकता मे परिवर्तन (Changes in Morality) – चूँकि प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे प्रौढ में सामाजिक चेतना का विकास हो चुका रहता है इसलिए उसका व्यवहार सामाजिक मूल्यों एव नैतिक मूल्यों से निर्धारित होता है। वह अपना व्यवहार सामाजिक मानकों के अनुरूप करता है। जिससे उसको सामाजिक स्वीकृति मिलती है। उनका व्यवहार नैतिक सम्प्रत्ययों पर आधारित होता है। वह नैतिक रूप से योग्य एव कुशल प्रौढ बनना चाहता है। इस समय वह यह भी समझता है कि मेरी नैतिकता का मेरे बच्चों पर भी प्रभाव पडता है इसलिए वह कोई भी कार्य करने से पहले उसे नैतिकता के मापदण्ड पर ऑकता है तब करता है। माता-पिता का क्या नैतिक होना चाहिये इसका ध्यान रखता है। अनैतिक कार्यों से दूर रहना चाहता है। किशोर की तरह व्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित व्यवहारसहिता को स्वीकार नही करता है बल्कि वह स्वय द्वारा निर्मित तथा परिमार्जित सम्प्रत्ययों के आधार पर नैतिक सहिता का निर्माण करता है। वह अपना नैतिक और अनैतिक व्यवहार उसके होने वाले

परिणाम के आधार पर करता है। इस अवस्था म यह भी दखने को मिलता है कि वह आन्तरिक चेतना से कोई कार्य करता है। नेनिक कायाे के करने पर उस प्रसन्नता तथा अनैतिक कार्या के करने पर उसे आत्मग्लानि होती है। इस तरह से यह कहा जा सकता हे कि नैतिक विकास तथा परिवर्तन मे आन्तरिक चेतना का महत्वपूर्ण स्थान हाता हे।

प्रारम्भिक प्रौढावस्था की समस्याएँ

(Hazards of Larly Aaulthood)

प्रारम्भिक प्रौढावस्था की अनेक समस्याएँ होती है। जिनका सामना प्रौढ को करना पडता है। सुविधा के लिए इन समस्याओ को निम्न भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

1 **शारीरिक समस्याएँ** (Physical Hazards) - खराब स्वास्थ्य तथा शरीर के दोष के कारण व्यक्तिगत एव सामाजिक समायोजन प्रभावित होता है। ऐसे प्रौढ जो विकलाग होत है तथा उनका स्वास्थ्य खराब रहता है वे उन व्यावसायिक और सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति अपने जीवन मे नही प्राप्त कर पाते है। जिनके लिए वे तत्पर रहते है। इस असफलता के कारण उनमें हताशा कुण्ठा तथा निराशा जन्म ले लती है। कभी कभी जब वे अपनी उपलब्धियो की तुलना अपने समकक्ष सदस्यो से करते हे तथा इस तुलना मे अपने को कम उपलब्धिवाला मानते है ता वे और हताश हो जाते है तथा यह हताशा उनके लिए पतिवल का रूप ले लेती हे। कभी कभी वे इस शारीरिक समस्या के कारण हृदय रोग से ग्रस्त हो जाते है। शारीरिक दोष और खराब स्वास्थ्य अच्छे शारीरिक और सामाजिक समायोजन हेतु इतना समस्यात्मक नही होना है जितना कि यह अनाकर्षण को जन्म देता है। वे समझते है कि शारीरिक दोष के कारण मुझमें आकर्षकता नही आती हे। तथा वे उसके कारण वैवाहिक समस्यायो के लिए परेशान रहते हैं। जब कभी वे अपनी उपलब्धियो का मूल्याकन करते हे तो वे पाते है कि जीवन के हर क्षेत्र में वे लोग ज्यादा सफल होते है जो लोग आकर्षक शरीर वाले हाते हे तथा शारीरिक दोष नही रखते है। उदाहरणार्थ आकर्षक महिलाओ की शादी अनाकर्षक महिलाओ की तुलना में अच्छी एव शीघ्र हो जाती हे। वे एसा भी मानते है शारीरिक स्वास्थ्य से प्रौढ प्रसिद्धि तथा सामाजिक क्षेत्र मे अपना एक स्थान बनाता हे। उससे वे काफी परेशान रहते ह। अत शारीरिक समस्याएँ प्रारम्भिक प्रौढावस्था पर बुरा प्रभाव डालती है।

2 **धार्मिक समस्याएँ** (Religious Hazards)—ज्यादातर प्रौढ दो प्रकार की धार्मिक समस्याओ मे परेशान रहते हैं। पहली समस्या यह कि उन्हें नये धार्मिक विश्वासों के साथ समायोजन करना पडता है तथा बाल्यावस्था के धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन करना पडता है। इस तरह से यह देखा जाता है कि कुछ प्रौढ इन नये धार्मिक विश्वासों के साथ समायोजन अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति, तथा रुचियों के समाधान हेतु, कर लेते है। कुछ प्रौढ अपने पति या पत्नी को प्रसन्न करने के लिए शादी के बाद नये धार्मिक विश्वास को स्वीकार कर लेते हे। दूसर समस्या जो धर्म से सम्बन्धित होती है वह होती है अपने जीवनसाथी के चयन में धर्म के महत्त्व को समझने की। उसमें प्राय जब प्रौढ अपनी शादी करता है यदि वह अन्तर धर्मीय शादी करता है तो उसके माता पिता उसके शादी को इस तरह से मना करते है कि मेरा धर्म उससे अच्छा एव उत्तम है अत यह शादी नही हो सकती है। इस सम्बन्ध में प्राय प्रौढ द्वन्द्व की स्थिति में आ जाता है तथा यह निर्णय नही ले पाता है कि मुझे क्या करना चाहिये? प्राय दादा-दादी तथा परिवार के अन्य सदस्य इस बात के लिए मना करते हैं कि इस शादी का

क्या परिणाम होगा यह सोच लो। अन्त मे एसा देखा जाता हे कि या तो वह प्रोढ परिवार छोडकर अलग अपनी दुनिया बसाता है या वह परिवार के सदस्यो क आधार पर अपनी राय बदल देता है। जब ऐसी समम्याएँ प्रोढ के सामने आती हे तो प्रौढ क माता पिता पारिवारिक विश्वास तथा धर्म को ज्यादा महत्व देते है। यहा धार्मिक विश्वास आगे चलकर वैवाहिक समायोजन मे भी समस्या बनता है।

सामाजिक समस्याएँ (Social Hazards)—सामाजिक समस्याओ मे अधिकतर प्रोढो को नये सामाजिक समूहो के साथ समायोजन करने मे समस्या होती है। सामान्य रूप से तीन प्रकार की मामाजिक समस्याएँ इस अवस्था म दिखायी दती हैं। जिसका समायोजन कम हो पाता है। पहली सामाजिक समस्या यह होती ह कि प्रौढ सवेदनशील या अनुकूल सामाजिक समूह के साथ साहचर्य स्थापित करने मे कठिनाई महसूस करते है। यह एक प्रौढावस्था का विकासात्मक कार्य है। इस कठिनाइ के कई कारण हो सकते हैं। **उदाहरणार्थ** जो महिलाएँ अपने गृह जिम्मेदारियो से बँधी होती है उनके पास न तो इन सवेदनशील समूहो के साथ साहचर्य हेतु समय ही होता है न तो धन ही। इसके परिणामस्वरूप मानसिक असतोष एव मानसिक तनाव झेलना पडता है। अतत यह उनके वैवाहिक सतोष को प्रभावित करता हें। इसी तरह मे पुरुषो मे भी इस सवेदनशील समूहा के साथ साहचर्य स्थापित करने मे काफी कठिनाई होती है। पुरुष भी घर के बाहर अपने जिम्मेदारियो से इतना ग्रस्त हो जाता है कि उसके पास समय एव धन होते हुए भी वह अपने को अकेले रखना ही पसन्द करता है। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि ये सवेदनशील समूह प्रौढ के रुचियो के अनुकूल नही होते हैं। कभी-कभी प्रौढ पुरुष अपने कैरियर मे इतने ऊँचे जाना चाहते हैं कि उन्हें सामाजिक सम्बन्धों का ख्याल ही नही रहता है। इसलिए एरक्सिन एव हेरीगहस्ट (Erickson and Havighurst 1968) ने प्रारम्भिक प्रोढावस्था को सामाजिक अलगाव की अवधि भी कहा है। दूसरी समाजिक समस्या प्रौढो मे नयी सामाजिक भूमिकाओं के साथ समायोजन न करने से है। ऐसे प्रौढ जिनमे बाल्यावस्था और किशोरावस्था में नेतृत्वशैली के गुण दिखायी देते थे अब इस अवस्था मे वे इसलिए परेशान दिखायी पडते है कि अब नेतृत्व उन प्रौढ के पास चला गया है जिनके पास सामाजिक स्तर, प्रतिष्ठा तथा धन ज्यादा है। वे इस कमी को पूरा नही कर पाते है और परेशान हो जाते हैं। तीसरी प्रमुख सामाजिक समस्या सामाजिक भागदौड की समस्या के साथ समायोजन से है। सामाजिक भागदौड वाले प्रौढ उन लोगों से ज्यादा परेशान दिखायी देते है जो लोग कम भागदौड वाले होते है। ऐसा देखा जाता है कि जिस परिवार में Social Mobility अधिक पाई जाती है वहाँ पर सामाजिक समायोजन की समस्या ज्यादा दिखायी पडती है। जो प्रौढ कम Mobile होते हैं उनका समायोजन नये मूल्यों, रुचियों तथा मानकों के साथ शीघ्र होता है। **उदाहरणार्थ**—अच्छे पडोसपन के तरफ भागदौड करने हेतु पुराने मूल्यो का परित्याग करना पडेगा तथा नये मूल्य पडोसी के दृष्टिकोण से विकसित करने पडेंगे। प्रारम्भिक समाजिक जीवन में जो उनके मूल्य थे उन्हें छोडना पडेगा। इस क्रिया में वे अकेलापन अनुभव करते हैं। जिससे उनके अन्दर एकाकीपन घर कर जाता है। इसलिए वे उदास दिखायी देते हैं। (Bernard, 1976)।

लैंगिक भूमिका की समस्या (Sex Roles Hazards)—पुरुष तथा महिलाए इस अवस्था में लैंगिक भूमिका की समस्या से परेशान रहती हैं। इस अवस्था में उन्हें लिगसम्मत

यानि पुरुषोचित और स्त्रियोचित व्यवहार करना पडता है। इस अवस्था मे प्राय प्रौढ अपनी मर्दानगी साबित करने के लिए किस हद तक जा सकता है उसका अन्दाज लगाना मुश्किल होता है। वह महिलाओ की तुलना मे अपने को उत्तम मानता है। इस प्रकार से महिलाओं को निम्नस्तर का दिखाना या बताना महिलाओ मे 'अल्पसख्यकसमूह ग्रन्थि' (Minority Group Complex) का विकास होता है। जैसा कि Midgley and Abrams,1974) लिखते हैं—

"Social constraints and social definition of sex appropriate behaviour have had crippling effects on achievement motivation in Women"

यह उन क्रियाओ मे भी सत्य पाया गया है कि ज्यादातर महिलायें अपने को निम्न उपलब्धि वाली मान लेती है जब उनकी प्रतिस्पर्धा पुरुषो से होती है। उसका कारण असफलता का भय माना गया है। (Breedlove and Cirirell 1974, Hoffman, 1977)।

विवाहित महिलाएँ प्राय अपने को बँधी हुई (Trapped) अनुभव करती है तथा यह समझती हैं कि इन परिस्थितियो से अब बाहर निकलना मुश्किल हो गया है। यदि एक पत्नी और माँ यह समझती है कि जिसके लिए मैने अपना पूरा जीवन न्यौछावर कर दिया वही मेरे प्रयास को नही महत्व दे रहा है। यदि वह यह समझती है कि जो कार्य मै कर रही हूँ वह नीरस है तथा वह उसकी योग्यता एव प्रशिक्षण से निम्नस्तर का है, और यदि वह समझती है कि जिस व्यक्ति के साथ मैने प्यार किया है वह छूट रहा है तो वे भ्रमित हो जाती हैं तथा क्रोधित भी होती हैं। इस प्रकार की अभिवृत्तियो Lazy Husband Syndrome से प्रदर्शित होता है। पत्नी क्रोध का अनुभव करती है जब वह देखती है कि मेरा पति मेरे कार्य को सीधे तौर पर तथा हल्के रूप में ले रहा है जबकि मै रात दिन इसी कार्य मे रत हूँ। जब विवाहित महिलाएँ घर से बाहर काम करती हैं तो वे कार्य भार को महसूस करती है। कभी-कभी ये महिलाएँ ये देखती है कि यदि उनके कैरियर से उनके पति के कैरियर में द्वन्द्व उत्पन्न हो रहा है तो वे उस कैरियर को छोडकर कोई और कैरियर अपना लेती हे।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि अच्छी शारीरिक एव सामाजिक समायोजन की समस्या प्राय लैंगिक भूमिका रूढियुक्तियो से उत्पन्न होती है। क्योकि ये रूढियुक्तियाँ पुरुष तथा महिलाओ के अभिवृत्ति तथा व्यवहार को प्रभावित करती है । आजकल परम्परागत लैगिक भूमिकाओ की रूढियुक्तियाँ सुसमायोजन मे बाधक दिखायी पडती हैं।

व्यावसायिक समस्याएँ (Vocational Hazards)—प्रारम्भिक प्रौढावस्था में व्यावसायिक समस्याएँ भी देखो जाती है। इसमे दो प्रकार की समस्याएँ होती हैं प्रथम कार्य असतोष की समस्या तथा दूसरी बेरोजगार की समस्या । कार्य सतोष की समस्या प्राय सभी वर्गों के प्रौढों मे परिलक्षित होती है। उसमें प्राय अल्पसख्यक जातियो के पुरुष तथा महिलाएँ, कर्मचारी, पर्यवेक्षक तथा मैनेजर आदि सभी कार्य असतोष से पीडित रहते हैं। महिलाएँ तथा धार्मिक समूह वाले प्रौढ तथा अल्पसख्यक जातियों के पुरुष तथा महिलाएँ कार्य सतोष ज्यादा अनुभव करती है इसका मुख्य कारण आपस में विभेदीकरण या पक्षपात का होना है। कार्य सतोष का मुख्य कारण स्वायत्तता का अभाव, बोरियत, नीरसता, सवेदनशीलता का अभाव, खाली समय में पाबन्दी आदि हो सकता है। कार्य असतोष प्राय उन प्रौढों में ज्यादा दिखायी देता है जो प्रौढ अपने कार्य को अपनी योग्यता एव क्षमता से निम्नस्तर का मूल्याकित करते

है। कार्यअसतोष के कारण प्रेरणा का स्तर निम्न हो जाता है जिसके कारण उसका निष्पादन भी निम्न स्तर का होता है। दूसरी व्यावसायिक समस्याएँ रोजगार का न होने मे भी होता है। यह सामान्य व्यावसायिक समस्या है। यदि एक व्यक्ति अपना व्यवसाय इसलिए छोडता है कि वह शीघ्र ही नया व्यवसाय पा जायेगा तो वह उससे समायोजित हो जाता है परन्तु जिस प्रौढ को यह आभास हो कि नौकरी छूटने के बाद दूसरी नही मिलेगी तो वह ज्यादा परेशान होगा तथा समायोजन भी ठीक नही होगा। इस तरह से स्पष्ट हो रहा है कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे कार्य असतोर्ष और बेरोजगार की प्रमुख व्यावसायिक समस्याएँ होती है जिसके कारण प्रौढ का समायोजन प्रभावित होता है।

वेवाहिक समस्याएँ (Marital Hazards)–बहुत सारी समस्याएँ प्रौढ की वेवाहिक समायोजन से सम्बन्धित होती हैं। जैसा कि (Renne, 1970) लिखते हैं कि "Relations with the spouse are so central a feature of an individual's social and emotional life that an unhappy marriage may impair the capacity of both partners for satisfactory relations with their children and others outside the family"

वैवाहिक समस्याओ में प्रथम समस्या साथी (Mate) के साथ समायोजन की है। जब पति और पत्नी अन्तरजातीय विवाह करते हैं तथा अलग अलग धर्म के होने हैं तो वैवाहिक समायोजन मे कठिनाई होती है। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि इन पति पत्नियों मे हमेशा झगडा लडाई हुआ करता है। उनकी रुचियाँ,उनके मूल्य तथा उनके विश्वास आपस में टकराते है जिससे समायोजन में बाधा पहुँचती है। जब वैवाहिक समायोजन अच्छा नही होता है तो अधिकतर पति अपनी पत्नियो को गाली देते हैं तथा शारीरिक दड भी देते हैं। कुछ महिलाएँ अपने पति का घर छोडकर मायके चली जाती हैं। वे अपने बच्चों को भी पिता के पास ही छोड जाती हैं। प्राय ऐसी घटनाए सभी सामाजिक आर्थिक स्तर के दम्पतियों में पायी जाती है परन्तु, सम्प्रति उच्च सामाजिक आर्थिक स्तर वाले दम्पतियों में बढोत्तरी हो रही है (R Todres, 1978) । प्राय जो दूसरी महत्वपूर्ण समस्या वैवाहिक समायोजन से सम्बन्धित है वह प्रतिस्पर्धा की भावना पुरुष तथा महिलाएँ अपने अपने व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा रखती हैं तथा व्यवसाय की चोटी पर पहुँचना अपने व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा की भावना पुरुषों में महिलाओं की अपेक्षा ज्यादा दिखायी देती है। जो महिलाएँ अपने सामाजिक जीवन में सफल होती हैं वे धीरे धीरे दूसरों से भी प्रतियोगिता में आगे आना चाहती हैं। यह प्रतियोगिता की भावना उन्हें सुखद, घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने में बाधक होती है। विशेषकर लैंगिक समायोजन इससे ज्यादा प्रभावित होता है। प्रतिस्पर्धा की भावना उस समय समास्यात्मकरूप ग्रहण कर लेती है जब महिलाएँ अपने पति से आगे निकल जाती हैं। वैसे अधिकतम प्रौढ अपने पत्नियों की सफलता पर गर्व महसूस करते हैं प्रायकभी कभी वे ईर्ष्यालु एव द्वेष पूर्ण व्यवहार करते हैं (Burke & Weir, 1976, Mclendon, 1976) ।

लैंगिक समायोजन यदि शादी के प्रारम्भिक वर्षों में खराब है तो उससे भी वैवाहिक समस्याएँ जन्म लेती हैं। प्राय ऐसा देखा जाता है कि अधिकतर महिलाएँ अपने बच्चों की देखरेख तथा पारिवारिक कार्यों में व्यस्त रहती हैं तथा यदि वे बाहर कार्य भी करती हैं तथा पारिवारिक कार्यों में पारिवारिक सदस्यों से मदद नही लेती हैं तो वे प्राय थक जाती हैं, यह

थकान उनके लैगिक समायोजन तथा लैगिक क्रियायो को प्रभावित करती है (Booth 1977, Frank Anderson and Rubinstein, 1978 and Muiller and Campbell, 1977)।

ऐसी भी भावनाएँ कुछ दम्पति रखते है कि जब वे माता-पिता बन जाते है तो उनकी लैगिक क्रियाओं मे कमी देखी जाती है। (Burn, 1970 and Chilman 1974) । ऐसे प्रौढ जिनका दाम्पत्य सूत्रबन्धन सतोषजनक नही होता है वे प्राय समलैगिकता, हस्तमैथुन तथा बहुलैगिकता सम्बन्धो के शिकार हो जाते है जो उन्हे अस्थाई तौर पर सतोष प्रदान करता है। ये क्रियाएँ वास्तव में अपराध और शर्म की भावना पैदा करती है तथा ऐसे दम्पति इसलिए भी परेशान रहते हैं कि यदि बहुलैगिकता का पता किसी को लग गया तो तलाक तक की नौबत आ सकती है। प्राय यह भी देखा जाता है कि यदि पति या पत्नी मे जिस किसी के परिवार का सामाजिक आर्थिक स्तर उच्च है वह भी परिवार मे केवल दम्पत्ति में ही द्वन्द्व या तनाव नही पैदा करता है बल्कि सास एव ससुर भी इससे परेशान रहते है। सास एव ससुर से दम्पति का क्या सम्बन्ध है यह भी उनके वेवाहिक समायोजन को प्रभावित करता है। सास ससुर से कटु सम्बन्ध दम्पत्ति मे पत्नी को ज्यादा प्रभावित करता है क्योंकि वही परिवार मे ज्यादा रहती है। यह सम्बन्ध उसके वेवाहिक समायोजन को भी प्रभावित करती है। (Johnson and Bursk, 1977 and Pieper, 1976) । शादी के बाद जल्दी माँ बाप बन जाने की इच्छा भी दम्पत्ति के वैवाहिक समायोजन को प्रभावित करती है । यदि कोई बच्चा बिना दोनों की चाहने की इच्छा से रह गया तो वे उससे परेशान रहते है। शादी के पूर्व गर्भवती होना भी वैवाहिक समायोजन को प्रभावित करती है। इस सम्बन्ध में Dame etal (1966) लिखते हैं, "Pre marital pregnancy impose additional strain both emotional and realistic, upon a marriage at a time when the couple has many adjustments to make Therefore, it constitutes a severe hazard unless both partners have-considerable ego-strength " माँ बाप बनना (Parenthood) भी कई तरह से वैवाहिक समायोजन को प्रभावित करती हैं। **उदाहरणार्थ**—बच्चा पैदा हो जाने पर पत्नियाँ ज्यादा समय अपने बच्चों पर देती हैं तथा पति पर समय तथा ध्यान कम देती है उससे पति का पत्नी के प्रति लगाव कम होता है जिससे वैवाहिक समायोजन प्रभावित होता है। ऐसे दम्पति जो बच्चा ज्यादा पैदा करते हैं या ऐसे बच्चे पैदा हो जाते हैं जिनकी उन्हें जरूरत नहीं थी यानि बेटे के जगह पर बेटी का जन्म लेना, उनकी आर्थिक स्थिति खराब होने से परेशान रहते हैं तथा उनकी पालन-पोषण हेतु इतनी चिन्ता रहती है कि वे लैंगिक क्रियाओं से विमुख हो जाते हैं। इस तरह से भी दाम्पत्य जीवन प्रभावित होता है। कभी कभी बडे बच्चे जब माता-पिता के आलोचक हो जाते हैं तो ये भी परिवार में तनाव का माहौल बनाते हैं जिससे पति-पत्नी दोनों परेशान हो जाते हैं। यह परेशानी उनके वैवाहिक सम्बन्ध को समाप्त करती हैं।

अंतिम समस्या जो वैवाहिक समायोजन को प्रभावित करती है वह होती है पति एव पत्नी की अपनी सतानों के भविष्य की चिन्ता। यदि सताने माता-पिता के इच्छानुसार नही

विकसित हो रहे हैं तो उससे उनका दाम्पत्य जीवन प्रभावित होता है। कभी कभी सन्तानों एव माता-पित के बीच टकराव भी लैंगिक समायोजन को प्रभावित करता है।

पुनर्विवाह की समस्या (Hazards of Remarriage)

प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे यदि दम्पत्ति मे से किसी एक की भी मृत्यु हो जाती है तो पुनर्विवाह का समस्या जन्म लेती है। कभी कभी तलाक के बाद भी पुनर्विवाह करना पडता है। ऐसे ऑल्कडे प्राप्त हैं कि अधिकतर प्रौढ तलाक के या किसी एक की मृत्यु के बाद 5 वर्षो के अन्दर पुनर्विवाह कर लेते है। महिलाओ की उम्र जब 35 वर्ष होती है यदि विधवा हो जाती है तो वे पुनर्विवाह कम करना चाहती है । सभी तथ्यों को ध्यान मे रखते हुए ऐसी धारणा बन जाती ह कि पुनर्विवाह अधिकतर समस्याओं का समाधान कर देता है। कभी कभी पुनर्विवाह उतना सफल नही हो पाता है जितना पहला विवाह सफल था। ऐसा भी देखा गया है कि विधवा महिलाओं का पुनर्विवाह ज्यादा स्थायी एव स्थिर होता है अपेक्षाकृत तलाकशुदा महिलाओं के पुनर्विवाह से। (Duberman 1975) । पुनर्विवाह के साथ फिर समायोजन की समस्या जन्म लेती है। जो समायोजन प्रथम शादी के समय दिखायी देते हैं वैसा समायोजन पुनर्विवाह मे बनाने हेतु काफी कठिनाई होनी है। कभी-कभी समायोजन की समस्याएँ व्यक्तिगत तथा सार्वभौमिक दोनो होती है। इसमे दम्पति को पुराने समायोजनको तोडकर नया समायोजन बनाना पडता है। कभी कभी समायोजन की समस्या उस समय बढ जाती है जब नवदम्पति को पुनर्विवाह के बाद सौतेली माँ और सौतेली बाप की भूमिका भी निभानी पडती है। इस स्थिति मे पुनर्विवाह उनके लिए नरक हो जाता है तथा और समस्याएँ जन्म ले लेती हैं।

सक्षेप में यह कह सकते हैं कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था में कई विकासात्मक कार्य करने पडते हैं तथा नयी भूमिकाओं का निर्वाह करना सीखना पडता है। समायोजन का महत्व विभिन्न क्षेत्रों में बढ जाता है। इस तरह से प्रारम्भिक प्रौढावस्था जीवन विस्तार की एक प्रमुख अवस्था है।

[illegible]

19

मध्यावस्था : विशेषताएँ, एवं समस्याएँ
(Middle Age : Characteristics, and Problems)

अन्य अवस्थाओं की तरह मध्यावस्था का भी अपना महत्व है। इस अवस्था मे भी विभिन्न प्रकार की समस्याएँ होती हैं जिसके लिए इस आयु के प्रौढो को समायोजन करना पडता है। इस अवस्था में कुछ शारीरिक, मानसिक एव सामाजिक परिवर्तन होते हैं। इस अवस्था का विस्तार 40 60 वर्ष का होता है। यह एक सक्रमणकाल की अवधि होती है। इसमें प्रौढ प्रारम्भिक प्रौढावस्था और वृद्धावस्था के मध्य स्थित होता है। उसे अपनी सतानो तथा माता-पिता दोनो का दायित्व निभाना पडता है। इस अवधि में कुछ प्रौढ दादा-दादी भी बन जाते हैं जिससे उनकी जिम्मेदारियाँ और बढ जाती हैं। पूरे जीवन विस्तार में यह सबसे समस्यात्मक अवस्था मानी जाती है। इसमें स्वास्थ्य का भी काफी महत्व होता है। इस अवस्था मे शारीरिक एव मानसिक परिवर्तन तीव्रगति से होते हैं। शक्ति क्षीणता आती है। प्रौढ थका-थका सा महसूस करता है। उसकी लगन, धैर्य तथा सयम में कमी दिखायी पडती है। इस अवस्था में भी लिंगसम्मत भूमिकाओं को सीखकर उनका निर्वाह करना पडता है। उसकी रुचियों, मूल्यो में भी परिवर्तन होता है। मध्यावस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

मध्यावस्था की विशेषताएँ

(1) **मध्यावस्था आशका की अवधि के रूप मे** (MiddleAge as a Dreaded period) – इस अवस्था में आशकाएँ जन्म लेती है। इस अवस्था में प्रथम आशका यह होती है कि प्रौढ लोग समझने लगते हैं कि अब हम वृद्धावस्था के करीब हैं। यह अवस्था भयों, त्रासों एव आशकाओं की अवधि कही जाती है। इस अवस्था मे प्रौढों को अपना व्यवहार रचनात्मक एव सामाजिक बनाना पडता है। अपने बच्चों का पर्यवेक्षण करते हुए अपने माँ बाप की भी सेवा करनी पडती है। इसमें उनकी जिम्मेदारियाँ बढ जाती हैं। उनके शारीरिक एव मानसिक क्षमता में कमी आती हैं इससे वे आशकित रहते हैं कि अब बुढापा आने वाला है। इस तरह यह अवस्था आशका को जन्म देती है।

(2) **मध्यावस्था सक्रमणकाल की अवधि के रूप मे** (Middle Age as a period of Transition) – दूसरी विशेषता इस अवस्था की यह है कि यह सक्रमणकाल की अवधि होता है । जैसे युवावस्था को बाल्यावस्था और किशोरावस्था का सक्रमणकाल माना जाता है उसी प्रकार से यह भी प्रारम्भिक प्रौढावस्था और वृद्धावस्था का सक्रमणकाल होता है। इस अवस्था में प्रौढों को अपनी शारीरिक और व्यावहारिक विशेषताओं को पीछे छोडकर जीवन में प्रवेश करना पडता है। यही से जीवन की शुरूआत उत्तरदायित्वों के रूप में होती है। प्रौढों को इस अवस्था के अनुरूप व्यवहारों का अर्जन करना पडता है। ऐसा कहा जाता है कि इस

अवस्था मे पुरुषो का पुरुषत्व तथा महिलाओ मे जननशक्ति का समापन होता है। सक्रमण का तात्पर्य हमेशा नये व्यवहार के मानको, नयी रुचियो तथा नये मूल्यो का समायोजन से है। मध्यावस्था मे प्रोढ अपने शारीरिक परिवर्तन से शीघ्र समायोजित हो जाते है तथा पिछले वर्षों के व्यवहार प्रक्रिया मे परिमार्जन कर लेते है। उसे पहले की अवस्था के व्यवहारो को त्यागकर परिस्थिति एव आवश्यकताओ के अनुरूप नवीन व्यवहारो को सीखना पडता है।

(3) **मध्यावस्था प्रतिबल की अवधि के रूप मे** (Middle age as a Period of stress) – मध्यावस्था की तीसरी विशेषता यह है कि उसे प्रतिबल की अवधि के रूप मे माना जाता है। इस अवस्था मे शारीरिक परिवर्तन तथा मनोवैज्ञानिक परिवर्तन सबसे ज्यादा होते है। इन परिवर्तनो के फलस्वरूप सबसे ज्यादा समायोजन भी इसी अवस्था मे करना पडता है। मारमर (Marmer, 1967) इस अवस्था मे उत्पन्न होने वाले प्रतिबलो (Stress) को चार भागो मे रखा है। प्रथम प्रकार का प्रतिबल शारीरिक प्रतिबल (Somatic Stress) कहलाता है यह शारीरिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न होता है जो प्रौढो को काफी परेशान करता है। दूसरे प्रकार का प्रतिबल सास्कृतिक प्रतिबल (Cultural Stress) होता है जो सस्कृति से उत्पन्न होती है। इसमें उनके ऊपर समाज या सस्कृति के उच्च मूल्य थोप दिये जाते है जिनका उन्हें निर्वाह करना पडता है। तीसर प्रतिबल आर्थिक प्रतिबल (Economic Stress) कहलाता है। यह प्रतिबल बच्चो की शिक्षा दीक्षा हेतु आर्थिक भार होना तथा समाज मे पारिवारिक स्थिति सुनियोजित करने के लिए धन को महत्व देने से होता है। अतिम प्रतिबल मनोवैज्ञानिक प्रतिबल कहा जाता है इसका कारण दम्पत्ति मे से किसी एक की मृत्यु से या बच्चो को घर से बाहर पढने के लिए भेजने पर तथा शादी से नीरसता प्रकट होने पर तथा जवानी खोने और मृत्यु को छूने के कारण होती है। ये सभी कारण प्रतिबल को जन्म देते है जिससे उसका जीवन तनाव से भर जाता है।

(4) **मध्यावस्था एक खतरनाक आयु के रूप मे** (Middle Age as a dangerous age) – इस अवस्था की चौथी विशेषता खतरनाक आयु के रूप मे जानी जाती है। जैसा कि Archer (1968) इसके विषय में लिखते हैं, "To those around him, it may seem that the mid life man is pursuing a diffuse, almost promiscuous samapling of new activities and experiences The period may be dramatized by episodic escapes into extramarital relationships, or by a form of alcoholism For some men, the crisis of the mid life decade can end in a relatively permanant disruption and constriction of their lives"

मध्यावस्था को खतरनाक आयु इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि इस अवस्था में वे शारीरिक रूप से टूट जाते है, दुखी रहते है तथा ज्यादा कार्य करने से एव असावधानीपूर्वक रहन-सहन से भी परेशान रहते है। मानसिक बीमारियाँ भी इस अवस्था में चरम सीमा पर होती हैं। आत्महत्या हेतु यह अवस्था चरम अवस्था मानी जाती है। शारीरिक एव मानसिक परिवर्तन उनके स्वास्थ्य को ही नही प्रभावित करते है बल्कि उनके दाम्पत्य जीवन को भी दुखमय बना देते है। इससे छुटकारा पाने के लिए वे शराब, धूम्रपान तथा आत्महत्या का सहारा लेते है।

(5) **मध्यावस्था अनुपयुक्त या भद्दी अवस्था के रूप मे** (Middle age as an Awkwardage) – मध्यावस्था की पाँचवी विशेषता इसके अनुपयुक्त अवस्था के रूप में जानी जाती है। जिस प्रकार से किशोर न बच्चे रह जाते हैं न प्रौढ हो पाते हैं उसी प्रकार से मध्य आयु के पुरुष तथा महिलाएँ अपने को न तो प्रौढ ही कह पाते है न तो वृद्ध ही। जैसा कि

Franzblace (1971) इस सम्बन्ध में लिखते हैं 'The middle aged person 'stands between the younger Rebel Generation and the Senior citizen Generation both of which are continuously in the spotlight and suffer from the discomforts and embarrassment associated with both age groups

इस अवस्था में पुरुष तथा महिला में अमहत्वपूर्ण बनने की इच्छा रहती है। उनका पोशाक, रहन सहन सभी भद्दगी लिये हुए रहता है। वे परम्परागत पोशाक पहनना ज्यादा पसन्द करते हैं। उनका व्यवहार भी परम्परागत ही होता है। वे ऐसा समझने लगते है कि समाज में जवान की ही पूजा होती है इसलिए वे अपने को समाज मे कम भूमिका वाला समझते है जो उनके व्यवहार में परिवर्तन पैदा करता है। वे ज्यादा आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं।

(6) **मध्यावस्था एक उपलब्धि की अवधि के रूप मे** (Middle Age a period of Achievement) – इस अवस्था की छठवी विशेषता उपलब्धि की अवधि के रूप में जानी जाती है। एरिक्सन (1968) के अनुसार, Middle age is a crisis age in which either 'generativity the tendency to produce – or Stagnation the tendency to standstill it will dominate '

Erickson (1968) के अनुसार मध्यावस्था में या तो प्रौढ अधिक सफल बनना चाहता है या तो जो है उसी पर स्थिर रहना चाहता है। यदि मध्यावस्था में कुछ कर सकने की इच्छा जागृत होती है तो वे अपनी चरम सीमा पर पहुँचते हैं। महिलाओ में ऐसा देखा जाता है कि वे इस अवस्था मे ही सफलता की ऊँची सीढी पर पहुँचती हैं। इस अवस्था मे ज्यादातर महिलाएँ दादा दादी तक बन जाती हैं। इसलिए उनके पास समय काफी मिलता है उसका वे सदुपयोग उपलब्धि को प्राप्त करने मे करती है। 40 50 वर्ष की आयु में पुरुष अपनी सफलता की चरम सीमा पर होता है। 60 वर्ष की आयु में वे आराम करते है तथा अपनी मेहनत का फायदा उठाते हैं। सामाजिक संगठन एव गैरराजनैतिक संगठन उनकी नैतृत्वशैली के लिए भी उन्हें पुरस्कृत करते है। ऐसा इसलिए कि मध्यावस्था मे नेतृत्व की भूमिका प्रबल होती है। ऐसा माना जाता है कि वे अपने पीछे वाली पीढियो को सचालित करते हैं। **न्यूगार्टेन** (Newgarten, 1968) मध्य आयु के प्रौढो के प्रति अभिवृत्ति पर लिखते हैं, 'The successful middle aged person often describes himself as no longer 'driven' but as now the driver in short, "in command'

(7) **मध्यावस्था मूल्याकन की अवधि के रूप मे** (Middle age as a Period of Evaluation) – इस अवस्था में यह भी विशेषता होती है कि उसमें मध्य आयु के लोग स्वमूल्याकन भी करते हैं । जैसा कि हमें मालूम है कि इस अवस्था में मध्य आयु की पुरुष तथा महिलाएँ अपनी उपलब्धियों के चरम सीमा पर होते हैं इसलिए उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह समाज की अपेक्षाओ, परिवार की प्रत्याशाओं तथा मित्रों की इच्छाओं के अनुरूप क्या-क्या पिछला अवस्थाओं में कर चुके हैं उसका स्वयमूल्याकन करें। इस विषय पर Archer (1968) लिखते हैं कि, "It is in the twenties that we commit ourselves to an occupation and to a marriage During the late thirties and early forties, it is common for men and women to review those early commitments "

इस तरह से हम कह सकते हैं कि जो किशोरावस्था और प्रारम्भिक प्रौढावस्था में पुरुष तथा महिलाए अपनी इच्छानुसार उपलब्धियाँ प्राप्त किये रहती हैं उनका मूल्याकन मध्यावस्था में ही होता है। अत यह मूल्याकन की अवधि के रूप में जानी जाती है।

(8) मध्यावस्था का मूल्याकन दोहरे मानक के रूप मे होता है (Middle age as evaluated by a Double standard) – मध्यावस्था की आठवी विशेषता मध्यावस्था को दोहरे मानक के रूप मे मूल्याकन करने से है। उसम पुरुष तथा महिलाओ का मूल्याकन अलग-अलग ढग से किया जाता है। यह दोहरा मानक मूल्याकन मध्यावस्था के पुरुष तथा महिलाओ के जीवन को प्रभावित करते है। पहला मूल्याकन उनके शारीरिक परिवर्तन से किया जाता है। पुरुषो मे जब उनके बाल सफेद होने लगते है जब उनके चेहरे पर लकीरे तथा झुर्रिया दिखायी देने लगती है तो उन्हे आदरणीय क रूप मे देखा जाता है या मूल्याकन करते हैं। इसके विपरीत जब महिलाओ मे इसी प्रकार की समान शारीरिक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं उनका मूल्याकन अनाकर्षक के रूप में किया जाता है। साथ ही उसे मध्य आयु विस्तार (Middle age-spread) के रूप मे जानते है। दूसरा मूल्याकन उनके समायोजन को लेकर है। इस सम्बन्ध मे दो विभिन्न दर्शन प्रस्तुत किये जाते है। पहला समायोजन वे अपने को जवान और क्रियाशील बनाकर रखना चाहते है। दूसरा समायोजन वे इस अवस्था को अच्छे तरीके से स्वीकार करते हैं तथा पूरे जीवन को आसानी से स्वीकार करते हैं। इस दर्शन को 'Rocking-chair Philosophy कहते है। इसका मतलब यह होता है कि जो कुछ भी घटित हो रहा है उसे बुद्धिमत्तापूर्वक खुशी से स्वीकार करना चाहिए तथा समायोजन करना चाहिए। उस दर्शन को महिलाए ज्यादा स्वीकार करती है। निम्न वर्ग की महिलाओं पर यह दर्शन ज्यादा लागू होता है। जबकि उच्च एव मध्य स्तर की महिलाएँ प्रथम दर्शन को ज्यादा स्वीकार करती हैं (Parker, 1960 and Frenkel Brunswik, 1968) ।

(9) मध्यावस्था एक रिक्त घोसले की अवधि के रूप मे (Middle age as a period of Empty Nest) – यह मध्यावस्था की 9वी विशेषता है। इस अवस्था में बच्चे माता पिता की छाँव में नही रहना चाहते हैं। यह समस्या उन परिवारों में ज्यादा आती है जहाँ पर शादियाँ पहले की अवस्थाओ मे हो जाती है। परन्तु जहाँ पर विवाह विलम्ब से होते हैं तथा परिवार का आकार बडा होता है तथा बच्चा का जनन होना बन्द कर दिया गया है वहाँ पर ऐसी समस्याएँ कम होती हैं। इस अवस्था को वैवाहिक जीवन का रिक्त घोसला वाली आयु कहा जाता है। इस अवस्था में जब बच्चे बडे हो जाते है तो अपने व्यवसाय में लग जाते हैं तथा घर से दूर रहते है, ऐसे समय में मध्यावस्था के प्रौढ़ अपने को अकेला महसूस करते हैं। मध्यावस्था मे ज्यादातर प्रौढ सेनानिवृत्त भी हो जाते है जो एक समायोजन की समस्या से सम्बन्धित होती है। इस अवस्था मे उनकी रुचियो तथा मूल्यो मे परिवर्तन होने से भी वे स्वय को अकेला पाते हैं।

(10) मध्यावस्था नीरसता की अवधि के रूप मे (Middle age as a period of Boredom) – यह अन्तिम विशेषता है। इस अवस्था में मध्यआयु के स्त्री तथा पुरुष नीरसता या बोरियत की भावना से त्रस्त रहते है। 30-40 वर्ष के मध्य में नीरसता की मात्रा तीव्र रहती है। पुरुष प्राय अपनी दिनचर्या के प्रति तथा पारिवारिक जीवन के प्रति काफी नीरसता महसूस करते हैं। महिलाएँ जो अपने प्रारम्भिक प्रौढावस्था में अधिकाश समय बच्चों की देखरेख तथा घर सॅभालने में व्यतीत करती थी वे इस बात से बोरियत होती हैं कि अब अगले 30 40 वर्षों मे हम क्या करेंगे । (Jocoby, 1973) अविवाहित महिलाएँ भी इस अवस्था में इसलिए बोर होती हैं कि अब वे धीरे-धीरे अपने कार्य से मुक्त होने वाली है तो अगले तीस चालीस वर्षावधि में हम क्या करेंगे। आर्चर (Archer, 1968) ने पुरुषों में बोरियत की अनुभव को निम्नलिखित प्रकार से विवेचित किया है—

"By the time you are 40 everyone - including you know that you can do whatever you are doing And at that point some men get bored Some begin looking for new territory In most men, however, this

impulse is checked by the sense that one has passed the last chance to change directions, to choose new goals'

किसी भी आयु मे बोरियत प्रसन्नता नही प्रदान करती है। परिणामस्वरूप मध्यावस्था प्राय जीवन की सबसे अप्रसन्नता वाली अवस्था कही जाती है। मेल्टजर एव लुडविग (Meltzer & Ludwig, 1967) ने एक अध्ययन में सुखद एव दुखद स्मृतियो का अनुभव एक समयान्तराल पर करके प्राप्त किया है कि विशेषकर 40 49 वर्ष की अवधि सबसे कम प्रसन्नता वाली होती है। केवल 60 वर्ष की अवधि के बाद का समय अप्रसन्नता का होता है। इस तरह से यदि कहा जाय कि मध्यावस्था बोरियत की अवधि होती है तो अतिश्योक्ति न होगी।

मध्यावस्था मे होने वाले परिवर्तन
(Changes During Middleage)

मध्यावस्था मे निम्नलिखित परिवर्तन प्रदर्शित होते हैं। ये परिवर्तन उसके शारीरिक, सामाजिक, रुचियो तथा लैगिकता मे सम्बन्धित होते हैं।

(1) शारीरिक परिवर्तन (Physical Changes)

इस अवस्था में शारीरिक क्षमता में परिवर्तन दिखायी पडता है। शारीरिक हावभाव से भी शारीरिक परिवर्तन का पता चलता है। मध्यावस्था में मोटापा उनके हिप एव पेट के पास सचित होता है। इस अवस्था मे सिर के बाल सफेद होने लगते हैं। महिलाओं में दाढी एव ओठ के पास कुछ बाल उगे हुए दिखायी देते हैं। सिर के बाल हल्के दिखायी देने लगते हैं। नाक के बाल तथा ऑख एव कान के बाल काफी सख्त होते हैं। 50 वर्ष की आयु में दोनों पुरुष तथा महिलाओं के बाल सफेद होने लगते हैं। शरीर के चमडे में भी काफी परिवर्तन दिखायी पडता है । चेहरे गर्दन, भुजाओं तथा हाथ की त्वचा सिकुडा हुआ तथा रूक्ष होता है। ऑखो के पास गड्ढे नजर आने लगते हैं। कधा गोलीय लिए हुए होता है। शरीर मे शिथिलता तथा सकुचन दिखायी पडता है। पेट में उभार दिखायी देता है। और व्यक्ति छोटा दिखायी देने लगता है। अधिकतर मध्य आयु के व्यक्तियों की मासपेशियाँ कोमल हो जाती हैं विशेषकर दाढी भुजाओं का उपरी भाग तथा पेट के पास की मासपेशियाँ मुलायम हो जाती है। कुछ मध्यावस्था के लोगों में जोडों मे दर्द होता है उनका चलना फिरना मुश्किल हो जाता है। वे चीजों को अनुपयुक्त तरीके से चलाते हैं। दॉत पीले हो जाते हैं तथा कभी-कभी पूरे दॉत वैकल्पिक दॉत से भर दिये जाते हैं। मध्यावस्था लोगों की ऑखें चमकदार कम होती हैं तथा ऑखो के पास कोने में श्लेष्मा दिखायी पडता है।

इस अवस्था में शारीरिक परिवर्तन के फलस्वरूप उनके शारीरिक हावभाव भी बदल जाते हैं। उनके आकर्षक शरीर अब कम आकर्षक लगने लगते हैं। जो अभी तक आकर्षक होने के कारण समाज में अपनी एक पहचान बनाये हुये होते हैं उसमें अब कमी आने लगती हैं। शारीरिक शक्ति में भी कमी आती है। शारीरिक परिवर्तन का असर सामाजिक आर्थिक स्तर से भी निर्धारित होता है। प्राय यह देखा जाता है कि उच्च सामाजिक आर्थिक स्तर के लोग निम्न सामाजिक आर्थिक स्तर वाले लोगों की तुलना में ज्यादा जवान दिखायी पडते हैं। इस कारण सुविधाओं का अवसर होना है। इस अवस्था में उनके, सवेदी योग्यताओं में भी कमी पाई जाती है। दृष्टि क्षमता प्राय कम होने लगती है। नजदीक न देखने की समस्या जन्म लेती है। कान से भी कम सुनाई पडने लगता है। कुछ लोग मोतियाबिन्द से भी पीडित हो जाते हैं। घ्राण सवेदना में भी कमी परिलक्षित होती है। यह पुरुषों में ज्यादा दिखायी देता है। इसका कारण इस अवस्था में अधिक नाक में बाल का उगना है। स्पर्श तथा दर्द की सवेदना में

कमी मिलती है । इस अवस्था मे शरीर के आतरिक अगो मे भी परिवर्तन न दिखायी पडता है। ज्यादातर अन्तःस्रावी ग्रन्थियो की क्रियाशीलता मे कमी आती है । शारीरिक क्रियाओ म भी परिवर्तन मिलता है ।

शारीरिक परिवर्तन के साथ साथ मध्यावस्था मे स्वास्थ्य की भी समस्या होती है। शारीरिक क्षमता मे कमी आता है। शारीरिक स्वस्थता म भी कमी आती है। मध्यावस्था की प्रमुख स्वास्थ्य समस्याएँ थकान का होना मासपेशीय दर्द, त्वचा की सवेदनशीलता में कमी, सामान्य दर्द उदर सम्बन्धी रोग जैसे पेट मे गैस बनना, पेट मे अम्लीयता का होना, भूख का न लगना इत्यादि होती है। शारीरिक स्वास्थ्य कई कारकों पर निर्भर करता है जैसे वशानुक्रम, विगत स्वास्थ्य का इतिहास जीवन के सावगिक प्रतिबल आदि ।

(2) **लैंगिक परिवर्तन** (Sexual Changes)—मध्यावस्था मे पुरुषो तथा महिलाओ म लैंगिक परिवर्तन भी देखे जाते है। महिलाओ में मासिक श्राव का बन्द होना उसके लैंगिक परिवर्तन का प्रथम सकेत होता है। सम्प्रति वे बच्चा जनन का क्षमता खो बैठती है। उस अवस्था मे पुरुषो तथा महिलाओ मे सावेगिक प्रतिबल ज्यादा होते है जबकि शारीरिक व्यतिक्रम कम दिखायी देते है । यह पुरुषो तथा महिलाओं के लिए सत्य है (Clauaen, 1976 and Lear, 1973) । इसी समय पुरुषो के शारीरिक क्षमता मे कमी आती है इसे 'Climacteric' कहते है। सामान्य शारीरिक एव सावेगिक परिवर्तन महिलाओं मे मासिक धम के समापन के समय परिलक्षित होते है। यह मासिक धर्म का समापन (Menopause) लगभग 49 वर्ष की आयु के आसपास घटित होता है। यह विशेषकर आनुवाशिक क्षमता सामान्य स्वास्थ्य दशाएँ तथा जलवायु मे विचरणशीलता के ऊपर निर्भर करता है। इस समय ऐसा देखा गया है कि जब महिलाएँ धूम्रपान ज्यादा करती है तो मासिक धर्म का समापन का समय शीघ्र मिलता है (Brody, 1977) । पुरुषो मे भी शारीरिक क्षमता का क्षरण दिखायी देता है लेकिन वह मेनोपाज (Menopause) की तुलना में विभिन्न होता है। यह करीब 60-70 वर्ष के मध्य दिखायी पडता है। इसकी गति काफी धीमी होती है। यह बताना बडा मुश्किल होता है हारमोन्स मे कब असन्तुलन आता है जो कि उसका सकेत जरूरी नही मिलता टेस्टोटिरोन हारमोन्स के श्राव में कमी किसी भी अवस्था में हो सकती है। परन्तु कमी में प्रवणता बाद की अवस्थाओ मे ज्यादा मिलता है। शारीरिक क्षमता में कमी वैसे पुरुषों में वृद्धावस्था में ही आती है। कुछ व्यक्तियों में उसके लक्षण 40 50 वर्ष के मध्य ही दिखायी देने लगते है। जैसे औरतों में मेनोपाज के लक्षण मिलते हैं। इस सम्बन्ध में Lear 1973 का कहना है कि, "The male climacteric syndromes is a cluster of physiologic, constitutional and psychologial symptoms occuring in some men aged approximately 45-60 years, associated with hormonal changes and after resembling the female climacteric syndrome "

इस अवस्था में पुरुषों के जननागों के क्रियाकलापों में कमी आती है। लैंगिक इच्छाओं में भी कमी देखी जाती है। कभी-कभी प्रतिकूल परिस्थितियाँ तथा आर्थिक एव पारिवारिक कष्ट वैवाहिक सम्बन्ध के कारण इच्छाओं में कमी आती है। पुरुषत्व में कमी आती है। **उदाहरणार्थ**—पुरुषों की आवाजें तेज हो जाती हैं। शरीर पर तथा चेहरे पर बाल कम दिखायी देते है। पूरा शरीर गोलाई लिए हुए रहता है विशेषकर पेट तथा हिप्प में ऐसा देखने को मिलता है। पुरुषत्व में कमी आने के कारण उसमें नपुसकता नजर आने लगनी है। ज्यादातर मध्य आयु के पुरुष इस अवस्था में उदासी, चिन्ता, चिडचिडापन, सरदर्द, पाचनशक्ति में गडबडी, भीरूता तथा अनेक प्रकार के सामान्य दर्दों की शिकायत करते हैं। लैंगिकता में कमी के कारण प्राय पुरुषों मे कमजोर तथा शारीरिक अक्षमता दिखायी देती है। कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं

कि अब व लैंगिक क्षमता की दृष्टि से असमर्थ हो गये हैं। इसमे लैंगिक परिवतन के साथ साथ व्यक्तित्व परिवर्तन भी होता है। यह एक ऐसी अवस्था होता है जिसमे अधिकाश मध्य आयु के लोग बहुलैंगिकता को स्वीकार कर लेते है जिमस उनका सुखी परिवार दुखी परिवार म बदल जाता है।

इसी तरह के लक्षण महिलाओ में भी मिलते है। जेसे मासिक धर्म का समापन या मासिक चक्र म गडबडी जिसमें मासिक अवधि का जल्दी या बाद म आना निधारित होता हं। लैंगिक परिवर्तन क फलस्वरूप अडाणु का बनना बन्द हो जाता है या परिपक्व अडाणु नही बनते है तथा साथ ही साथ गर्भशय के हारमोन्स भी स्रावित कम होने हैं। हारमोन्स क्रमश एस्ट्रोजेन तथा प्रोगेस्टीन के नाम से जाने जाते हैं। स्राव के लक्षण मे कमी आती ह। गर्भाशय के हारमोन्स का समापन होना चेहरे के बाल रुक्ष हो जाते ह, वाणी या आवाज गहरी हो जाती है। शरीर का वक्र फैलता है। वक्षस्थल कोमल हो जाता है। गुप्तागो के बाल भी रुक्ष हो जाते हैं। इस अवस्था मे मेनोपाज के समय ज्यादातर महिलाएँ परेशानी अनुभव करती हैं। उनम सिरदर्द थकान, तथा चिडचिडापन, उदासी आदि चीज प्रदर्शित होती है। मनोपाज के समय बहुत सारी महिलाएँ अपने वजन को बढा लेती हे। इनके हिप एव उदर के आसपास काफी मोटापा आ जाता हे जिससे महिलाएँ भारी दिखने लगती है। शरीर के जोडो मे दद आरम्भ हो जाता है। बहुत सारी महिलाएँ मेनोपाज के समय उदास आत्मआलोचक तथा शत्रुवत हो जाती है। इस तरह से उनके व्यक्तित्व मे भी परिवतन दिखायी पडता ह। मास्टस और जोहेन्सन (Masters and Johnsons 1974) का मानना है कि लैंगिक ससर्ग में कमी आने का प्रथम एक कारक मनोवैज्ञानिक होता है न कि शारीरिक। यह कारक होता ह लैंगिक सम्बन्धो की पुनरावृत्ति से नीरसता के कारण (Monotony of a repetitions sexual relationships)। इसके कारण पति पत्नी से बोर हो जाता है। जिससे लैंगिक अनुक्रियाओ मे कमी आती है। इस तरह से लैंगिक परिवर्तन का मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक होता है न कि शारीरिक।

(3) **मानसिक परिवर्तन** (Mental Changes)—ऐसा विश्वास ह कि शारीरिक परिवर्तन के साथ-साथ मानसिक परिवर्तन भी इस अवस्था मे देखे जाते हैं। इस सम्बन्ध मे कुछ दीर्घकालिक अध्ययन किये गये हैं जो अविश्वास को वैध नही मानते हैं (Davley, 1965, Papalia, Deland Bielby, 1974)।

टरमन एव ओडेन (1959) का अध्ययन जो एक पुरुष एव महिलाओ के समूह पर स्कूल जाने की अवस्था से लेकर मध्यावस्था के मध्य तक किया गया। इस अध्ययन ने यह प्रदर्शित किया कि मध्यावस्था के दरम्यान मानसिक क्षमता में कमी नही परिलक्षित होती है। एक अनुगमन अध्ययन इस अध्ययन में 50 वर्ष बाद की गयी तो यह पाया गया कि मध्यावस्था में मानसिक क्षमता में ह्रास होता हे (Maeroff, 1975)। विशिष्ट मानसिक योग्यताओं जैसे समस्या समाधान और वाचिक क्षमता मे उन व्यक्तियो मे मध्यावस्था मे कमी नही पाई गयी जो प्राथमिक स्तर में उच्च क्षमता वाले थे। एक अध्ययन कगास तथा ब्राडवे (Kangas and Bradway, 1971) द्वारा किया गया जिसमें इस बात का सकेत मिलता है कि मध्यावस्था मे बौद्धिक क्षमता में थोडी वृद्धि होती है। यह वृद्धि उन्ही लोगों म पाई जाती है जो पहले भी उच्च मानसिक क्षमता वाले रहे हैं। परन्तु यह अध्ययन एक छोटे समूह पर किया गया था यानि इस अध्ययन में मात्र 48 प्रयोज्य थे तथा इनका परीक्षण स्कूल अवस्था से लेकर जूनियर हाईस्कूल की आयु में तथा युवा प्रौढावस्था मे किया गया था। अन्त मे इनका परीक्षण उस समय किया गया जब वे 39-44 वर्ष की उम्र के थे। अन्त में मध्यावस्था के दरम्यान एक अनुगमन अध्ययन भी किया गया उसी में ऐसा परिणाम मिला।

टरमन एव ओडेन (1959) के अध्ययन से यह पता चलता है कि उच्च मानसिक बुद्धि लब्धि वाले व्यक्ति मे उनकी बुद्धि मे थोडी सी बढोत्तरी होती है। इसका कारण यह होता है कि पुरुष महिलाओ की तुलना मे व्यावसायिक रूप से ज्यादा सावधान रहते है (Kangas and Bradway 1971, Kivett, Watson and Busch 1977)।

(5) **रुचियो मे परिवर्तन** (Change in Interests) – मध्यावस्था मे पुरुषों तथा महिलाआ की रुचियो मे भी परिवर्तन होता है। इस अवस्था मे रुचियो का विस्तार न होकर रुचियो मे कमी या सकीर्णता आती है। इस अवस्था मे रुचियो का समारोपण (Shift) सुन्दर पोशाको की तरफ होता है। वे इस अवस्था मे अच्छे अच्छे फैशनेबुल कपडे पहनना चाहते हैं जिससे जवान लग सके। इस अवस्था मे वे अपनी रुचियो मे मनोरजन सम्बन्धी रुचियो मे भी परिवर्तन करते है। जैसे टेलीविजन रेडियो आदि देखना एव सुनना। हावीज पर ध्यान देना, पढना तथा लिखना। अधिकतर मध्यावस्था के लोग अपने सस्कृति के आधार पर पढाई जैसी रुचियाँ विकसित कर लेते है। कुछ लोग पेन्टिग करते है तो कुछ लोग रामायण सुनते है तथा सगोष्ठी एव वर्कशाप मे भाग लेते है। इस अवस्था मे उनकी रुचियो का समारोपण धन की तरफ भी होता है। मध्यावस्था की महिलाओ की रुचियाँ पुरषो की अपेक्षा धन की तरफ ज्यादा होती है। इसका कारण सिर्फ उन्हे धन सामग्री नही प्रदान करती है बल्कि वे अपनी तुलना अपने मित्रो से करते है। यह उन्हे आत्मसुरक्षा भी प्रदान करता है। कभी कभी तलाक का भय एव किसी एक की भी मृत्यु का भय उन्हे धन की तरफ प्रेरित करता है। मध्यावस्था मे यह देखा जाता है कि धन की तरफ रुचियाँ बढती हैं उसका कारण यह होता है कि धन उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति करेगा तथा आपत्ति के समय सुरक्षा प्रदान करेगा। कुछ प्रौढ मध्यावस्था मे फिजूलखर्ची को खराब या गलत मानते है। यह इस बात का सकेत करता है कि मध्यावस्था मे प्रौढ धन के प्रति रुचियाँ रखता है।

बहुत सारे प्रौढ मध्यावस्था मे धर्म तथ धार्मिक क्रियाओ मे रुचि रखते है। इस सम्बन्ध में यह देखा गया है कि वे महिलाएँ जिन पर पारिवारिक दायित्व कम रहता है तथा समय इन्हें काफी मिलता है वे धार्मिक कार्यों मे लग जाती हैं। दम्पति मे से किसी एक की मृत्यु के बाद भी धार्मिक रुचियाँ विकसित हो जाती है। कुछ दम्पति यह महसूस करते है कि धर्म एक मानसिक शान्ति का स्रोत है। उससे मन को सुकून मिलता है। मध्यावस्था के प्रौढ धार्मिक सवालो से कम दुखी होते है। वे एक धर्म एव विश्वास के प्रति सावधान रहते है तथा दूसरे धर्मो को सहायक के रूप मे मानते हैं। इस तरह से उनमें धार्मिक रुचियाँ भी दिखायी देती हैं (Hawkins, 1969, Leshan, 1973 and Sheehy, 1976)।

सामुदायिक क्रिया कलापो मे भी वे भाग लेते हैं। वे अपने को समुदाय का कमाण्डर समझते हैं इसलिए वे सामुदायिक क्रियायो में बढ चढकर भाग लेते हैं। पुरुषों तथा महिलाओं की सामुदायिक सदस्यता का अलग अलग कारण होता है। इस अवस्था के प्रौढ सामुदायिक सदस्य बनकर प्रसन्नता हासिल करना चाहते है। वे समुदाय का कल्याण करना चाहते है तथा सास्कृतिक एव सामाजिक रूप से अपने को और विकसित करना चाहते हैं। मध्यावस्था की महिलाएँ तथा पुरुष कुछ कल्याणकारी सस्थाओं के भी सदस्य हो जाते है तथा वे किसी स्कूल बोर्ड का या पूजाघरों की तथा रेडक्रास सोसाइटी की क्रियाकलापों में बढ-चढकर भाग लेते है। इस तरह वे अपने सामाजिक विस्तार को और बढाने का प्रयास करते है। 50 वर्षों की आयु में स्वास्थ्य खराब होने के कारण इन सामुदायिक क्रियायों में कमी देखी जाती है। शारीरिक क्षमता मे कमी होने के कारण भी ऐसा देखने को मिलता है। जैसा कि सभी को मालूम है कि मध्यावस्था मे लोगों के पास खाली समय ज्यादा होता है। इस खाली समय का सदुपयोग कैसे

किया जाय इसलिए वे इस समय अधिगम ज्यादा करते है। इस अवस्था की मुख्य मनोरजन सम्बन्धी रुचियाँ वही होती हे जिनसे उन्हे ज्यादा सुख एव प्रसन्नता मिलता ह। वे टेलीविजन देखते है तथा रेडियो भी सुनते है एव चैस बगैरह भी खेलते हे। मनोरजन सम्बन्धी रुचिया म लैगिक भिन्नता भी दिखायी देती है। प्राय इस अवस्था मे प्रौढ पुरुष खेलकूद मे ज्यादा केन्द्रित होते है जबकि महिलाएँ केवल दर्शक के रूप मे आनन्द लेती हं। महिलाएँ औपचारिक एव अनौपचारिक सगठनो से जुड़ जाती है तथा वे भी पढाई लिखाई म ज्यादा समय खच करती है जैसा कि पुरुष भी करते है। प्राय मनोरजन सम्बन्धी रुचियाँ उनकी लैगिक भूमिकाओ से भी प्रभावित होती हे। उनकी रोजगार एव व्यवमाय से भी रुचियाँ प्रभाविन होती हैं। खाली समय मे वाद्ययन्त्रो पर आनन्द का लाभ उठाते ह। महिलाएँ भी यदि घर मे बच्चे रहते है ता उनके साथ खाली समय मे अपनी खुशियो से उन्ह आनन्द पहुँचाती हे यानि उनकी रुचियाँ गृह से केन्द्रित हो जाती है।

(6) **सामाजिक परिवर्तन** (Social Change) – मध्यावस्था में प्राय सामाजिक जीवन की रुचियो का नवीनीकरण होता हे। जैसे ही पारिवारिक जिम्मेदारी से दम्पत्ति मुक्त होत हे उन्हे ऐसा लगता है कि अब उनके पास सामाजिक क्रिया कलापो हेतु ज्यादा समय है। सम्प्रति वे सामाजिक क्रियाक्लापो मे प्रारम्भिक प्रौढावस्था की तुलना में ज्यादा रुचि रखते हैं। विशेषकर जो महिलाएँ प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे घर तक ही सीमित रहती थी अब वे घर से बाहर निकलकर सामाजिक क्रियाकलापो मे भाग लेती है। इस समय तक उनके बच्चे भी विकसित हो जाते है तथा उनका अपना घर भी होता हे। मध्यावस्था के व्यक्ति लच एव डिनर की पार्टियो मे भाग लेते है। मित्रों की आवभगत करते हैं। मध्यावस्था का अधिकाश जीवन समलिगो के साथ एकत्र होकर गपशप करना होता है। यह क्रियाकलाप 40 50 वर्ष के मध्य चरम सीमा पर होती है। जब व्यक्ति 60 वर्ष के करीब होता है तो उसमे इन क्रियाकलापो मे कमी आती है। इस समय व्यक्ति को अपना सेवानिवृत्त होना दिखायी पडता है तथा आर्थिक समस्या का होना भी दिखायी देता है इसलिए 60 वर्ष के आसपास उनकी सामाजिक क्रियाकलापों में कमी आती है। परिणामस्वरूप पुरुष तथा महिलाएँ ज्यादातर समय अपने पारिवारिक सदस्यो के साथ व्यतीत करना चाहती हैं। अपने मित्रों के साथ, बच्चों के साथ तथा नवीन व्यवस्थित परिवार के सदस्यो के साथ समय ज्यादा व्यतीत करती हैं (Hawkins, 1969, Lopata, 1966 and Phillips, 1967)।

सामाजिक क्रियाएँ मध्यावस्था में ज्यादातर सामाजिक स्तर से प्रभावित होती हैं। उच्च सामाजिक स्तर के व्यक्ति निम्न सामाजिक स्तर के व्यक्तियों की तुलना में इस अवस्था मे ज्यादा क्रियाशील होते हैं। निम्नस्तर वाले व्यक्तियों के साथ कोई सामुदायिक समूह नही होता है बल्कि वे केवल उन समूहो से मिलते है जिसके वे सदस्य होते हैं, उनके मित्र कम होते हैं केवल उनके पडोसी ही मित्र होते हैं। ज्यादातर उनके सामाजिक सम्पर्क उनके पारिवारिक सदस्यों या पडोसियों से होते हैं। जैसा कि Packard (1974) कहते हैं, "They are Socially Isolated"।

विधुर, विधवा तथा तलाकशुदा पुरुष तथा महिलाएँ इसी तरह से क्रियाशील रहते हैं जैसे विवाहित व्यक्ति। इस तरह से देखा जाये तो यह पता चलता है कि मध्यावस्था में सामाजिक क्रिया-कलापों में कमी नही आती है। सामाजिक समायोजन को कुछ कारक प्रभावित करते है उनमें से प्रमुख कारक उनका अच्छा स्वास्थ्य होना, सामाजिक क्रियायो के प्रति तत्पर होना, सामाजिक कौशल का होना, सामाजिक स्तर का प्रभाव आदि प्रमुख हैं।

मध्यावस्था की समस्याएँ
(Hazards of Middle Age)

मध्यावस्था मे पुरुष तथा महिलाओं को कई समस्याओं का सामना करना पडता है। इन सभी समस्याओं में समायोजन की समस्या मुख्यरूप से जानी जाती है। यहाँ पर मध्यावस्था में घटित होने वाली समस्याओं की संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।

(1) **वयक्तिक समस्या** (Personal Hazards)—इस अवस्था मे वैयक्तिक समस्याओं का जाल बिछा हुआ होता है। मध्यावस्था मे व्यक्ति नये भूमिकाओं तथा नयी जीवन प्रणाली से काफी परेशान रहते है। इन सभी समस्याओं मे मुख्यत 6 समस्याएँ गम्भीर समस्याएँ पायी जाती हैं।

प्रथम समस्या जो दिखायी देती है वह होती है परम्परागत विश्वास की स्वीकृति से सम्बन्धित समस्या। इस अवस्था मे शारीरिक परिवर्तन भी तीव्रगति से होता है। महिलाओं में मेनोपाज की समस्या एक 'कठिन समस्या' के रूप मे जानी जाती है। इससे मध्यावस्था के व्यक्ति आशांकित ज्यादा रहते है (Parker 1960)। वे शब्दों मे "This (term) carries the implication of danger—that woman is on the brink of disaster, that her health, her happiness and her very life is in jeopardy It further implies that this is not merely a times of crisis that can be met forth with and dissolved, but rather years when she must feel her way along a narrow ledge of safety, at any moment of which by one false step she might fall into the abyss of a mental breakdown of serious physical illness"

क्योंकि सिर पर बाल, चेहरे पर बाल भुजाओं तथा पूरे शरीर पर बाल का होना पुरुषत्व से सम्बन्धित होता है। बालो मे पतलापन होना मध्यावस्था मे शारीरिक अक्षमता को प्रदर्शित करना होता है। गंजापन की शुरूआत पुरुषो को परेशान करती है तथा वे ऐसा विश्वास करते हैं कि अब लैंगिक सम्भोग मे भी कमी आयेगी। मुख्यरूप से पुरुषत्व के प्रति चिन्ता करना इस अवस्था की मुख्य समस्या होती है।

दूसरी जो वैयक्तिक समस्या होती है वह है युवावस्था की आदर्शवादिता। इसमे मध्यावस्था के पुरुष तथा महिलाएँ अपने ऊपर अवरोध या अंकुश लगाने पर विरोध करते हैं। जिस प्रकार से युवावस्था मे जिन किशोर व किशोरियों के व्यवहार पर अंकुश लगने पर वे विरोध करते है उसी प्रकार का विरोध मध्यावस्था मे भी देखा जाता है। वे डाक्टर द्वारा सस्तुत डाईट को नही स्वीकार करते है। इस कारण से ज्यादातर पुरुष तथा महिलाएँ बीमारी का शिकार हो जाती है। इस सम्बन्ध मे Steesprohn (1965) लिखते है कि

"If you relax more often if you slow up, donot believe that you will grow old prematurely The grimne reaper would not swish his scythe at you and cut you off long before you reach the 70s and 80s On the contrary the reaper seems to have patience for the relaxers and is impatient with the overdoers

महिलाओं को जब इस बात का पता लगता है कि वे अब उतनी आकर्षक नही रह गयी हैं जितनी किशोरावस्था मे या प्रारम्भिक प्रौढावस्था में थी तो ज्यादा परेशान हो जाती है। वे इस तरह से मध्यावस्था का विरोध करती है। इस तरह से देखा जाये तो वह समायोजन नही कर पाती हैं।

तीसरा कारण यह भी होता है इस अवस्था मे अपनी भूमिकाएँ बदल जाती है। जो पुरुष प्रारम्भिक अवस्थाओ मे कई भूमिकाओ का निर्वाह किया रहता है वह इन सभी को एक नयी भूमिका से समारोपित कर लेता है परन्तु जो लोग पिछली अवस्थाओ मे भूमिकाएँ कम किये रहते है उनके समारोपण मे समस्याएँ आती है। इस सम्बन्ध मे Havighurst (1972) का कहना है Withdraw emotional capital from one role and invest it in a new other one

इस अवस्था मे यह भी देखा जाता है कि उनकी रुचियो में परिवतन होता है। इसके कारण भी उनकी वेयक्तिक समायोजन प्रभावित होता है। वे पुरानी रुचियो का परित्याग करते है तथा नवीन रुचियाँ अपनाते है इससे उन्हे काफी परेशानी होती है। इस अवस्था मे शारीरिक स्वास्थ्य खराब होने तथा शारीरिक शक्ति क्षीणता के कारण भी वे नयी रुचियो के साथ समायोजित होने में अपने को अक्षम पाते है।

इतना ही नही इस अवस्था मे वे यह भी समझते हैं कि उनकी सामाजिक स्थिति बरकरार रहे इसके लिए महिलाये ज्यादा परेशान दिखती हैं। महिलाएँ यदि समझती हैं कि उनका सामाजिक स्तर खराब हो रहा है तो वे अपने पतियों से शिकायत करती है तथा धन की माँग करती है। क्योकि उन्हें मालूम होता है कि धन से 'Status symbol प्राप्त किया जा सकता है। पुरुष इस अवस्था मे चूँकि सेवानिवृत्त होने के करीब होता है इसलिए वह भी धनार्जन करने मे जुट जाता है जिससे कि उसका भी 'Status Symbol' सेवानिवृत्त होने के बाद भी Maintain रहे।

इस अवस्था में लोग अयथार्थ इच्छाएँ रखते हैं। उनकी उपलब्धि के प्रति अयथार्थपूर्ण इच्छाएँ भी उन्हे परेशान करती है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब महिलाएँ ये सोचती हैं कि मेरा पति व्यावसायिक एव आर्थिक सफलता में असमर्थ हो रहा है तो वे परेशान हो जाती है। वे समझती है कि मेरा लक्ष्य पूरा नही हो पा रहा है। इस अवस्था में इच्छाएँ तथा आकाक्षाएँ चरम सीमा पर होती हैं। यदि ये आकाक्षाएँ पूरी नही होती हैं तो पुरुष तथा महिलाएँ परेशान हो जाती हैं एव उनका समायोजन खराब हो जाता है।

सामाजिक समस्याएँ (Social Hazards)– वैयक्तिक समायोजन की तुलना में सामाजिक समायोजन परम्परागत विश्वास और रुढियुक्तियों से कम प्रभावित होता है। सामाजिक समायोजन के परम्परागत विश्वास कुछ हद तक प्रभावित करते हैं। ये विश्वास प्राय इस प्रकार के हो सकते हैं जैसे जो एक बार नेता हो जाता है वह सदा के लिए नेता हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह कहना ज्यादा उचित होगा कि जो पुरुष या महिलाएँ अपने विद्यालयीय जीवन में नेतृत्व नही दे पाये होते हैं वे ये समझते हैं कि अब मध्यावस्था में यह नेतृत्व शैली की उपलब्धि मुश्किल है। सामाजिक समायोजन को जो कारक प्रभावित करते हैं उनमें प्रमुख रूप से Rocking Chair Philosophy, Unattractive appearance, Lack of Social Skills, Preference for family Eoncts, Financial problems, Family pressures, Desire for popularity and Social mobility होते हैं।

सामाजिक समायोजन का खराब होना इस बात पर भी निर्भर करता है कि ज्यादातर प्रौढ पुरुष तथा महिलाएँ बाहर की दोस्ती पर ज्यादा विश्वास करते हैं। क्योंकि या तो उनका पति या पत्नी बीमार हो जाते हैं या मर जाते हैं तथा उनके बच्चे अपने कार्यों में व्यस्त रहते हैं इसलिए वे अपने को अकेला महसूस करते हैं तथा घर से बाहर के दोस्तों पर निर्भर रहते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि जो मध्यावस्था के लोग इस अवस्था में विकासात्मक कार्य जैसे

सामाजिक जिम्मेदारियो एव Civic competence मे अपने को मजबूत नही बनाते हैं उनका वृद्धावस्था भी खुशहाल नही रहता है तथा वे अप्रसन्नता तथा एकाकी पन के शिकार होते है।

(3) **व्यावसायिक समस्याएँ** (Vocational Hazards)–जबकि ज्यादातर व्यावसायिक समस्याएँ प्रौढावस्था की व्यावसायिक समस्याओ के समान ही होती हैं। लेकिन मध्यावस्था की कुछ व्यावसायिक समस्याएँ अलग तरह की भी होती है। जिसके प्रति मध्यावस्था के लोगो को समायोजन करना पडता है। ये समस्याएँ उनके जीवन मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे निर्मित लक्ष्यो को प्राप्त करने मे असफलता की भावना से उनका समायोजन खराब होता है। उन्हे मालूम होता है कि मध्यावस्था ही उपलब्धि की अवधि है। उसमे ज्यादा से ज्यादा उपलब्धियाँ प्राप्त करनी चाहिये। इन लक्ष्यो की पूर्ति मे असफल होने की भावना उनके सामाजिक एव वैयक्तिक समायोजन को प्रभावित करती है। इस अवस्था में कुछ महिलाएँ अपनी आकाक्षाओ को परिवर्तित भी करती है। कुछ महिलाएँ वास्तविक अर्थों में परिमार्जित भी करती है। यह परिवर्तन उनके समायोजन को अच्छा बनाती है।

सृजनात्मकता मे कमी आने से भी उनका व्यावसायिक समायोजन खराब होता है। व्यावसायिक सृजनात्मकता मे कमी से वे अपने लक्ष्य उपलब्धि मे पीछे रह जाते है जिससे वे असतुष्ट एव उदास हो जाते है। उस व्यावसायिक सृजनात्मकता मे जो कमी दिखायी देती है उसके पीछे उनके मानसिक योग्यता मे कमी कारण नही होता बल्कि उनके पास उसके लिए समय ही नही होता है। बोरियत या नीरसता भी व्यावसायिक समायोजन को प्रमाणित करता है। औद्योगिक कर्मचारियों मे यह नीरसता ज्यादा दिखायी पडती है। इस सम्बन्ध में Packard (1972) लिखते है,

"The repetitious arm movement he makes hour after hour is excruciatingly boring, his father, he recalls, was poor, but a carftman who was proud of the barrels he made Here the machine has all the brains, all the reasons for pride Perhaps the rules also forbid him to talk to workers nearby, or to get a drink of water except at the break period"

बहुत सारे मध्यानस्था के लोग अपने व्यवसाय मे महानता के प्रति परेशान रहते है। वे सुपीरियर दिखना चाहते हैं। उसके लिए वे काफी प्रयास भी करते है परन्तु सफलता न प्राप्त होने पर हताश हो जाते हैं जो उनके व्यावसायिक समायोजन को प्रभावित करती है। प्राय ऐसा भी देखा जाता है कि ज्यादातर कार्मिको के अन्दर यह भावना विकसित हो जाती है कि वे अमुक कार्य के लिए बॉध दिये गये है। अत पूरे जीवन भर अब उसी कार्य में रहना है। युवा कार्मिक इस बात के लिए तैयार रहते है कि यदि इस कार्य से पारिवारिक जिम्मेदारियों का वहन नही हो पा रहा है तो शीघ्र ही इसे छोडकर कोई दूसरा कार्य कर लेगें परन्तु मध्यावस्था के कर्मचारी ऐसा नही कर पाते हैं। बेरोजगार की समस्या भी उन्हे व्यावसायिक समायोजन के प्रति चिन्तित करती है। ऐसा देखा जाता है कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था में एक काम छोड देने पर दूसरा काम तुरन्त मिल जाता है परन्तु मध्यावस्था में जब वे निवृतमान होने के करीब होते हैं वे ऐसा नही कर पाते है। बेरोजगार होना व्यावसायिक समस्याओं मे एक मनोवैज्ञानिक समस्या भी है। जो लोग लम्बी अवधि तक बेरोजगार रहते हैं उनके अन्दर अनुपयुक्तता की भावना जन्म ले लेती हैं। जिसके परिणामस्वरूप वे अति आक्रामक एव उदासीन हो जाते है। ये दोनों मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ उसे काम के प्रति विकलागता प्रदान करती हैं। जिसके फलस्वरूप वह भविष्य मे भी बेरोजगार ही रह जाता है (Walters, 1977)।

काम के प्रति प्रतिकूल अभिवृत्तियॉ भी मध्यावस्था के व्यक्तियों के वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन को प्रभावित करती है। यदि कर्मचारी अपने काम के प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति रखता है तथा वह असतुष्ट रहता है इसलिए कि उसके अन्दर 'Feeling of being trapped आ गयी है तो वे अपना व्यावसायिक समायोजन नही कर पाते है। वे समझते है कि परिस्थितियॉ इस समय काम के प्रतिकूल है इसलिए उनमें शहीद होने की भावना भी विकसित हो जाती है जिसके फलस्वरूप वे भविष्य मे कार्यमुक्त ही रहते है।

ये सभी समस्याएँ व्यावसायिकता समायोजन को प्रभावित करती है।

वैवाहिक समस्याएँ (Marital Hazards)—इस अवस्था की भी वही वैवाहिक समस्याएँ होती है जो प्रारम्भिक प्रारम्भिक प्रौढवस्था की होती है। इस अवस्था मे वैवाहिक समस्याएँ से व्यक्तिगत एव सामाजिक समायोजन ज्यादा प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ— इस अवस्था में बच्चो का घर छोडकर कही बाहर जाना तथा प्रौढों का सुखी पारिवारिक जीवन के प्रति प्रेरणा में कमी का आना हो सकता है।

जबकि वैवाहिक समस्याएँ मध्यावस्था के महिलाओं पर पुरुषो की तुलना में सीधा अधिक प्रभाव डालती है। जैसाकि मालूम है कि महिलाएँ एक लम्बी अवधि से गृह से सम्बन्ध बनाये रखती है वे असमय अपने पति के व्यावसापिक जीवन के प्रति भी काफी सतर्क रहती है। शादी के वाद ऐसा देखा गया है कि बहुत सारी परिस्थितियॉ उनके वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन को प्रभावित करती हैं उनमें से कुछ प्रमुख हैं।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि इस अवस्था में उनकी भूमिकाओं में भी परिवर्तन होता है। भूमिका परिवर्तन का सीधा प्रभाव महिलाओ पर देखा जा सकता है। जब प्रौढ महिलाओ के बच्चे घर छोडकर बाहर जाने हैं तो वे अपने आप को उसी दशा में पाती है जैसे पुरुष लोग अपने सेवानिवृत्ति के समय बेरोजगार होने पर पाते हैं। कुछ महिलाएँ मध्यावस्था में इस समस्या के साथ समायोजित होने के लिए अपनी तैयारी पहले से ही कर लेती हें। इसी तरह से कुछ प्रौढ पुरुष भी ऐसी तैयारी अपनी नियोक्ता से कर लेते हैं। वैसे बहुत सारी माताएँ चाहती हैं कि उनके बच्चे अब स्वतन्त्र हो जायें। वे अपना घर और परिवार स्वय बसायें तथा वे अपने कार्य में सफल होवें। कुछ माताएँ ठीक उसके विरुद्ध भी देखी जाती है। इस सम्बन्ध में कुछ माताओं का यह मानना होता है कि उनका घर सूना हो जायेगा तथा हम सब अकेले हो जायेंगे। वे समझती हैं कि मेरा जीवन अब व्यर्थ है। ऐसी महिलाओं के लिए उनका जीवन एक परेशानी लिये हुए होता है तथा उनकी माता-पिता की भूमिका का अत हो रहा होता है। (Deutscher, 1968)।

नीरसता भी उनके वैवाहिक समायोजन को प्रभावित व कमी से होती कि वे सोचती है कि उनका पति अपने व्यवसाय के ऊँची सीढियों पर चढ रहा उसके कारण वे अपनी तुलना जब अपने पति के व्यवसाय से करती हैं तो अपने को निम्न स्तर का जन्ती हैं क्योंकि वे केवल घरेलू कार्यों तक ही सीमित रह पाती हैं वे उससे असतुष्ट की भावना से पीडित हो जाती है क्योंकि वे यह सोचती हैं कि अब उनके प्रगति करने का कोई समय उनके पास मौजूद नही है। जिस प्रकार से नीरसता व्यवसाय में निम्न निष्पादन का बना देती है। उसी प्रकार से गृह निर्माण की भूमिकाएँ भी महिलाएँ को नीरस तथा निम्न निष्पादन का बना देती है। कुछ महिलाएँ इस अवस्था में भी व्यवसाय हेतु प्रेरित होता है तथा वे समझती हैं कि अभी भी अवसर है यदि वे चाहे तो अपना कैरियर चुन सकती हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में जब उन्हें अपने पति से धन मदद

तथा प्रोत्साहन नही मिलता है तो वे उदास एव निराश हो जाती है। जो उनके व्यैक्तिक, सामाजिव एव वैवाहिक समायोजन को प्रभावित करती है।

बच्चो की शादी का विरोध (opposition to a child marriage) – भी उनके वैवाहिक समायोजन को प्रभावित करता है। यह एक प्रमुख समस्या जानी जाती है जब किशोर एव किशोरियॉ अपनी शादी किसी से करना चाहते है परन्तु उनके माता पिता उसके लिए स्वीकृति नही प्रदान करते है। ऐसी स्थिति मे यदि वे विरोध करते है तो उनके बच्चे घर छोडकर अलग चले जाते है तथा अपनी शादी रचा लेते है जिसमे उनका पारिवारिक वातावरण खराब एव तनावयुक्त हो जाता हे तथा परिणामस्वरूप उनका सामाजिक वैयक्तिक एव वैवाहिक समायोजन भी प्रभावित होता है। ऐसा विरोध बच्चों तथा माता पिता के मध्य एक रुकावट पैदा करता है। इस तरह से बच्चे से सम्बन्ध तथा नाती पोतो से सम्बन्ध बिल्कुल कम हो जाता है और उनकी पत्नी का उनके सास व श्वसुर से भी सम्बन्ध तनावयुक्त रहता है जो एक प्रतिकूल वातावरण परिवार मे बनाता हे जिससे उनका समायोजन खराब होता है।

सबसे महत्वपूर्ण विकासात्मक कार्यों मे एक कार्य अपने साथी के प्रति सतोषजनक सम्बन्ध स्थापित करना होता है। यह महिलाओ के लिए एक अधिक मुश्किल कार्य लगता है। क्योंकि इसी समय उनके बच्चे घर छोडकर चले जाते है यह घटना उनके वेवाहिक समायोजन को प्रभावित करती है। परन्तु, कुछ पुरुष तथा महिलाओं का वैवाहिक सम्बन्ध इसी समय ज्यादासतोष जनक होता है क्योकि उनके पास इस समय ज्यादा समय होता है जिसका वे भरपूर उपयोग करते हैं। इस समय कुछ अभिवृत्तियों भी जन्म ले लेती हैं जो उनके वैवाहिक सम्बन्ध को प्रभावित करती है। पुरुषों में जो अभिवृत्तियॉ जन्म लेती है। उनमें से प्रमुखत लैगिक सामायोजन के प्रति असतोष, यदि उसकी पत्नी व्यावसायिक रूप से सफल महिला है तो वह समझता है कि उसके पास अब मेरे लिए समय कम है ऐसी अभिवृत्तियों का होना, अगर वह असफल व्यवसायिक हो गयी हे। तो वह समझता है कि मेरी मदद नही कर सकती है, घर के खर्च एव घर को सॅभालने में एक कठोर अभिवृत्तियों का विकास करना आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार से कुछ अभिवृत्तियॉ महिलाओं में भी पाई जाती है। जैसे—वैवाहिक असमायोजन अपने को घर की दासी समझना, पति के तरफ से उसकी समय और कार्य को महत्व न देना जो कि वह घर सॅभालने में व्यतीत करती है। उसके पति का अपने कैरियर की अपेक्षा उसके प्रति कम लगाव। उसका पति ज्यादे समय तथा धन परिवार के अन्य सदस्यों पर खर्च करना तथा उस पर कम खर्च करना यह शका कि उसका पति किसी और औरत के साथ सम्बन्ध बना चुका है आदि अभि बाध दिये वैवाहिक समायोजन में बाधक होती हैं।

लैंगिक सम लिए तैयार स अवस्था का विकासात्मक कार्य होता है। पति या पत्नी के साथ अच्छा सम्बन्ध तो शीघ्र, ही होना भी उसके लैंगिक ससर्ग को प्रभावित करता है। ऐसी महिलाओं जिनका लैंगिक जीवन असतोषपूर्ण होता है वे बहुलैंगिकता की शिकार हो जाती हैं। ऐसा ही पुरुषों में भी पाया जाता है। पुरुषों के अन्दर ऐसी दशा में अपराध की भावना (Guilt feeling) जन्म ले लेती है कि वे अपनी पत्नी को लैंगिक सुख प्रदान करने में असमर्थ है। इस सम्बन्ध में Wallin and Clark (1963) लिखते हैं कि, "Women's lack of sexual gratification has repercussions for their husbands as well as for themselves In a culture that stresses the equality of Marital partners and the right of both to sexual enjoyment, it is to be expected that husbands will tend to suffer some guilt in urging an activity they know is

not pleasureable to their wives Added to the guilt, and accentuating it, may be feeling of in adequacy engendered in husbands by the thought that the fault is or could be theirs

लैंगिक समायोजन के प्रति सबसे बडी समस्याएँ मध्यावस्था में उनके परिवार के युवा सदस्यो की अभिवृतियो का होता है। उसमे किशोर तथा किशोरियों की अभिवृत्तियॉ विशेषकर उनके लैंगिक समायोजन को प्रभावित करती है (Cleveland, 1976 and poes Godow, Tolone and Walsh, 1977) । इस सम्बन्ध में Mckin (1972) कहते है कि "Most childern have never thought of their parent's in the role of husband and wife Instead they have seen them only as mother and father a self sacrificing asexual are narrow role"

बना देता है। तथा वे इस लैंगिक व्यवहार के प्रति लज्जा रखने लगने तथा बचाकर या ।छ५।क९ लैंगिक ससर्ग करने की कोशिश करते है। अत लैगिक ससर्ग मैं लैंगिक समायोजन का होना आवश्यक होता है नही तो समस्या बन जाती है।

इसके अतिरिक्त परिवार के वरिष्ठ सदस्यो यानि अपने बुजुर्ग माता पिता की देख रेख से भी उनका वैवाहिक समायोजन बाधक होती हैं। इस अवस्था में ज्यादेतर पुरुष तथा महिलाएँ अपने माता पिता की सेवा मे व्यस्त रहते है जिसके कारण उनके पास एक-दूसरे से मिलने का समय भी नही मिलता है। क्योंकि उनके माता पिता पूरी तरह से अपने बच्चों पर निर्भर हो जाते हे। यह भी एक समस्या ही होती हैं।

दम्पत्तियो में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर भी मध्यावस्था मे उनका वैयक्तिक, सामाजिक तथा लैगिक समायोजन प्रभावित होता है। कभी-कभी तलाक की वजह से भी ऐसा देखने को मिलता है कि उनका वैवाहिक समायोजन खराब हो जाता है। मध्यावस्था में तलाक की समस्या एक गम्भीर समस्या मानी जाती है वैवाहिक समायोजन के प्रति। तलाक का कारण लेगिकता में कमी पत्नी या पति को लैंगिक दृष्टि से सतुष्ट न कर पाना, अविश्वास का जन्म तथा पारिवारिक हस्तक्षेप आदि होते हैं (Bohanon 1970, Pineo, 1968 and Rose and Price-Bonham, 1973) ।

पुनर्विवाह (Remarriage) भी मध्यावस्था मे एक समस्या के रूप में लिया जाता है। पुनर्विवाह की समस्या या तो तलाक के बाद या किसी आर्थिक हस्तक्षेप के फलस्वरूप होती है। लेकिन मध्यावस्था में यह समस्या ज्यादातर समायोजन की कमी से होती है। कुछ दम्पत्ति मध्यावस्था के अनुरूप अपनी भूमिकाएँ नही बदल पाते हैं। उसके कारण भी आपसी मन मुटाव बढता है, तलाक होता है तथा अत में विवाह की समस्या जन्म लेती है। इसलिए मध्यावस्था में लोग एकाकीपन को दूर करने के लिए भी पुनर्विवाह करते हैं।

अत में हम यह कह सकते हैं कि मध्यावस्था में पुरुषों तथा महिलाओं को अनेक विकासात्मक कार्य करने पडते हैं। इन विकासात्मक कार्यों के फलस्वरूप कई समस्याएँ जन्म लेती हैं। इन समस्याओं के साथ यदि समायोजन अच्छी तरह से नही हो पाता है तो वे काफी परेशान दिखायी देते है। उनमें व्यग्रता तीव्र मात्रा में दिखायी पडती है अत यदि कहा जाय कि मध्यावस्था एक आशका, भय एव त्रास की अवधि है तो अतिशयोक्ति न होगी।

[illegible]

20 वृद्धावस्था : विशेषताएँ, एवं समस्याएँ (Old Age : Characteristics, and Problems

वृद्धावस्था जीवन विस्तार की अतिम अवधि होती है। 60 वर्ष की आयु मध्यावस्था एव वृद्धावस्था को बॉटने वाली आयु कही जाती है। यही से लोगों में विकासात्मक परिवतन दिखायी देने लगते हैं। यह अवस्था एक महत्वपूर्ण अवस्था मानी जाती है। इसी अवस्था के कारण कही-कही 58 या 60 वर्ष तथा 65 वर्ष सेवानिवृत्ति की आयु रखी गयी है। इस अवस्था मे शारीरिक क्षीणता ज्यादा परिलक्षित होती है। पूरे शरीर का आकार, आकृति तथा बनावट बदल जाती है जो व्यक्ति अभी तकशक्ति शाली बहादुर और साहसी लगता था वह भी कमजोर असहाय एव अक्षमता का अनुभव करने लगता है। इसी तरह से इस अवस्था को दो भागो मे बॉटा गया है। प्रथम अवस्था 60 70 वर्ष की आयु की होती है तथा इसे प्रारम्भिक वृद्धावस्था (early old age) कहते हैं तथा दूसरी अवस्था जो (advanced old age) यानि अग्रिम वृद्धावस्था के नाम से जानी जाती है इसकी शुरूआत 70 वर्ष पर होती है तथा अतिम समय यानि मृत्यु तक चलती है। 60 वर्ष की आयु के लोग बुजुर्ग (Elder) कहे जाते हैं जब ये 70 वर्ष मे प्रवेश करते है तो वृद्ध कहना लोग शुरू कर देते हैं इस समय लोगो में शक्ति एव स्फूर्ती में कमी का एहसास होता है। वृद्धावस्था की कुछ विशेषताएँ होती हैं जो निम्नलिखित हैं—

वृद्धावस्था की विशेषताएँ

(1) **वृद्धावस्था ह्रास की अवधि के रूप मे** (Oldage as a Period of Decline)—इस अवस्था में लोगों में स्थिरता के स्थान पर परिवर्तन नजर आता है। इस अवस्था मे शारीरिक एव मानसिक क्षमता में ह्रास परिलक्षित होने लगता है। लोग 60 वर्ष की आयु तक वृद्ध नजर आने लगते है। इस अवस्था मे पूरे शरीर में कमजोरी महसूस होने लगती है। असहाय की भावना जन्म ले लेती है। प्रेरणा में भी ह्रास दिखायी देने लगता है। सेवानिवृत्ति के बाद जो उनके पास बहुत सारा समय मिलता है उसका वे किस प्रकार से उपयोग करेंगे उस पर भी ह्रास निर्भर करता है। यह समय भी वृद्ध के प्रेरणास्तर को कम करता है। इस ह्रास का कारण शारीरिक ही नही बल्कि मनोवैज्ञानिक भी होता है। अपने प्रति प्रतिकूल अभिवृत्ति विकसित कर लेना, दूसरे लोगो के प्रति भी नकारात्मक अभिवृत्ति बना लेना तथा पूरे जिन्दगी के प्रति भी नकारात्मक अभिवृत्ति बना लेने से वृद्ध लोग प्रतिबलों एव चिन्ताओ से घिर जाते है। जिसके कारण भी ह्रास दिखायी पडता है। अत वृद्धावस्था को ह्रास की अवधि कहना गलत नहीं है।

(2) **वृद्ध होने के प्रभाव मे वैयक्तिक विभिन्नता पायी जाती है**—(There are Individual differences in the effect of Ageing)— Ageing का प्रभाव पर

वैयक्तिक भिन्नता देखी गयी है। ऐसा मानना है कि पुरुषो तथा महिलाओ मे Ageing की गति अलग-अलग होती है (Bennett and Eckman 1973, Medevedev, 1975)। यह अन्तर आयु के साथ साथ बढ़ता रहता है। कुछ लोग सेवानिवृत्ति को आशीर्वाद के रूप मे स्वीकार करते है तथा कुछ लोग इसे अभिशाप मानते है (Andres 1975, and Beverly, 1975)। जैसा कि यह सामान्य नियम है कि शारीरिक रूप से वृद्ध होना मानसिक रूप से वृद्ध होने के आसार को प्रकट करता है लोगो का वृद्ध होना उनके वशानुक्रम की क्षमता, विभिन्न सामाजिक आर्थिक स्तर तथा शैक्षिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करता है तथा उनके रहने के विभिन्न प्रतिमानों पर निर्भर करता है (Kent, 1976)। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि वृद्धावस्था को लोग विभिन्न प्रकार से लेते है।

(3) **वृद्धावस्था का मूल्याकन विभिन्न मापदण्डो पर होता है** (Old Age is judged by Different criteria) – अवस्था का मतलब बडा दुरुस्त एव कठिन है तथा बच्चो के लिए अपरिभाषित है। बच्चे उसको शारीरिक हावभाव के रूप मे मूल्याकित करते है। उनके लिए बच्चे प्रौढ से छोटे होते हैं इसलिए प्रौढ को बच्चो की देखभाल करनी चाहिए। प्रौढ बडे होत ह ५ - ––ी देख रेख स्वय कर लेते है। बच्चो के परिप्रेक्ष्य मे वृद्ध लोगो के सफेद बाल होते है तथा वे प्रतिदिन काम पर नही जाते है (Seefld Jantz, Galper and Serock, 1977)। समय आते ही यही बच्चे किशोर हो जाते है वे वृद्ध लोगो का मूल्याकन वैसे ही करने लगते है। जैसे प्रौढ लोग करते है इस समय भी व्यक्ति का शारीरिक हावभाव तथा वे क्या कर सकते है और क्या नही कर सकते है इसी मापदण्ड से मूल्याकन करते है। कुछ वृद्ध ऐसे भी होते है जो वे सब कर सकते है जो एक प्रौढ या किशोर कर सकता है। वे सुन्दर कपडे पहनकर आकर्षक भी लगते है तथा अपनी क्षमता शक्ति का अच्छा प्रदर्शन भी करते हैं। इस बात का वे प्रयास करते है कि लोग उन्हे वृद्ध कहकर भ्रमित न हो बल्कि अभी वे वृद्ध नही हुए है इस बात का एहसास दिलाते हैं।

(4) **वृद्ध के प्रति बहुत-सी रुढियुक्तियॉ भी होती है।** (There are many stereotyps of old people) – वृद्ध लोगो प्रति कई प्रकार के विश्वास एव रुढियुक्तियॉ पाई जाती है। उनकी शारीरिक एव मानसिक योग्यता के प्रति कई परम्परागत विश्वास होते हैं। ये परम्परागत विश्वास एव रुढियुक्तियॉ कई स्रोत से आते है। प्रथम स्रोत लोककथाओं तथा परियो की कहानी से मिलती है। जिसमें वृद्ध लोगो की सही तस्वीर प्रस्तुत की जाती है। कुछ तस्वीर वृद्धावस्था के विशेषताओ को आदरपूर्वक दर्शाती है तथा विशेषकर महिलाओं के प्रति ये दुष्ट एव निर्दयी जैसी तस्वीर प्रस्तुत करते है। दूसरा स्रोत यह है कि जन सचार के माध्यम से वृद्धा को अनुपयुक्त ढग से प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में शेक्सपियर ने वृद्धावस्था के साथ होने वाले शारीरिक एव व्यावहारिक परिवर्तन को 132 सदर्भों में प्रस्तुत किया। शेक्सपीयर वृद्धावस्था के लिए लिखते है," Last scene of all,

That ends this strange eventful history,
Is second childishness, and mere Oblivion,
Sans teeth, sans eyes, sans taste, sans everything

हॅसी मॅजाक तथा विभिन्न प्रकार के हॅसी के साधन भी वृद्ध लोगों के प्रति रुढियुक्तियाँ बनाने मे मदद करते हैं प्राय वृद्धों के प्रति नकारात्मक अभिवृत्तियाँ बना ली जाती है। इस अवस्था को प्राय मूर्खता की अवस्था के रूप में मानकर उनका मूल्याकन किया जाता है। अतिम रुढियुक्तियॉ प्राय इस तरह होती हैं वृद्ध कमजोर, असहाय तथा अक्षम होते हैं वे

सन्तान नही पैदा कर सकते हैं, दुर्घटना के प्रति उन्मुख रहते हैं जीना मुश्किल होता है। उनकी उपयोगिता अब समाप्त हो चुकी है। इस रूढियुक्तियों के अनुसार युवावस्था सुन्दर होता है तथा वृद्धावस्था गन्दी होती है। youth is beautiful and old is ugly) ये सारी रुढियुक्तियाँ वृद्धो के प्रति नकारात्मक अभिवृत्तियाँ विकसित करने को बाध्य करती हैं। इसलिए इस अवस्था को निषेधात्मक प्रावस्था के रूप मे भी जाना जाता है। Brubaker and Powers 1976) ।

(5) **वृद्धावस्था के प्रति सामाजिक अभिवृत्तियो भी होती है** (There are social attitudes toward oldage)—रुढियुक्तियो का वृद्ध तथा वृद्धावस्था के प्रति प्रतिकूल अभिवृत्तियाँ विकसित करने मे महत्वपूर्ण स्थान होता है। विशेषतया यह देखा गया है कि वृद्धावस्था के प्रति लोगो की अभिवृत्ति नकारात्मक तथा प्रतिकूल ही देखी जाती है। इस सम्बन्ध मे एक राष्ट्रीयस्तर पर सर्वेक्षण किया गया कि वृद्ध लोगो का तथा समाज की वृद्धावस्था के प्रति क्या अभिवृत्ति होती है। इसका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। परिणामस्वरूप यह प्राप्त हुआ कि वृद्ध लोग अपने प्रति वृद्धावस्था के प्रति अनुकूल एव सकारात्मक अभिवृत्ति रखते है तथा समाज के लोग उनके विपरीत वृद्धा के प्रति प्रतिकूल एव नकारात्मक अभिवृत्ति रखते हैं। इस सर्वेक्षण का परिणाम निम्नवत् है—

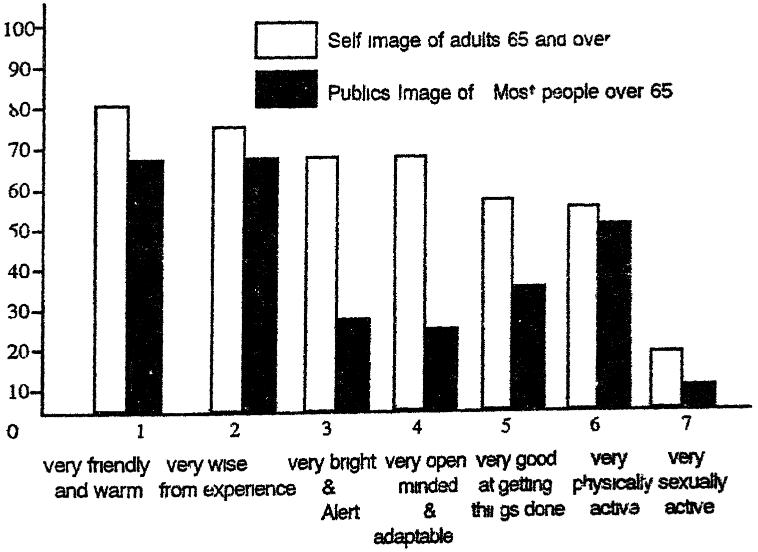

ऊपर की तालिका से यह पता लगता है कि वृद्धों के अपने प्रति अभिवृत्ति काफी अनुकूल दिखायी दे रही है जबकि पब्लिक की अभिवृत्ति इनके प्रति काफी प्रतिकूल प्रदर्शित हो रही है। इन अभिवृत्तियों पर सामाजिक आर्थिक स्तर का प्रभाव पडता है। उच्च सामाजिक स्तर के सदस्य यह जानते हैं कि वृद्ध लोग परिवार के भाग्य होते हैं इसलिए उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं परन्तु मध्यम तथा निम्न सामाजिक स्तर के सदस्य उन्हें आदर नही देते हैं तथा वे

परिवार पर एक भार स्वरूप उन्हे मानते है तथा उन पर क्रोधित भी होते है। (Thorson, 1975)।

(6) **वृद्ध लोगो की सस्थिति अल्पसख्यक समूह जैसी होती है** (The Elderly have a minority group status) – समाज मे इनकी स्थिति अल्पसख्यको के रूप मे होती है। उन्हे द्वितीय श्रेणी का नागरिक माना जाता है। उन्हें कमजोर एव असहाय समझने के साथ साथ वे उनके साथ अच्छा व्यवहार भी नही करते है वे समझते है कि ये मेरा नुकसान ही क्या कर सकने है। उनका कोई अपना सशक्त समूह नही होता है जो अपने खिलाफ हो रहे व्यवहार के प्रति आवाज उठा सकें परन्तु यह स्थिति सस्कृति से तथा राष्ट्र से राष्ट्र तक अलग अलग होती है। इसका मतलब यह है कि उसमे सास्कृतिक विभिन्नता भी पायी जाती है। ये समाज के तिरस्कृत लोग माने जाते है। उन्हे समाज से अलग कर दिया जाता है। तथा कहा जाता है कि ये लोग अब निष्क्रिय हो गये है। इस तरह से देखा जाये तो यह पता चलता है कि इनकी स्थिति समाज मे अल्पसख्यको जैसी होती है।

(7) **वृद्धावस्था मे भी भूमिका परिवर्तन होता है** (Ageing requires Role Changes) – जिस प्रकार से मध्यावस्था के लोग नयी भूमिकाओ का अर्जन करते है उसी प्रकार से वृद्ध लोगो को भी करना चाहिए। परन्तु शारीरिक रूप से असमर्थ एव कमजोर होने के कारण उनकी सामाजिक क्रियाकलापो के प्रति रुचियॉ कम होती जाती है। इस प्रकार से उनकी पहले की अर्जित भूमिकाओ मे भी कमी आती है। इन भूमिकाओ मे परिवतन का कारण सामाजिक दबाव तथा उनकी अपनी भूमिकाओ के प्रति पसदगी व नापसदगी की वरीयता होती है। जैसाकि हम जानते हैं कि वृद्धावस्था के प्रति लोगो की अभिवृत्तियॉ अनुकूल नही होती है इसलिए इस अवस्था के लोगो को पुरस्कृत करने जैसे चीजो का अभाव पाया जाता है। इसके प्रति व्यर्थ एव अनिच्छुक जैसी अभिवृत्तियॉ इन्हे प्रोत्साहित नही कर पाती है। लोग इनके प्रति हीनता की भावना तथा अनुपयुक्तता की भावना से ग्रस्त होते है जिसके फलस्वरूप उनकी वैयक्तिक तथा सामाजिक समायोजन प्रभावित होता है। जैसा कि Busse and Pfeiffer (1969)ने लिखा है कि "It is difficult to maintain a positive identity when one's usual props for such an identity, such as one's social and occcupational roles, have been takenaway"

(8) **वृद्धावस्था मे समायोजन ठीक नही होता है** (Poor Adjustment is characterisitc of oldage) – प्रतिकूल सामाजिक अभिवृत्ति विकसित हो जाने के कारण समाज का व्यवहार उनके प्रति अनुकूल नही होता है जिसके फलस्वरूप वृद्ध लोग प्रतिकूल आत्म सम्प्रत्यय विकसित कर लेते है जिसके कारण उनका व्यवहार समायोजित ढग से नही हो पाता है। (Medvedev, 1975)। ऐसे लोग जो पिछली अवस्थाओ में भी समायोजन के प्रति खराब इतिहास बनाये रहते है वे लोग इस अवस्था में कुसमायोजन के अधिक शिकार होते हैं। परन्तु जो लोग पिछली अवस्थाओ में अच्छा वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन रखते हैं उनका समायोजन इस अवस्था में भी बेहतर होता है। (urban and Lago, 1973)।

वृद्ध लोग समूह के रूप में कुसमायोजन के शिकार हो जाते है। इस सम्बन्ध में बटलर (Butler, 1971) कुसमायोजन के शिकार होने का कारण क्रमश समाज मे स्टेटस मे कमी आना, अपनी पत्नी के हेतु, धन बचाकर रखने की इच्छा, तथा आशिक दरें एक असहाय की अवस्था के रूप मे परिस्थिति से दूर रहने की इच्छा आदि होता है।

(9) वृद्धावस्था मे फिर से शक्ति प्राप्त करने की भी इच्छा होती है (The desire for Rejuvenation is widespread in Oldage)

अल्पसख्यक समूह की स्थिति को देखते हुए अधिकतर वृद्ध इस अवस्था मे फिर से जवान बनना चाहते है। जब वे देखते है कि अब वृद्धावस्था नजदीक है तो उसके लिए वे परेशान हो जाते है तथा किस प्रकार से उसे रोका जा सकता है उसकी कोशिक करते हैं। इस सम्बन्ध मे लोग दवा आदि का प्रयोग भी करते है जैसे Sex hormone therapy (लिगहारमोन्स चिकित्सा)। इसके द्वारा लोग कुछ समय के लिए शक्ति प्राप्त करके जवान बन जाते है परन्तु ऐसा देखा गया है कि इस चिक्त्सिा से महिलाओं में गर्भाशय का कैन्सर हो जाता है। परन्तु अत्याधुनिक प्रयोग इस बात को सिद्ध करते हैं कि दवा आदि से वृद्धावस्था का रोक लेना असम्भव है (Busse, 1969)। हारमोन्स चिकित्सा लोगों में शक्ति तथा ताकत जरूर प्रदान कर सकती है परन्तु Ageing को नही रोक सकती है। इस तरह से देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि वृद्धावस्था मे फिर से जवान होने की लालसा रहती है।

वृद्धावस्था मे होने वाले परिवर्तन

(Changes during oldage)

अन्य अवस्थाओ की भॉति इस अवस्था में शारीरिक मानसिक सामाजिक व्यावसायिक तथा रुचियो मे परिवर्तन देखे जा सकते है जिनका वर्णन करना यहॉ अपेक्षित है।

1 शारीरिक परिवर्तन (Physical Changs)

इस अवस्था में शारीरिक परिवर्तन की गति तीव्र होती है। शरीर के सभी भागों में परिवर्तन दिखायी देने लगता है। शारीरिक क्षीणता दूर से ही प्रदर्शित होती है। शारीरिक हावभाव बदल जाता है। चेहरे का परिवर्तन शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा जल्दी होता है। मस्तिष्क के क्षेत्र मे जो परिवर्तन होता है वह है कि नाक का भाग बढ जाता है, दॉत टूटने के कारण मुँह की आकृति बदल जाती है। ऑखों मे चमक नही रह जाती है तथा लगता है कि ऑखे हमेशा पानी लिये हुए हैं। दो या तीन दाढियॉ विकसित हो जाती है। गालों का आकार पेन्डुलम जैसा हो जाता है। इसमे लकीरे भी दिखायी देती है। त्वचा में भी झुर्रियाँ दिखायी देती है। त्वचा पतली हो जाती है। त्वचा भूरी या सफेद होने लगती है। त्वचा में काले धब्बे भी दिखायी देने लगते हैं। सिर के बाल सफेद होने लगते हैं बाल कडे हो जाते हैं। कन्धे झुककर छोटे लगने लगते है। पेट गहरा हो जाता है। हिप्प कोमल लगने लगती है तथा चौडी हो जाती है। रिब ओर हिप के बीच का भाग चौडा हो जाता है जिससे धड का आकार ही बदल जाता है। महिलाओं का वक्षस्थल (स्तन) कोमल हो जाता है तथा नीचे लटक जाता है ऊपर की भुजाओं मे कोमलता तथा भारीपन आ जाता है जबकि निम्न भुजाएँ सिकुडी हुई मालूम पडती है। पैरों मे भी कोमलता आ जाती है। पैरों की शिराएँ उभर आती है। टखना लचकदार हो जाता है। मॉसपेशियो में सकुचन आने के कारण पैर लम्बे लगने लगते हैं पैरों तथा हाथों के नाखुन घने हो जाते हैं, कठोर हो जाते है। शरीर के आन्तरिक अगों में भी परिवर्तन होता है। मस्तिष्क का वजन कम हो जाता है। कार्टिकल टिसू के रिवन सकरे हो जाते है। हड्डियों में शिथिलता एव कमजोरी के कारण अस्थिपजर का आकार बदल जाता है। हड्डियॉ कमजोर होने के कारण टूटने का भय रहता है।

केन्द्रीय तत्रिका तत्र मे भी परिवर्तन शुरू हो जाता है। सर्वप्रथम इसका प्रभाव अधिगम मे कमी के रूप मे देखा जा सकता है। अधिगम की गति मे कमी तथा बोद्धिक क्षमता में कमी भी केन्द्रिय तत्रिका तत्र मे परिवर्तन को परिलक्षित करता है। हृदय का वजन भी शारीरिक वजन मे कमी के समानुपात में घटता है। सावेदिक परिवर्तन भी वृद्धावस्था मे दिखायी पडता है। दृष्टि तीक्ष्णता मे कमी आता है। रग के प्रति भी सवदेनशीलता मे कमी आता है। कुछ वृद्ध इस समय तक चश्मा पहनने लगते है। ऊँची आवाज को सुनने मे उन्हे कठिनाई होती है। वृद्धावस्था में महिलाओ की श्रवणशक्ति पुरुषो की तुलना मे अच्छी होती हे। स्वाद क्षमता मे भी कमी आती है। घ्राणसवेदना मे कमी आती हे। त्वचा सूखा होने के कारण तथा कठोर होने के कारण त्वचीय सवेदना जेसे स्पर्श एव दबाव मे कमी आती है।

(2) गत्यात्मक परिवर्तन (Change in Motor Abilities)

वृद्धावस्था मे गत्यात्मक योग्यताओ मे भी कमी आती है। इसका कारण शारीरिक कमजोरी एव क्षीणता से है। नेत्र हस्त समन्वय मे कमी हो आती है। गत्यात्मक क्रियाओं में कमी का होना शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक दोनो कारणो से होता हे। शारीरिक कारणों में शारीरिक शक्ति का ह्रास ऊर्जा की कमी, मॉसपेशियो के शक्ति मे कमी, जोडों मे कठोरता तथा अग्रबाहु हाथो मस्तिष्क एव निम्न जबडो मे थरथराहट या कपकपी होती हे। मनोवैज्ञानिक कारणो मे प्रमुखरूप से हीनताभाव का उत्पन्न होना है। जब वृद्ध लोग अपने गत्यात्मक क्रियायो की तुलना अपने से जवान लोगों से करते है तो उनमे प्रगति होने के कारण हीनता के भाव से ग्रस्त हो जाते हैं। सावेगिक उलझनो से भी उनकी गत्यात्मक क्रियाएँ प्रभावित होती है। इस अवस्था में अभ्यास एव काम करने की इच्छा न होने के कारण भी गत्यात्मक क्रियायें प्रभावित होती है।

ये सारे वर्णित मनोवैज्ञानिक कारक गत्यात्मक क्रियाओं मे परिवर्तन मे तेजी लावे हैं या गत्यात्मक क्रियाओ में कमी करने का प्रयास करते है। कई प्रमाण मिलते हैं कि अभ्यास तथा क्रियाकलाप गत्यात्मक क्रियाओ मे कम से कम ह्रास को बचाती हे। जो लोग बराबर अभ्यास एव कसरत वगैरह करते है उनका समन्वय अच्छा एव तीव्र होता है परन्तु जो लोग ऐसा नही कर पाते है उनका समन्वय ठीक नही होता है (Spirduso, 1975, and surburg, 1976)। निश्चित रूप से यह देखा गया है खेलकूद का प्रभाव गत्यात्मक क्रियाओं पर पडता है अनुकूल परिस्थितियो में ऐसा पाया जाता है कि कुछ व्यक्ति अपने गत्यात्मक योग्यताओ को वृद्धावस्था के स्तर तक वैसे ही बनाये रखते हैं जैसे वे पिछली अवस्थाओं में बनाये रखते थे (Spirduso, 1975)

(3) मानसिक परिवर्तन (Mental Changes)

वोल्ट्स और शाये (Baltes and Schaie, 1976) ने यह बताया है कि, इधर पिछले दशक में बौद्धिकस्तर का मनोविज्ञान एक रुढियुक्ति से ग्रस्त हे। मनोवैज्ञानिक अपने अध्ययनों के परिणामों के आधार पर यह बताया है कि यह विश्वास सही हे कि अन्य क्षेत्रों में ह्रास के साथ-साथ वृद्धावस्था मे मानसिक योग्यताओं में भी ह्रास होता है।

प्राचीन धारणा यह थी कि शारीरिक क्षीणता के साथ साथ मानसिक योग्यता में भी कमी आती है। केन्ट (Kent, 1976) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह बतलाया कि शारीरिक

क्षीणता से मानसिक क्षीणता भी प्रभावित होता है। ऐसा देखा गया कि जब वृद्ध लोगों का सेक्स हारमोन से इलाज किया गया तो उनमे मोचन याद करने स्मरण करने प्रत्याहान करने तथा बौद्धिक ऊर्जा का खर्च करने का क्षमता प्राप्त हुई। दूसरी तरफ कुछ रोग से सम्बन्धित दशाएँ होती है जैसे अतिचिन्ता जो कि बौद्धिक क्षति को वृद्धावस्था में बढाती है। यद्यपि विल्की एव एसडारफर (wilkie and Eisdorfer 1971) का कहना है कि यह क्षति सामान्य शारीरिक ह्रास का परिणाम नही होता है। पर्यावरण उत्पन्न का अभाव भी मानसिक ह्रास की गति को प्रभावित करता है। मानसिक तथा गामक अधिगम मे लगातार अभ्यास से ह्रास की गति मे कमी आता है। (Beverley, 1976 and Poes Godow tolone and walsh (1977))। श्रवणशक्ति मे कमी आने पर भी मानसिक ह्रास दिखायी पडता है। श्रवण शक्ति मे कमी से लोग ठीक ढग से दूसरे के बातो को सुन नही पाते है। जिसमे उनका क्रोध की योग्यता पभावित होती है। (Granick etal 1976)।

इसके साथ ही साथ यह भी देखा जाता है कि वृद्धावस्था मे अधिगम की क्षमता मे भी कमी आती है। निगमनात्मक चिन्तन तथा अनुगमनात्मक चिन्तन मे भी ह्रास आता है। सृजनात्मक चिन्तन मे भी कमी देखी जाती है। वृद्धलोगो में स्मृति की क्षमता मे भी कमी पाइ जाती है। प्रतयाह्वान प्रत्यावस्था की तुलना म इस आयु म ज्यादा प्रभावित होती हैं। प्रत्याह्वन मे वृद्ध लोग चाक्षुष या श्रवणीय सकेत का उपयोग करत ह। इस अवस्था मे ऐसी धारणा होती है कि वृद्ध लोग प्राय हँसी मजाक कम करते हैं। इस अवस्था में शब्दकोष मे कमी कम देखी जाती है। नये शब्दों का अधिगम इस अवस्था में सहज रूप मे होता है। मानसिक दृढता भी इस अवस्था मे देखी जाती है।

(4) लैंगिक परिवर्तन (Sexual Change)

इस अवस्था मे लैगिक शक्ति या सामर्थ्य में कमी देखी जती है। यह कमी प्राय 60 वर्ष की आयु में परिलक्षित होने लगती है तथा आगे की आयु में वर्तमान रहती है। पुरुषों मे इस अवस्था में शारीरिक क्षमता का ह्रास होने लगता है उसका दो प्रभाव दिखायी पडते हे। पहला प्रभाव यह है कि गौण लैगिंक विशेषताओ में घटाव का होना। उदाहरणार्थ—पुरुषों की आवाज का भारीपन होना, शरीर तथा चेहरे पर बालों की प्रचुरता मे कमी। सामान्य तया वृद्ध पुरुष कम पुरुषोचित (Lessmasculine) लगने लगते हैं जैसा कि वे पिछली अवस्थाओ मे नही थे। उसी तरह से वृद्ध महिलाएँ भी कम स्त्रैण वाली दिखायी देती है। ये गुण मेनोपाज के बाद दिखायी देते है। दूसरा प्रभाव यह है कि इससे लैंगिक प्रक्रिया में कमी आती है। लैंगिक सामर्थ में ह्रास होने के बावजूद यह जरूरी नही है कि इस अवस्था में लैंगिक इच्छाएँ नही होती है। तथा लैंगिक ससर्ग की योग्यता में कमी आती है। यह पाया गया है कि लैंगिक क्रियाओं में कमी शारीरिक परिवर्तन से ज्यादा सास्कृतिक कारकों से प्रभावित होता है। सास्कृतिक प्रभाव से चिन्ताएँ जनम लेती हैं जो लैंगिक व्यवहार तथा लिंग के प्रति अभिवृत्तियों को प्रभावित करती है। इस अवस्था में पुरुष तथा महिलाएँ लैगिंक ससर्ग कम करती है इसके पीछे वृद्धावस्था भी होता है। तथा कभी-कभी वे अपने लैंगिक क्षमता के प्रति हतप्रभ रहते हैं इसलिए भी होता है। वे अपने गर्व को चोट न पहुँचने पावें वे इसलिए प्राय लैंगिक ससर्ग से बचने की कोशिश करते हैं—

लिग अन्तर्नोद की क्षमता वृद्धावस्था म पूरी तरह से शारीरिक स्वास्थ्य पर निर्भर करती है या साथ ही माथ पिछले अवस्थाओ म लैंगिक समायोजन पर भी निर्भर करती है बटलर एव लैविस (Butler ind Lewis 1975) क्लीवलण्ड (Cleveland, 1976) तथा पोक्स, गोडो, टोलोन तथा वाल्स (Pocs, Godow Folone ind Walsh, 1977) अपने अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि जिन लोगो का लेगिक समायोजन पिछली अवस्थाओं मे अच्छा हाता हे उनका लेगिक ममायोजन उन लागो की तुलना मे जिनका पिछली अवस्थाओ में अच्छा नहीं होता हे उत्तम होता है।

(5) **रुचियो मे परिवर्तन** (Change in Interests)

शारीरिक मनोवैज्ञानिक एव जीवनशैली मे परिवर्तन की ही तरह वृद्धावस्था मे रुचियो मे भी परिवर्तन अवश्यम्भावी होती है रुचियो मे परिवर्तन के लिए कई महत्वपूर्ण कारक अपनी भूमिका प्रदर्शित करते है जिसमे से प्रमुख वृद्धावस्था म स्वास्थ्य सामाजिक स्थिति आर्थिक स्थिनि आवास का स्थान लिग वेवाहिक स्थिति तथा मूल्य है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि वृद्धावस्था मे जिन लोगो का स्वास्थ्य अच्छा होता है वे उन रुचियो मे अच्छा ध्यान देते हैं जिनमे ताकत एव शक्ति की जरुरत पडती है। उच्च सामाजिक समूह वाले वृद्ध निम्न सामाजिक समूह की तुलना मे सामाजिक क्रियाओ के प्रति काफी रुचि रखते है वृद्धावस्था में जिसके पास धनाभाव रहता है तो वे प्राय पिछली अवस्थाओ के अर्जित रुचियो का परित्याग करते है तथा केवल उन रुचियो पर ध्यान देते है जिसके लिए उनके पास धन आवश्यक रूप मे है। महिलाएँ समूह के रूप मे पुरुषो की तुलना मे अधिक रुचियॉ रखती है। मूल्यो मे परिवर्तन के फलस्वरूप रुचियो मे भी परिवर्तन होता है। वृद्धावस्था में प्राय वैयक्तिक रुचियॉ, सामाजिक रुचियॉ मनोरजन सम्बन्धी रुचियॉ धार्मिक रुचियॉ तथा मृत्यु मे खर्च आदि पाई जाती है। जिनका विवरण यहॉ अपेक्षित है।

वेयक्तिक रुचियॉ (Personal Interests)—वैयक्तिक रुचियो मे मुख्य रूप से उनकी रुचियॉ स्वय के प्रति हावभाव की रुचियॉ, पोशाक में रुचियो तथा धन के प्रति पाई जाती है। वृद्धावस्था मे प्राय लोग आत्म केन्द्रित एव अहम् केन्द्रित हो जाते है। वे अपने विषय मे दूसरों की तुलना मे ज्यादा सोचते है। वे दूसरो की इच्छाओ एव रुचियो की परवाह नही करते है। यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है इसके बावजूद भी वे अपने स्वास्थ्य के प्रति तथा शारीरिक प्रक्रियाओ के प्रति काफी रुचि रखते है। अगर उनमे कोई बीमारी हो जाती है तो तुरन्त अपने पारिवारिक सदस्यो से इसकी शिकायत करते है। वे जब किसी से बात करते है तो बिना विराम क बात करते जाते है तथा बातो मे ज्यादातर उनके भूतकाल की रुचियॉ तथा आशाएँ एव प्रत्याशाएँ ज्यादा दिखायी देती है। आत्म केन्द्रित होने के कारण उनके प्रति प्रतिकूल सामाजिक अभिवृत्तियॉ जन्म ले लेती हैं। युवा लोग जो यह समझते है कि वृद्ध लोग आत्मकेन्द्रित न होकर समाज केन्द्रित तथा स्वार्थी न होकर नि स्वार्थी होना देखना चाहते है वे इस बात को लेकर काफी परेशान रहते हैं कि जो सहयोग इनसे मिलना चाहिए वह मिलकर न बल्कि उनका व्यवहार सामाजिक व्यवहार न होकर आत्म केन्द्रित व्यवहार हो जाता है इस प्रकार की प्रतिकूल सामाजिक अभिवृत्तियॉ युवा लोगों मे जन्म लेने लगती है।

वृद्धावस्था में लोग अपने शारीरिक धनाभाव के प्रति इच्छुक रहते है वे समझते हैं कि जैसे हम प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे दिख रहे थे उनमें क्या परिवर्तन हो रहा है? इस अवस्था में

कुछ लोग भद्दगी लिए हुए होते है जबकि अन्य लोग अपनी पोशाक साफ सुथरी रखते है। जिससे लोग उन्हे अभी भी वृद्ध न समझ सके। ज्यादेतर लोग अपने शारीरिक प्रदशन को महत्त्वपूर्ण मानते है। शारीरिक हावभाव की रुचि मे उनके आर्थिक स्तर की प्रमुख भूमिका होती है। अर्थाभाव मे कुछ लोग अपने शारीरिक हावभाव को उतना महत्व नही दे पाते हैं जितना देना चाहते है। आवास का स्थान भी उनके हावभाव की रुचियो को प्रभावित करता है जो लोग अकेले रहते है उनमे उसके प्रति रुचियाँ कम होती है तथा जो लोग अपने विकसित बच्चों के साथ रहते है उनकी रुचियाँ अपने शारीरिक हावभाव के प्रति ज्यादा होते है। ऐसा भी देखा गया है कि वृद्ध पुरुष वृद्ध महिलाओ की तुलना मे अपने हावभाव के प्रति ज्यादा रुचि रखते है इसका कारण उच्च आर्थिक स्तर का न होना भी हो सकता है क्योकि पुरुषो की साज सज्जा मे महिलाओ की तुलना मे कम खर्च पडता है इसलिए हावभाव के कारण महिलाओ की रुचि घटने लगती है।

वृद्धावस्था मे कपडे पहनने की खर्च भी तीव्र दिखायी देती है। कपडे के प्रति रुचि भी उनकी क्रियाशीलता तथा आर्थिक स्तर पर निभर करता है। इस अवस्था मे यदि आर्थिक स्तर उच्च हे तो ज्यादातर वृद्ध फशन हिसाब से कपडा पहनना पसन्द करते हैं वे समझते है कि वेशभूषा भी उम्र को कम करती हे। यानि उम्र उसमे छिप जाती है। इस सम्बन्ध मे महिलाएँ भी पीछे नही रहती हे बशर्ते कि उनका आर्थिक ससाधन उसके लिए उपयुक्त हो। अगर आय कम है तो ज्यादातर वृद्ध पुरुष एव महिलाएँ सीमित सरल पोशाक पहनना पसन्द करते हैं।

इस अवस्था मे धन के प्रति भी रुचि देखी जाती है। यह रुचि मध्यावस्था से ही शुरू हो जाती है तथा वृद्धावस्था में भी स्वत दिखायी पडती है जैसा कि हमे मालूम है कि रुचियों में वृद्धि होने पर तथा उसे सुसज्जित करने में धन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धन की कमी से वृद्धि लोगों की जीवन शैली भी परिवर्तित हो जाती है। धनाभाव में बहुत सी महिलाएँ एव पुरुषों को अपनी दूसरी आवश्यकताओ को या तो कम करना पडता है या तिलाजलि देनी पडती है धनाभाव मे भ्रमण करना, मित्रो के यहॉ जाना तथा छुट्टियाँ मनाने मे उन्हे कठिनाइ होती है। (Friedsom and Mantin, 1973)।

मनोरजन सम्बन्धी रुचियाँ (Recreational Interests)—इस अवस्था में भी उन सभी मनोरजन के साधनों को व्यवस्थित रखना चाहती है जो पिछली अवस्थाओं में मनोरजन प्रदान करते रहे है। इस मनोरजन के साधनों में जब आवश्यकता होती है तो परिवर्तन भी किया जाता है। (Decerlo, 1974) । सही अर्थो में यदि देखा जाये तो वृद्धावस्था में रुचियों मे परिवर्तन कम होता है। बल्कि मनोरजन सम्बन्धी रुचियाँ सकुचित हो जाती हैं। इस अवस्था की समान्य मनोरजन सम्बन्धी क्रियाएँ निम्नलिखित होती हैं जैसे—पढाई करना पत्र लिखना, रेडियो सामान्य, टेलीफोन करना, टी वी देखना, मित्रों के यहॉ भ्रमण करना, सम्बन्धियों के यहॉ जाना, सिलाई करना, कढाई एव बेलबूटा का काम करना, बागवानी करना, यात्रा पर जाना ताश खेलना, सिनेमा देखना, नागरिक सम्बन्धी क्रियाओं में सहभागी बनना राजनीति में हस्तक्षेप करना, धार्मिक सस्थाओ की क्रियाओं में भागीदारी निभाना आदि होता है। (Beverley 1975)। अग्र तालिका यह प्रदर्शित करती है कि वृद्धावस्था में क्या क्या मनोरजन सम्बन्धी क्रियाएँ होती हैं। यह परिणाम एक राष्ट्रीयस्तर के सर्वेक्षण से प्राप्त हुआ है।

(Common Recreational Activities in Old age)

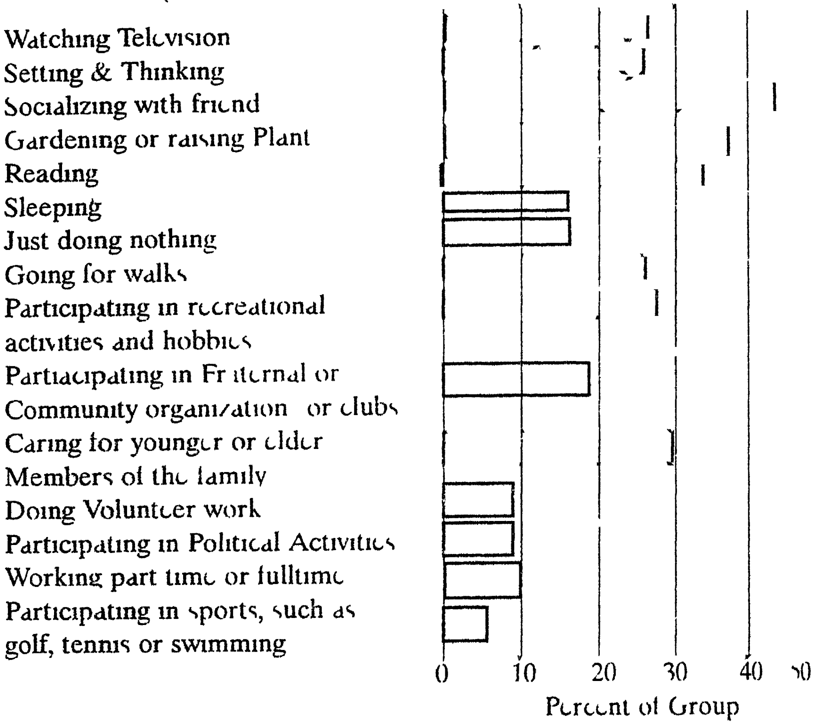

(Adopted from E V Beverley The begining of wisdom about aging, Geiatrics 1975, 30 (7) 116 119, 122 123, 127 128

सामाजिक रुचियाँ (Social Interests)—वृद्धावस्था मे आयु मे वृद्धि होने के साथ साथ ज्यादातर लोग सामाजिक कार्यान्मूलन (Social dischargement) मे ग्रस्त होते ह। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक वातावरण से पलायन की प्रक्रिया का शुरू होना (Kalish 1972) । इस सम्बन्ध में बिरेन (Birren, 1964) ने सामाजिक पलायन या सामाजिक कार्यामुक्ति की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि उसमे 4 तत्व प्रमुख रूप से तत्पर होते हैं प्रथम तत्व है—दूसरे लोगों से कम लगाव, दूसरा तत्व सामाजिक भूमिकाओं के निर्बाहन में कमी का आना, तीसरा तत्व मानसिक योग्यता का अधिक प्रयोग तथा चौथा तत्व शारीरिक क्रियाओं में अल्प क्रियाशीलता का होना।

सामाजिक कार्यान्मुक्ति वृद्धावस्था की समान समस्या है। इस अवस्था मे सामाजिक सम्पर्क तथा सामाजिक सहभागिता मे कमी आती है। सामाजिक कार्योन्मुक्ति स्वैच्छिक तथा अनैच्छिक दोनो हो सकती है। स्वेच्छिक सामाजिक कार्योन्मुक्ति की दशा में वृद्ध लोग अपने को सामाजिक क्रियाओ मे स्वेच्छा से अलग करते है क्योंकि इस अवस्था में उनकी रुचियाँ अपने तक ही सीमित रहती है वे दूसरा के प्रति तथा सामाजिक कार्यों के प्रति ध्यान कम देते हैं उनका क्षेत्र केवल स्वय एव उनका परिवार ही हो जाता है। वे आत्मकेन्द्रित एव अहम् केन्द्रित हो जाते है इस कारण से भी सामाजिक कार्यों से पलायन प्रदर्शित होता है। अनैच्छिक सामाजिक कार्योन्मुक्ति उस समय प्रदर्शित होती है जब वृद्ध लोग सामाजिक सम्पर्क की

आवश्यकता एव इच्छा महसूस करते ह परन्तु वे इस आवश्यक्ता या इच्छा की पूर्ति में कुछ परिस्थिति के कारण सुअवसर नही प्राप्त कर पात हैं। उदाहरणार्थ कुछ उनके ममकक्ष लोगो की या तो मृत्यु हो जाती है या वे शारीरिक एव आर्थिकरूप से इतने कमजोर होते हें कि व इनसे सम्पर्क नही कर पाते है। इस तरह से वृद्ध लोगो को अपने लागो से साथ बहुत दिन तक नही रह पाता हे उसके कारण वे सामाजिक सम्पर्क बनाने मे अनिच्छा जाहिर करते हैं यह भी देखा जाता हे कि यदि वृद्ध लोगो क आय के साधन कम हैं तो वे अपने मित्रों से मिलने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही जा पाते है। आय मे कमी के कारण वे सामाजिक कार्यों मे भाग नही ले पाता हे। वे ये समझते है कि आय मे कमी के कारण वे अपने युवा सम्बन्धियो एव मित्रो के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने मे असमर्थ है। इस कारण सामाजिक कार्यान्मुक्ति का उनके प्रति प्रतिष्ठत सामाजिक अभिवृत्तियाँ भी होती हैं। (Kalish 1972)। उम्र मे वृद्धि होने के कारण साथ साथ उनकी सामाजिक क्रियाओं की सहभागिता मे भी ह्रास होता हे। 60 वर्ष के बाद या सेवानिवृत्ति के बाद यह देखा गया है कि सामाजिक सस्थाओं का सदस्य होने के प्रति उनकी रुचि मे कमी आती है। सामाजिक सस्थाओं के सचालन तथा सामाजिक सस्थाओ की सभाओ मे उनकी सहभागिता मे कमी आती है (Cutter, 1977, and Toseland and sykes 1977) । सामाजिक सहभागिता मे कमी आने के कई कारण होते है। प्राय उनका शारीरिक स्वास्थ वृद्धावस्था में खराब रहता है इसके कारण भी सामाजिक कार्यो मे रुचि समाप्त होती जाती है। तथा सामाजिक सहभागिता में भी कमी आती है। इस तरह से स्वास्थ खराब होना एक प्रमुख कारण इसका माना जा सकता है। कल्टर एव टॉसलेण्ड एवम् सहाइक्स (Cutter, 1977 and Toseland and Syskes, 1977) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह पाया है कि जो वृद्ध अपने किशोरावस्था एव प्रारम्भिक प्रौढावस्था में सामाजिक क्रियाओ के प्रति क्रियाशील रहते है वे इस वृद्धावस्था में भी सामाजिक क्रियाओं के प्रति क्रियाशील पाये जाते हैं यद्यपि उनका स्वास्थ्य ठीक हो तथा पारिवारिक स्थिति उसके लिए प्रेरित करती है।

सामाजिक आर्थिक स्तर भा सामाजिक क्रियाओं की सहभागिता के लिए उत्तरदायी होती है। यह देखा गया है कि उच्च वर्ग के व्यक्तियों की तुलना में निम्न वर्ग के व्यक्तियों की सामाजिक सहभागिता कम होती है। अत सामाजिक आर्थिक स्तर यदि अच्छा है तो ऐसे वृद्ध सामाजिक कार्यों मे ज्यादा रुचि लेते हैं। व्यक्ति की स्थिति में परिवर्तन होने से भी सामाजिक सहभागिता प्रभावित होती है। इस कारण या तो दम्पत्ति में से किसी एक की मृत्यु का होना या सेवानिवृत्ति भी हो सकता है। प्राय 60 वर्ष की आयु में बहुत कम स्त्री एव पुरुष विधवा या विधुर होते हैं तथा 60 वर्ष की आयु में ज्यादातर लोग विवाहित जीवन का आनन्द उठाते हैं परन्तु 70 वर्ष की आयु मे विधवा तथा विधुरों की सख्या में बढोत्तरी होती है। इसके कारण ज्यादातर विधवा एव विधुर 70 वर्ष की आयु में मित्रता तथा सामाजिक सम्बन्ध के बढाने का प्रयास करते है। (Petrowsky, 1976)।

इसी प्रकार की धारणा यह भी है कि जब स्त्री तथा पुरुष सेवानिवृत्त हो जाते है। तथा उनके मित्र या समकक्ष के लोग अभी सेवानिवृत्त नहीं हो पाये है तो वे इस धारणा से विचलित हो जाते है कि जो लोग अभी कार्यरत हैं वही सामाजिक सहभागिता के पात्र है, हम नहीं। परन्तु जब उसके मित्र भी सेवानिवृत्त हो जाते वे अपनी रुचियों में तथा सामाजिक सहभागिता में उनसे मेल खाते हैं। उन्हें सामाजीकरण का पर्याप्त अवसर मिलता है जिसके फलस्वरूप वे सामाजिक क्रियाओं में सहभागिता प्रदर्शित करने लगते हैं।

धार्मिक रुचियाँ (Religious Interests) – प्राय एसी धारणा ह कि जब वृद्ध लाग मृत्यु के करीब अपने को समझते है तो उनकी धार्मिक रुचियो म बढोत्तरी हानी ह। धार्मिक रुचियो तथा धार्मिक क्रियाओ पर जो शोध किये गय उनस यह पता चलता ह कि आयु म वृद्धि होने के साथ साथ व्यक्ति धार्मिक होता जाता ह। परन्तु कुछ शोध इस बात की स्वीकृति नही प्रदान करते है तथा उनका विश्लेषण यह ह कि उम्र मे वृद्धि के साथ साथ धार्मिक रुचियो मे कमी आती है। यद्यपि वृद्धावस्था मे धार्मिक रुचिया के प्रति कमी आन के बावजूद वृद्ध लागो मे धार्मिक विश्वास की भावना वेसे ही बनी रहती हे जस उनकी पिछली अवस्थाओ मे पायी जाती रही है। (Blank 1972 & Blazer and Palmore, 1997б) । इस सम्बन्ध मे covalt (1965) कहना है।

'The attitude of most older people about religion is probably most often that with which they grexw up or which they have accepted as they achieved intellectual maturity Patterns of worship and of Church atten dence have remained mach the same or have been modified by circumstances which, to the individual are logical modifications

पूजाघरो मे उपस्थिति से उन्हे सामाजिक सम्बन्ध बनाने का अवसर मिलता है तथा ऐसा देखा जाता है उन्हे अकेलेपन की भावना से मुक्ति मिलती है। इसके अलावाँ यह भी विश्वास है कि मदिरो, मस्जिदो गुरुद्वारा एव चर्च के जाने पर धार्मिकता उनके मृत्यु के प्रति चिन्ता को कम करती है तथा वे मानते है कि मृत्यु के बाद का भी जीवन मेरा अच्छा होगा इस बार धार्मिकता मे वृद्धि होती है। जैसाकि मोवर्ग (Moberg, 1968) ने व्यक्त किया है कि, ' A seves of serenity and decreased fear of death tend to accompany conservative Liliqious beliefs '

पूजाघरो मे जाने का चाहे जो भी कारण हो परन्तु एक बात सत्य है कि इससे वृद्धावस्था मे अच्छा समायोजन होता है। (Blazer & Palmore, 1976, Borges and Dutton, 1976 and Moberg, 1968) ।

इस सम्बन्ध मे कोबाल्ट (1965) का कथन है कि ऐसी पुष्टि होती है कि धार्मिकता एक सन्दर्भ समूह को जन्म देती है जो वृद्ध लोगे को सुरक्षा एव मदद प्रदान करते है। अधार्मिक लोग इस सुरक्षा एव मदद से वचित रहते है।

मृत्यु मे रुचि (Interest in Death) – वृद्धावस्था मे वृद्ध लोग अपने मृत्यु के प्रति काफी चिन्तित रहते है तथा उनके मन मे अपने मृत्यु के प्रति काफी सवाल उठते है। वे अपने मृत्यु से मृत्यु के बाद के जीवन के प्रति काफी चिन्तित रहते है। जैसा कि विश्वास है कि स्वर्ग एव नरक दो प्रकार के स्थल है जहाँ पर मृत्यु के बाद व्यक्ति को स्थान मिलता है उसके प्रति भी काफी परेशान रहते है कि पता नही मुझे क्या मिलेगा।

प्रथम प्रश्न जो वृद्ध लोगो के मन मे उठता है वह हे कि 'मेरी मृत्यु कब होगी ? वे इससे बहुत परेशान रहते हैं कि मेरी मृत्यु के विषय मे क्या डाक्टर एव जीवन बीमा वाले कार्यकर्ता भविष्यवाणी नही कर सकते है ? वे ऐसा अनुमान लगाते है कि इस पारिवारिक स्थिति स्वास्थ्य की दशा के आधार पर हम कितने दिन तक और जीवित रह सकते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते है जिन्हे मृत्यु की चिन्ता नही रहती है परन्तु वे इस बात से ज्यादा परेशान रहते हैं कि अभी कौन-सा काम मेरे जीवन का करने के लिए शेष रह गया है क्या मै इस

वृद्धावस्था मे कर पाऊँगा कि नही ? ऐसे लोग डाक्टर से यह जानना चाहते हैं कि यदि मेरे मृत्यु का पता चल जाये तो मै इस अधूरे कार्य को पूरा कर सकूँ।

दूसरा प्रश्न जो उनके मन में उठता है वह है कि 'मेरे मृत्यु का क्या कारण होगा ?' जबकि साख्यिक्यीय यह प्रदर्शित करती है कि मृत्यु का कारण प्राय केन्सर, हृदयरोग मस्तिष्क आघात पक्षाघात तथा दुर्घटना ही होती है परन्तु कुछ अन्य कारण भी इसके लिए जिम्मेदार होते है। (Fischer, 1977 and Kartenbaum & Aisenberg, 1976) । इस प्रश्न की रुचि मे कि मेरे मृत्यु का क्या कारण होगा लोग उससे चार प्रमुख क्षेत्र में अपना ध्यान केन्द्रित करते है पहला क्षेत्र होता है कि वे यह सोचते हैं कि यदि मुझे मृत्यु का कारण मालुम हो जाय तो उमसे कैसे छुटकारा मिल सकता है उसके विषय मे रुचि रखते हैं। उदाहरणार्थ यदि उन्हे मालूम हो जाये कि उनके मृत्यु का कारण मस्तिष्क आघात या पक्षाघात हो सकता ह तो वे इससे मुक्ति के लिए वे सस्तुत भोजन की खुराक कसरत तथा भार मे कमी लाने के प्रयास करेगे जैसा कि डाक्टरो ने सलाह दी है।

दूसरा प्रमुख क्षेत्र होता है ध्यान केन्द्रण कि वे अपने अधूरे कार्य इस कम समय में कैसे कर पायेगे। वे जानते है कि मेरे मृत्यु का कारण यह हो सकता है। इसके लिए वे जिस रोग से चिन्तित रहते है तथा समझते हैं कि यही रोग मृत्यु का कारण बनेगा तो वे इससे शीघ्र मुक्ति चाहते हैं। जिससे अधूरे काम पूरे हो सके। तीसरा क्षेत्र आर्थिक सम्बन्धी होता है। उदाहरणार्थ ये इसके लिए परेशान हो सकते हैं कि उनकी मृत्यु हृदय गति के रुक जाने से होगी जो कि एकाएक होता हें और इलाज के लिए समय भी कम देता है तो वे ऐसी जीवन दर्शन अनुकूलित कर लेते है जैसे — खाओ पियो मस्त रहो। (Eat, Drink , and Merry) उनका यह जीवन दर्शन अर्थ के लिए प्रेरित करता है। ऐसे लोग जो अर्थाभाव से पीडित रहते हैं वे यदि यह समझते ह कि उनकी मृत्यु धीरे धीरे घिसटी हुई होगी तो वे उससे परेशान होते हैं कि क्या चिकित्सीय इलाज के लिए उनके पास पैसा है तथा पारिवारिक दायित्व का खर्च इससे वहन हो पायेगा।

चोथा क्षेत्र जो ध्यान केन्द्रण का विषय होता है वह होता है कि उनके मृत्यु का क्या कारण होगा तथा उनका मृत्यु के पास का जीवन सुधार होगा या दुखद ऐसी चिन्ताओ से ग्रस्त रहते है। वे समझते है कि उस समय यदि माना कि रूप से तन्मय रहेंगे तो निर्णय लेने में सहूलियत होगी कि ऐसे समय में क्या करना चाहिए।

तीसरा प्रश्न जो वृद्ध लोगो के मन में उठता है वह है कि मुझे अपनी इच्छानुसार मृत्यु हेतु क्या करना चाहिए। (What can I do to die as I with to die ?) ज्यादातर पुरुष तथा महिलाएँ मृत्यु के प्रति ऐसा विश्वास उत्पन्न कर लेते हैं कि यह ईश्वरेच्छा (God's will) पर निर्भर होता है। मेरा इसमें कोई नियन्त्रण या वश नही है। इसीलिए इस मामले या विषय पर मनुष्य को अपनी आवाज नही उठानी चाहिए। इस सम्बन्ध में स्त्री तथा पुरुष काफी चिन्तित रहते है कि मुझे क्या करना चाहिए। वृद्ध पुरुष जो ऐसा विश्वास करते हैं कि उन्हें यह अधिकार होना चाहिए कि मुझे कैसा मरना होगा तथा वे अपने जीवन इच्छा को प्रदर्शित करने की कोशिश करते हैं। इस वसीयत में वे अपनी इच्छाओं को दर्शाते हैं। इस वसीयत में वे अपने मृत्यु के विषय में बताते हैं तथा इसका भी जिकर करते हैं कि यदि मेरी मृत्यु इस तरह से हो तो मृत्यु के बाद मेरे शरीर को क्या करना चाहिए। दूसरा यह होता है कि इस वसीयत के सहारे वे परिवार के ठीक दूसरे क्रम में आने वाले व्यक्ति को उसकी इच्छाओं की पूर्ति का दायित्व मिलता है। इस तरह से वे अपने मृत्यु एव वसीयत के प्रति रुचि रखते हैं।

चोथा सवाल जो वृद्ध लोगो के मन मे हिलोर लेता हे वह हे क्या म अपने जीवन को खत्म करने के प्रति तर्क युक्त प्रणाली अपना रहा हूँ। क्या मुझे अपनी मृत्यु लेन का अधिकार हे। कुछ लोग यह विश्वास करते हे कि यदि जीवन बरदाश्त के युक्त न हो ता क्या आत्महत्या करना उचित नही है। परन्तु इस विषय पर काफी चर्चा हाती रही हे तथा मृत्यु को एक कानूनी अधिकार दिलाने की बात पाश्चिक देशो मे चल रही हे। परन्तु आज तक इस पर कोई उचित निर्णय नही लिया जा सका है। मम्प्रति लोग प्राकृतिक मृत्यु (Natural Death) मे ज्यादा विश्वास करते है ऐसा इसलिए कि वे मृत्यु को शाति रूप मे देखते है। यद्यपि नैतिक एव धार्मिक प्रशिक्षण हमेशा गलत तरीके से इह लीला समाप्त करने को गलत मानते हे। उनका विश्वास होता हे कि आत्म हत्या करने के बाद व्यक्ति मर जाता है परन्तु उसकी पारिवारिक शाति भग हो जाती है। परन्तु अमेरिकन आत्महत्या को उचित ठहराते हैं। (Hall and comeron, 1976 and Portwood, 1976)।

अतिम पश्न जो वृद्ध लोगो को परेशान करता है वह हे कि मुझे अच्छी मृत्यु कैसे मिल सकती है ? जबकि अच्छी मृत्यु का मतलब विभिन्न लोगो के लिए विभिन्न होगा। इस सम्बन्ध मे शुल्ज (Schultz, 1978) का कथन है कि अच्छी मृत्यु का तीन मापदण्ड होना हे। प्रथम जो मृत्यु दर्दविहीन हो। दूसरा जो मृत्यु मान एव प्रतिष्ठा की आवश्यकता को पूरी करती हो। तथा तीसरा मापदण्ड यह होता है जो लोग वृद्ध लोगो की सेवा सुश्रुषा कर रहे है उनका प्यार एव स्नेह उन्हें मिलता रहे। ऐसा इसलिए होता हे कि जो लोग वृद्ध लोगो के पास रहते है वे उन्हे आश्वासन देते है कि आपकी मृत्यु के बाद भी आपकी इच्छाओ का हम पालन तथा अनकुरण करेगे। यह बात उन्हें मानसिक शाति प्रदान करती है तथा उनकी मृत्यु अच्छी होती है ऐसा मानते है।

ऐसा देखा जाता है कि मृत्यु के प्रति रुचियो मे लिग का सामाजिक समर्थ के स्तर का तथा धार्मिकता का प्रभाव पडता है। प्राय वृद्ध पुरुषो की तुलना मे वृद्ध महिलाओ का मृत्यु के प्रति रुचियो मे विभिन्न दिखायी देती है प्राय ऐसा देखा जाता है कि वृद्ध पुरुष अपने महिलाओं को मृत्यु को पहले चाहते हैं ऐसा इसलिए कि वे चिन्तित रहते हैं कि पता नही मेरी मृत्यु के बाद उसका क्या हश्र होगा। पारिवारिक सहयोग कितना मिलेगा इसलिए वे चाहते हैं कि मृत्यु पत्नी के पहले हो जाये मेरी बाद में। परन्तु ऐसा ही विश्वास तथा इच्छा महिलाओं में देखी जाती है। वे समझती है कि मेरे पति के मृत्यु के बाद पता नही मेरा जीवन कैसा होगा। सामाजिक सम्मान वैसा होगा बल्कि उनका ध्यान अपने पति की मृत्यु की तरफ ज्यादा होता है न कि स्वय की तरफ। बहुत सी महिलाएँ वैधव्यपन से परेशान होती है कि इसका मतलब क्या होता है ? वे इस तरह भी काफी चिन्तित रहती है कि पता नही पति के मृत्यु के बाद उनकी आर्थिक दशा कैसी होगी ? वे परिवार का भरण पोषण कैसी करेगी। परन्तु, बहुत सी महिलाएँ अपनी मृत्यु पहले चाहती हैं। भारतीय सस्कृति में पत्नी की मृत्यु पति के सामने हो जाये तो इसे अच्छा मानते है तथा पत्नी को वैधव्यपन से मुक्ति मिलती है अत मृत्यु के प्रति रुचियों में एक सस्कृति से दूसरी सस्कृति में भी अन्तर मिलता है (Fischer, 1977, Kartcm, 1976)।

वृद्धावस्था मे समस्याएँ
(Hazards during Oldage)

वृद्धावस्था में अन्य अवस्थाओं की तरह ही वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन की समस्या मिलती है। जो समस्याएँ प्राय वृद्धावस्था में परिलक्षित होती हैं निम्नलिखित हैं—

(1) शारीरिक समस्याएँ (Physical Hazards)—वृद्धावस्था में शारीरिक समस्याएँ ज्यादा दिखती हैं। सामान्यरूप से जो शारीरिक समस्याएँ प्राय सभी वृद्धों में पायी जाती है वे

होती है—रोग एव शारीरिक विकलागता की समस्या कुपोषण की समस्या, दन्तिविकृति की समस्या, लैगिक वचन की समस्या तथा दुर्घटनाओ की समस्या। प्राय यह देखा जाता है कि इस अवस्था मे रक्त सचार मे कमी आ जाती है तथा वृद्ध लोगो मे चयापचय की समस्या भी तीव्रगति मे पायी जाती है। जोडो मे दर्द की समस्या , ह्दय स्पन्दन की समस्या अरथराइटिस (Arthritiss) की समस्या भी दिखायी पडती है। इस आयु में वृद्ध लोगो की श्रवण शक्ति तथा दृष्टि क्षमता मे भी कमी देखी जाती है उससे वे भी काफी परेशान रहते हैं तनाव की स्थिति तथा मानसिक एव नाडी तन्त्र मे गडबडी से भी वे काफी चिन्तित रहते हैं। इन सभी के अतिरिक्त शारीरिक क्षमता मे ह्रास से भी वे काफी परेशान रहते है। इस अवस्था में पाचन शक्ति में गडबडी के कारण भी वे कुपोषण के शिकार हो जाते हैं प्राय ज्यादातर लोगों की इस अवस्था में दॉत टूट जाते है या कमजोर हो जाते हैं। जिसके कारण उन्हें खाने पीने में भी समस्या होती है। कुछ लोग इस अवस्था में डैन्जर्स आदि का प्रयोग करते हैं परन्तु उसके बावजूद भी उन्हें भोजन चूसने एव चबाने में कठिनाई होती है जिसके परिणामस्वरूप प्रोटीन जैसे पदार्था का सेवन उचित ढग से नही कर पाते है और शारीरिक क्षमता मे ह्रास दिखायी देता है। दॉतो के टूट जाने के कारण उनकी वाणी भी विकृत हो जाती है। प्राय वाणी विकृति मे अशुद्ध उच्चारण एव अस्पष्ट उच्चारण की समस्या प्रदर्शित होती है। इस उच्चारण से उन्हे आत्मग्लानि होती है। उस अवस्था में प्राय यह भी देखा जाता है कि प्रतिकूल सामाजिक अभिवृत्तियो के कारण लैगिक क्रियाओ में भी कमी आती है या प्राय समाप्त हो जाती है। ऐसा देखा जाता है कि विवाहित लोग जो अपने वैवाहिक जीवन से प्रसन्न रहते हैं वे ज्यादा स्वस्थ एव दीर्घायु होते है तथा ऐसे लोग जो विवाहित होते हैं या जिनकी दम्पत्ति में से किसी एक की मृत्यु हो जाये ऐसा लोग तथा जो लोग लैंगिक क्रियाओं के प्रति निक्रिय हो जायें तो वे स्वस्थ नही रहते हैं तथा उनकी आयु भी कम होती है।

अतिम समस्या यह भी होती है कि वृद्ध लोग दुर्घटनोन्मुख ज्यादा होते हैं। इन दुर्घटनाओं के पीछे उनकी शारीरिक अस्वस्थता, ऑखों तथा श्रवण शक्ति में कमी आदि का हाथ होता है। प्राय यह भी देखा जाता है कि वृद्ध महिलाओं में आग से जलने की दुर्घटनाएँ बहुत होती है। यह दुर्घटना दृष्टितीक्षणता में कमी का कारण होती है। कभी-कभी शारीरिक समस्याओं का कारण आर्थिक कारणो से जुडा हुआ होता है। इन आर्थिक समस्याओं के फलस्वरूप वे लोग जो कार्य करना चाहते हैं उसमें कटौती करते हैं तथा स्वास्थ्य पर पूरा ध्यान नही देते है। घर मे उनके बच्चे तथा सगे सम्बन्धी यदि उनके शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान देते है तो वे अक्सर वृद्ध लोगो पर क्रोधित हो जाते हैं जिससे वृद्ध लोगों को ग्लानि होती है तथा उनका शारीरिक एव सामाजिक समायोजन ठीक से नही हो पाता है।

(2) मनोवैज्ञानिक समस्याएँ (Psychological Hazards) – वृद्धावस्था में बहुत सारी मनोवैज्ञानिक समस्याएँ भी होती हैं। ऐसा नही है कि ये मनोवैज्ञानिक समस्याएँ केवल वृद्धावस्था में होती है बल्कि ये समस्याएँ अन्य अवस्थाओं में भी पाई जाती हैं। परन्तु वृद्धावस्था में मनोवैज्ञानिक समस्याएँ इनके सामाजिक समायोजन को बुरी तरह से प्रभावित करती हैं। प्राय जो सामान्य मनोवैज्ञानिक समस्याएँ वृद्धावस्था में प्रदर्शित होती हैं वे मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—

(1) वृद्धो की सास्कृतिक रूढियुक्तियो की स्वीकृति (Acceptance of cultural stereotypes of the Elderly) – प्रथम गम्भीर मनोवैज्ञानिक समस्या वृद्धों के सामने यह होती है कि वे वृद्धो के प्रति सास्कृतिक तथा पारस्परिक रूढियुक्तियों को स्वीकृति प्रदान करना

है। यह इसलिए समस्या होती है कि ये पारस्परिक विश्वास एव रूढियुक्ति वृद्धो मे ऐसी भावना उद्दीप्त करती है कि वृद्ध लोग हीनता से ग्रस्त तथा अनुपयुक्तता से भी ग्रस्त होते है। यह समस्या उन्हे निष्क्रिय बना देती है तथा वे जिस काम को करने के लिए सक्षम होते है उसे भी करने के लिए प्रेरित नही होते है। उदाहरण के लिए जो वृद्ध लोग ऐसा विश्वास करते है कि अब वे बहुत वृद्ध हो गये है इसलिए नयी क्रियाएँ तथा कौशल को नही सीख सकते है क्योकि उनका कहना होता कि बूढे कुत्ते को नयी कौशल नही सिखाया जा सकता है। (You can not teach an old age new tricks) । जबकि ऐसा देखा जाता है कि वृद्ध पुरुषो की तुलना मे वृद्ध महिलाएँ उस सास्कृतिक रूढियुक्तियो तथा विश्वासो मे ज्यादा प्रभावित होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योकि समाज के लोग वृद्ध महिलाओ को नकारात्मक रूप मे लेते है जैसे अनाकर्षक होना तथा धनाभाव एव वैधव्यन की अवस्था मे शारीरिक स्वास्थ्य का गिरना। यह निषेधात्मक अभिवृत्ति वृद्ध महिलाओ के वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन को प्रभावित करती है। (Payne and Whittington, 1976) ।

(2) **उम्र बढने के साथ-साथ शारीरिक परिवर्तन को प्रभाव** (Effect of Physical Changes in ageing) – दूसरी मनोवैज्ञानिक समस्या वृद्धावस्था मे शारीरिक परिवर्तन के कारण दिखायी देती है। प्राय ऐसी भावना जन्म ले लेती है कि अब वे उतनी उपयुक्त एव समर्थ नही रह गयी है जितनी पहले थी। इस भावना से उनमे हीनता जन्म ले लेती है। शारीरिक अनाकर्षकता तथा लिगोचित निष्पादन मे कमी वृद्ध पुरुषो तथा महिलाओ मे हीनता की भावना उद्दीप्त करती है जिसके फलस्वरूप सामाजिक समूह उन्हें स्वीकार नही करता है इसी अवस्था मे यह भी देखा जाता है कि श्रवण शक्ति क्षीण हो जाने के कारण वृद्ध लोग दूसरे लोगो से बातचीत करने मे असमर्थ होते है। कुछ लोगो मे दॉत न होने के कारण अस्पष्ट एव अशुद्ध उच्चारण की वाणीविकृति जन्म लेती है। जिसके फलस्वरूप वे अच्छी नरह से सम्प्रेषण नही कर सकते हैं। इसके कारण भी सामाजिक सम्बन्धो मे कमी आती है। (Meyerson 1976) ।

(3) **मानसिक रूप से भूलने की प्रवृत्ति** (Tendency to 'slip' Mentally) – तीसरी मनोवैज्ञानिक समस्या उनके भूलने की प्रवृत्ति से सम्बन्धित होती हे वे प्राय इस आशका से ग्रस्त रहते है कि अब वे वृद्ध हो रहे है अत उनकी मानसिक क्षमता मे भी ह्रास होगी। वे प्राय इससे आशकित रहते है कि अब वे प्राय चीजो को भूल जाया करेगे। उनकी याददाश्त कमजोर हो जायेगी। वे ये भी समझते हैं कि अब मुझे नये नाम, नयी तथ्यों को याद करने मे कठिनाई होगी। इन सभी भावनाओ से ग्रस्त होने पर वे समझते है कि अब हम लोग बहुत बूढे हो गये है तथा जो काम अभी वे करने के योग्य होते है उन्हे भी छोड देना ज्यादा पसद करते है इस तरह से उनमे सामाजिक विलगन की समस्या भी जन्म लेती है। (Goodrow, 1975) ।

(4) **जीवन शैली मे परिवर्तन** (Changes in life Patterns) – इस अवस्था में उन्हें अपनी जीवन शैली मे भी परिवर्तन करना पडता है उस अवस्था मे एक उपयुक्त जीवन शैली धारण करने की मनोवैज्ञानिक समस्या जन्म लेती है। प्राय सेवानिवृत्ति के बाद उन्हें अपने बच्चो के साथ रहना पडता है जिसके कारण उन्हें अपने पुराने जीवन शैली को त्यागकर नयी उपयुक्त जीवन शैली ही अपनानी पडती है ऐसा करने मे भी उन्हे काफी मानसिक परेशानी होती है। इस सम्बन्ध मे Stre (1968) का कहना है कि बहुत सारे लोगों में अपना घर छोडकर बच्चो के साथ रहने मे असमजस की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उन्ही के शब्दों में, "Part of our depression at the loss of possessions is due to our feeling

that we must now go without certain goods that we expected the possession to bring in their train Yet in every case there remains over and above this, a sense of the shrinkage of our personality, which is a psychological phenomenon by itself"

(5) **सुस्ती से अपराध की भावना** (Feelings of Guilt about idleness) – पॉचवी मनोवैज्ञानिक समस्या सुस्ती के कारण अपराध की भावना के जन्म से सम्बन्धित होती है। वे अपने शारीरिक अक्षमता के कारण यह सोचते हैं कि और लोग अभी क्रियाशील है परन्तु मे निष्क्रिय हो गया हूँ। सेवानिवृत्ति के बाद ऐसी भावनाएँ प्राय जन्म ले लेती है क्योकि उनके पास अब कोई काम करने को नही रह जाता है। वे कुछ करना चाहते है परन्तु शर्म के कारण कुछ करने का तत्पर नही होते है क्योंकि वे समझते है कि अब समाज मुझे निष्क्रिय मान लिया है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि कुछ वृद्ध इस अवस्था मे सामुदायिक क्रियाओ मे भाग लेने के प्रति रुचि कम रखते है परन्तु महिलाएँ उसमे ज्यादा रुचि रखती हैं। सेवानिवृत्ति के बाद वे उस बात से भी परेशान रहते हैं कि पता नहीं समाज से मुझे आत्मसम्मान तथा सामाजिक अनुमोदन मिलेगा कि नही। उन्हे आत्म गौरव समाप्त होने की भावना काफी परेशान करती है। (Beverley, 1975)।

(6) **आय मे कमी** (Reduced Income)—छठी मनोवैज्ञानिक समस्या आय में कमी के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। सेवानिवृत्ति के बाद ज्यादातर वृद्ध लोग अपने खाली समय का सदुपयोग आय मे कमी के कारण नही कर पाते हैं। कभी कभी वे ऐसा भी पाते हैं कि यदि वे अपना खाली समय टेलीविजन के सामने बैठकर बिताएँ तो उसमे भी ज्यादातर प्रोग्राम युवा लोगों से सम्बन्धित होते है जिससे वे काफी बोर होते है। आय में कमी महिलाएँ पुरुषो की तुलना में ज्यादा महसूस करती हैं। इसलिए उनकी वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन प्रभावित होती है। यह समस्या प्राय वैधव्यपन के समय ज्यादा होती है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि पति की मृत्यु के बाद उसकी पैन्शन बन्द हो जाती है तथा पत्नी को जो पारिवारिक पैन्शन मिलती है वह नाममात्र की होती है जिससे उनका भरण पोषण दूभर हो जाता है जिससे वे काफी परेशान हो जाती है।

(7) **सामाजिक विलगन** (Social Disengagement) – यह सातवी समस्या सबसे गम्भीर मनोवैज्ञानिक समस्या होती है। यह सामाजिक विलगन की समस्या ऐच्छिक एव अनैच्छिक दोनों कारणों से होती है। लेकिन प्राय यह अनैच्छिक होती है जैसे शारीरिक स्वास्थ्य के कारण, आय मे कमी के कारण, तथा अन्य कारणों से भी जिस पर वृद्ध लोगो का नियन्त्रण नही होता है उसके कारण सामाजिक विलगन की समस्या जन्म लेती है। इन सभी कारणों से वृद्ध लोग अपने को सामाजिक क्रियाओ तथा क्रियाकलापो से अलग कर लेते हैं। परन्तु ऐसा देखा जाता है कि जो वृद्ध सेवानिवृत्ति के बाद भी वृद्धावस्था मे सामाजिक सम्पर्क तथा सामाजिक सहभागिता बनाये रहते हैं उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है तथा उनमे आत्मसम्मान की भावना भी प्रबल होती है। उसके कारण उनके जीवन में सतोष की भावना प्रबल दिखायी देती है तथा जीवन के प्रति सतुष्ट रहते हैं। (Bull and Aucoin, 1975, Cutler, 1976 and Kline, 1975)।

कुछ वृद्ध लोग सामाजिक सम्पर्क से, पारिवारिक सदस्यो से तथा सगे सम्बन्धियो के सम्पर्क से पर्याप्त सतोष प्राप्त करते है जिसके फलस्वरूप वे सामाजिक विलगन के बुरे प्रभाव का अनुभव नही करते है। (Brown 1974) । कुछ वृद्ध लोग टेलीफोन के माध्यम से भी सामाजिक सम्पर्क बनाये रखते है तथा कुछ लोग आमने सामने से भी सम्पर्क बनाते है। लेकिने ऐसे लोग प्राय सतुष्ट दिखायी देते है। (Brown 1974) ।

प्राय वृद्ध महिलाओ के लिए सामाजिक सम्पर्क उस समय ज्यादा महत्वपूर्ण होता है जब उनके पति या तो सेवानिवृत्त हो जाते है या उनकी मृत्यु हो जाती है। ऐसे समाज में सामाजिक विलगन की समस्या उनके वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन को प्रभावित करती है। (Klıne 1975) ।

ऐसे वृद्ध जो एच्छिक या अनैच्छिक रूप से अपने को सामाजिक क्रियाओ से अलग रखते है वे लोग सामाजिक रूप से एकाकीपन के शिकार हो जाते है। इसके परिणामस्वरूप वे सामाजिक सहायता से च्युत रह जाते है। जब वे प्रतिबल या चिन्ता की अवस्था मे होते हैं उन्हें सामाजिक मदद नही मिल पाती है। यह उस समय विशिष्ट समस्या का रूप लेता है जब विधुर या वैधव्यपन का समय होता है। ऐसा इसलिए होता हे कि परिवार मे यदि सदस्य कम हैं तो उनकी समस्याओ का निराकरण सामाजिक रूप मे नही हो पाता है।

(3) **सेवानिवृत्ति से समायोजन की समस्या** (Adjustment to Retirement Hazards) – शारीरिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओ की ही तरह वृद्ध लोगो को सेवानिवृत्ति के बाद होने वाली घटनाओ से वे अपने आपको समायोजित नही कर पाते है। Schwartz (1973) के अनुसार सेवानिवृत्ति से पुराने जीवन पद्धति का समापन तथा नयी जीवन पद्धतियों का सक्रमण होता है। इसमे उनकी भूमिकाएँ बदल जाती है उनके मूल्यों, रुचियो तथा पूरे जीवन शैली मे बदलाव दिखायी देता है। सेवानिवृत्ति से उनकी आय भी कम हो जाती है तथा उन्हे अपने सारे खर्चों मे कमी करनी पडती है जिससे उन्हे परेशानी होती है।

उन्हे अपनी आय के अनुसार ही अपनी नयी जीवन शैली का निर्माण करना पडता है। उन्हे अपनी जिम्मेदारियों के निर्वाह मे भी समस्याएँ आती है। उनका खाली समय कैसे व्यतीत होगा इस तरह के प्रश्न भी उनके दिमाग में उठते है। जिससे वे काफी चिन्तित रहते है। सेवानिवृत्ति के समय यदि वृद्ध लोगों का स्वास्थ्य उत्तम नही है तो उससे भी वैयक्तिक समायोजन मे व्यतिक्रम उत्पन्न होता है। यदि उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति अच्छी है तो उनका जीवन आराम से कटता है परन्तु उसके विपरीत यदि सामाजिक आर्थिक स्थिति अच्छी नही है तो उनका जीवन कष्टप्रद हो जाता है। सेवानिवृत्ति के प्रति समायोजन में महिलाओं का समायोजन पुरुषों की तुलना में बेहतर होता है। इसका कारण यह होता है कि उनकी भूमिकाओ मे पुरुषो की तुलना में कम परिवर्तन होता है। अविवाहित महिलाओं का समायोजन सेवानिवृत्ति के समय घर गृहस्थी चलाने वाली महिलाएँ यानि गृहणी की तुलना में वेहतर होता है। उसका कारण यह होता है कि अविवाहित महिलाओं के पास सामाजिक साधन ज्यादा होते है जिससे वे अपना खाली समय अपना उन साधनों से भर लेती हैं उसके साथ ही साथ वे बहुलैगिकता के प्रति विवाहित महिलाओं की तुलना में ज्यादा स्वतन्त्र रहती है। इस तरह से उनके पास काम चलाऊँ सामाजिक सम्पर्क बनाने हेतु सामाजिक समूह रहते हैं। जिनसे वे अपना खाली समय व्यतीत करती है (Fox,1977) इसके विपरीत पुरुषों के पास ऐसे साधन

मोजूद नही रहते हैं जिससे वे अपने सेवा निवृत्ति के बाद अपने को उन साधनों के प्रति स्थानान्तरित कर सकें। इसलिए सेवानिवृत्ति पुरुषो के लिए ज्यादा समस्या उत्पन्न करती हैं और उनके समायोजन को कष्टप्रद बना देती है।

(4) पारिवारिक जीवन मे परिवर्तन के प्रति समायोजन की समस्या—Adgustment to change in family life Hazards)—जैसा कि हमें मालूम है कि वृद्धावस्था में पारिवारिक जीवन शैली परिवर्तित होने लगती है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप वृद्ध लोगों को निम्नलिखित पॉच प्रकार के सम्बन्धो के प्रति समायोजन की समस्या से ग्रस्त हो जाते हैं। प्रथम समायोजन की समस्या पति पत्नी का आपस मे सम्बन्धो से होती है। ऐसा देखा जाता है कि ज्यादातर वृद्ध जब कार्य से सेवानिवृत्त होते है तो उनका ज्यादातर समय परिवार मे ही बीतता है। ऐसे समय मे वे अपने पति पत्नी के सम्बन्धों को अच्छा बनाकर रखना चाहते है। परन्तु उसके विपरीत जब उनके सम्बन्ध मधुर नही होते हैं तो उनके सम्बन्धों में दरार पड जाती है तथा पारिवारिक समायोजन दूषित हो जाता है। क्योकि बहुत से सेवा निवृत्त पुरुष उस शका से ग्रस्त रहते है कि मुझे क्या क्या करना चाहिए। खाली समय मे क्या करना चाहिए। उस सम्बन्ध मे निर्णय लेने मे अपने आपको असमर्थ पाते है तथा वे उदास तथा अप्रसन्न हो जाते है। वे पारिवारिक कार्यों मे भी हाथ नही बॅटाते हैं तथा यह कहते हुए सुने जाते हैं क्या सब काम औरतो का है। वे औरतों की आलोचना करने, छिद्रान्वेषण करने तथा अपने पत्नी के व्यवहार से चिडचिडा हो जाने की भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। पत्नी पति का सम्बन्ध मधुर होगा कि नही इस बात पर निर्भर करता है कि उनका सम्बन्ध पिछली अवस्थाओं में कैसा रहा है। साथ ही साथ उस पर भी निर्भर करता है कि दोनों की रुचियों मे कितनी समानता है। यदि समान रुचि होगी तो सम्बन्ध मधुर होगा तथा इसके विपरीत यदि रुचियों में समानता नहीं होगी तो उनका पारिवारिक समायोजन अच्छा नही होगा।

दूसरा जो समायोजन की समस्या प्रतीत होती है वह लैंगिक व्यवहार में परिवर्तन के प्रति समायोजन से सम्बन्धित है। उस सम्बन्ध में प्राय यह देखा जाता है कि लैंगिक व्यवहार के प्रति समायोजन की समस्या जितनी शारीरिक नही होती है उससे ज्यादा मनोवैज्ञानिक होती है। इस सम्बन्ध मे Kent (1975) का कहना है कि लैंगिक सम्बन्धों के प्रति समायोजन में प्रतिकूल सामाजिक अभिवृत्तियो का भी प्रभाव पडता है। उन्ही के शब्दों में, "It is difficult to maintain a high degree of sexual activity in a society that is discourages physical intimacy among older people In our culture, erotic values are associated with youth and physical beauty, Which acts as a deterrent to feelings of attractiveness and desire in the aged"

कुछ महिलाएँ गर्भवती होने के समय लैंगिक व्यवहार का प्रदर्शन कम करती हैं। वैसे इस अवस्था मे पुरुष तथा महिलाएँ दोनों अपने लैगिक क्षमता में कमी महसूस करते हैं इसका कारण शारीरिक परिवर्तन होता है। इस समय लैंगिक क्रियाओं के प्रति रुचियों में कमी आती है तथा लिग के प्रति रुचि ज्यादा दिखायी देती है। अध्ययनों से यह पता चलता है कि 60-70 वर्ष की आयु में भी स्त्री पुरुष दोनों लैंगिक ससर्ग रखते हैं। परन्तु लैंगिक ससर्ग की आवृत्ति में कमी आती है। इस अवस्था में उत्तेजना की अवधि पुरुषों में लम्बी होती है (Newman and Nichols,1970, Pfeiffer, Verwoerdt and Wang, 1970) उम्र बढने के साथ साथ लैगिक क्रियाओं में कमी आती है अग्र चित्र इस विषय को अच्छी तरह से दर्शाता है—

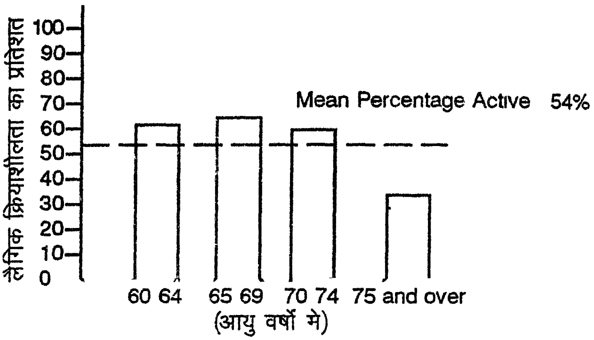

(There is a decline in sexual activity with advancing age Adopted from G Newman and C R Nichols Sexual activities and attitudes in older people in E B Palmore (Ed) Normal Ageing Durham N C Duke university Press 1970 PP 277-281)

वृद्धावस्था में जिनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है उनमे भी लैगिक क्रियाएँ देखी जाती हैं। परन्तु जो वृद्ध स्वस्थ नही रहते हैं उनम लैगिक क्रिया प्राय समाप्त सी हो जाती है। स्वास्थ्य अच्छा न होने के कारण प्राय पुरुषो म लैंगिक उद्दीपता मे कमी आती है जिसके कारण उनका लैगिक समायोजन गडबडाता है। लेगिक व्यवहार को कई कारक प्रभावित करते हैं जैसे—पिछली अवस्थाओं मे लैगिक व्यवहार की पद्धति , पति पत्नी की अनुकूल सगति, सामाजिक अभिवृत्तियाँ, लैंगिक अक्षमता आदि। लैगिक व्यवहार मे लैगिक भिन्नता भी मिलती है। उम्र बढने के साथ-साथ पुरुष लोग लैगिक रुचि रखते हैं परन्तु लैगिक रूप से क्रियाशील कम होते हैं। इसके विपरीत महिलाएँ लैगिक क्रियाओ के प्रति ज्यादा रुचि रखती है इस सम्बन्ध मे Masters and Johanson (1968) ने लिखा है, "There is no time limit drawn by the advancing years to female sexuality"

लैगिक क्रियाएँ वैवाहिक समायोजन को भी प्रभावित करती है। उस सम्बन्ध मे लैगिक क्रियाओ की आवृत्ति से ज्यादा महत्वपूर्ण लैंगिक क्रियाओ से दम्पत्ति की इच्छाओ की कितनी पूर्ति होती है वह वैवाहिक समायोजन के प्रति उत्तरदायी होती है। सब महिला या पुरुष यह समझते है कि लैंगिक क्रियाओ से उसकी लैगिक इच्छाओ की पूर्ति नही होती है तो वह उसको प्रतिस्थापन ढूढता है तथा हस्तमैथुन तथा दिवास्वपन तथा कल्पनाओ को उसका माध्यम बनाता है। दूसरी तरफ यह भी देखा जाता है कि प्रतिकूल सामाजिक अभिवृत्तियों से वृद्ध लोग अपनी लैगिक इच्छाओ पर अकुश लगा लेते है। इससे भी उनका वैवाहिक समायोजन खराब होता है। लैगिक शक्ति का समापन दाम्पत्य समायोजन मे बाधक होता है। अगर पुरुष यह विश्वास करता है कि लैंगिक क्षमता में कमी का कारण उसकी पत्नी का लैंगिक क्रियाओं के प्रति ठीक ढग से तैयार न होना है तथा पत्नी इसके विपरीत यह इल्जाम लगा सकती है कि उसका पति उसकी लैगिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर पा रहा है तो दोनों का सम्बन्ध तनावयुक्त हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप उनका दाम्पत्य समायोजन प्रभावित होता है।

तीसरा प्रमुख समायोजन का केन्द्र उनके अपने बच्चों के साथ सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। यदि सम्बन्ध उनके सन्तानों से अच्छा है तो उनका पारिवारिक समायोजन अच्छा होता

है। इसके विपरीत बच्चो से सम्बन्ध अनुकूल नही हे तो उनका पारिवारिक समायोजन खराब होता है। बच्चो से सम्बन्ध उनके पारिवारिक सन्तोष को भी प्रभावित करता है। इस सम्बन्ध में यह भी देखा जाता हे कि पुरुषो की तुलना मे महिलाओं का अपने बच्चों से सम्बन्ध अच्छा होता है। इसका कारण यह होता हे कि महिलाओ का यह सम्बन्ध बच्चे के जन्म से ही शुरू हो जाता है। माता तथा बच्चे मे टकराव की स्थिति कम मिलती है परन्तु पिता तथा बच्चे में टकराव की स्थिति अधिकतर दिखायी देती है। यदि सन्तति एव माता पिता का सम्बन्ध 50-55 वर्ष की आयु तक अच्छा रहा है तो ऐसा देखा गया है कि उस आयु के बाद पारिवारिक विलगन की स्थिति उत्पन्न होती है (Lahmers, 1975)

चौथी समस्या जो सामने समायाजन की आती है उसमें माता पिता के अन्दर पराश्रयता की भावना से होती हे। अक्सर यह होता है कि वृद्धावस्था में पुरुष तथा महिलाएँ अपने बच्चों पर निर्भर हो जाते है। वे समझते है कि मेरी भूमिकाएँ अब मेरे बच्चे ले रहे हैं कारण कि अभी तक जो परिवार का मुखिया था अब वह अपने बच्चो पर आश्रित हो चुका है। सेवानिवृत्ति के बाद आर्थिक मदद के लिए भी ज्यादातर माता पिता बच्चो पर निर्भर हो जाते है। जब वे इस अवस्था मे भी अपनी सत्ता को नही छोडते है तो उनके बच्चे उसका विरोध करते हैं तथा क्रोधित हो जात है। इस क्रोध का कारण उनकी देखरेख करना तथा शारीरिक एव सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना है।

ऐसा देखा जाता है कि जो लोग वैवाहिक रूप से समायोजित होते हैं तथा प्रसन्न होते हैं तथा उनकी आर्थिक स्थिति ठीक होती है ऐसे लोग अपने बच्चों पर कम निर्भर होते हैं परन्तु जिन लोगो का दाम्पत्य जीवन सुखमय नही होता है ऐसे लोग अपने बच्चों पर ज्यादा निर्भर रहते है। आर्थिक निर्भरता माता पिता को ज्यादा कष्टकारी होती है तथा उन्हें उसके लिए कई प्रकार के कटु बातों को निगलना पडता है। यह कष्ट उन माता पिता को ज्यादा होता है जो पिछली अवस्थाओ मे परिवार के भरण पोषण मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। आर्थिक रूप से निर्भर होना सस्कृति पर निर्भर करती है। (Beverley, 1976)।

पॉचवी समस्या जो देखने को मिलती है वह है उनका अपने नाती पोतों के साथ सम्बन्ध बनाने मे समायोजन की समस्या। वृद्धावस्था मे ज्यादातर स्त्री तथा पुरुषों के नाती पोते किशोरावस्था मे होते है। उसमे यह देखा जाता है कि यदि दादा दादी इन बच्चों से दूर रहते हैं तथा उनका कभी कभी सम्पर्क इनसे होता है परिणामस्वरूप यह मिलता है कि मूल्यों, अभिवृत्तियो व्यवहार एव वैशभूषा में परिवर्तन, तथा नैतिक मानको में परिवर्तन से दादा दादी अपने नाती पोते के मध्य काफी दूरी समझते है या पाते हैं। दादा दादी उनके इस व्यवहार एव वेशभूषा को अनुमोदित नही करते है तो नाती पोते उन्हें रूढिवादी कहकर पुकारते हैं। जब दादा-दादी का अनानुमोदन वाचिक रूप ले लेता है तो उनके तथा बच्चों के मध्य एक टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है। यह टकराव उस स्थिति में ज्यादा दिखायी देता है जब दादा दादी भी एक ही घर मे रहते है, परन्तु जो दादा दादी अपने नाती-पोतों के व्यवहारों तथा वेशभूषा को अनुमोदित कर देते है उनके साथ उनका सम्बन्ध मधुर होता है तथा वे टकराव की स्थिति नही पैदा करते है। ऐसे नाती पोते अपने दादा दादी का काफी ख्याल रखते हैं तथा उनका ध्यान भी रखते हैं। आर्थिक मदद भी करते हैं तथा उन्हे समय समय पर आर्थिक सहायता पहुँचाते रहते है। इस तरह से यदि देखा जाये तो पारिवारिक समायोजन को उपर्युक्त सभी कारक प्रभावित करते है। ऐसे लोग जो यह अनुभव करते हैं कि उनके बच्चे अपने कैरियर के मुताविक लग जाते है तो उनका जीवन काफी सतोषजनक होता है। उनका वैवाहिक जीवन भी खुशी से भर

जाता है। ऐसा भी देखा जाता है यदि उनके नाती पोते (Grand Children) भी अपने कैरियर मे मफल हाते है तो उन्हे प्रसन्नता होती है यद्यपि उनका सम्पर्क इन नाती पोतो मे कभी-कभी होता है।

वृद्धावस्था मे वैवाहिक प्रसन्नता पर जो अध्ययन हुए है वे इस प्रकार का निष्कर्ष प्रस्तुत करते है वह पुरुष तथा महिलाएँ अपने वैवाहिक जीवन को सतोषजनक मानते है। वे कहते हैं कि उनका जीवन शातिमय होता है कारण यह है कि उनकी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ समाप्त हो जाती है। वे स्वतन्त्र अनुभव करते है तथा वे जैसा सोचते है वैसा ही काम करते हैं।

(5) दम्पत्ति मे से किसी एक की मृत्यु के बाद समायोजन की समस्या (Adjustment to loss of a spouse in oldage) – वृद्धावस्था मे सबसे बडी समस्या समायोजन की होती है जब दम्पत्ति मे से किसी एक की मृत्यु हो जाती है। दम्पत्ति की क्षति प्राय मृत्यु से या तलाक के फलस्वरूप होता है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि महिलाओ मे विधवापन की समस्या पुरुषों के विधुर होने की समस्या से ज्यादा होती है। ऐसा अनुमान है कि 50 प्रतिशत महिलाएँ 60 वर्ष की आयु में विधवा हो जाती है, जबकि 85 प्रतिशत महिलाएँ 85 वर्ष की आयु तक विधवा हो जाती है (Atchley,1975 Brozen, 1971 and Lopata, 1975)। पुरुषों के विधुर होने का उम्र के हिसाब से कोई प्रामाणिक डाटा (Standard Data) नही प्राप्त है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि विधुर लोग पुनर्विवाह कर लेते हैं इसलिए इनकी सख्या महिलाओ की तुलना में कम होती है। दम्पत्ति मे से किसी एक की भी मृत्यु हो जाने पर पुरुष तथा महिलाओ को काफी समस्या का सामना करना पडता है।

जब किसी पुरुष की पत्नी का देहावसान हो जाता है उस समय जब वह सेवानिवृत्ति प्राप्त कर चुका हो तो उसके लिए सेवानिवृत्ति से समायोजन मे भी काफी समस्या होती है। वैसे यह सही है कि उनके सामने आर्थिक समस्या नही होती है क्योकि उन्हें पेन्शन मिलती है, सामाजिक सुरक्षा भी मिलती है परन्तु विधुरपन के साथ समायोजन स्थापित करना उनके लिए समस्या बन जाती है पत्नी के देहान्त के बाद व अकेलेपन की भावना से ग्रस्त हो जाते है तथा इसे दूर करने के लिए वे अपनी नयी रुचियाँ विकसित करते है जिसके कारण भी समस्या बढ जाती है। दूसरी समस्या विधुर के सामने यह भी होती है कि उनकी पत्नी की मृत्यु के बाद उनका ख्याल रखने वाला और कोई दूसरा नही होता है जिससे वे अपने दिल की बात कह सके उससे भी वे परेशान रहते हैं। दूसरी बात यह भी देखी जाती है कि जिन लोगों की वैवाहिक सम्बन्ध मधुर नही रहा है वे भी समझते है कि उनकी पत्नियों का साथ वृद्धावस्था में मिलना चाहिए। वे समझते हैं कि पत्नियाँ ही उनकी शारीरिक आवश्यकताओं का ख्याल रख सकती है। परन्तु कुछ पुरुष तो विधुर के रूप मे जीना पसद करते हैं।

तीसरी समस्या समायोजन की यह होती है कि विधुर लोग अपने बच्चो पर निर्भर रहना कम पसद करते हैं जबकि विधवाएँ अपने बच्चों पर निर्भरता स्वीकार कर लेती हैं। ऐसा देखा जाता है कि विधुर तथा विधवाएँ भी अकेलेपन से उवरने के लिए पुन शादी करना ज्यादा पसन्द करती हैं।

विधवाओं की भी समस्या समायोजन की उनके आय से प्रभावित होती है। उनके पति की मृत्यु के बाद उनकी आय कम हो जाती है जिससे पारिवारिक दायित्व का निर्वाह करने में उन्हें कठिनाई होती है। आय में कमी के कारण उनके सामाजिक जीवन पर भी बुरा प्रभाव पडता है। आय के कमी होने से उनके पोशाक, पहनावें आदि में भी गिरावट आती है तथा वे अपने दोस्तों से अपने वेशभूषा या पहनावें की तुलना करती है तो अपने को निम्न समझती हैं

उससे वे काफी परेशान रहती हैं आय में कमी होने के फलस्वरूप उन्हें अपने बच्चों के ऊपर भी निर्भर रहना पडता है तथा उन्हें उस विवाहित बच्चे के परिवार के साथ भी समायोजन करना पडता है। प्राय विधवाएँ पुनर्विवाह कम करती हैं इसलिए उनका विधवापन उनसे अकेलेपन की भावना को जन्म देती हैं। इस अकेलेपन को दूर करने के लिए प्राय विधवाएँ कोई जानवर पाल लेती हैं।

इस जानवरों में कुत्ते या बिल्ली होते हैं। इस तरह से वे अपने अकेलेपन के समय में इन जानवरों से सम्पर्क बढाती हैं तथा उनके साथ समय बिताना ज्यादा पसद करती हैं। अध्ययनों के निष्कर्षों से ऐसा पता चलता है कि विधवापन विधुरपन की तुलना में काफी गम्भीर समस्या होती है। वैसे महिलाएँ पति की मृत्यु के बाद पूरी तरह से समायोजित नही हो पाती हैं परन्तु विधुर पति अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद समायोजन स्थापन करने में सफल सिद्ध होते हैं। इसलिए इसे ऐसा भी देखा जाता है कि विधवापन की स्थिति में विधवाओं का सामाजिक आर्थिक स्तर भी गिर जाता है। इस कारण से दम्पत्ति में से किसी एक की मृत्यु की समस्या को औरतों की समस्या से ज्यादा जाना जाता है। (Conroy, 1977, Harvey and Bahr, 1974, Heyman &Gianturco, 1973 and Morgan, 1976)।

(6) **पुनर्विवाह की समस्या** (Problem of Remarriage) – दम्पत्ति में से किसी एक की मृत्योपरान्त अपने अकेलेपन को दूर करने हेतु प्राय लोग वृद्धावस्था में भी पुनर्विवाह करने की सोचते हैं परन्तु पुनर्विवाह से समायोजन की समस्या पुन बढ जाती है। प्राचीन काल की तुलना में सम्प्रति पुनर्विवाह आसान हो गया है तथा पुनर्विवाह की आवृत्ति में भी बढोत्तरी हुई है। वैसे अब पुनर्विवाह के प्रति सामाजिक अभिवृत्ति अनुकूल हो गयी है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि वृद्ध पुरुष अपने से कम उम्र की महिला से पुनर्विवाह करना चाहता है जबकि मध्यावस्था के पुरुष तथा महिलाएँ अपने उम्र के बराबर या ज्यादा उम्र वाले पुरुष तथा महिला से शादी रचाते हैं। इस तरह से देखा जाता है कि पुरुष तथा महिला के पुनर्विवाह के समय उम्र में कम से कम 10-15 वर्ष का अन्तर मिलता है। (Mckain, 1976, and Treas and Van Hilst, 1976)। जबकि महिलाएँ तथा पुरुष में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे लगभग समआयु वालों से शादी करते हैं। परन्तु उम्र से शादी करने वालों की सख्या समआयु से शादी करने वालों की तुलना में अधिक होती है।

शादी चाहे जिस उम्र में हो समायोजन की समस्या हर समय दिखायी देती है। पुनर्विवाह हमेशा एक विशिष्ट समस्यओं से युक्त होती है। परन्तु यह बात वृद्धावस्था में पुनर्विवाह पर ज्यादा सटीक बैठती है। सबसे बडी समस्या पुनर्विवाह के बाद यह होती है कि नयी पत्नी या पति के साथ वैवाहिक समायोजन बैठाना। नये रिश्तेदारों से सही सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या। दूसरी समस्या जो विशेषकर पुनर्विवाह के बाद देखी जाती है वह है पारिवारिक आलोचना का शिकार होना। प्राय उन्ही के बच्चे उन्हें ऐसा करने पर ठीक नही समझते हैं तथा शादी न करने के लिए सलाह देते हैं। यह समस्या विधवा तथा विधुर दोनों के लिए समान होती है। दूसरी समस्या यह भी देखी जाती है कि जो बच्चे बडे हो जाते हैं वे अपने ही घर में एक सौतेली माँ या सौतेले पिता को पसन्द नहीं करते हैं। उससे भी बच्चों से टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है तथा उनका वैवाहिक सम्बन्ध सुखमय न होकर और दुखमय तथा तनाव से भरा हुआ हो जाता है। इस तरह से देखा जाये तो यहाँ पर विधवा तथा विधुर अपने अकेलेपन को कम करने के लिए शादी करते हैं वही उनकी समस्या इतनी प्रबल हो जाती है कि वे पुनर्विवाह करके ऐसा सोचते हैं कि मैने ठीक नहीं किया। अत पुनर्विवाह परिवार की

खुशहाली की दृष्टि से भी श्रेयस्कर नही होता है। परन्तु जीवन मे शादी बाद की अवस्थाओं मे की जाये तो अच्छी मानी जाती है (L.. 1978)

प्राय जो लोग जीवन भर कुँआरा या कुआरी रह जाते है या शादी नही करते उनके लिए भी वृद्धावस्था मे समायोजन की समस्या देखने को मिलती है। सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि उनके अन्तिम दिनो मे उनके साथ कोई नही रहता है यह भावना उन्हे बहुत दुख देती है। उनका सामाजिक सम्पर्क भी छोटे मोटे खराब स्वास्थ्य के कारण कट जाता है। अतिम समय मे उन्हे यह लगता है कि मै जीवन भर बिना पत्नी एव बच्चों के ही रह गया। आजकल की अविवाहित पुरुष तथा महिलाएं अपने सेवानिवृत्ति के बाद अपना बाकी जीवन आराम से व्यतीत करता है क्योकि उन्हे काफी भविष्यनिधि एव पेन्शन की सुविधा मिलता है। क्योकि ऐसे लोगो के ऊपर कोई पारिवारिक जिम्मेदारी नही होती है इसलिए वे लोग अपनी रुचियॉ इस तरह से विकसित करती है कि सेवानिवृत्ति के बाद भी उनका अकेलेपन मे जाना न पडे। ये लोग सामाजिक संस्थाओ एव धार्मिक संस्थाओ के सदस्य हो जाते है तथा अपना खाली समय उन्ही संस्थाओ मे व्यतीत करते है—

वृद्धावस्था मे समायोजन को प्रभावित करने वाले कुछ कारक

(Some Factors influencing adjustment to Old Age)

वृद्धावस्था मे समायोजन को कई कारक प्रभावित करते है जो निम्नलिखित हैं।

(1) वृद्धावस्था के प्रति पूर्ण तैयारी (Preparation for old age) - मध्यावस्था से ही जो लोग वृद्धावस्था मे पहुँचने पर किस तरह से क्या करना चाहिए उसकी तैयारी कर लेते है उनका समायोजन प्राय अच्छा होता है। जो लोग मनोवैज्ञानिक रूप से तथा आर्थिक रूप से वृद्धावस्था के प्रति तैयार पाये जाते है उनका समायोजन उन लोगो की तुलना मे बेहतर होता है जो लोग उसके लिए तैयारी नही कर पाते है। अत यह जरूरी है कि वृद्धावस्था के प्रति लोगो को पूरी तरह से तन्मय होकर तैयारी करनी चाहिए तथा यह मानकर चलना चाहिए कि हर व्यक्ति को उस अवस्था मे गुजरना पडता है अत उसे सकारात्मक रूप से स्वीकार करना चाहिए तथा उसके निषेधात्मक पक्ष पर भी तन मन एव धन से विचार करना चाहिए। जो लोग मन सा वाचा एव कर्मणा से वृद्धावस्था की तैयारी करते है उनका समायोजन अच्छा होता है।

(2) आवश्यकताओ की संतुष्टि (Satisfaction of Needs)—वृद्धावस्था मे जिन लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो जाती है उनका समायोजन उन लोगो की तुलना में बेहतर होता है जो लोग अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि नही कर पाते है। ऐसा देखा जाता है कि जो लोग सेवानिवृत्ति के बाद भी अपनी भविष्यनिधि एव पेन्शन से अपनी शारीरिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते है वे अपने वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन को बनाकर रखते है। अत आवश्यकताओ की संतुष्टि का होना वृद्धावस्था मे अच्छे समायोजन को प्रदर्शित करता है।

(3) प्राचीन मित्रता को बरकरार रखना (Retention of old friendships) - जो लोग वृद्धावस्था में अपनी प्राचीन मित्रता या दोस्ती को बरकरार रखते है उन्हें अकेलेपन की समस्या से ग्रस्त नही होना पडता है। इस तरह से यदि यह कहा जाये कि पिछली अवस्थाओ के सामाजिक सम्पर्क को यदि स्थायी रूप से बना करके रखा जाये तो वृद्धावस्था में सामाजिक विलगन की समस्या जन्म नही लेगी तथा वृद्ध लोगो का सामाजिक समायोजन एव वैयक्तिक समायोजन अच्छी तरह से होता है। वृद्ध लोगों को अपने मित्रों के यहॉ बराबर भ्रमण करना

चाहिए तथा उन्हे सामाजिक क्रियाओं मे भी बढ़चढ़ कर सहभागी बनना चाहिए उससे उनका समायोजन ठीक रहेगा।

(4) **बडे बच्चो की अभिवृत्तियॉ** (Attitudes of Grown Children)—परिवार में बडे बच्चो की अपने वृद्ध माता पिता के प्रति कैसी अभिवृत्ति है इसका भी समायोजन पर प्रभाव पडता है अगर बच्चे अपने माता पिता के प्रति वृद्धावस्था में अनुकूल या सकारात्मक अभिवृत्ति रखते हैं। वृद्ध लोग इस अच्छा समझते है तथा अपने पारिवारिक वातावरण के प्रति अच्छा समायोजन प्रदर्शित करते है। अत इस बात का पूरा प्रयास होना चाहिए कि परिवार में वृद्ध लोगो का अनादर एव तिरस्कार न हो बल्कि उनको देवता जैसा समझना चाहिए तथा उनके आत्मसम्मान को ठेस नही लगने देना चाहिए। उससे यह परिणाम मिलता है कि उसका अच्छा समायोजन होगा। परन्तु जिस परिवार मे पारिवारिक वातावरण उपर्युक्त के प्रतिकूल होता है वहाँ पर वृद्धावस्था मे समायोजन की समस्या प्रबल रूप में पाई जाती है।

(5) **सामाजिक अभिवृत्तियॉ** (Social Attitudes)—वृद्धावस्था मे सामाजिक समायोजन का सामाजिक अभिवृत्तियॉ भी प्रभावित करती हैं। सबसे बडी समायोजन के प्रति समस्या उत्पन्न होने का कारण वृद्धावस्था के प्रति सामाजिक अभिवृत्तियॉ प्रतिकूल होना है। अगर समाज वृद्धावस्था के प्रति अनुकूल अभिवृत्तियॉ उत्पन्न करती है तो समायोजन में कठिनाई नही होती हे। परन्तु ऐसा देखा गया हे कि प्रतिकूल सामाजिक अभिवत्तियों के कारण वृद्ध लोगो का वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन खराब हो जाता है।

(6) **वैयक्तिक अभिवृत्तियॉ** (Personal Attitudes)—सामाजिक अभिवृत्तियों के साथ साथ वृद्ध लोगो का वृद्धावस्था के प्रति अपनी अभिवृत्तियाँ भी उनके समायोजन को प्रभावित करती है। प्राय ऐसा देखा जाता है जो वृद्ध लोग वृद्धावस्था में अपने को असहाय की स्थिति मे पाते हैं तथा इसके प्रति प्रतिकूल अभिवृत्तियॉ बना लेते हैं कि वृद्धावस्था समस्याओं की अवधि होती है ऐसे लोगों का समायोजन खराब होता है। परन्तु जो वृद्ध लोग इसे एक Challenge के रूप मे स्वीकार करते हैं तथा अच्छा समायोजन प्रदर्शित करते हैं। इसलिए सफल समायोजन के लिए यह आवश्यक है कि वृद्ध लोग उसे समस्या के रूप में न लेकर, उसके प्रति अनुकूल अभिवृत्ति रखे तो अच्छा रहेगा।

(7) **आर्थिक दशाएँ** (Economic Conditions)—आर्थिक स्थिति का भी समायोजन पर प्रभाव पडता है। जिन वृद्ध पुरुष एव महिलाओं की आर्थिक दशा उत्तम या अच्छा नही होती है उनका वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन वृद्धावस्था में सतोषजनक नही होना है। इसके विपरीत जो लोग आर्थिक रूप से सम्पन्न एव समृद्ध होते हैं उनका समायोजन सतोषजनक होता है। आर्थिक विपन्नता के कारण वे इस बात से परेशान रहते हैं कि वैयक्तिक तथा पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे होगी। इसके साथ ही साथ वे यह भी सोचते हैं कि हम लोग अपने समकक्ष लोगों से निम्न श्रेणी में आ रहे हैं। अत सामाजिक आर्थिक स्तर हमेशा समायोजन को प्रभावित करती है। ऐसी समस्याएँ प्राय सेवानिवृत्ति के बाद दिखायी देती है कि उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर हो जाती है।

(8) **समायोजन की विधि** (Method of Adgustment)—समायोजन की किस विधि को वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन में प्रयोग किया जा रहा है उसका भी प्रभाव पडता हे। अगर तर्कसगत विधि (Rational Method)का प्रयोग किया जा रहा है तो समायोजन अच्छा होगा। तर्कसगत विधि के अन्तर्गत प्राय निम्नलिखित चीजें आती हैं जैसे—उम्र बढने के साथ-साथ सीमाओ को स्वीकार करना, नयी रुचियों को विकसित करना, भूत में घटी घटनाओं से शिक्षा ग्रहण करना आदि। कुछ लोग अतर्क सगत विधि से समायोजन

स्थापित करते हैं। उस विधि के अन्तर्गत प्राय वृद्ध लोग उम्र बढने के साथ साथ जो परिवर्तन होते हैं उन्हें नही स्वीकार करते हैं। पहले की ही तरह रहना ज्यादा पसद करते है। पिछली अवस्थाओं में जो सुखद अनुभूतियाँ थी उन पर ही विशेष जोर देते हैं। शारीरिक देख रेख के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पसद करते हैं। अत तर्क सगत विधि से यदि समायोजन किया जाये तो अतर्क सगत विधि की तुलना में अच्छा समायोजन होता है।

(9) शारीरिक स्वास्थ्य (Physical Health) – वृद्धावस्था में समायोजन शारीरिक स्वास्थ्य पर भी निर्भर करता है। जो वृद्ध दीर्घस्थायी रूप से बीमार रहते हैं उनका समायोजन उन लोगों की तुलना में जो अस्थायी रूप से कभी-कभी बीमार हो जाते हैं, खराब होता है। शारीरिक स्वास्थ्य खराब होने की दशा में वे प्राय चिन्तित रहते हैं तथा अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं अच्छा स्वास्थ्य वृद्धावस्था में समायोजन हेतु लाभकारी होता है। अत वृद्धावस्था में वृद्ध लोगों के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए जिससे उनका वैयक्तिक एव सामाजिक समायोजन सतोषजनक हों।

उपर्युक्त सभी कारक वृद्धावस्था में समायोजन को प्रभावित करते हैं। वृद्धावस्था में इन कारकों पर विशेष बल देना चाहिए जिससे उनका समायोजन अच्छा हो सके।

●

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

(Suggested Readings)

Achenbach, T M (1978) Research in Developmental Psychology Strategies and Methods, Collier, Macmillan International.

Agarwal, S P an Kantas, N (1990) Child Education in India, concept Publishing Company, New Delhi

Arya, S C (1987) Development of Scientific concepts among Children Based on Piagetian Tasks)

National Psychological Corporation, Agra

Aslin, R N, Alberts, P J R & Peterson, M R. (eds) (1981) Development of Perception, vol I & II, Academic Press, New York.

Attainson, J W (1964), An Introduction to motivation Von Nostrand

Ausbel, D L Sullivan, E, & Ives, S M (1980) Theory and Problems of Child Development, Grunestraton, NewYork.

Baldwin, A L (1967) Behaviour and Development. John Wiley, New York.

Baley, N (1965) Research in Child Development, A longitudinal Perspective **Merrillpalmers quarterly**, 11, 183 208

Bernard, H W (1971) Adolescent Development

Intext Education Publishers, Scranton

Belvi, U, Muralidharan, R and others (1984) Child

Psychology N C.E R T New Delhi.

Bhargava, U, (1987) Kishore Manovigyan (Hindi)

Rajsthan Hindi Granth Acadamy, Jaipur

Bhatia, B D (1982) Themes in Child Development and child Guidance Doab a House, Delhi.

Bijou, s w (1961) Child Development, Appleton century crofts, New york

Binger, J J (1983), Human Development, A life span Approach, Collier Macmillan International, New York.

Blair, A W & Bruton W H (1966) Growth and Development of the Pre adoloscent Oxford and IBH publishing company Calcutta (India)

Birren, J E & Schaie, K W (1977) Hand book of the Psyschology of Aging Von Nostrand Reinholds

Bisanz, J & others (eds) (1983) Learning in Children springer, New York

Bourne L E Jr Dominowski, R H (1972) Thinking

Annua' Review of Psychology, 23 105 129

Bossard, J H Boll, E S (1966) Sociology of child Development, Harper & Row

Brainerd, C J (ed) (1982) Logical and Mathematical cognition, springer NewYork

Brainerd, C J & Presslesy, M (eds) (1982) Vlrbal

Process in Children, Springer, New York

Broughton, J M and others (1982) The cognitive Development Psychology of James Mark Baldwin M J Moorwood, Aslex

Bruner, S S (1971), Cognitive Development in children John Wiley & Sons Inc New York

Canter, P (1977) Understanding child & world

Megraw Hill

Cole L and Hall I N (1970) Psychology of Adoloscence Holt Rinehart & Winston Inc New York

Conger, J J (1979), Adoloscence and youth, Psychological Development in Changing World Harper & Row, New York

Conger, J J (1979) Adoloscence Generation under Pressure Harper & Row, New York

Crow, L and Crow, A (1964) Human Development and Learning Eurasia Publishing House Ltd New Delhi

Das U N (1982) A study of Cognitive Process Effects of Schooling and literacy unpublished Ph D Thesis, Department of Psychology, University of Alberta, Canada

Das, U N & Das, J P (1984) Development of concrete operational thought and information on coding in schooled and unschooled children **British Journal of Developmental Psychology**, 2, 63-72

Dasen, P R (1977) Piagetian Psychology Cross cultural contributions, Gardner Press, NewYork

Dember W N (19) Psychology of Perception Hol Rhinechart, New York

Dunn, L M (1973) Exceptional children in the schools Holt Rineh t & Winston New York

Endler N S & others (1976) Contemporary Issues in Child Psychology, Edition II Holt Rincha & Winton Inc

Erikson E H (1967) Identity and the Life cycle Selected papers, Psycology, Issues, Monograph I International univ Press New York

Erikson E H (1968) Identity Youth Crisis Norton New York

Ernst C & Angst J (1983) Birth order Its influence on Personality, springe, New York

Flavell, J H (1967) The Development Psychology of Piagest D Vannostrand New Jersey

Flavell J H & Ross, L (1981) Social Cognitive Development frontiers and Possible future Cambridge univ Press

Galler W R (1968) The Psychology of Human Growth and Development Holt Renehart and winston New York

Fitzgerald H E Strommen, E A ard Mckinney J P (1977)

Developmental Psychology The Infant youngchild The Dorsllv press, Homewood Illinois

Gaguilo R M (1984) Cognitive styles and Moral Judgement in mentally handicapped and non handicapped children of equal mental age

British Journal of Developmental Psychology, 2,83-89

Gerber S E (1983) The Development of Auditory Behaviour

Grune Straton New York

Gesell, A and Ilg F L (1946) The child from 5 to 10 Harper New York

Gesell, A Ilg, f H & Ames, L B (1968) Youth the years 10 to 16 Hamish Hamilton, London

Ginsberg, H & Silva, O (1969) Piagets Theory of Intellectual Development Prentice Hall Inc New Jersey

Goel, S K (1985) Growth and Development of child Socio Psychic scientific Information Bureau, New Delhi

Goel, S K (1985) Heredity and Environment, Socio Psychic scientific Information Bureau, New Delhi

Goslin, D.A (1969) Handbook of Sociolization, Rand Mcnathy, Chicago

Gowan, J C (1972) Development of Creative Individual. A Knoppsan Diego

Grvenberg M M and others (1979) Practical Aspects of Memory Academic Press, London

Guilford, J P (1967) The Nature of Intelligence, Mcgraw Hil Book Company, New York

Hall, C S Lindzey, G Loehlim, J and Manosevitz, M (1985 Introduction to Theories of Personality John willy & sons, New York.

Hethrington, E M B Parke, R (1975) Child Psychology, Mc Grav Hill

Hethrington, E M & Parke, R (1977) Contemporary Reading i Child Psychology, Mc Graw Hill, Book Company, New York

Hijille, L. A & Ziegler, D.J (1986) Personality Theories, Basi Assumptions, Researches and Applications Mcgraw Hill Bool Company, New York

Horace, B (1961) Dynamics of Child Development Holt-Rinchart, and Winston, New york

Hurlock, E,B (1981) Developmental Psychology (8th Edition Tata, McGraw Hill Publishing Company, Bombay

Hurlock, E B, (1978) Child Development, Tata McGraw Hi Publishing Company, New York

Hurlock, E B (1974) Personality Development, Tata McGraw Hi Publishing Company, New Delhi

Inhelder, B & Piaget, J (1958) The Growth of Logical Thinkin from Childhood to Adolosence, Basic Books, New york

Jersild, A T, Telford, C W & Sawrey, J M (1978) Chil Psychology, Prentice Hall of India Pvt Ltd New Delhi.

Jindal, S K. (1988) Intellectual Development, Mittal Publication Delhi.

Kale, S V (1983) Child Psychology and child Guidance Himala Publishing House, Bombay

Kay, W (1968) Moral Development, George Allen & unwi London

Kohen-Raj R, (1977) Psychological Aspects or Cognitive Growt Academic Press, New York

Kohlberg, L (1973) Implication of Developmental Psychology for Education **Educational Psychologist**, 10, 2-14

Lal, J N (1988) Human Development and Psychopathology (Hindi version) Neel Kamal Prakashan, Gorakhpur

Lamb, M E & Sshirrod, L R (1982) Infant Social Cognition Empirical and Theoretical Considerations, Hills Dale, N.J Erlabaum

Lannenberg, E H & Lennenberg, E (1975) Foundations of Language Development, A Multidisciplinary Approach Academic Press

Libert, R M & others (1974) Developmental Psychology, Prentice Hall of India

Licona, T (1974) Men and Morality, Holt Rinehart and Winston, New York

Linnebing, E H (1977) Biological Foundations of Language
John willey and sons, New York

Lochlin, J C and others (1975) Race Differences in Intelligence Freeman Press, San Fransisco

Looft, W R and others (1972) Developmental Psychology A book of Readings Hinsdale, III, Drysen Press

Maier, H W (1978), Three Theories of Child Development Harper & Row Publishers, New York.

MCkenzi, B E and others (1984) Localization of Events in space
British Journal of Developmental Psychology, 2, 1-9

Mussen, PH and others (1974) Child Development and Personality
Harper and Row Publishers, New York.

Neisser, U (1976) Cognitive Psychology, Appleton, New York

Neugarten, B E (1968) Middle Age and Aging Univ Press, Chiacgo

Pandey, J (1968) Adolescents Problems and Personality Variables unpublished Doctoral Dissertation, Department of Psychology, Banaras Hindu University, Varanasi (U P) India

Paul, H and Mussen, P H (1963), Child Development and Personality
Harper Row & Bros New York

Phillips, J L (1968) The Origins of Intellect Piaget's Theory Freeman Press, San Fransisco

Piaget, J (1950) Language and Thought of the Child, Little field Admas & Co New Jersey

Piaget, J (1950) Intellectual Development Little field Adams & co New Jersey

Piaget, J (1932) The Moral Judgement of the Child Harcourt, Brace & Co New York

Pikunas, J (1969) Human Development Mc Graw Hill Book company New York

Potegal, M (1982) The Natural and Developmental Bases of Spatials Orientation, Academic Press, New York

Poon, L W and others (1980) New Directions in Memory and Aging Hills dale N J Erlbaum

Pressev S L and Kuhan, R G (1957) Psychological Development Through the Life-span Harper and Row

Pressley, M & Levin, J R (1983) Cognitive Strategy Research Psychological foundation Springer, New York

Richards, M (1980) Infancy World of the New Born Harper & Row Publishers, New York

Robinson, N M & Robinson, H B (1976) The Mentally Retarded Child McGraw Hill Co

Saraswathi, TS Verma, A, and Kalra, D (Issues in child Development Curriculum, Training 1988) and Employment, Somiya Publications Pvt Ltd Bombay

Schields, J (1962) Monozygotic Twins Oxford Univ Press

Schienfields, A (1975) Your Heredity and Environment Philadelphia-Lippincott

Scott L H (1967) Child Development Holt, Rinechart & Winston New York

Sharma, P & Gairola, L (1990) fundamentals of Child Development and Child Care Sterling Publishers Pvt Ltd New Delhi

Singh, R N (1981) Adhunik Vikasatmak Manovigyan, Ganga Saran and Grandsons, Varanasi

Smart, M S & Smart R C (1982) Children, Development and Relationships Collier Macmillan International New York

Smart M S & Smart R C (1972) Readings in Child Development and Relationships Light and Life Publishers, Delhi

Mcgraw Hill company New York

Stewart, A C Perlmutter, M & Fnendman, S (1988) Lıfe long Human Development John wıley and sons, New York

Stone, L J & Church, J (1971) Chıldhood and Adoloscence Random House, New York

Stolt, L H (1974) Psychology of Human Development Holt Rınehart & Winston, New York

Straton, P (1982) The Developmental Psychology of Neonate John Wiley and sons, New York

Tenney, Y.J (1984) Agıng and Mısplacıng of Objects **Brıtısh Journal of Developmental Psychology, 2, 43 50**

Thrope, L P & Cruze, W W (1965) Developmental Psychology The Ronalds Fress, New York

Trıandıs, H C & Heron, A (1982) A Handbook of Cross cultural Psychology Vol IV, Boston N A , Allyna Becon

Trıpathı, A (1997) Academıc Achıvement as a functıon of sex, self confidence and dependence proneners ın urban college students Unpublıshed Doctoral Dıssertatıon, Department of Psychology, Lucknow Unıversıty

Tılker, H A (1975) Developmental Psychology oday Random House Internatıonal New York

Tımaras, P S (1972) Developmental Physıology and Agıng Macmıllan, New York.

Verma, S P (1972) Manav Vikas ka manovıgyan (Hındı) M P Hındı Granth Academy Bhopal

Verınıs, J S and R Roll (1970) Prımary and Secondary Male Characterıstıcs The Haırness and Large Penıs Stereotypes **Psychologıcal Reports, 26, 123-126**

Verwoerdt, A Pflıffer, E and Wang, H (1969) Sexual Behavıour ın Senescence II, Patterns of Sexual Actıvıty and Interest **Gerıatrıcs** 24, 137-154

Vogel, B S and Schell, R E (1968) Vocatıonal Interest Patterns ın Late Maturıty and ' Retırement **Journal of Gerontology 23, 66-70**

Waches, TD & Gruen, G E (1982) Early Experıence and Human Development Plenum, New York

Wolkınd, S and Zagıck, E (1981) Pregnancy Grune & straton, New York

Wimmer, H and others (1982) Cognıtıve Autonomy of the development of Moral evaluatıon of achıevement **Chıld Developement, 53, 668-678**

Yarrow, M R , Scott, P, Lecuw, L De & Heinig, e (1962) Child Rearing in Families of Worrying and nonwarrying Mothers Sociometry 25, 122 140

Yuill, N (1984) Young Children's coordination of Motive and Outcome in judgements of satisfaction and Morality

British Journal of Developmental Psychology, 2, 73 81

Zborowski, M (1962) Aging and Recreation

Journal of Gerontology, 17, 302 3-9

Zelnik, M and Kantner, J F (1973) Sexuality, contracepting and pregnancy Among young unmarried Females in the U S unpublished Manuscripts (Cited in I L Reiss, Heterosexual Relationships Inside and outside Marriage, Morristown, N J General Learning Press, 1973 P 15